प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५
फोन : ३११४६२

•

प्रकाशन-वर्ष :
प्रथम संस्करण सन् १९६७
द्वितीय संस्करण सन् १९८९

•

मूल्य रु० ८०.००

•

JAINA SĀHITYA KĀ BRHAD ITIHĀSA
Vol. III · Āgamik Vyākhyāyen
By Dr M L Mehta
Second Edition 1989
Price : Rs 80.00

•

मुद्रक :
वर्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर, वाराणसी–१०

ॐ

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय

जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का यह तीसरा भाग है। जैनागमो का व्याख्यात्मक साहित्य इसका विषय है। डा० मोहनलाल मेहता, अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, इसके लेखक है। श्री दलसुखभाई मालवणिया और वे इसके सम्पादक हैं। श्री दलसुखभाई इस समय टोरोटो यूनिवर्सिटी, केनेडा, मे भारतीय दर्शन के अध्यापन के लिए वार्षिक १५००० डालर वेतन पर नियुक्त होकर गये हुए है। इससे पहले वे कई वर्षों से लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, के अध्यक्ष थे। पडित श्री सुखलालजी के बाद वे बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी मे जैन दर्शन वर्षो तक पढाते रहे। जबसे पार्श्वनाथ विद्याश्रम का आरम्भ हुआ, श्री दलसुखभाई इस शोध संस्थान के सखा और सहायक रहे है। उनका स्नेह और सहानुभूति आजतक हमे प्राप्त है। केनेडा जाने से पूर्व वे अगले भाग के सम्पादन-कार्य को भी पूरा कर गये हैं। उनकी विद्वत्ता और योग्यता प्रामाणिक है। डा० मोहनलाल मेहता हिन्दू यूनिवर्सिटी मे सम्मान्य प्राध्यापक हैं। वे एम० ए० की कक्षाओ मे जैन दर्शन का अध्यापन तथा पी-एच० डी० के छात्रो को शोध-निर्देशन भी करते हैं। उन्होने जैन आचार ग्रथ भी लिखा है। इस समय जैन संस्कृति पर ग्रथ लिख रहे हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना जुलाई, सन् १९३७ मे हुई थी। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन का वाराणसी से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसी प्रेरणा से वर्तमान शोध सस्थान के नामकरण के समय उनका नाम इस ज्ञान-प्रसारक सस्था के साथ जोडना अभीष्ट समझा गया है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम भारतीय विद्या के अन्तर्गत प्राकृत और जैन विषयो मे शोध-कार्य करने की प्रेरणा लेकर उपस्थित हुआ है। उस शोधफल को प्रकाशित करना भी इसकी प्रवृत्ति है। प्रति वर्ष चार-पाँच रिसर्च स्कॉलर यहाँ पर शोधकार्य करते हैं और अपने-अपने विषय पर थीसिस हिन्दू यूनिवर्सिटी मे परीक्षणार्थ पेश करते है। अबतक ७ रिसर्च-स्कॉलर पी-एच० डी० हो चुके है। प्रत्येक रिसर्च-स्कॉलर को दो वर्ष तक मासिक २००) रुपये छात्रवृत्ति दी जाती है।

स्वतन्त्र शोध और प्रकाशन-कार्य भी बराबर होता है। इस इतिहास की योजना उस कार्य का एक रूप है।

शतावधानी रत्नचद्र लायब्रेरी शोध संस्थान का अंग है। उसमें शोध के हेतु से ही ग्रथ-सग्रह होता रहता है। अपने स्कॉलरो के अलावा हिन्दू-यूनिवर्सिटी के अन्य स्कॉलरो और उसके अध्यापको के लिए भी हमारा संग्रह बड़ा उपयोगी है।

संस्थान की अपनी चार एकड़ जमीन पर १०४×५२ फुट का विशाल लायब्रेरी भवन है। अध्यक्ष के लिए स्वतन्त्र निवास-स्थान है। अन्य कर्मचारियो के लिए भी निवास की व्यवस्था है। रिसर्च-स्कॉलरो के लिए दस क्वार्टरों के होस्टल की नीवें भर चुकी हैं।

संस्थान से जैनविद्या का मासिक 'श्रमण' निकलता है। उसके अधिकाश लेख शोधपूर्ण हाते है। इस समय यह पत्रिका उन्नीसवें वर्ष में है।

इनका और अन्य आवश्यक प्रवृत्तियो का सचालन श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति करती है। समिति रजिस्टर्ड सोसायटी है। इसको दिया जाने वाला दान इन्कमटैक्स से मुक्त होता है।

इस तीसरे भाग के प्रकाशन का व्यय समिति के सर्वप्रथम और आयुपर्यन्त खजाँची स्व० श्री मुनिलालजी के सुपुत्रो—श्री मनोहरलाल जैन, बी० कॉम, श्री रोशनलाल जैन, श्री तिलकचद जैन और श्री धर्म-पाल जैन ने वहन किया है। इन्ही भाइयो ने पहले भाग के प्रकाशन का खर्च भी दिया था।

रूपमहल
फरीदाबाद
५.१२.६७

हरजसराय जैन
मन्त्री
श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अमृतसर

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रकाशित दोनो भागो का विद्वज्जनो व अन्य पाठको ने हृदय से स्वागत किया एतदर्थ सस्थान के उत्साह मे वृद्धि हुई है। यह भाग भी विद्वानो व सामान्य पाठको को पसद आएगा, ऐसा विश्वास है।

प्रथम भाग मे जैन संस्कृति के आधारभूत अंग आगमो का तथा द्वितीय भाग मे अगबाह्य आगमो का सर्वांगीण परिचय प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत भाग मे इन सब आगमो के व्याख्यात्मक साहित्य का सागोपाग परिचय दिया गया है। इन तीन भागो के अध्ययन से पाठको को समस्त मूल आगमो तथा उनकी विविध व्याख्याओ का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा।

आगमिक व्याख्याएँ पाँच कोटियो मे विभक्त की जाती है : १. निर्युक्तियाँ, २ भाष्य, ३ चूर्णियाँ, ४ सस्कृत टीकाएँ और ५. लोकभाषाओं मे विरचित व्याख्याएँ। प्रस्तुत भाग मे इन पाँचो प्रकार की व्याख्याओ तथा व्याख्याकारो का सुव्यवस्थित परिचय दिया गया है।

अन्य भागो की तरह प्रस्तुत भाग के सम्पादन मे भी पूज्य दलसुखभाई का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है एतदर्थ मै आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण के लिए ससार प्रेस का तथा प्रूफ-सशोधन आदि के लिए सस्थान के शोध-सहायक पृ० कपिलदेव गिरि का आभार मानता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५
१५-१२-६७

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्रकाशकीय

द्वितीय संस्करण

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस भाग मे जैनागमों पर लिखी गयी नियुक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो, वृत्तियो, टीकाओ आदि का विवेचन किया गया है। इसका प्रथम सस्करण १९६७ ई० मे प्रकाशित हुआ था और पिछले कुछ समय से इसकी प्रतियाँ विक्रयार्थ उपलब्ध नही थी। इसकी उपयोगिता और मांग को देखते हुए हमने इसका द्वितीय सस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया। इसमे प्रथम सस्करण की सम्पूर्ण सामग्री को यथावत् रखा गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की उपयुक्त व्यवस्था सस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन ने की है, अतः सर्वप्रथम मै उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। प्रूफ रीडिंग और शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे डा० अशोक कुमार सिह और डा० शिवप्रसाद का सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः इसके लिये भी हम आभारी है।

अन्त मे इस ग्रन्थ के सुन्दर तथा त्वरित मुद्रण के लिये मै वर्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के सचालको के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मन्त्री
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

प्रस्तुत पुस्तक में

टीकाएँ

प्रास्ताविक

आचारशास्त्र
दर्शनशास्त्र
ज्ञानवाद
प्रमाणशास्त्र
कर्मवाद
मनोविज्ञान और योगशास्त्र
कामविज्ञान
समाजशास्त्र
नागरिकशास्त्र
भूगोल
राजनीति
ऐतिहासिक चरित्र
संस्कृति एवं सभ्यता

प्रास्ताविक

मूल ग्रथ के रहस्योद्घाटन के लिए उसकी विविध व्याख्याओ का अध्ययन अनिवार्य नही तो भी आवश्यक तो है ही। जब तक किसी ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्या का सूक्ष्म अवलोकन नही किया जाता तब तक उस ग्रथ मे रही हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातें अज्ञात ही रह जाती हैं। यह सिद्धान्त जितना वर्तमान-कालीन मौलिक ग्रथो पर लागू होता है उससे कई गुना अधिक प्राचीन भारतीय साहित्य पर लागू होता है। मूलग्रथ के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए उस पर व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रथकारो की बहुत पुरानी परपरा है। इस प्रकार के साहित्य से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। व्याख्याकार को अपनी लेखनी से ग्रथकार के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने मे असीम आत्मोल्लास होता है तथा कही-कही उसे अपनी मान्यता प्रस्तुत करने का अवसर भी मिलता है। दूसरी ओर पाठक को ग्रथ के गूढार्थ तक पहुँचने के लिए अनावश्यक श्रम नही करना पडता। इस प्रकार व्याख्याकार का परिश्रम स्व-पर उभय के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। व्याख्याकार की आत्मतुष्टि के साथ ही साथ जिज्ञासुओ की तृषा भी शान्त होती है। इसी पवित्र भावना से भारतीय व्याख्याग्रथो का निर्माण हुआ है। जैन व्याख्याकारो के हृदय भी इसी भावना से भावित रहे है।

प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य मे आगमिक व्याख्याओ का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन व्याख्याओ को हम पाँच कोटियो मे विभक्त करते हैं: १ निर्युक्तियाँ (निज्जुत्ति), २ भाष्य (भास), ३ चूर्णियाँ (चुण्णि), ४ सस्कृत टीकाएँ और ५ लोकभाषाओ मे रचित व्याख्याएँ। आगमो के विषयो का सक्षेप मे परिचय देनेवाली सग्रहणियाँ भी काफी प्राचीन हैं। पचकल्प-महाभाष्य के उल्लेखानुसार सग्रहणियो की रचना आर्य कालक ने की है। पाक्षिक-सूत्र मे भी निर्युक्ति एव सग्रहणी का उल्लेख है।

निर्युक्तियाँ :

निर्युक्तियाँ और भाष्य जैन आगमो की पद्यबद्ध टीकाएँ हैं। ये दोनों प्रकार की टीकाएँ प्राकृत में हैं। निर्युक्तियो मे मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दो का ही व्याख्यान किया गया है।

उपलब्ध नियुंक्तियो के कर्ता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्नोक्त आगम-ग्रन्थो पर नियुंक्तियाँ लिखी है · १ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचाराग, ५ सूत्रकृताङ्ग, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ बृहत्कल्प, ८ व्यवहार, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति, १० ऋषिभाषित। इन दस नियुंक्तियो मे से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की नियुंक्तियाँ अनुपलब्ध है। ओघनियुंक्ति, पिंडनियुंक्ति, पचकल्पनियुंक्ति और निशीथनियुंक्ति क्रमश· आवश्यकनियुंक्ति, दशवैकालिक-नियुंक्ति, बृहत्कल्पनियुंक्ति और आचारागनियुंक्ति की पूरक है। ससक्तनियुंक्ति बहुत बाद की किसी की रचना है। गोविन्दाचार्यरचित एक अन्य नियुंक्ति (गोविन्दनियुंक्ति) अनुपलब्ध है।

निर्युक्तियो की व्याख्यान-शैली निक्षेप-पद्धति के रूप मे प्रसिद्ध है। यह व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। इसका अनुयोगद्वार आदि मे दर्शन होता है। इस पद्धति मे किसी एक पद के सभावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमे से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैन न्याय-शास्त्र मे इस पद्धति का बहुत महत्त्व है। नियुंक्तिकार भद्रबाहु ने नियुंक्ति का प्रयोजन बताते हुए इसी पद्धति को नियुंक्ति के लिए उपयुक्त बताया है। दूसरे शब्दो मे निक्षेप-पद्धति के आधार पर किये जानेवाले शब्दार्थ के निर्णय—निश्चय का नाम ही नियुंक्ति है भद्रबाहु ने आवश्यक-नियुंक्ति (गा, ८८) में स्पष्ट कहा है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते है किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसङ्ग के लिए उपयुक्त होता है, भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौन-सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है, आदि बातो को दृष्टि मे रखते हुए सम्यक् रूप से अर्थ-निर्णय करना और उस अर्थ का मूल-सूत्र के शब्दो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—यही नियुंक्ति का प्रयोजन है।

आचार्य भद्रबाहुकृत दस नियुंक्तियो का रचना-क्रम वही है जिस क्रम से ऊपर दस ग्रन्थो के नाम दिये गये है। आचार्य ने अपनी सर्व-प्रथम कृति आवश्यक-निर्युक्ति (गा ८५–६) में नियुंक्ति-रचना का सकल्प करते समय इसी क्रम से ग्रन्थो की नामावली दी है। नियुंक्तियो मे उल्लिखित एक-दूसरी नियुंक्ति के नाम आदि के अध्ययन से भी यही तथ्य प्रतिपादित होता है।

नियुंक्तिकार भद्रबाहु .

नियुंक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, छेदसूत्रकार चतुर्दश-पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न है। नियुंक्तिकार भद्रबाहु ने अपनी दशाश्रुतस्कन्धनियुंक्ति एव पचकल्प-नियुंक्ति के प्रारम्भ मे छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। नियुंक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं। ये अष्टाग-

निमित्त तथा मत्रविद्या में पारगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसंहिता भी इन्ही की रचनाएँ है। वराहमिहिर वि. स ५६२ मे विद्यमान थे क्योकि 'पचसिद्धान्तिका' के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् वि. स ५६२ का उल्लेख है। नियुक्तिकार भद्रबाहु का भी लगभग यही समय है। अत. नियुक्तियो का रचना-काल वि. सं. ५००–६०० के बीच में मानना युक्तियुक्त है।

आवश्यकनियुक्ति :

आवश्यकनियुक्ति आचार्य भद्रबाहु की सर्वप्रथम कृति है। यह विषय-वैविध्य की दृष्टि से अन्य नियुक्तियो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्य-शेखर प्रभृति आचार्यों ने विविध व्याख्याएँ लिखी है। आवश्यकनियुक्ति की गाथा-सख्या भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न रूपो में मिलती है। किसी-किसी व्याख्या में कही-कही जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएँ नियुक्ति-गाथाओं में मिली हुई प्रतीत होती है। माणिक्यशेखरकृत आवश्यकनियुक्ति-दीपिका में नियुक्ति की १६१५ गाथाएँ है। आवश्यकनियुक्ति आवश्यकसूत्र के सामायिकादि छ अध्ययनो की सर्वप्रथम (पद्यबद्ध प्राकृत) व्याख्या है। इसके प्रारम्भ में उपोद्घात है जो प्रस्तुत नियुक्ति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अग है। यह अश एक प्रकार से समस्त नियुक्तियो की भूमिका है। इसमें ज्ञानपचक, सामायिक, ऋषभदेव-चरित्र, महावीर-चरित्र, गणधरवाद, आर्यरक्षित-चरित्र, निह्नवमत (सप्त निह्नव) आदि का सक्षिप्त विवेचन किया गया है। ऋषभदेव के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ के वर्णन के साथ ही साथ उस युग से सम्बन्धित आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषणा, लेखन, गणित, रूप, लक्षण, मानदण्ड, पोत, व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बन्ध, घात, ताडना, यज्ञ, उत्सव, समवाय, मगल, कौतुक, वस्त्र, गंध, माल्य, अलकार, चूला, उपनयन, विवाह, दत्ति, मृतक-पूजन, ध्यापन, स्तूप, शब्द, खेलापन और पृच्छन—इन चालीस विषयो का भी निर्देश किया गया है। चौबीस तीर्थंकरो के भिक्षालाभ के प्रसग से निम्नलिखित नगरो के नाम दिये गये है : हस्तिनापुर, अयोध्या, श्रावस्ती, साकेत, विजयपुर, ब्रह्मस्थल, पाटलिखण्ड, पद्मखण्ड, श्रेय पुर, रिष्टपुर, सिद्धार्थपुर, महापुर, धान्यपुर, वर्धमान, सोमनस, मन्दिर, चक्रपुर, राजपुर, मिथिला, राजगृह, वीरपुर, द्वारवती, कूपकट और कोल्लाकग्राम। धर्मचक्र का वर्णन करते हुए नियुक्तिकार ने बताया है कि बाहुबलि ने अपने पिता ऋषभदेव की स्मृति में धर्मचक्र की स्थापना की थी।

उपोद्घात के बाद नमस्कार, चतुर्विंशतिस्तव, वदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त, ध्यान, प्रत्याख्यान आदि का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। नमस्कार-प्रकरण मे अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप का भी विचार किया गया है। प्रतिक्रमण-प्रकरण में नागदत्त, महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, धन्वन्तरी वैद्य, करकंडु, पुष्पभूति आदि अनेक ऐतिहासिक पुरुषो के उदाहरण भी दिये गये है।

दशवैकालिकनिर्युक्ति :

दशवैकालिकनिर्युक्ति मे दश, एक, काल, ओघ, द्रुम, पुष्प, धर्म, मगल, अहिंसा, सयम, तप, हेतु, उदाहरण, विहगम, श्रमण, पूर्व, काम, पद, क्षुल्लक, महत्, आचार, कथा, जीव, निकाय, शस्त्र, पिण्ड, एषणा, धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद चतुष्पद, वाक्य, शुद्धि, प्रणिधि, विनय, सकार, भिक्षु, चूलिका, रति आदि पदो का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। हेतु और दृष्टान्त के स्वरूप का विवेचन करते हुए निर्युक्तिकार ने अनुमान के निम्नोक्त अवयवो का निर्देश किया है - १ प्रतिज्ञा, २ विभक्ति, ३. हेतु, ४ विभक्ति, ५ विपक्ष, ६ प्रतिषेध, ७ दृष्टान्त, ८. आशका, ९. तत्प्रतिषेध, १० निगमन। धान्य तथा रत्न का व्याख्यान करते हुए प्रत्येक की चौबीस जातियाँ बताई हैं। धान्य की जातियाँ इस प्रकार है १ यव, २ गोधूम, ३. शालि, ४. व्रीहि, ५ षष्टिक, ६ कोद्रव, ७ अणुक, ८ कगु, ९. रालग, १० तिल, ११. मुद्ग, १२ माष, १३. अतसी, १४ हरिमथ, १५ त्रिपुटक, १६ निष्पाव, १७ सिलिंद, १८.राजमाष, १९ इक्षु, २०. मसूर, २१ तुवरी, २२. कुलत्थ, २३ धान्यक, २४. कलाया। रत्न की चौबीस जातियाँ ये है : १. सुवर्ण, २ त्रपु, ३ ताम्र, ४ रजत, ५ लोह, ६. सीसक, ७ हिरण्य, ८ पाषाण, ९ वज्र, १०. मणि, ११. मौक्तिक, १२ प्रवाल, १३ शख, १४ तिनिश, १५ अगरु, १६. चन्दन, १७ वस्त्र, १८. अमिल, १९ काष्ठ, २० चर्म, २१ दत, २२ वाल, २३ गव, २४ द्रव्यौषध। चतुष्पद प्राणियो के दस भेद आचार्य ने बताये हैं : १ गो, २. महिषी, ३. उष्ट्र, ४ अज, ५ एडक, ६ अश्व, ७ अश्वतर, ८ घोटक, ९. गर्दभ, १०. हस्ती। काम दो प्रकार का है : सप्राप्त और असप्राप्त। निर्युक्तिकार ने सप्राप्तकाम के चौदह एव असप्राप्तकाम के दस भेद किये है। सप्राप्तकाम के चौदह भेद ये हैं १. दृष्टिसपात, २. सभाषण, ३ हसित, ४ ललित, ५. उपगूहित, ६. दतनिपात, ७. नखनिपात, ८. चुबन, ९ आलिंगन, १०. आदान, ११ करण, १२. आसेवन, १३ सग, १४. क्रीडा। असप्राप्तकाम दस प्रकार का है : १. अर्थ, २ चिंता, ३ श्रद्धा, ४ सस्मरण, ५. विक्लवता, ६. लज्जानाश, ७. प्रमाद, ८. उन्माद, ९. तद्भावना, १०. मरण।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति :

इसमे उत्तर, अध्ययन, श्रुत, स्कन्ध, संयोग, गलि, आकीर्ण, परीषह, एकक, चतुष्क, अग, संयम, प्रमाद, सस्कृत, करण, उरभ्र, कपिल, नमि, बहु, श्रुत, पूजा, प्रवचन, साम, मोक्ष, चरण, विधि, मरण, आदि पदो की निक्षेपपूर्वक व्याख्या की गई है। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी सकलित किये गये है। अग की निर्युक्ति मे गधाग, औषधाग, मद्याग, आतोद्याग, शरीराग और युद्धाग का भेद-प्रभेदपूर्वक विवेचन किया गया है। मरण की व्याख्या में सत्रह प्रकार की मृत्यु का उल्लेख किया गया है।

आचारांगनिर्युक्ति :

इस निर्युक्ति मे आचार, वर्ण, वर्णान्तर, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, सज्ञा, दिक्, पृथ्वी, वध, अप्, तेजस्, वनस्पति, त्रस, वायु, लोक, विजय, कर्म, शीत, उष्ण, सम्यक्त्व, सार, चर, धूत—विधूनन, विमोक्ष, उपधान, श्रुत, अग्र आदि शब्दो का व्याख्यान किया गया है। प्रारभ में आचाराग प्रथम अग क्यो है एव इसका परिमाण क्या है, इस पर प्रकाश डाला गया है। अन्त मे निर्युक्तिकार ने पचम चूलिका निशीथ का किसी प्रकार से विवेचन न करते हुए केवल इतना ही निर्देश किया है कि इसकी निर्युक्ति मैं फिर करूँगा। वर्ण और वर्णान्तर का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने सात वर्णों एव नौ वर्णान्तरो का उल्लेख किया है। एक मनुष्य जाति के सात वर्ण ये हैं १. क्षत्रिय, २ शूद्र, ३ वैश्य, ४ ब्राह्मण, ५ सकरक्षत्रिय, ६ सकरवैश्य, ७ सकरशूद्र। सकरब्राह्मण नाम का कोई वर्ण नही है। नौ वर्णान्तर इस प्रकार हैं : १ अबष्ठ, २ उग्र, ३ निषाद, ४ अयोगव, ५ मागध, ६ सूत, ७. क्षत्त, ८ विदेह, ९. चाण्डाल।

सूत्रकृतागनिर्युक्ति :

इसमें आचार्य ने सूत्रकृताग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, षोडश, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र, अलम् आदि पदो का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया है। एक गाथा (११९) में निम्नोक्त ३६३ मतान्तरो का उल्लेख किया है १८० प्रकार के क्रियावादी, ८४ प्रकार के अक्रियावादी, ६७ प्रकार के अज्ञानवादी और ३२ प्रकार के वैनयिक।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति :

प्रस्तुत निर्युक्ति के प्रारभ में निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने प्राचीन गोत्रीय, चरम सकलश्रुतज्ञानी तथा दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र

के प्रणेता भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार किया है। इसमें समाधि, स्थान, शबल, आशातना, गणी, सपदा, चित्त, उपासक, प्रतिमा, पर्युषणा, मोह आदि पदो का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द ये है :- परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना, ज्येष्ठग्रह।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति :

यह निर्युक्ति भाष्यमिश्रित अवस्था में उपलब्ध है। इसमे ताल, प्रलम्ब, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सबाध, घोष, आर्य, उपाश्रय, उपधि, चर्म, मैथुन, कल्प, अधिकरण, वचन, कण्टक, दुर्ग आदि अनेक महत्त्वपूर्ण पदो का व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच मे दृष्टान्तरूप कथानक भी उद्धृत किये गये है।

व्यवहारनिर्युक्ति :

यह निर्युक्ति भी भाष्य में मिल गई है। इसमे साधुओ के आचार-विचार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण पदो एव विषयो का सक्षिप्त विवेचन है। एक प्रकार से बृहत्कल्पनिर्युक्ति और व्यवहारनिर्युक्ति परस्पर पूरक है।

जैन परम्परागत अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दो की सुस्पष्ट व्याख्या सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने अपनी आगमिक निर्युक्तियों मे की है। इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण स्थान है। पीछे के भाष्यकारो एव टीकाकारो ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे उपर्युक्त निर्युक्तियो का आधार लेते हुए ही अपनी कृतियो का निर्माण किया है।

भाष्य :

निर्युक्तियो का मुख्य प्रयोजन पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या रहा है। इन शब्दो मे छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारों को है। निर्युक्तियो की भाँति भाष्य भी पद्यबद्ध प्राकृत मे है। कुछ भाष्य निर्युक्तियो पर है और कुछ केवल मूल सूत्रो पर। निम्नोक्त आगम ग्रन्थो पर भाष्य लिखे गये है - १ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४ बृहत्कल्प, ५ पचकल्प, ६ व्यवहार, ७ निशीथ, ८ जीतकल्प, ९ ओघनिर्युक्ति, १० पिण्डनिर्युक्ति। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये। इनमे से विशेषावश्यकभाष्य आवश्यकसूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमे ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिकभाष्य मे ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन भाष्य भी बहुत छोटा है। इसमें ४५ गाथाएँ है। बृहत्कल्प पर दो भाष्य है।

इनमें से लघुभाष्य मे ६४९० गाथाएँ हैं। पचकल्प-महाभाष्य की गाथा-सख्या २५७४ है। व्यवहारभाष्य मे ४६२९ गाथाएँ हैं। निशीथभाष्य में लगभग ६५०० गाथाएँ हैं। जीतकल्पभाष्य मे २६०६ गाथाएँ हैं। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं। इनमे मे लघुभाष्य में ३२२ तथा बृहद्भाष्य मे २५१७ गाथाएं हैं। पिण्डनिर्युक्तिभाप्य में केवल ४६ गाथाएँ हैं।

इस विशाल प्राकृत भाष्य-साहित्य का जैन साहित्य मे और विशेपकर आगमिक साहित्य में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्यबद्ध होने के कारण इसके महत्त्व मे और भी वृद्धि हो जाती हैं।

भाष्यकार :

भाष्यकार के रूप में दो आचार्य प्रसिद्ध हैं : जिनभद्रगणि और सघदास-गणि। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृतिया है। बृहत्कल्पलघुभाष्य और पचकल्पमहाभाष्य सघदासगणि की रचनाएँ हैं। इन दो भाष्यकारो के अतिरिक्त अन्य किसी आगमिक भाष्यकार के नाम का कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। इतना निश्चित है कि इन दो भाष्यकारो के अतिरिक्त कम-से-कम दो भाष्यकार तो और हुए ही हैं जिनमे से एक व्यवहारभाष्य आदि के प्रणेता एव दूसरे बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य आदि के रचयिता है। विद्वानो के अनुमान के अनुसार बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्पचूर्णिकार तथा बृहत्कल्प-विशेषचूर्णिकार से भी पीछे हुए हैं। ये हरिभद्रसूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। व्यवहारभाष्य के प्रणेता विशेषावश्यकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र के भी पूर्ववर्ती हैं। सघदासगणि भी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती ही हैं।

विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियो के कारण जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। ऐसा होते हुए भी उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। उनके जन्म, शिष्यत्व आदि के विषय मे परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं। उनके सम्बन्ध मे एक आश्चर्यजनक उल्लेख यह भी मिलता है कि वे हरिभद्रसूरि के पट्टधर शिष्य थे, जबकि हरिभद्रसूरि आचार्य जिनभद्र के लगभग सौ वर्ष बाद हुए हैं। आचार्य जिनभद्र वाचनाचार्य के रूप मे भी प्रसिद्ध थे एव उनके कुल का नाम निवृत्तिकुल था। उन्हे अधिकतर क्षमाश्रमण शब्द से ही सम्बोधित किया जाता था। वैसे वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर, वाचक, वाचनाचार्य आदि शब्द एकार्थक भी हैं। विविध उल्लेखो के आधार पर आचार्य जिनभद्र का उत्तरकाल वि० स० ६५० के आसपास सिद्ध होता है। उन्होंने

विशेषावश्यकभाष्य आदि नौ ग्रंथो का निर्माण किया था। इनमें से सात ग्रन्थ पद्यबद्ध प्राकृत मे हैं। एक ग्रन्थ—अनुयोगद्वारचूर्णि प्राकृत गद्य में है जो जिनदासकृत अनुयोगद्वारचूर्णि तथा हरिभद्रकृत अनुयोगद्वारवृत्ति में अक्षरशः उद्धृत की गई है। उनकी अन्तिम कृति विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति जो कि उनके देहावसान के कारण अपूर्ण ही रह गई थी और जिसे बाद मे कोट्टार्य ने पूर्ण की थी, सस्कृत गद्य मे है। उनके एक ग्रन्थ ध्यानशतक के कर्तृत्व के विषय में अभी विद्वानो को सन्देह है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित हो बाद के आचार्यो ने उनका जो वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्र आगमो के अद्वितीय व्याख्याता थे, युगप्रधान पद के धारक थे, श्रुति आदि अन्य शास्त्रो के कुशल विद्वान् थे, विभिन्न दर्शनशास्त्र, लिपिविद्या, गणितशास्त्र, छन्द शास्त्र, शब्दशास्त्र आदि के अद्वितीय पडित थे, स्व-पर सिद्धान्त मे निपुण थे, स्वाचार-पालन मे प्रवण एवं सर्व जैन-श्रमणो मे प्रमुख थे। उत्तरवर्ती आचार्यो ने इनके लिए भाष्यसुधाम्भोधि, भाष्यपीयूषपाथोधि, भगवान् भाष्यकार, प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्प आदि अति सम्मानपूर्ण शब्दो का प्रयोग किया है। इन सब तथ्यो को देखने से यह सिद्ध होता है कि भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अपने समय के एक प्रभावशाली आचार्य थे।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य तथा पचकल्प-महाभाष्य के प्रणेता आचार्य सघदासगणि वसुदेवहिंडि-प्रथम खण्ड के प्रणेता आचार्य सघदासगणि से भिन्न हैं। वसुदेव-हिंडिकार सघदासगणि भी विशेषावश्यकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

विशेषावश्यकभाष्य :

इसमें जैन आगमो के प्राय समस्त महत्त्वपूर्ण विषयो की चर्चा है। इस भाष्य की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इसमें जैन मान्यताओ का निरूपण केवल जैन दृष्टि से न किया जाकर, इतर भारतीय दार्शनिक मान्यताओ के साथ तुलना, खण्डन, समर्थन आदि करते हुए किया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत भाष्य मे दार्शनिक दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनागामो का रहस्य समझने के लिए विशेषावश्यकभाष्य नि सदेह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इसकी उपयोगिता एव महत्ता का सबसे बडा प्रमाण यही है कि जिनभद्र के उत्तरवर्ती आगमिक व्याख्याकारो एव ग्रन्थकारो ने एतद्निरूपित सामग्री के साथ ही साथ इसकी तर्कपद्धति का भी बहुत उदारतापूर्वक उपयोग किया है। यह ग्रन्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आवश्यकसूत्र की व्याख्या के रूप मे है। इसमे आवश्यक के प्रथम अध्ययन सामायिक से सम्बन्धित निर्युक्ति-गाथाओं का व्याख्यान है जिसमें निम्नोक्त विषयो का समावेश किया गया है मगलरूप

ज्ञानपचक, निरुक्त, निक्षेप, अनुगम, नय, सामायिक की प्राप्ति, सामायिक के बाधक कारण, चारित्रलाभ, प्रवचन, सूत्र, अनुयोग, सामायिक की उत्पत्ति, गणधरवाद, सामायिक का क्षेत्र-काल, अनुयोगो का पृथक्करण, निह्नववाद, सामायिक के विविध द्वार, नमस्कार की उत्पत्ति आदि, 'करेमि भते' आदि पदो की व्याख्या। ज्ञानपचक प्रकरण मे आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के स्वरूप, क्षेत्र, विषय, स्वामी आदि का विवेचन किया गया है। साथ ही मति और श्रुत के सम्बन्ध, नयन और मन की अप्राप्यकारिता, श्रुत-निश्रित मतिज्ञान के ३३६ भेद, भाषा के स्वरूप, श्रुत के चौदह प्रकार आदि का भी विचार किया गया है। चारित्ररूप सामायिक की प्राप्ति का विचार करते हुए भाष्यकार ने कर्म की प्रकृति, स्थिति, सम्यक्त्वप्राप्ति आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। कषाय को सामायिक का बाधक बताते हुए कषाय की उत्कृष्टता एव मंदता से किस प्रकार चारित्र का घात होता है, इस पर विशेष प्रकाश डाला है। चारित्र-प्राप्ति के कारणो पर प्रकाश डालते हुए आचार्य ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से व्याख्यान किया है। सामायिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन और निरुक्ति—इन छब्बीस द्वारो से वर्णन किया है। इस वर्णन मे सामायिकसम्बन्धीसभी आवश्यक बातो का समावेश हो गया है। तृतीय द्वार निर्गम अर्थात् सामायिक की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने भगवान् महावीर के एकादश गणधरो की चर्चा की है एव गणधरवाद अर्थात् भगवान् महावीर एव गणधरो के बीच हुई चर्चा का विस्तार से निरूपण किया है। एकादश गणधरो के नाम ये हैं : १ इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा ६ मडिक, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकपित, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य, ११ प्रभास। ये पहले वेदानुयायी ब्राह्मण-पडित थे किन्तु बाद मे भगवान् महावीर के मन्तव्यो से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गये थे। यही महावीर के गणधर-प्रमुख शिष्य कहलाते हैं। इनके साथ महावीर की जिन विषयो पर चर्चा हुई थी। वे क्रमशः इस प्रकार हैं : १ आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व, २. कर्म की सत्ता, ३ आत्मा और देह का भेद, ४ शून्यवाद का निरास, ५ इहलोक और परलोक की विचित्रता, ६ बध और मोक्ष का स्वरूप, ७ देवो का अस्तित्व, ८ नारको का अस्तित्व, ९ पुण्य और पाप का स्वरूप, १० परलोक का अस्तित्व, ११ निर्वाण की सिद्धि। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए अधिष्ठातृत्व, सघातपरार्थत्व आदि अनेक हेतु दिये गये हैं। ये हेतु सांख्य आदि अन्य दर्शनो मे भी उपलब्ध हैं। आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के साथ ही साथ एकात्मवाद-

-का खडन करते हुए अनेकात्मवाद की भी सिद्धि की गई है। इसी प्रकार जीव को स्व-देहपरिमाण सिद्ध करते हुए यह बताया गया है कि अन्य पदार्थों की भाँति जीव भी नित्यानित्य है तथा विज्ञान भूतधर्म न होकर एकस्वतन्त्र तत्त्व—आत्मतत्त्व का धर्म है। कर्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए भी अनेक हेतु दिये गये है। कर्म को मूर्त सिद्ध करते हुए कर्म और आत्मा के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है तथा ईश्वर-कर्तृत्व का खंडन किया गया है। आत्मा और देह के भेद की सिद्धि मे चार्वाक-सम्मत भूतवाद का निरास किया गया है एव इन्द्रियभिन्न आत्मसाधक अनुमान प्रस्तुत करते हुए आत्मा की नित्यता एव अदृश्यता का प्रतिपादन किया गया है। शून्यवाद के निरास के प्रसग पर वायु, आकाश आदि तत्त्वो की सिद्धि की गई है तथा भूतों की सजीवता का निरूपण करते हुए हिंसा-अहिंसा के विवेक पर प्रकाश डाला गया है। सुधर्मा का इहलोक और परलोकविषयक सशय दूर करने के लिए कर्म-वैचित्र्य से भव-वैचित्र्य की सिद्धि की गई है एव कर्मवाद के विरोधी स्वभाववाद का निरास कर कर्मवाद की स्थापना की गई है। मडिक के सशय का निवारण करने के लिए विविध हेतुओ से बध और मोक्ष की सिद्धि की गई है तथा मुक्त आत्माओ के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार देव, नारक, पुण्य-पाप, पर-भव और निर्वाण की सत्ता सिद्ध करते हुए जैनदर्शना-भिमत निर्वाण आदि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। सामायिक के ग्यारहवें द्वार समवतार का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने अनुयोगो—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के पृथक्करण की चर्चा की है और बताया है कि आर्य वज्र के बाद होने वाले आर्य रक्षित ने भविष्य मे मति–मेधा–धारणा का नाश होना जानकर अनुयोगो का विभाग कर दिया। उस समय तक सब सूत्रो की व्याख्या चारो प्रकार के अनुयोगों से होती थी। आर्य रक्षित ने इन सूत्रो का निश्चित विभाजन कर दिया। चरणकरणानुयोग मे कालिक श्रुतरूप ग्यारह अग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्र रखे। धर्मकथानुयोग मे ऋषिभाषितो का समावेश किया। गणितानुयोग मे सूर्यप्रज्ञप्ति को रखा। द्रव्यानुयोग मे दृष्टिवाद को समाविष्ट किया। इसके बाद उन्होने पुष्पमित्र को गणिपद पर प्रतिष्ठित किया। इसे गोष्ठामाहिल ने अपना अपमान समझा और वह ईर्ष्यावश सघ से अलग हो अपनी नई मान्यताओं का प्रचार करने लगा। यही गोष्ठामाहिल सप्तम निह्नव के रूप मे प्रसिद्ध है। निर्युक्तिकारनिर्दिष्ट सात निह्नवो मे शिवभूति बोटिक नामक एक और निह्नव मिलाकर भाष्यकार जिनभद्र ने प्रस्तुत भाष्य मे निम्नलिखित -आठ निह्नवो की मान्यताओ का वर्णन किया है १ जमालि, २ तिष्यगुप्त,

३ आषाढभूति, ४ अश्वमित्र, ५ गग, ६ रोहगुप्त–षडुलूक, ७ गोष्ठामाहिल, ८ शिवभूति । भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के १४ वर्ष बाद प्रथम तथा १६ वर्ष बाद द्वितीय निह्नव हुआ । शेष निह्नव क्रमश. महावीर-निर्वाण के २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ और ६०९ वर्ष बाद हुए । इनकी मान्यताएँ आठ प्रकार के निह्नववाद के रूप मे प्रसिद्ध है । अपने अभिनिवेश के कारण आगमिक परपरा से विरुद्ध तत्त्व-प्रतिपादन करनेवाला निह्नव कहलाता है । अभिनिवेशरहित अर्थ-विवाद निह्नववाद की कोटि मे नही आता क्योकि इस प्रकार के विवाद का प्रयोजन यथार्थ तत्त्व-निर्णय है, न कि अपने अभिनिवेश का मिथ्या पोषण । निह्नव समस्त जिनप्रवचन को प्रमाणभूत मानता हुआ भी उसके किसी एक अश का परपरा से विरुद्ध अर्थ करता है एव उस अर्थ का जनता मे प्रचार करता है । प्रथम निह्नव जमालि ने बहुरत मत का प्रचार किया । इस मत के अनुसार कोई भी क्रिया एक समय मे न होकर बहु—अनेक समय में होती है । द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीवप्रादेशिक मत का प्रचार किया । इस मत के अनुसार जीव का वह चरम प्रदेश जिसके बिना वह जीव नही कहलाता और जिसके होने पर ही वह जीव कहलाता है, वास्तव मे जीव है । उसके अतिरिक्त अन्य प्रदेश तो उसके अभाव मे अजीव ही है क्योकि उसी से वे सब जीवत्व प्राप्त करते हैं । तृतीय निह्नव आषाढभूति ने अव्यक्त मत का प्रचार किया । इस मत के अनुसार किसी को साधुता-असाधुता आदि का निश्चय नही हो सकता । अत. किसी को वन्दना-नमस्कार आदि नही करना चाहिए । चतुर्थ निह्नव अश्वमित्र ने सामुच्छेदिक मत का प्रचार किया । समुच्छेद का अर्थ है जन्म होते ही सर्वथा नाश हो जाना । सामुच्छेदिक मत इसी सिद्धान्त का समर्थक है । पचम निह्नव गग ने द्वैक्रियवाद का प्रचार किया । एक समय मे दो क्रियाओ के अनुभव की शक्यता का समर्थन करना द्वैक्रियवाद है । षष्ठ निह्नव रोहगुप्त–षडुलूक ने त्रैराशिक मत का प्रचार किया । इस मत के अनुसार ससार मे जीव, अजीव और नोजीव—इस तरह तीन प्रकार की राशियाँ है । रोहगुप्त का नाम षडुलूक क्यों रखा गया, इसका समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि उसका नाम तो रोहगुप्त है किन्तु गोत्र उलूक है । उलूक गोत्रीय रोहगुप्त ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन षट् पदार्थो (वैशेषिक मत) का प्ररूपण किया अत. उसका नाम षट् और उलूक के सयोग से षडुलूक हो गया । सप्तम निह्नव गोष्ठामाहिल ने अबद्धिक मत का प्रचार किया । इस मत के अनुसार जीव और कर्म का बध नही अपितु स्पर्शमात्र होता है । अष्टम निह्नव शिवभूति–बोटिक ने दिगम्बर मत का प्रचार किया । इस मत के अनुसार वस्त्र कषाय का हेतु होने से परिग्रहरूप है अत· त्याज्य है । निह्नववाद के बाद सामायिक के अनुमत आदि

शेष द्वारो का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का व्याख्यान प्रारभ किया। इसमे नमस्कार का उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह द्वारो से विवेचन किया है। सिद्ध नमस्कार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने कर्मस्थिति, समुद्घात, शैलेशी अवस्था, ध्यान आदि के स्वरूप का भी पर्याप्त विवेचन किया है। सिद्ध का उपयोग साकार है अथवा निराकार, इसकी चर्चा करते हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का विचार किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमश होते है या युगपद्, इस प्रश्न पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। भाष्यकार ने इस मत का समर्थन किया है कि केवली को भी एक-साथ दो उपयोग नही हो सकते अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन भी क्रमश ही होते है, युगपद् नही। नमस्कार-भाष्य के बाद 'करेमि भते' इत्यादि सामायिक-सूत्र के मूल पदो का व्याख्यान है। इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में जैन आचार-विचार के मूलभूत समस्त तत्त्वो का सुव्यवस्थित एव सुप्ररूपित सग्रह कर लिया है, यह सुस्पष्ट है। इसमें गूढतम दार्शनिक मान्यता से लेकर सूक्ष्मतम आचारविषयक विधि-विधान का सक्षिप्त किन्तु पर्याप्त विवेचन है।

जीतकल्पभाष्य :

प्रस्तुत भाष्य, भाष्यकार जिनभद्र की अपनी ही कृति जीतकल्पसूत्र पर है। इसमे बृहद्कल्प-लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पचकल्प-महाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो की अनेक गाथाएँ अक्षरश उद्धृत हैं। ऐसी स्थिति में इसे एक सग्रह-ग्रन्थ मानना भी सभवत उचित ही है। इसमें प्रायश्चित्त के विधि-विधान की मुख्यता है। प्रायश्चित्त का शब्दार्थ करते हुए भाष्यकार ने लिखा है जो पाप का छेद करता है वह पायच्छित्त—प्रायश्चित्त है अथवा प्राय- जिससे चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित—प्रायश्चित्त है। जीतकल्पाभिमत जीत-व्यवहार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पाँचो प्रकार के व्यवहार का विवेचन किया है। जो व्यवहार आचार्य-परपरा से प्राप्त हो, उत्तम पुरुषो द्वारा अनुमत हो, बहुश्रुतो द्वारा सेवित हो वह जीत-व्यवहार है। इसका आधार आगमादि नही अपितु परपरा है। प्रायश्चित्त का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त के अठारह, बत्तीस एवं छत्तीस स्थानो का निरूपण किया है। प्रायश्चित्तदाताओ की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए आचार्य ने बताया है कि प्रायश्चित्त देने की योग्यता रखने वाले केवली अथवा चतुर्दश-पूर्वधर का वर्तमान युग में अभाव होने पर भी कल्प (बृहत्कल्प), प्रकल्प (निशीथ) तथा व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्तदान की क्रिया सरलतापूर्वक

सम्पन्न हो सकती है। चारित्र की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का व्यवहार अनिवार्य है। सापेक्ष प्रायश्चित्तदान से होने वाले लाभ एव निरपेक्ष प्रायश्चित्तदान से होनेवाली हानि का विचार करते हुए कहा गया है कि प्रायश्चित्त देते समय दाता के हृदय मे दयाभाव रहना चाहिए। जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति-अशक्ति का पूरा ध्यान रखना चाहिए। प्रायश्चित्त के विधान का विशेष निरूपण करते हुए भाष्यकार ने प्रसगवशात् भक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण तथा पादपोपगमनरूप मारणातिक साधनाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराचिक—इन दस प्रकार के प्रायश्चित्त का स्वरूप बताते हुए तत्सम्बन्धी अपराध-स्थानो का भी वर्णन किया गया है। प्रतिक्रमण के अपराध-स्थानो का वर्णन करते हुए आचार्य ने अर्हन्नक, धर्मरुचि आदि के उदाहरण भी दिये है। अन्त में यह भी बताया है कि अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त का सद्भाव चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी तक ही रहा। तदनन्तर इन दोनो प्रायश्चित्तो का व्यवहार बन्द हो गया।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य :

यह भाष्य बृहत्कल्प के मूल सूत्रो पर है। इसमे पीठिका के अतिरिक्त छः उद्देश है। प्राचीन भारतीय सस्कृति की दृष्टि से इस भाष्य का विशेष महत्त्व है। जैन श्रमणो के आचार का सूक्ष्म एव सतर्क विवेचन इस भाष्य की विशेषता है। पीठिका में मगलवाद, ज्ञानपचक, अनुयोग, कल्प, व्यवहार आदि पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम उद्देश की व्याख्या में ताल-वृक्ष से सम्बन्धित विविध दोष एव प्रायश्चित्त, टूटे हुए ताल-प्रलम्ब अर्थात् ताल वृक्ष के मूल के ग्रहण से सम्बन्धित अपवाद, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के देशान्तर-गमन के कारण और उसकी विधि, श्रमणो की रुग्णावस्था के विधि-विधान, वैद्य और उनके प्रकार, दुष्काल आदि के समय श्रमण-श्रमणियो के एक-दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अशिका, पुटभेदन, शकर आदि पदो का विवेचन, नक्षत्रमास, चद्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का स्वरूप, मासकल्पविहारी साधु-साध्वियो का स्वरूप एव जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएँ, समवसरण की रचना, तीर्थंकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभाशुभ कर्म-प्रकृतियाँ, तीर्थंकर की एकरूप भाषा का विभिन्न भाषारूपो मे परिणमन, आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर अतरापण आदि पदो का व्याख्यान एव इन स्थानो पर बने हुए

उपाश्रय में रहनेवाली निर्ग्रन्थियो को लगने वाले दोष, श्रमणो के पाँच प्रकार—आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक, श्रमणियो के पाँच प्रकार—प्रवर्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा और क्षुल्लिका, श्रमण-श्रमणियो के लिए योग्य एव निर्दोष उपाश्रय, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के विहार का उपयुक्त काल एव स्थान, रात्रि-भोजन का निषेध आदि विषयो का समावेश है। ग्राम, नगर आदि का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने बारह प्रकार के ग्रामो का उल्लेख किया है . १ उत्तानकमल्लक, २. अवाङ्मुखमल्लक, ३. सम्पुटकमल्लक, ४. उत्तानकखण्डमल्लक, ५ अवाङ्मुखखण्डमल्लक, ६. सम्पुटकखण्डमल्लक, ७ भित्ति, ८. पडालि, ९ वलभी, १० अक्षाटक, ११. रुचक, १२ काश्यपक। जिनकल्पिक की चर्चा मे बताया गया है कि तीर्थङ्करो अथवा गणधर आदि केवलियो के समय मे जिनकल्पिक होते हैं। जिनकल्पिक की सामाचारी का निम्नलिखित २७ द्वारो से वर्णन किया गया है : १. श्रुत, २ सहनन, ३. उपसर्ग, ४ आतक, ५. वेदना, ६ कतिजन, ७, स्थण्डिल, ८ वसति, ९ कियच्चिर, १० उच्चार, ११ प्रस्रवण, १२ अवकाश, १३ तृणफलक, १४ सरक्षणता, १५ संस्थापनता, १६ प्राभृतिका, १७ अग्नि, १८ दीप, १९ अवधान, २० वत्स्यथ, २१ भिक्षाचार्या, २२ पानक, २३ लेपालेप, २४ अलेप, २५ आचाम्ल, २६ प्रतिमा, २७ मासकल्प। स्थविरकल्पिकों की चर्चा करते हुए आचार्य ने बताया है कि स्थविरकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति जिनकल्पिक के ही समान है। विहार-वर्णन मे निम्नोक्त बातो का विशेष विचार किया है विहार का समय, विहार करने के पूर्व गच्छ के निवास एव निर्वाहयोग्य क्षेत्र का परीक्षण, उत्सर्ग तथा अपवाद की दृष्टि से योग्य-अयोग्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षको का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रति-लेखना के निमित्त गमनागमन की विधि, विहार-मार्ग एवं स्थण्डिलभूमि, जल, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, सम्भवित उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र मे प्रवेश करने की विधि, भिक्षाचर्या द्वारा उस क्षेत्र के निवासियो की मनोवृत्ति की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की सुलभता-दुर्लभता का ज्ञान, विहार करने के पूर्व वसति के स्वामी की अनुमति, विहार करते समय शुभ शकुन-दर्शन, विहार के समय आचार्य, बालदीक्षित, वृद्धसाधु आदि का सामान (उपधि) ग्रहण करने की विधि, प्रतिलिखित क्षेत्र में प्रवेश एव शुभाशुभ शकुनदर्शन, वसति में प्रवेश करने की विधि, वसति में प्रविष्ट होने के बाद आचार्य आदि का जिनचैत्यो के वन्दन के निमित्त गमन, मार्ग मे गृह-जिनमदिरो के दर्शन, स्थापनाकुलो की व्यवस्था, स्थापनाकुलो मे जाने योग्य अथवा भेजने योग्य वैयावृत्यकार के गुण-दोष की परीक्षा, स्थापनाकुलो में से विधिपूर्वक

उचित द्रव्यों का ग्रहण, एक-दो-तीन गच्छयुक्त वसति से भिक्षाग्रहण करने की विधि। गच्छवासियो—स्थविरकल्पिको की सामाचारी से सम्बन्धित निम्नोक्त बातो पर भी आचार्य ने प्रकाश डाला है १ प्रतिलेखना–वस्त्रादि की प्रतिलेखना का काल, प्रतिलेखना के दोष और प्रायश्चित्त, २ निष्क्रमण—उपाश्रय से बाहर निकलने का समय, ३. प्राभृतिका—गृहस्थ आदि के लिए तैयार किये हुए गृह आदि मे रहने न रहने की विधि, ४ भिक्षा—पिण्ड आदि के ग्रहण का समय, भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक उपकरण आदि, ५ कल्पकरण—पात्र-धावन की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप के लाभ, ६ गच्छशतिकादि–सात प्रकार की सौवीरिणियाँ (१) आधाकर्मिक, (२) स्वगृहयतिमिश्र, (३) स्वगृह-पाषण्डमिश्र, (४) यावदर्थिकमिश्र, (५) क्रीतकृत, (६) पूतिकर्मिक, (७) आत्मार्थकृत, ७ अनुयान–रथयात्रा का वर्णन एव तद्विषयक अनेक प्रकार के दोष, ८ पुर कर्म—भिक्षादान के पूर्व शीतल जल से हस्त आदि धोने से लगने वाले दोष, पुर कर्म और उदकार्द्रदोष मे अन्तर, पुर कर्म सम्बन्धी प्रायश्चित्त, ९ ग्लान—रुग्ण साधु की सेवा से होने वाली निर्जरा, रुग्ण साधु के लिए पथ्यापथ्य की गवेषणा, चिकित्सा के निमित्त वैद्य के पास जाने-आने की विधि, वैद्य से ग्लान साधु के विषय मे बातचीत करने की विधि, ग्लान साधु के लिए उपाश्रय में आये हुए वैद्य के साथ व्यवहार करने की विधि, वैद्य के लिए भोजनादि एव औषधादि के मूल्य की व्यवस्था, रुग्ण साधु को निर्दयतापूर्वक उपाश्रय आदि मे छोडकर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष एव उनका प्रायश्चित्त, १० गच्छप्रतिबद्धयथालदिक—वाचना आदि कारणो से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालंदिक कल्पधारियो के साथ वदना आदि व्यवहार, ११ उपरिदोष–ऋतुबद्ध काल से अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष, १२ अपवाद–एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण। आगे आचार्य ने यह भी बताया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर इस प्रकार दो भागो मे बसे हुए हो तो अन्दर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र मे दो मास तक रहना विहित है। निर्ग्रन्थियो—श्रमणियो—साध्वियो के आचारविषयक विधि-विधानो की चर्चा करते हुए प्रस्तुत भाष्य मे निम्न बातो का विचार किया गया है मासकल्प की मर्यादा, विहार-विधि, समुदाय का गणधर और उसके गुण, गणधर द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, भडौंच मे बौद्ध श्रावको द्वारा साध्वियो का अपहरण, साध्वियो के विचरने योग्य क्षेत्र, वसति आदि, विधर्मी आदि की ओर से होने वाले उपद्रवो से रक्षा, भिक्षा के लिए जाने वाली साध्वियो की सख्या, वर्षाऋतु के अतिरिक्त एक स्थान पर रहने की अवधि। स्थविर-कल्प और जिनकल्प इन दोनो अवस्थाओ में कौनसी अवस्था प्रधान है? इस

प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने स्याद्वादी भाषा में लिखा है कि निष्पादक और निष्पन्न इन दो दृष्टियो से दोनो ही प्रधान है। स्थविरकल्प सूत्रार्थग्रहण आदि दृष्टियो से जिनकल्प का निष्पादक है, जबकि जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि दृष्टियो से निष्पन्न है। इस प्रकार दोनो ही अवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण एव प्रधान है। इस वक्तव्य को विशेष स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने गुहासिंह, दो स्त्रियो और दो गोवर्गो के उदाहरण भी दिये है। श्रमण-श्रमणियो के लिए रात्रि अथवा विकाल मे अध्वगमन का निषेध करते हुए भाष्यकार ने अध्व के दो भेद किये हैं पथ और मार्ग। जिसके बीच में ग्राम, नगर आदि कुछ भी न हो वह पन्थ है। जो ग्रामानुग्राम की परम्परा से युक्त हो वह मार्ग है। अपवादरूप से रात्रिगमन की छूट है किन्तु उसके लिए अध्वोपयोगी उपकरणो का सग्रह तथा योग्य सार्थ का सहयोग आवश्यक है। सार्थ पाँच प्रकार का है. १ भडी, २, बहिलक, ३ भारवह, ४ औदरिक, ५ कार्पटिक। इसी प्रकार आचार्य ने आठ प्रकार के सार्थवाहो और आठ प्रकार के आदियात्रिको—सार्थ-व्यवस्थापको का भी उल्लेख किया है। श्रमण-श्रमणियो के विहार-योग्य क्षेत्र की चर्चा मे बताया है कि उत्सर्गरूप से विहार के लिए आर्यक्षेत्र ही श्रेष्ठ है। आर्य पद का निम्नोक्त निक्षेपो से व्याख्यान किया गया है. १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ क्षेत्र, ५. जाति, ६ कुल, ७ कर्म, ८ भाषा, ९ शिल्प, १० ज्ञान, ११ दर्शन, १२ चारित्र। आर्यजातियाँ छ प्रकार की हैं. १ अम्बष्ठ, २ कलिन्द, ३ वैदेह, ४ विदक, ५ हारित, ६ तन्तुण। आर्यकुल भी छ. प्रकार के है. १ उग्र, २ भोग, ३ राजन्य, ४ क्षत्रिय, ५ ज्ञात-कौरव, ६ इक्ष्वाकु। द्वितीय उद्देश के भाष्य मे निम्नोक्त विषयो का व्याख्यान है उपाश्रयसम्बन्धी दोष एव यतनाएँ, सागरिक के आहारादि के त्याग की विधि, दूसरो के यहाँ से आई हुई भोजन-सामग्री के दान की विधि, सागरिक के भाग के पिण्ड का ग्रहण, विशिष्ट व्यक्तियो के निमित्त निर्मित भक्त, उपकरण आदि का अग्रहण, वस्त्रादि उपधि के परिभोग की विधि एव मर्यादा, रजोहरण-ग्रहण की विधि। वस्त्रादि-उपधि के परिभोग की चर्चा मे पाच प्रकार के वस्त्रो का स्वरूप बताया गया है १ जांगिक, २ भांगिक, ३ सानक, ४ पोतक, ५ तिरीटपट्टक। रजोहरण-ग्रहण की चर्चा मे पाँच प्रकार के रजोहरणो के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है १ औणिक, २ औष्ट्रिक, ३ शनक, ४ वच्चकचिप्पक, ५ मुञ्जचिप्पक। तृतीय उद्देश की व्याख्या में भाष्यकार ने निम्न बातो पर प्रकाश डाला है निर्ग्रन्थों का निर्ग्रन्थियो के और निर्ग्रन्थियों का निर्ग्रन्थो के उपाश्रय मे प्रवेश, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो द्वारा सलोमादि चर्म का उपयोग, कृत्स्न एवं अकृत्स्न वस्त्र का सग्रह व उपयोग,

भिन्न एव अभिन्न वस्त्र का सग्रह व उपयोग, अवग्रहानन्तक एव अवग्रहपट्टक का उपयोग, निर्ग्रन्थी द्वारा वस्त्रादिग्रहण, नवदीक्षित श्रमण-श्रमणियो के लिए उपधि की मर्यादा, प्रथम वर्षाऋतु मे उपधिग्रहण की विधि, वस्त्रविभाजन की निर्दोष विधि, अभ्युत्थान-वदन आदि करने का विधान, किसी घर के अन्दर अथवा दो घरो के बीच सोने-बैठने का निषेध, शय्या-सस्तारक की याचना एव रक्षा, असुरक्षित स्थान का त्याग। भिन्न एव अभिन्न वस्त्र का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने वस्त्र फाडने से होने वाली हिंसा अहिंसा की चर्चा की है। इस चर्चा में निम्नोक्त बातो का विचार किया गया है द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का स्वरूप, हिंसा में रागादि की तीव्रता और तीव्र कर्मबध, रागादि की मदता और मद कर्मबन्ध, हिंसक में ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबन्ध का न्यूनाधिक्य, अधिकरण की विविधता से कर्मबन्ध का वैविध्य, हिंसक की देहादि की शक्ति के कारण कर्मबन्ध की विचित्रता। अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक के उपयोग की चर्चा करते हुए आचार्य ने इस बात का समर्थन किया है कि निर्ग्रन्थो के लिए इन दोनो का उपयोग वर्जित है जबकि निर्ग्रन्थियो के लिए उनका उपयोग अनिवार्य है। इस प्रसग पर अपूर्ण वस्त्र-धारण का निषेध करते हुए भाष्यकार ने निग्रन्थियो के अपहरण आदि की चर्चा की है। गर्भाधान की चर्चा करते हुए बताया गया है कि पुरुष-ससर्ग के अभाव में भी निम्नोक्त पाच कारणो से गर्भाधान हो सकता है। १ दुर्विवृत एव दुर्निषण्ण स्त्री की योनि में पुरुषनिसृष्ट शुक्रपुद्गल किसी तरह प्रविष्ट हो जाए, २ स्त्री स्वय पुत्रकामना से उसे अपनी योनि मे प्रविष्ट करे, ३ अन्य कोई उसे उसकी योनि में रख दे, ४ वस्त्र-ससर्ग से शुक्रपुद्गल स्त्री-योनि में प्रविष्ट हो जाए, ५ उदकाचमन से स्त्री के भीतर शुक्रपुद्गल प्रविष्ट हो जाए। चतुर्थ उद्देश की व्याख्या में निम्नलिखित विषयो का विवेचन किया गया है. हस्तकर्म, मैथुन और रात्रिभोजन के लिए अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त, दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्यकारक के लिए पाराचिक प्रायश्चित्त, साधर्मिक-स्तैन्य, अन्यधार्मिक-स्तैन्य एव हस्ताताल के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त, पडक, क्लीब और वातिक के लिए प्रव्रज्या का निषेध, अविनीत, विकृतिप्रतिबद्ध और अव्यवशमितकषाय के लिए वाचना का वर्जन, दुष्ट, मूढ एव व्युद्ग्राहित के लिए उपदेश का निषेध, रुग्ण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो की यतनापूर्वक सेवा-शुश्रूषा, कालातिक्रान्त एव क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि की अकल्प्यता, अकल्प्य अशनादि का निर्दोष उपयोग एव विसर्जन, अशनादिक की कल्प्यता और अकल्प्यता, गणान्तरोपसम्पदा का ग्रहण और उसकी यथोचित विधि, मृत्युप्राप्त भिक्षुक के शरीर की परिष्ठापना, भिक्षुक का गृहस्थ के साथ अधिकरण—झगडा और उसका व्यवशमन, परिहारतप

में स्थित भिक्षुक का भक्तपानादि, विविध नदियो को पार करने की मर्यादाएँ, विविध ऋतुओ के लिए योग्य उपाश्रय। हस्तकर्म का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने आठ प्रकार के हस्तकर्म का उल्लेख किया है - छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षार। मैथुन का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने लिखा है कि मैथुनभाव रागादि से रहित नही होता अत उसके लिए किसी प्रकार के अपवाद का विधान नही है। पडक आदि की प्रव्रज्या का निषेध करते हुए आचार्य ने पडक के सामान्यतया छ' लक्षण बताये हैं १ महिलास्वभाव, २. स्वरभेद, ३ वर्णभेद, ४ महन्मेढ्र, ५. मृदुवाक्, ६. सशब्द-अफेनक मूत्र। इसी प्रसग पर भाष्यकार ने एक ही जन्म मे पुरुष, स्त्री और नपुसकवेद का अनुभव करने वाले कपिल का दृष्टान्त भी दिया है। पचम उद्देश की व्याख्या मे निम्न विषयो का समावेश है - गच्छसम्बन्धी शास्त्र स्मरण और तद्विषयक व्याघात, क्लेशयुक्त चित्त से गच्छ मे रहने अथवा स्वगच्छ को छोडकर अन्य गच्छ मे चले जाने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, नि शक तथा सशक रात्रिभोजन, उद्गार—वमनादिविषयक दोष एव प्रायश्चित्त, आहार-प्राप्ति के लिए प्रयत्न एव यातनाएँ, निर्ग्रन्थीविषयक विशेष विधि-विधान। षष्ठ उद्देश के भाष्य मे श्रमण-श्रमणियो से सम्बन्धित निम्न विषयो पर प्रकाश डाला गया है: निर्दोष वचनो का प्रयोग एव अलीकादि वचनो का अप्रयोग, प्राणातिपात आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्तो के प्रस्तार—विविध प्रकार, कटक आदि का उद्धरण, दुर्गम मार्ग का अनालम्बन, क्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी की समुचित चिकित्सा, साधुओं के परिमथ अर्थात् व्याघात और उनका स्वरूप, विविध कल्पस्थितियाँ एव उनका स्वरूप। भाष्य के अन्त में कल्पाध्ययन शास्त्र के अधिकारी की योग्यताओ का निरूपण है।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य का जैन साहित्य के इतिहास मे ही नही, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के इतिहास में भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें भाष्यकार के समय की एवं अन्यकालीन भारतीय सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक एव धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की प्रचुरता का दर्शन होता है। जैन साधुओ के लिए तो इसका व्यावहारिक महत्त्व है ही।

बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य :

यह भाष्य अपूर्ण ही उपलब्ध है। उपलब्ध भाष्य में पीठिका एव प्रारभ के दो उद्देश पूर्ण हैं तथा तृतीय उद्देश अपूर्ण है। इसमें बृहत्कल्प-लघुभाष्य में प्रतिपादित विषयो का ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। कही-कही गाथाओ में व्यतिक्रम दृष्टिगोचर होता है।

व्यवहारभाष्य :

यह भाष्य भी साधुओ के आचार से सम्बन्धित है। इसमें भी बृहत्कल्प-लघुभाष्य की ही भांति प्रारभ में पीठिका है। पीठिका के प्रारम्भ में व्यवहार, व्यवहारी एव व्यवहर्तव्य का स्वरूप वताया गया है। व्यवहार में दोषो की सभावना को दृष्टि में रखते हुए प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त आदि दृष्टियो से व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच में अनेक प्रकार के दृष्टान्त भी दिये गये हैं। पीठिका के बाद सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति का व्याख्यान प्रारभ होता है। प्रथम उद्देश की व्याख्या में भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदो का निक्षेपपूर्वक विवेचन किया गया है। आधाकर्म आदि से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के लिए विभिन्न प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और कालग्घु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु तथा अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से मूलगुण एव उत्तरगुण दोनो ही परिशुद्ध होते हैं। इनकी परिशुद्धि से ही चारित्र की शुद्धि होती है। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह उत्तरगुणान्तर्गत है। इनके क्रमश ४२, ८, २५, १२, १२ और ४ भेद है। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं निर्गत और वर्तमान। जो प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हैं वे निर्गत हैं। जो प्रायश्चित्त में विद्यमान हैं वे वर्तमान है। प्रायश्चित्तार्ह अर्थात् प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं : उभयतर, आत्मतर, परतर और अन्यतर। जो स्वय तप करता हुआ दूसरो की सेवा भी कर सकता है वह उभयतर है। जो केवल तप ही कर सकता है वह आत्मतर है। जो केवल सेवा ही कर सकता है वह परतर है। जो तप और सेवा इन दोनो में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है वह अन्यतर है। शिथिलतावश गच्छ छोड कर पुन गच्छ में सम्मिलित होने वाले साधु के लिए विविध प्रायश्चित्तो का विधान करते हुए भाष्यकार ने पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न तथा ससक्त के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। पार्श्वस्थ दो प्रकार के होते हैं : देशतः पार्श्वस्थ और सर्वत. पार्श्वस्थ। सर्वतः पार्श्वस्थ के तीन भेद हैं पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि के पार्श्व अर्थात् समीप—तट पर है वह पार्श्वस्थ है। जो ज्ञानादि के प्रति स्वस्थ भाव रखते हुए भी तद्विषयक उद्यम से दूर रहता है वह प्रास्वस्थ है। जो मिथ्यात्व आदि पाशो में स्थित है वह पाशस्थ है। जो स्वय परिभ्रष्ट है तथा दूसरो को भी भ्रष्टाचार की शिक्षा देता है वह यथाच्छन्द—इच्छाछन्द है। जो ज्ञानाचार आदि की विराधना करता है वह कुशील है। अवसन्न देशत.

और सर्वत भेद से दो प्रकार का है। आवश्यकादि में हीनता, अधिकता, विपर्यय आदि करने वाला देशावसन्न है। समय पर सम्तारक आदि का प्रत्युपेक्षण न करने वाला सर्वावसन्न है। जो पार्श्वस्थ आदि का ससर्ग प्राप्त कर उन्ही के समान हो जाता है वह ससक्त है। साधुओ के विहार की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने एकाकी विहार का निपेध किया है तथा तत्सम्बन्धी दोषो का निरूपण किया है। इस प्रसग पर एक वणिक् का दृष्टान्त देते हुए आचार्य ने बताया है कि जहाँ राजा, वैद्य, धनिक, नियतिक और रूपयक्ष—ये पाच प्रकार के लोग न हो वहाँ धन और जीवन का नाश हुए बिना नही रहता। अथवा राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य तथा कुमार से परिगृहित राज्य गुणविशाल होता है। अपनी उन्नति की कामना वाले व्यक्ति को इसी प्रकार के राज्य मे रहना चाहिए। जो उभय योनि (मातृपक्ष तथा पितृपक्ष) से शुद्ध है, प्रजा से आय का केवल दशम भाग ग्रहण करता है, लोकाचार एव नीतिशास्त्र मे निपुण है वही वास्तव में राजा है, शेष राजाभास है। जो प्रात-काल उठकर सर्वप्रथम शरीरशुद्धि आदि आवश्यक कार्यो से निवृत्त होता है एव आस्थानिका मे जाकर राज्य के सब कार्यों की विचारणा करता है वह युवराज है। जो गम्भीर है, मार्दवयुक्त है, कुशल है, जाति एव विनयसम्पन्न है तथा युवराज के साथ सब कार्यो का प्रेक्षण करता है वह महत्तरक है। जो व्यवहारकुशल एव नीतिसम्पन्न है तथा जनपद, राजधानी व राजा का हितचिन्तन करता है वह अमात्य है। जो दुर्दान्त लोगो का दमन करता हुआ सग्रामनीति मे अपनी कुशलता का परिचय देता है वह कुमार है। जो वैद्यकशास्त्र का पडित है तथा माता-पिता आदि से सम्बन्धित रोगो को निर्मूल कर स्वास्थ्य प्रदान करता है वह वैद्य है। जिसके परम्परा से प्राप्त करोडो की सम्पत्ति हो वह धनिक है। जिसके यहाँ निम्नलिखित १७ प्रकार के धान्य के भाण्डार भरे हुए हो वह नियतिक है १ शालि, २ यव, ३ कोद्रव, ३ व्रीहि, ५ रालक, ६ तिल, ७. मुद्ग, ८. माष, ९. चावल, १० चणक, ११ तुवरी, १२ मसुरक, १३ कुलत्थ, १४ गोधूम, १५. निष्पाव १६ अतसी, १७ सण। जो माढर और कौण्डिन्य की दण्डनीति मे कुशल है, किसी से भी लचा—उत्कोच नही लेता तथा किसी प्रकार का पक्षपात नही करता वह रूपयक्ष है। रूपयक्ष का शब्दार्थ है मूर्तिमान् धर्मैकनिष्ठ देव। जिस प्रकार राजा आदि के अभाव मे धन-जीवन की रक्षा असभव है उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गीतार्थ के अभाव में चारित्रधर्म की रक्षा असभव है। द्वितीय उद्देश की व्याख्या में द्वि, साधर्मिक, विहार आदि पदो का विवेचन है। विविध प्रकार के तपस्वियो एव रोगियो की सेवा का विधान करते हुए भाष्यकार ने क्षिप्तचित्त तथा दीप्तचित्त साधुओ की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक विधि बताई है। व्यक्ति क्षिप्तचित्त क्यो

होता है ? क्षिप्तचित्त होने के तीन कारण हैं : राग, भय और अपमान। दीप्तचित्त क्षिप्तचित्त से ठीक विरोधी स्वभाव का होता है। क्षिप्तचित्त होने का मुख्य कारण अपमान है जबकि दीप्तचित्त होने का मुख्य कारण सम्मान है। विशिष्ट सम्मान के बाद मद के कारण, लाभमद से मत्त होने पर अथवा दुर्जय शत्रुओ को जीतने के मद से उन्मत्त होने के कारण व्यक्ति दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में एक अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्राय मौन रहता है जबकि दीप्तचित्त अनावश्यक बक-बक किया करता है। तृतीय उद्देश के भाष्य मे इच्छा, गण आदि शब्दो का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है एव गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियाँ धारण करनेवालो की योग्यताओ का विचार किया गया है। जो एकादशाग-सूत्रार्थधारी है, नवम पूर्व के ज्ञाता है, कृतयोगी है, बहुश्रुत हैं, बह्वागम है, सूत्रार्थविशारद हैं, धीर हैं, श्रुतनिघर्ष हैं, महाजन है वे ही आचार्य आदि पदवियो के योग्य है। चतुर्थ उद्देश की व्याख्या मे साधुओ के विहार से सम्बन्धित विधि-विधान है। शीत और उष्णकाल के आठ महीनो में आचार्य तथा उपाध्याय को एक भी अन्य साधु साथ मे न होने पर विहार नही करना चाहिए। गणावच्छेदक को साथ मे कम से-कम दो साधु होने पर ही विहार करना चाहिए। आचाय तथा उपाध्याय को कमसे-कम अन्य दो साधु साथ मे होने पर ही अलग चातुर्मास करना (वर्षाऋतु मे एक स्थान पर रहना) चाहिए। गणावच्छेदक के लिए चातुर्मास मे कम-से-कम तीन अन्य साधुओ का सहवास अनिवार्य है। प्रस्तुत उद्देश की व्याख्या मे निम्नोक्त विषयो पर भी प्रकाश डाला गया है जातसमाप्तकल्प, जातअसमाप्तकल्प, अजातसमाप्त-कल्प, अजातअसमाप्तकल्प, वर्षाकाल के लिए उपयुक्त स्थान, त्रैवार्षिकस्थापना, गणधरस्थापना, ग्लान की सेवा-शुश्रूषा, अवग्रह का विभाग, आहारादिविषयक अनुकम्पा इत्यादि। पचम उद्देश की व्याख्या में साध्वियो के विहारसम्बन्धी नियमो पर प्रकाश डाला गया है। षष्ठ उद्देश के भाष्य मे साधु-साध्वियो के सम्बन्धियो के यहाँ से आहारादि ग्रहण करने के नियमो का निरूपण किया गया है। सप्तम उद्देश के भाष्य मे अन्य समुदाय से आनेवाले साधु-साध्वियो को अपने समुदाय मे लेने के नियमो पर प्रकाश डाला गया है। जो साधु-साध्वियाँ साभोगिक है अर्थात् एक ही आचार्य के सरक्षण में रहते है उन्हे अपने आचार्य की अनुमति प्राप्त किये बिना अन्य समुदाय से आने वाले साधु-साध्वियो को अपने सघ मे सम्मिलित नही करना चाहिए। यदि किसी स्त्री को एक सघ मे दीक्षा लेकर दूसरे सघ की साध्वी बनना हो तो उसे दीक्षा नही देनी चाहिए। उसे जिस सघ मे रहना हो उसी सघ में दीक्षा ग्रहण करना चाहिए। पुरुष के लिए ऐसा नियम नही है। वह कारणवशात् एक सघ मे दीक्षा लेकर दूसरे सघ के आचार्य को

अपना गुरु बना सकता है। दीक्षा ग्रहण करने वाले के गुण-दोषो का विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया है कि कुछ लोग अपने देश-स्वभाव से ही अनेक दोषो से युक्त होते हैं। आन्ध्र में उत्पन्न हुआ हो और अक्रूर हो, महाराष्ट्र में पैदा हुआ हो और अवाचाल हो, कोशल में पैदा हुआ हो और अदुष्ट हो—ऐसा सौ मे से एक भी मिलना दुर्लभ है। अष्टम उद्देश की व्याख्या मे शयनादि के निमित्त सामग्री जुटाने एवं वापस लौटाने की विधि बताई गई है तथा आहार की मर्यादा पर प्रकाश डाला गया है। कुक्कुटी के अण्डे के बराबर के आठ कौर खाने वाला साधु अल्पाहारी कहलाता है। इसी प्रकार बारह, सोलह, चौबीस, इकतीस और बत्तीस ग्रास ग्रहण करने वाले साधु क्रमश अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमौदर्य, किञ्चिदवमौदर्य और प्रमाणाहारी कहलाते है। नवम उद्देश की व्याख्या मे भाष्यकार ने शय्यातर अर्थात् सागारिक के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र आदि आगंतुक लोगो से सम्बन्धित आहार के ग्रहण-अग्रहण के विवेक पर प्रकाश डालते हुए निर्ग्रन्थो की विविध प्रतिमाओ का स्वरूप बताया है। दशम उद्देश से सम्बन्धित भाष्य में यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा का विशेष विवेचन है। साथ ही पाँच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की सेवा—वैयावृत्य आदि का भी व्याख्यान किया गया है।

ओघनिर्युक्ति-भाष्य

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य मे ओघ, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, सयम, वैयावृत्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपघातिक, उपकरण आदि विषयो का सक्षिप्त व्याख्यान है। ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्य मे इन्ही विषयो पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य :

इसमे पिण्ड, आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, सूक्ष्मप्राभृतिका, विशोधि, अविशोधि आदि श्रमणधर्मसम्बन्धी विषयो का सक्षिप्त विवेचन है।

पचकल्प-महाभाष्य .

यह भाष्य पचकल्पनिर्युक्ति के व्याख्यान के रूप मे है। भाष्यकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा मे प्रयुक्त 'भद्रबाहु' पद का अर्थ 'सुन्दर बाहुओ से युक्त, किया है और बताया है कि अन्य भद्रबाहुओ से छेदसूत्रकार भद्रबाहु को पृथक् सिद्ध करने के लिए उनके नाम के साथ प्राचीन गोत्रीय, चरम सकलश्रुतज्ञानी और दशा-कल्प-व्यवहारप्रणेता विशेषण जोडे गये है। प्रस्तुत भाष्य में पाँच प्रकार के

कल्प का संक्षिप्त वर्णन है। पाँच प्रकार के कल्प के क्रमश छ, सात, दस, बीस और बयालीस भेद हैं। प्रथम कल्प—मनुजजीवकल्प छ प्रकार का है प्रव्राजन, मुण्डन, शिक्षण, उपस्थ, भोग और संवसन। जाति, कुल, रूप और विनयसंपन्न व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य है। निम्नोक्त बीस प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य हैं : १ बाल, २ वृद्ध, ३ नपुसक, ४ जड, ५ क्लीव, ६ रोगी, ७ स्तेन, ८ राजापकारी, ९ उन्मत्त, १० अदर्शी, ११ दास, १२ दुष्ट, १३. मूढ, १४ अज्ञानी, १५ जुंगित, १६ भयभीत, १७ पलायित, १८ निष्कासित, १९ गर्भिणी और २० बालवत्सा स्त्री। आगे क्षेत्रकल्प की चर्चा करते हुए आचार्य ने साढे पच्चीस देशों को आर्यक्षेत्र बताया है जिनमे साधु विचर सकते हैं। इन आर्य जनपदो एव उनकी राजधानियो के नाम इस प्रकार हैं १ मगध और राजगृह, २ अग और चम्पा, ३ वग और ताम्रलिप्ति, ४ कलिंग और काचनपुर, ५ काशी और वाराणसी, ६ कोशल और साकेत, ७. कुरु और गजपुर, ८ कुशावर्त और सौरिक, ९ पाचाल और काम्पिल्य, १० जगल और अहिच्छत्रा, ११ सुराष्ट्र और द्वारवता, १२ विदेह और मिथिला, १३ वत्स और कौशाबी, १४ शाडिल्य और नदीपुर, १५ मलय और भद्दिलपुर, १६ वत्स और वैराटपुर, १७ वरण और अच्छापुरी, १८. दशार्ण और मृत्तिकावती, १९ चेदि और शौक्तिकावती, २० सिंधु और वीतभय, २१ सौवीर और मथुरा, २२ सूरसेन और पापा, २३ भग और मासपुरिवट्ट, २४ कुणाल और श्रावस्ती, २५ लाट और कोटिवर्ष २५½ केकयार्ध और श्वेताम्बिका। द्वितीय कल्प के सात भेद हैं स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और संभोगकल्प। तृतीयकल्प के दस भेद हैं कल्प, प्रकल्प, विकल्प, सकल्प, उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प। चतुर्थ कल्प के अन्तर्गत नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्रकल्प, कालकल्प, दर्शनकल्प, श्रुतकल्प, अध्ययनकल्प, चारित्रकल्प आदि बीस प्रकार के कल्पो का समावेश है। पचम कल्प के द्रव्य, भाव, तदुभय, करण, विरमण, सदाधार, निर्वेश, अतर, नयातर, स्थित, अस्थित, स्थान आदि दृष्टिकोणो से बयालिस भेद किये गये हैं।

चूर्णियाँ :

जैन आगमो की प्राकृत अथवा सस्कृतमिश्रित प्राकृत व्याख्याएँ चूर्णियाँ कहलाती है। इस प्रकार की कुछ चूर्णियाँ आगमेतर साहित्य पर भी है। जैन आचार्यों ने निम्नोक्त आगमो पर चूर्णियाँ लिखी है १ आचाराग, २ सूत्रकृताग, ३ व्याख्याप्रज्ञप्ति, (भगवती), ४ जीवाभिगम, ५. निशीथ, ६ महानिशीथ, ७ व्यवहार, ८ दशाश्रुतस्कन्ध, ९ बृहत्कल्प, १०. पचकल्प, ११. ओघ-

निर्युक्ति, १२. जीतकल्प, १३ उत्तराध्ययन, १४ आवश्यक, १५ दशवैकालिक, १६ नन्दी, १७. अनुयोगद्वार, १८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति । निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियाँ लिखी गई है किन्तु वर्तमान मे एक-एक ही उपलव्व है। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प एव दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियाँ है । जिनदासगणि महत्तर की मानी जाने वाली निम्नाकित चूर्णियो का रचनाक्रम इस प्रकार है नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, ओघनिर्युक्तिचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारागचूर्णि, सूत्रकृतागचूर्णि, निशीथविशेषचूर्णि,, दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि एव बृहत्कल्पचूर्णि सस्कृतमिश्रित प्राकृत मे हैं । आवश्यकचूर्णि, अगस्त्यसिहकृत दशवैकालिकचूर्णि एव जीतकल्पचूर्णि (सिद्धसेनकृत) प्राकृत मे है ।

चूर्णिकार .

चूर्णिकार के रूप मे जिनदासगणि महत्तर का नाम विशेपरूप से उल्लेखनीय है । परम्परा से निम्न चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर की मानी जाती है निशीथविशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारागचूर्णि, सूत्रकृतागचूर्णि । उपलब्ध जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि है। बृहत्कल्पचूर्णि प्रलम्बसूरि की कृति है । अनुयोगद्वार की एक चूर्णि (अगुल पद पर) के कर्ता भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी है । यह चूर्णि जिनदासगणिकृत अनुयोगद्वारचूर्णि मे अक्षरश उद्धृत है। दशवैकालिक पर अगस्त्यसिह ने भी एक चूर्णि लिखी है । इनके अतिरिक्त अन्य चूर्णिकारो के नाम अज्ञात है ।

प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के धर्मगुरु का नाम उत्तराध्ययनचूर्णि के अनुसार वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर है तथा विद्यागुरु का नाम निशीथ-विशेषचूर्णि के अनुसार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण है । जिनदास का समय भाष्यकार आचार्य जिनभद्र और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के बीच में है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओ का प्रयोग इनकी चूर्णियो मे दृष्टिगोचर होता है तथा इनकी चूर्णियो का पूरा उपयोग आचार्य हरिभद्र को टीकाओ मे हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का समय वि स ६५०–७५० के आसपास मानना चाहिए क्योकि इनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र वि स ६५०–६६० के आसपास तथा इनके उत्तरवर्ती आचार्य हरिभद्र वि स ७५७–८२७ के आसपास विद्यमान थे। नन्दीचूर्णि के अन्त मे उसका रचना-काल शक संवत् ५९८ उल्लिखित है। इस प्रकार इस उल्लेख के अनुसार भी जिनदास का समय विक्रम की आठवी शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित है ।

जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न है। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती है जबकि चूर्णिकार सिद्धसेनसूरि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती है। इनका समय वि स १२२७ के पूर्व है, पश्चात् नही, क्योकि प्रस्तुत जीतकल्पचूर्णि की एक टीका जिसका नाम विषमपदव्याख्या है, श्रीचन्द्रसूरि ने वि स १२२७ मे पूर्ण की थी। प्रस्तुत सिद्धसेन सभवत उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य एव यशोदेवसूरि के गुरुभाई है।

बृहत्कल्पचूर्णिकार प्रलम्बसूरि वि स १३३४ के पूर्व हुए है क्योकि ताडपत्र पर लिखित प्रस्तुत चूर्णि की एक प्रति का लेखन-समय वि स १३३४ है।

दशवैकालिकचूर्णिकार अगस्त्यसिह कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर है इसके गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। इनका समय अज्ञात है। चूर्णि की भाषा, शैली आदि देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चूर्णिकार विशेष प्राचीन नही है।

नन्दीचूर्णि

यह चूर्णि मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए लिखी गयी है। इसकी व्याख्यान-शैली सक्षिप्त एव सारग्राही है। इसमें मुख्यतया ज्ञान के स्वरूप की चर्चा है। अन्त मे चूर्णिकार ने 'णिरेणगामेत्तमहासहा जिता ' आदि शब्दो मे अपना परिचय दिया है जो स्पष्ट नही है।

अनुयोगद्वारचूर्णि .

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि भी मूल सूत्रानुसारी है। इसमे नन्दीचूर्णि का उल्लेख किया गया है। सप्तस्वर, नवरस आदि का भी इसमें सोदाहरण निरूपण किया गया है। अन्त मे चूर्णिकार के नाम आदि का कोई उल्लेख नही है।

आवश्यकचूर्णि .

यह चूर्णि मुख्यतया निर्युक्त्यनुसारी है। यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओ का भी व्याख्यान किया गया है। भाषा में प्रवाह एव शैली मे ओज है। विषय-विस्तार भी अन्य चूर्णियो की अपेक्षा अधिक है। कथानको की प्रचुरता भी इसकी एक विशेषता है। इसमे ऐतिहासिक आख्यानो के विशेष दर्शन होते है। ओघनिर्युक्तिचूर्णि, गोविंदनिर्युक्ति, वसुदेवहिण्डि आदि अनेक ग्रन्थो का इसमे उल्लेख है। सस्कृत के अनेक श्लोक इसमें उद्धृत हैं। आवश्यक-

के सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने अतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के भवो की चर्चा की है तथा आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव के धनसार्थवाह आदि भवो का वर्णन किया है। ऋषभदेव के जन्म, विवाह, अपत्य आदि का वर्णन करते हुए तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर भी प्रकाश डाला है। इसी प्रसग पर आचार्य ने ऋषभदेव के पुत्र भरत की दिग्विजय-यात्रा का अति रोचक एव विद्वत्तापूर्ण वर्णन किया है। भरत का राज्याभिषेक, भरत और बाहुबलि का युद्ध, बाहुबलि को केवलज्ञान की प्राप्ति आदि घटनाओ के वर्णन में भी चूर्णिकार ने अपना कौशल दिखाया है। भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित निम्नोक्त घटनाओ का वर्णन भी प्रस्तुत चूर्णि में उपलब्ध है - धैर्य-परीक्षा, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध, लोकान्तिकागमन, इन्द्रागमन, दीक्षा–महोत्सव, उपसर्ग, अभिग्रह–पचक, अच्छदक-वृत्त, चण्डकौशिक-वृत्त, गोशालक-वृत्त, सगमककृत-उपसर्ग, देवीकृत-उपसर्ग, वैशाली आदि मे विहार, चन्दनबाला–वृत्त, गोपकृत–शलाकोपसर्ग, केवलोत्पाद, समवसरण, गणधर–दीक्षा। सामायिकसम्बन्धी अन्य विषयो को चर्चा मे आनद, कामदेव, शिवराजर्षि, गगदत्त, इलापुत्र, मेतार्य, कालिकाचार्य, चिलातिपुत्र, धर्मरुचि, तेतलीपुत्र आदि अनेक ऐतिहासिक आख्यानों के दृष्टान्त दिये गये है। तृतीय अध्ययन वदना की व्याख्या में चूर्णिकार ने वद्यावद्य का विचार करते हुए पाँच प्रकार के श्रमणो को अवद्य बताया है : १ आजीवक, २ तापस, ३. परिव्राजक, ४ तच्चणिय (तत्क्षणिक), ५. बोटिक। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन की चूर्णि मे अभयकुमार, श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनद, शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियो से सम्बन्धित अनेक कथानकों का सग्रह किया गया है। आगे के अध्ययनो में भी इसी प्रकार विविध विषयो का सदृष्टान्त व्याख्यान किया गया है।

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासकृत) :

प्रस्तुत चूर्णि निर्युक्ति का अनुसरण करती है। इसमें आवश्यकचूर्णि का भी उल्लेख है। पचम अध्ययन से सम्बन्धित चूर्णि में मासाहार, मद्यपान आदि की भी चर्चा है। चूर्णिकार ने तरगवती, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रथो का नामोल्लेख भी किया है।

उत्तराध्ययनचूर्णि :

यह चूर्णि भी निर्युक्त्यनुसारी है। इसके अत में चूर्णिकार ने अपना परिचय देते हुए अपने को 'वाणिजकुलसभूओ, कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो। गोवालियमहत्तरओ" "तेसिं सीसेण इम ....' अर्थात् वाणिज्यकुलीन,

कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर का शिष्य बताया है। इसमे आचार्य ने अपनी कृति दशवैकालिकचूर्णि का भी उल्लेख किया है।

आचारागचूर्णि

यह चूर्णि भी निर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। इसमे यत्र तत्र प्राकृत गाथाएँ एव सस्कृत श्लोक भी उद्धृत किये गये है। इन उद्धरणो के स्थल-निर्देश की ओर चूर्णिकार ने ध्यान नही दिया है।

सूत्रकृतागचूर्णि .

आचारागचूर्णि और सूत्रकृतागचूर्णि की शैली मे अत्यधिक साम्य है। इनमें सस्कृत का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। विषय-विवेचन सक्षिप्त एव स्पष्ट है। सूत्रकृताग की चूर्णि भी आचाराग आदि की चूर्णियो की ही भाँति निर्युक्त्यनुसारी है।

जीतकल्प-बृहच्चूर्णि :

सिद्धसेनसूरिप्रणीत प्रस्तुत चूर्णि मे एतत्पूर्वकृत एक अन्य चूर्णि का भी उल्लेख है। प्रस्तुत चूर्णि अथ से इति तक प्राकृत में है। इसमें जितनी गाथाएँ एव गद्याश उद्धृत है, सब प्राकृत मे है। यह चूर्णि मूल सूत्रानुसारी है। प्रारभ व अत मे चूर्णिकार ने जीतकल्पसूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को सादर नमस्कार किया है।

दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिहकृत) :

प्रस्तुत चूर्णि भाषा एव शैली दोनों दृष्टियो से सुगम है। जिनदासकृत दशवैकालिकचूर्णि की भाँति प्रस्तुत चूर्णि भी निर्युक्त्यनुसारी है। चूर्णि के अत मे चूर्णिकार ने अपना पूरा परिचय दिया है। चूर्णिकार का नाम कलश-भवमृगेन्द्र अर्थात् अगस्त्यसिंह है। चूर्णिकार के गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। ये कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के है। प्रस्तुत चूर्णिगत मूल सूत्र-पाठ, जिनदासकृतचूर्णि के मूल सूत्र-पाठ एव हारिभद्रीय वृत्ति के मूल सूत्र—इन तीनो मे कही-कही थोडा सा अतर दृष्टिगोचर होता है। यही बात निर्युक्ति-गाथाओ के विषय मे भी है। निर्युक्ति की कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जो हारिभद्रीय वृत्ति मे तो उपलब्ध है किन्तु दोनो चूर्णियो मे नही मिलती।

निशीथ-विशेषचूर्णि :

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि मूल सूत्र, निर्युक्ति एव भाष्य के विवेचन के रूप में है। इसमे सस्कृत का अल्प प्रयोग है। प्रारम्भ में पीठिका है

जिसमें निशीथ की भूमिका के रूप मे तत् सम्बद्ध आवश्यक विषयो का व्याख्यान किया गया है। प्रारंभिक मगल-गाथाओ मे आचार्य ने अपने विद्यागुरु प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को भी नमस्कार किया है। इसी प्रसग पर उन्होंने यह भी बताया है कि निशीथ का दूसरा नाम प्रकल्प भी है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अधकार। अप्रकाशित वचनो के निर्णय के लिए निशीथसूत्र है। प्रथम उद्देश की चूर्णि में हस्तकर्म का विश्लेषण करते हुए आचार्य ने बताया है कि हस्तकर्म दो प्रकार का है - असक्लिष्ट और सक्लिष्ट। असक्लिष्ट हस्तकर्म आठ प्रकार का है छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षार। सक्लिष्ट हस्तकर्म दो प्रकार का है - सनिमित्त और अनिमित्त। सनिमित्त हस्तकर्म तीन प्रकार के कारणो से होता है - शब्द सुनकर, रूप देखकर अथवा पूर्व अनुभूत विषय का स्मरण कर। अगोपाग का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि शरीर के तीन भाग है अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग। अङ्ग आठ है : सिर, उर, उदर, पीठ, दो बाहु और दो ऊरु। कान, नाक, आँखे, जघाएँ, हाथ और पैर उपाग है। नख, बाल, श्मश्रु, अगुलियाँ, हस्ततल और हस्तोपतल अङ्गोपाङ्ग है। दड, विदड, लाठी एव विलट्ठी का भेद आचार्य ने इस प्रकार किया है दड तीन हाथ का होता है, विदड दो हाथ का होता है, लाठी आत्म-प्रमाण होती है, विलट्ठी लाठी से चार अगुल न्यून होती है। इसी प्रकार द्वितीय उद्देश की व्याख्या मे शय्या और सस्तारक का भेद बताते हुए कहा गया है कि शय्या सर्वांगिका अर्थात् पूरे शरीर के बराबर होती है जबकि सस्तारक ढाई हाथ लम्बा ही होता है। उपधि का विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया है कि उपधि दो प्रकार की होती है : अवधियुक्त और उपगृहीत। जिनकल्पिको के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पिको के लिए चौदह प्रकार की एव आर्याओ-साध्वियो के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि अवधियुक्त है। जिनकल्पिक दो प्रकार के है - पाणिपात्रभोजी और प्रतिग्रहधारी। इनके पुन दो-दो भेद है : सप्रावरण—सवस्त्र और अप्रावरण—निर्वस्त्र। जिनकल्प में उपधि की आठ कोटियाँ है दो, तीन, चार, पाँच, नव, दस, ग्यारह और बारह (प्रकार की उपधि)। निर्वस्त्र पाणिपात्र की जघन्य उपधि दो प्रकार की है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका। वही पाणिपात्र यदि सवस्त्र है तो उसकी जघन्य उपधि तीन प्रकार की होगी। रजोहरण, मुखवस्त्रिका और एक वस्त्र। इस प्रकार उपधि की सख्या क्रमश बढती जाती है। पष्ठ उद्देश की व्याख्या में साधुओ के मैथुनसम्बन्धी दोषो एव प्रायश्चित्तो का वर्णन करते हुए चूर्णिकार ने मातृग्राम और मैथुन का शब्दार्थ इस प्रकार किया है : माता के समान नारियो के वृद को मातृग्राम कहते है। अथवा सामान्य स्त्री-वर्ग को मातृग्राम-माउग्गाम कहना चाहिए, जैसे कि

मराठी मे स्त्री को माउग्गाम कहते हैं। मिथुनभाव अथवा मिथुनकर्म को मैथुन कहते हैं मातृग्राम तीन प्रकार का है : दिव्य, मनुष्य और तिर्यक्। इनमे से प्रत्येक के दो भेद हैं देहयुक्त और प्रतिमायुक्त। देहयुक्त के पुन दो भेद हैं सजीव और निर्जीव। प्रतिमायुक्त भी दो प्रकार का है सन्निहित और असन्निहित। कामियो के प्रेमपत्र-लेखन का विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया हैं कि लेख दो प्रकार होता का है . छन्न—अप्रकाशित और प्रकट—प्रकाशित। छन्न लेख तीन प्रकार का है लिपिछन्न, भाषाछन्न और अर्थछन्न। सप्तम उद्देश की व्याख्या मे कुडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, वालभा, पलबा, हार, अधहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि आभरणो का स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार आलिगन, परिष्वजन, चुम्बन, छेदन एव विच्छेदनरूप काम-क्रीडाओ पर भी प्रकाश डाला गया है। अष्टम उद्देश से सम्बन्धित चूर्णि मे उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्रकार, द्वार, गोपुर, दक, दकमार्ग, दकपथ, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला, छुसगृह, छुसशाला, पर्यायगृह, पर्यायशाला, कर्मान्तगृह, कर्मान्तशाला, महागृह, महाकुल, गोगृह, गोशाला आदि का स्वरूप बताया गया है। नवम उद्देश की चूर्णि मे राजा के अन्त पुर मे मुनिप्रवेश का निषेध करते हुए आचार्य ने तीन प्रकार के अन्त पुरो का वर्णन किया है . जीर्णान्त पुर, नवान्त पुर और कन्यकान्त पुर। इसी उद्देश मे कोष्ठागार, भाडागार, पानागार, क्षीरगृह, गजशाला, महानशाला आदि का स्वरूप भी बताया गया है। एकादश उद्देश की व्याख्या में अयोग्य दीक्षा का निषेध करते हुए आचार्य ने ४८ प्रकार के व्यक्तियो को प्रव्रज्या के अयोग्य माना है . १८ प्रकार के पुरुष, २० प्रकार की स्त्रियाँ और १० प्रकार के नपुसक। इसी प्रसग पर आचार्य ने १६ प्रकार के रोग एवं ८ प्रकार की व्याधि के नाम गिनाये हैं। शीघ्र नष्ट होने वाली व्याधि तथा देर से नष्ट होने वाला रोग कहलाता है। पचदश उद्देश की व्याख्या में चार प्रकार के आमों का उल्लेख है : उस्सेतिम, संसेतिम, उवक्खड और पलिय। पलिय आम्र पुन चार प्रकार के हैं : इंधनपलिय, धूमपलिय, गधपलिय और वृक्षपलिय। षोडश उद्देश की चूर्णि में चूर्णिकार ने पण्यशाला, भडशाला, कर्मशाला, पचनशाला, इंधनशाला और व्यघारणशाला का स्वरूप बताया है। इसी उद्देश में जुगुप्सित कुलो से आहारादि के ग्रहण का निषेध करते हुए आचार्य ने बताया है कि जुगुप्सित दो प्रकार के हैं : इत्वरिक और यावत्कथिक। सूतक आदि से युक्त कुल इत्वरिक—कुछ समय के लिए जुगुप्सित है। लोहकार, कलाल, चर्मकार आदि यावत्कथिक—जीवनपर्यन्त

जुगुप्सित हैं। श्रमणो के लिए आर्यदेश में हो विचरने का विधान करते हुए आचार्य ने आर्यदेश की सीमा इस प्रकार बताई है : पूर्व मे मगध, पश्चिम में स्थूणा, उत्तर में कुणाला और दक्षिण में कौशाम्बी। अंतिम उद्देश—बीसवें उद्देश की व्याख्या के अन्त में चूर्णिकार के पूरे नाम—जिनदासगणि महत्तर का उल्लेख किया गया है तथा प्रस्तुत चूर्णि का नाम विशेषनिशीथचूर्णि बताया गया है। प्रस्तुत चूर्णि का जैन आचारशास्त्र के व्याख्याग्रथो में एक विशिष्ट स्थान है। इसमे आचार के नियमो के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय सास्कृतिक एव सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की भी प्रचुरता है। अन्य व्याख्याग्रंथो की भाँति इसमे भी अनेक कथानक उद्धृत किये गये हैं। इनमें धूर्ताख्यान, तरंगवती, मलयवती, मगधसेन, आर्य कालक एव उनकी भगिनी रूपवती तथा उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल आदि के वृत्तान्त उल्लेखनीय है।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि :

यह चूर्णि निर्युक्त्यनुसारी है। व्याख्यान की शैली सरल है। मूल सूत्रपाठ तथा चूर्णिसम्मत पाठ मे कहो-कही थोडा-सा अतर है। कही-कही सूत्रो का विपर्यास भी है।

बृहत्कल्पचूर्णि :

यह चूर्णि लघुभाष्य का अनुसरण करते हुए है। इसमें पीठिका तथा छः उद्देश है। आचार्य ने कही-कही दार्शनिक चर्चा भी की है। एक जगह वृक्ष शब्द के छः भाषाओ में पर्याय दिये गये है। सस्कृत में जो वृक्ष है वही प्राकृत मे रुक्ख, मगध देश मे ओदण, लाट मे कूर, दमिल में चोर और अन्ध्र मे इडाकु नाम से प्रसिद्ध है। इसमे तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्म-प्रकृति, महाकल्प, गोविन्दनिर्युक्ति आदि का भी उल्लेख है। चूर्णि के अन्त मे चूर्णिकार के नाम आदि का कोई उल्लेख नही है।

टीकाएँ और टीकाकार :

जैन आगमो की सस्कृत व्याख्याओ का भी आगमिक साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। सस्कृत के प्रभाव की विशेष वृद्धि होते देख जैन आचार्यों ने भी अपने प्राचीनतम साहित्य आगम-ग्रन्थो पर संस्कृत मे टीकाएँ लिखना प्रारभ किया। इन टीकाओं में प्राचीन निर्युक्तियो, भाष्यो एव चूर्णियो की सामग्री का तो उपयोग हुआ ही, साथ ही साथ टीकाकारों ने नये-नये हेतुओ एवं तर्कों द्वारा उस सामग्री को पुष्ट भी किया। आगमिक साहित्य पर प्राचीनतम संस्कृत टीका आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। यह वृत्ति आचार्य जिनभद्र अपने जीवनकाल मे पूर्ण न कर सके। इस

अपूर्ण कार्य को कोट्यार्य ने (जो कि कोट्याचार्य से भिन्न हैं) पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र प्राचीनतम आगमिक टीकाकार हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका—तीनो प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य मे इनका योगदान है। भाष्यकार के रूप मे तो इनकी प्रसिद्धि है ही। अनुयोगद्वार के अगुल पद पर इनकी एक चूर्णि भी है। टीका के रूप मे इनकी लिखी हुई विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति है ही। टीकाकारो मे हरिभद्रसूरि, शीलाकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि विशेष प्रसिद्ध है। इनमें हरिभद्रसूरि प्राचीनतम हैं। कुछ टीकाकारो के नाम अज्ञात भी है। ज्ञातनामा टीकाकार ये हैं जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरि, कोट्याचार्य, कोटयार्य अथवा कोट्टार्य, जिनभट, शीलाकसूरि, गधहस्ती, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, द्रोणसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, नेमिचन्द्रसूरि अपरनाम देवेन्द्रगणि, श्रीचन्द्रसूरि, श्रीतिलकसूरि, क्षेमकीर्ति, भवनतुगसूरि, गुणरत्न, विजयविमल, वानर्षि, हीरविजयसूरि, शान्तिचन्द्रगणि, जिनहस, हर्षकुल, लक्ष्मीकल्लोलगणि, दानशेखरसूरि, विनयहस, नमिसाधु, ज्ञानसागर, सोमसुन्दर, माणिक्यशेखर, शुभवर्धनगणि, धीरसुन्दर, कुलप्रभ, राजवल्लभ, हितरुचि, अजितदेवसूरि, साधुरग उपाध्याय, नगर्षिगणि, सुमतिकल्लोल, हर्षनन्दन, मेघराज वाचक, भावसागर, पद्मसुन्दरगणि, कस्तूरचन्द्र, हर्षवल्लभ उपाध्याय, विवेकहस उपाध्याय, ज्ञानविमलसूरि, राजचन्द्र, रत्नप्रभसूरि, समरचन्द्रसूरि, पद्मसागर, जीवविजय, पुण्यसागर, विनयराजगणि, विजयसेनसूरि, हेमचन्द्रगणि, विशालसुन्दर, सौभाग्यसागर, कीर्तिवल्लभ, कमलसयम उपाध्याय, तपोरत्न वाचक, गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय, हर्षनदनगणि, धर्ममदिर उपाध्याय, उदयसागर, मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशीलगणि, ब्रह्मर्षि, अजितचन्द्रसूरि, राजशील, उदयविजय, सुमतिसूरि, समयसुन्दर, शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, क्षमारत्न, जयदयाल इत्यादि। इनमें से जिनकी जीवनी आदि के विषय मे कुछ प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है उनका परिचय देते हुए उनकी टीकाओ का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते है। इस परिचय में प्रकाशित टीकाओं की प्रधानता रहेगी।

जिनभद्रकृतविशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति -

भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत प्रस्तुत अपूर्ण वृत्ति कोट्यार्य वादिगणि ने पूर्ण की। जिनभद्र षष्ठ गणधरवाद तक की वृत्ति समाप्त कर दिवगत हो गए थे। वृत्ति का अवशिष्ट भाग, जैसा कि वृत्ति की उपलब्ध प्रति से स्पष्ट है, कोट्यार्य ने पूर्ण किया। प्रस्तुत वृत्ति अति सरल, स्पष्ट एव सक्षिप्त है।

हरिभद्रसूरिकृत टीकाएँ -

हरिभद्र का जन्म वीरभूमि मेवाड के चित्तौड नगर मे हुआ था। ये इसी नगर के राजा जितारि के राज-पुरोहित थे। इनके गच्छपति गुरु का नाम जिनभट, दीक्षादाता गुरु का नाम जिनदत्त, धर्मजननी का नाम याकिनी महत्तरा, धर्मकुल का नाम विद्याधरगच्छ एवं सम्प्रदाय का नाम श्वेताम्बर था। इनका समय ईस्वी सन् ७००–७७० अर्थात् वि० स० ७५७–८२७ है। कहा जाता है कि हरिभद्रसूरि ने १४४४ ग्रन्थो की रचना की थी। इनके लगभग ७५ ग्रन्थ तो अभी भी उपलब्ध है। इन ग्रन्थो को देखते हुए यह कहना पडता है कि आचार्य हरिभद्र एक बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता नि.सन्देह अद्वितीय थी। इन्होने नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, प्रज्ञापना, आवश्यक, जीवाभिगम और पिण्डनिर्युक्ति पर टीकाएँ लिखी। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूरी की।

नन्दीवृत्ति

यह टीका प्रायः नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर है। इसमे टीकाकार ने केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए उनके यौगपद्य के समर्थन के लिए सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थन के लिए जिनभद्र आदि का एव अभेद के समर्थन के लिए वृद्धाचार्यों का नामोल्लेख किया है। अत्रोल्लिखित सिद्धसेन सिद्धसेन-दिवाकर से भिन्न कोई अन्य ही आचार्य हो सकते है। उनका यह मत दिगम्बरसमत है क्योकि दिगम्बर आचार्य केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपद् मानते हैं। सन्मतितर्क के कर्ता सिद्धसेन-दिवाकर तो अभेदवाद के समर्थक अथवा यो कहिए कि प्रवर्तक हैं। टीकाकार ने सभवतः वृद्धाचार्य के रूप में उन्ही का निर्देश किया है। क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी कहा गया है। प्रस्तुत टीका का ग्रथमान १३३६ श्लोकप्रमाण है।

अनुयोगद्वारटीका

यह टीका अनुयोगद्वारचूर्णि को ही शैली पर है। इसका निर्माण नन्दी टीका के बाद हुआ है, जैसा कि स्वय टीकाकार ने प्रस्तुत टीका के प्रारभ मे निर्देश किया है। इसमे आवश्यकविवरण और नन्दी-विशेषविवरण का भी उल्लेख है।

दशवैकालिकवृत्ति :

यह वृत्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। इसमे अनेक प्राकृत कथानक एव सस्कृत तथा प्राकृत उद्धरण हैं। कही-कही दार्शनिक

दृष्टि का प्रभाव भी दिखाई देता है। पचम अध्ययन की वृत्ति मे आहारविषयक मूल गाथाओ का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने अस्थि आदि पदो का मासपरक एव फलपरक दोनो प्रकार का अर्थ किया है।

प्रज्ञापना-प्रदेशव्याख्या :

यह वृत्ति प्रज्ञापना सूत्र के पदो पर है। इसमे वृत्तिकार ने आवश्यकटीका और आचार्य वादिमुख्य का नामोल्लेख किया है। वृत्ति सक्षिप्त एव सरल है। इसमें यत्र-तत्र सस्कृत एव प्राकृत उद्धरण भी हैं।

आवश्यकवृत्ति

यह वृत्ति आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यत्र-तत्र भाष्य गाथाओ का भी उपयोग किया गया है। वृत्ति मे आवश्यकचूर्णि का पदानुसरण न करते हुए स्वतत्र रीति से विषय-विवेचन किया गया है। इस वृत्ति को देखने से प्रतीत होता है कि आवश्यकसूत्र पर आचार्य हरिभद्र ने दो टीकाएँ लिखी है। उपलब्ध टीका अनुपलब्ध टीका से प्रमाण मे छोटी है। प्रस्तुत टीका मे वृत्तिकार ने वादिमुख्य-कृत कुछ सस्कृत श्लोक भी उद्धृत किये है। कही-कही निर्युक्ति के पाठान्तर भी दिये हैं। इसमे भी दृष्टान्तरूप एव अन्य कथानक प्राकृत मे ही है। वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोकप्रमाण है।

कोट्याचार्यविहित विशेषावश्यकभाष्यविवरण :

कोट्याचार्य ने अपनी प्रस्तुत टीका मे आचार्य हरिभद्र अथवा उनकी किसी कृति का कोई उल्लेख नही किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कोट्याचार्य सभवत हरिभद्र के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन है। प्रस्तुत विवरण मे टीकाकार ने आवश्यक की मूलटीका का अनेक बार उल्लेख किया है। यह मूलटीका उनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभट की है। मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने अपनी कृति विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति मे कोट्याचार्य का एक प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कोट्याचार्य काफी पुराने टीकाकार हैं। शीलाकाचार्य और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानना युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। आचार्य शीलाक का समय विक्रम की नवी-दसवी शती है जबकि कोट्याचार्य का समय उपर्युक्त दृष्टि से आठवी शती सिद्ध होता है।

कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्यविवरण न अति सक्षिप्त है, न अति विस्तृत। इसमें उद्धृत कथानक प्राकृत मे है। कही-कही पद्यात्मक कथानक भी है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी दिये गये है। विवरणकार ने आचार्य जिनभद्रकृत

विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत विवरण का ग्रंथमान १२७०० श्लोकप्रमाण है।

आचार्य गंधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञाविवरण

आचार्य गंधहस्ती ने आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा पर जो विवरण लिखा था वह अनुपलब्ध है। आचार्य शीलांक ने अपनी कृति आचारांगविवरण के प्रारंभ में गंधहस्तिकृत प्रस्तुत विवरण का उल्लेख किया है एवं उसे अति कठिन बताया है। प्रस्तुत गंधहस्ती तथा तत्त्वार्थ-भाष्य पर बृहद्वृत्ति लिखने वाले सिद्धसेन एक ही व्यक्ति हैं। इनके गुरु का नाम भास्वामी है। इनका समय विक्रम की सातवीं और नवीं शती के बीच में कहीं है। इन्होंने अपनी तत्त्वार्थभाष्य-बृहद्वृत्ति में वसुबंधु, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है जो सातवीं शती के पहले के नहीं हैं। दूसरी ओर आचार्य शीलांक ने गन्धहस्ती का उल्लेख किया है। शीलांक नवीं शती के टीकाकार हैं।

शीलांकाचार्यकृत टीकाएं :

आचार्य शीलांक के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं। वर्तमान में इनकी केवल दो टीकाएँ उपलब्ध हैं: आचारांग-विवरण और सूत्रकृतांगविवरण। इन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि पर भी टीकाएँ अवश्य लिखी होंगी, जैसा कि अभयदेवसूरिकृत व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति से फलित होता है। आचार्य शीलांक, जिन्हें शीलाचार्य एवं तत्त्वादित्य भी कहा जाता है, विक्रम की नवीं-दसवीं शती में विद्यमान थे।

आचारांगविवरण :

यह विवरण आचारांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है। इसमें प्रत्येक सम्बद्ध विषय का सुविस्तृत व्याख्यान है। यत्र-तत्र प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी हैं। प्रारंभ में आचार्य ने गंध-हस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा-विवरण का उल्लेख किया है एवं उसे कठिन बताते हुए आचारांग पर सुबोध विवरण लिखने का संकल्प किया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के षष्ठ अध्ययन की व्याख्या के अन्त में विवरणकार ने बताया है कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उसका अतिलंघन करके अष्टम अध्ययन का व्याख्यान प्रारंभ किया जाता है। अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक के विवरण में ग्राम, नकर (नगर), खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोण-मुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, नैगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया

है। काननद्वीप आदि को जलपत्तन एवं मथुरा आदि को स्थलपत्तन कहा गया है। भरुकच्छ, ताम्रलिप्ती आदि द्रोणमुख अर्थात जल और स्थल के आवागमन के केन्द्र हैं। प्रस्तुत विवरण निर्वृ तिकुलीन शीलाचार्य ने गुप्त संवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन वाहरिसाधु की सहायता से गंभूता में पूर्ण किया। विवरण का ग्रंथमान १२००० श्लोकप्रमाण है।

सूत्रकृतांगविवरण

यह विवरण सूत्रकृतांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण सुबोध है। दार्शनिक दृष्टि की प्रमुखता होते हुए भी विवेचन में क्लिष्टता नहीं आने पाई है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उद्धृत किये गये हैं। विवरण में अनेक श्लोक एवं गाथाएँ उद्धृत की गई हैं किन्तु कहीं पर भी किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथकार के नाम का कोई उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत टीका का ग्रंथमान १२८५० श्लोकप्रमाण है। यह टीका भी शीलाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से पूर्ण की है।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन टीका :

वादिवेताल शान्तिसूरि का जन्म राधनपुर के पास उण—उन्नतायु नामक गाँव में हुआ था। इनका बाल्यावस्था का नाम भीम था। इन्होंने थारापद्रगच्छीय विजयसिंहसूरि से दीक्षा ग्रहण की थी। पाटन के भीमराज की सभा में ये कवीन्द्र तथा वादिचक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध थे। कवि धनपाल के अनुरोध पर शान्तिसूरि मालव प्रदेश में भी पहुँचे थे तथा भोजराज की सभा के ८४ वादियों को पराजित कर ८४ लाख रुपये प्राप्त किये थे। अपनी सभा के पंडितों के लिए शान्तिसूरि को वेताल के समान समझ राजा भोज ने उन्हें वादिवेताल की पदवी प्रदान की थी। इन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का भी संशोधन किया था। शान्तिसूरि अपने अन्तिम दिनों में गिरनार में रहे एवं वहाँ २५ दिन का अनशन अर्थात् संथारा किया तथा वि० सं० १०९६ की ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को स्वर्गवासी हुए। वादिवेताल शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन-टीका के अतिरिक्त कवि धनपाल की तिलकमंजरी पर भी एक टिप्पणी लिखा है। जीवविचारप्रकरण और चैत्यवंदन-महाभाष्य भी इन्हीं की कृतियाँ मानी जाती हैं।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-टीका शिष्यहितावृत्ति कहलाती है। यह पाइअ-टीका के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की प्रचुरता है। टीका भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से सफल है। इसमें मूल-सूत्र एवं निर्युक्ति का व्याख्यान है। बीच-बीच में यत्र-तत्र भाष्य-

गाथाएँ भी उद्धृत हैं। अनेक स्थानो पर पाठान्तर भी दिये गये हैं। प्रस्तुत टीका मे निम्नलिखित ग्रंथो एव ग्रथकारो के नाम निर्दिष्ट है ' विशेषावश्यकभाष्य, उत्तराध्ययनचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, सप्तशतारनयचक्र, निशीथ, बृहदारण्यक, उत्तराध्ययनभाष्य, स्त्रीनिर्वाणसूत्र, महामति (जिनभद्र), भर्तृहरि, वाचक सिद्धसेन, अश्वसेन वाचक, वात्स्यायन, शिवशर्मन्, हारिल वाचक, गंधहस्तिन्, जिनेन्द्रबुद्धि।

द्रोणसूरिविहित ओघनिर्युक्ति-वृत्ति .

द्रोणसूरि अथवा द्रोणाचार्य पाटन-जैनसघ के प्रमुख अधिकारी थे। ये विक्रम की ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे विद्यमान थे। इन्होने ओघनिर्युक्ति (लघु-भाष्यसहित) पर वृत्ति लिखी एव अभयदेवसूरिकृत कई टीकाओ का सशोधन किया।

द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति-वृत्ति की भाषा सरल एव शैली सुगम है। आचार्य ने मूल पदो के अर्थ के साथ ही साथ तद्गत विषय का भी शका-समाधानपूर्वक सक्षिप्त विवेचन किया है। यत्र-तत्र प्राकृत एव सस्कृत उद्धरणो का भी प्रयोग किया गया है। वृत्ति का ग्रथमान लगभग ७००० श्लोक-प्रमाण है।

अभयदेवसूरिकृत टीकाएँ :

अभयदेवसूरि नवागीवृत्तिकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं। इन्होने निम्नोक्त आगमो पर टीकाएँ लिखी हैं नौ अग—१ स्थानाग, २ समवायाग, ३ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४ ज्ञाताधर्मकथा, ५ उपासकदशा, ६ अतकृद्दशा, ७ अनुत्तरौपपातिक, ८ प्रश्नव्याकरण, ९ विपाक और १० औपपातिक उपाग। इनके अतिरिक्त प्रज्ञापनातृतीयपदसग्रहणी, पचाशकवृत्ति, जयतिहुअणस्तोत्र, पचनिर्ग्रन्थी और सप्ततिकाभाष्य भी इन्ही की कृतियाँ हैं। इन सब रचनाओ का ग्रन्थमान लगभग ६०००० श्लोकप्रमाण है। अभयदेवकृत टीकाएँ शब्दार्थप्रधान होते हुए भी वस्तुविवेचन की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। इनकी सभी टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

अभयदेवसूरि, जिनका बाल्यकाल का नाम अभयकुमार था, धारानिवासी सेठ धनदेव के पुत्र थे। इन्हे वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने दीक्षित किया था। योग्यता प्राप्त होने पर वर्धमानसूरि के आदेश से इन्हे आचार्यपदवी प्रदान की गई। वर्धमानसूरि के स्वर्गवास के बाद ये धवलक—धोलका नगर में भी रहे जहाँ इन्हे रक्तविकार की बीमारी हुई जो कुछ समय बाद शान्त हो गई। अभयदेव का जन्म-अनुमानत वि० स० १०८८, दीक्षा वि० स० ११०४, विद्याभ्यास

वि० स० ११०४ से १११४, रुग्णावस्था वि० स० १११४ से १११७, आचार्य पद एव टीकाओ का प्रारम्भ वि० स० ११२० और स्वर्गवास वि० स० ११३५ अथवा ११३९ मे माना जाता है। पट्टावलियो मे अभयदेवसूरि का स्वर्गवास कपडवज मे वि० स० १२३५ तथा मतान्तर से वि० स० ११३९ मे होने का उल्लेख है, जबकि प्रभावकचरित्र मे केवल इतना ही उल्लेख है कि अभयदेवसूरि पाटन में कर्णराज के राज्य में स्वर्गवासी हुए। अभयदेवसूरिकृत आगमिक टीकाओ के सशोधन मे उस समय पाटन में विराजित आगमिक परम्परा के विशेषज्ञ सघप्रमुख द्रोणाचार्य ने पूर्ण योगदान दिया था। द्रोणाचार्य के इस महान् ऋण को स्वय अभयदेवसूरि ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है।

स्थानागवृत्ति :

यह टीका स्थानाग के मूल सूत्रो पर है। यह शब्दार्थ तक ही सीमित नही है अपितु इसमें सूत्रसम्बद्ध प्रत्येक विषय का आवश्यक विश्लेषण भी है। दार्शनिक दृष्टि की झलक भी इसमे स्पष्ट दिखाई देती है। वृत्ति में कुछ सक्षिप्त कथानक भी है। वृत्ति के अन्त मे आचार्य ने अपना परिचय देते हुए बताया है कि मैंने यह टीका अजितसिहाचार्य के अन्तेवासी यशोदेवगणि की सहायता से पूरी की है। अपनी कृतियो को आद्योपान्त पढ कर आवश्यक सशोधन करने वाले द्रोणाचार्य का सादर नामोल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि परम्परागत सत्सम्प्रदाय एव सत्शास्त्रार्थ की हानि हो जाने तथा आगमो की अनेक वाचनाओ एवं पुस्तक की अशुद्धियो के कारण प्रस्तुत कार्य में अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडा है और यही कारण है कि इसमे अनेक प्रकार की त्रुटियाँ सभव है। विद्वान् पुरुषो को इनका सशोधन कर लेना चाहिए। वृत्ति का ग्रन्थमान १४२५० श्लोक प्रमाण है। रचना का समय वि० स० ११२० एव स्थान पाटन है।

समवायागवृत्ति :

यह वृत्ति समवायाग के मूलपाठ पर है। विवेचन न अति सक्षिप्त है, न अति विस्तृत। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत वृत्ति भी वि० स० ११२० मे ही पूर्ण हुई। इसका ग्रन्थमान ३५७५ श्लोकप्रमाण है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति :

यह टीका व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) के मूलपाठ पर है। व्याख्यान शब्दार्थ-प्रधान एव सक्षिप्त है। यत्र-तत्र उद्धरण भी उपलब्ध हैं। पाठान्तरो एव व्याख्या-भेदो की भी प्रचुरता है। वृत्ति के प्रारम्भ मे आचार्य ने इस बात का निर्देश

किया है कि इसी सूत्र की प्राचीन टीका एव चूर्णि तथा जीवाभिगम आदि की वृत्तियोकी सहायता से प्रस्तुत विवरण प्रारम्भ किया जाता है। यह प्राचीन टीका सभवत आचार्य शीलाककृत व्याख्याप्रज्ञप्ति-वृत्ति है जो इस समय अनुपलब्ध है। प्रस्तुत वृत्ति के अन्त मे अभयदेवसूरि ने अपनी गुरु-परम्परा का सक्षिप्त परिचय देते हुए बताया है कि १८६१६ श्लोकप्रमाण प्रस्तुत टीका पाटन (अणहिल-पाटन) में वि० स० ११२८ में समाप्त हुई।

ज्ञाताधर्मकथाविवरण :

प्रस्तुत टीका सूत्रस्पर्शी एव शब्दार्थप्रधान है। प्रत्येक अध्ययन की व्याख्या के अन्त में उससे फलित होनेवाला विशेष अर्थ स्पष्ट किया गया है एव उसकी पुष्टि के लिए तदर्थगर्भित गाथाएँ भी दी गई है। विवरण के अन्त में आचार्य ने अपना परिचय दिया है तथा प्रस्तुत टीका के सशोधक के रूप मे निर्वृ तककुलीन द्रोणाचार्य का नामोल्लेख किया है। विवरण का ग्रन्थमान ३८०० श्लोक प्रमाण है। ग्रन्थ-समाप्ति की तिथि वि० स० ११२० की विजयादशमी एव लेखन-समाप्ति का स्थान पाटन है।

उपासकदशागवृत्ति

यह वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एव शब्दार्थ-प्रधान है। कही-कही व्याख्यान्तर का भी निर्देश है। अनेक जगह ज्ञाताधर्मकथा की व्याख्या से अर्थ समझ लेने की सूचना दी गई है। वृत्ति का ग्रन्थमान ८१२ श्लोकप्रमाण है। वृत्ति-लेखन के स्थान, समय आदि का कोई उल्लेख नही है।

अन्तकृद्दशावृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एव शब्दार्थ-प्रधान है। इसमे भी अव्याख्यात पदों का अर्थ समझने के लिए अनेक जगह ज्ञाताधर्मकथा की व्याख्या का उल्लेख किया गया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ८९९ श्लोक-प्रमाण है।

अनुत्तरापपातिकदशावृत्ति

यह वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एव शब्दार्थग्राही है। वृत्ति का ग्रन्थमान १९२ श्लोक-प्रमाण है।

प्रश्नव्याकरणवृत्ति

यह वृत्ति भी सूत्रस्पर्शी एव शब्दार्थ-प्रधान है। इसका ग्रन्थमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है। इसे सशोधित करने का श्रेय भी द्रोणाचार्य को ही है। वृत्तिकार ने प्रश्नव्याकरणसूत्र को अति दुरुह ग्रन्थ बताया है।

विपाकवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति भी शब्दार्थ-प्रधान है। इसमे अनेक पारिभाषिक शब्दो का सक्षिप्त एव सतुलित अर्थ किया गया है। उदाहरण के लिए राष्ट्रकूट–रट्ठकूड–रट्ठउड का अर्थ इस प्रकार है : 'रट्ठउडे' त्ति राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक । वृत्ति का ग्रन्थमान ९०० श्लोकप्रमाण है।

औपपातिकवृत्ति :

यह वृत्ति भी शब्दार्थ-प्रधान है। इसमें वृत्तिकार ने सूत्रो के अनेक पाठभेद-वाचनाभेद होना स्वीकार किया है। प्रस्तुत वृत्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक, सामाजिक, प्रशासनसम्बन्धी एव शास्त्रीय शब्दो की परिभाषाएँ दी गई है। यत्र-तत्र पाठान्तरो एव मतान्तरो का भी उल्लेख किया गया है। इस वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने पाटन में किया था। वृत्ति का ग्रन्थमान ३१२५ श्लोक-प्रमाण है।

मलयगिरिसूरिकृत टीकाएँ :

मलयगिरिसूरि एक प्रतिभासम्पन्न टीकाकार है। इन्होंने जैन आगमो पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी है। ये टीकाएँ विषय-वैशद्य एव निरूपण कौशल दोनो दृष्टियो से सफल है।

मलयगिरिसूरि आचार्य हेमचन्द्र (कलिकालसर्वज्ञ) के समकालीन थे एव उन्ही के साथ विद्यासाधना भी की थी। आचार्य हेमचन्द्र की भांति मलयगिरि भी आचार्य-पद के धारक थे एव आचार्य हेमचन्द्र को अति सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखते थे। आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन होने के कारण मलयगिरिसूरि का समय वि० स० ११५०–१२५० के आसपास मानना चाहिए।

मलयगिरिविरचित निम्नोक्त आगमिक टीकाएँ आज उपलब्ध हैं : १. व्याख्याप्रज्ञप्ति-द्वितीयशतकवृत्ति, २ राजप्रश्नीयटीका, ३ जीवाभिगमटीका, ४ प्रज्ञापनाटीका, ५ चन्द्रप्रज्ञप्तिटीका, ६ सूर्यप्रज्ञप्तिटीका, ७. नन्दीटीका, ८ व्यवहारवृत्ति, ९ बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, १० आवश्यकवृत्ति, ११. पिण्डनिर्युक्तिटीका, १२ ज्योतिष्करण्डकटीका। निम्नलिखित आगमिक टीकाएँ अनुपलब्ध है १ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, २ ओघनिर्युक्तिटीका, ३ विशेषावश्यकटीका। इनके अतिरिक्त मलयगिरि की अन्य ग्रन्थो पर सात टीकाएँ और उपलब्ध है एव तीन टीकाएँ अनुपलब्ध हैं। इनका एक स्वरचित शब्दानुशासन भी उपलब्ध है। इस प्रकार आचार्य मलयगिरि ने कुल छब्बीस ग्रन्थो का निर्माण किया जिनमें पच्चीस टीकाएँ है। यह ग्रन्थराशि लगभग दो लाख श्लोकप्रमाण है। इस

दृष्टि से मलयगिरिसूरि आगमिक टीकाकारो में सबसे आगे है। इनकी पाण्डित्य-पूर्ण टीकाओ की विद्वत्समाज मे बडी प्रतिष्ठा है।

नन्दीवृत्ति

यह वृत्ति नन्दी के मूल सूत्रो पर है। इसमे दार्शनिक वाद-विवाद की प्रचुरता है। यत्र-तत्र उदाहरणरूप सस्कृत कथानक भी दिये गये है। प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी उपलब्ध है। वृत्ति के अन्त मे आचार्य ने चूर्णिकार एवं आद्य टीकाकार हरिभद्र को नमस्कार किया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७७३२ श्लोकप्रमाण है।

प्रज्ञापनावृत्ति .

यह वृत्ति प्रज्ञापनासूत्र के मूल पदो पर है। विवेचन आवश्यकतानुसार कही सक्षिप्त है तो कही विस्तृत। अन्त मे वृत्तिकार ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकार आचार्य हरिभद्र को यह कहते हुए नमस्कार किया है कि टीकाकार हरिभद्र की जय हो जिन्होने प्रज्ञापना सूत्र के विषम पदो का व्याख्यान किया है एव जिनके विवरण से मैं भी एक छोटा-सा टीकाकार बन सका हूँ। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रथमान १६००० श्लोक-प्रमाण है।

सूर्यप्रज्ञप्तिविवरण :

प्रस्तुत टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने यह उल्लेख किया है कि भद्रबाहुसूरि-कृत निर्युक्ति का नाश हो जाने के कारण मैं केवल मूल सूत्र का ही व्याख्यान करूँगा। इस टीका मे लोकश्री तथा उसकी टीका, स्वकृत शब्दानुशासन, जीवा-भिगम-चूर्णि, हरिभद्रसूरिकृत तत्त्वार्थ-टीका आदि का सोद्धरण उल्लेख है। इसका ग्रन्थमान ९५०० श्लोक-प्रमाण है।

ज्योतिष्करण्डकवृत्ति :

यह वृत्ति ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक के मूलपाठ पर है। इसमे आचार्य मलयगिरि ने पादलिप्तसूरिकृत प्राकृत वृत्ति का उल्लेख करते हुए उसका एक वाक्य भी उद्धृत किया है। यह वाक्य इस समय उपलब्ध ज्योतिष्करण्डक की प्राकृत वृत्ति मे नही मिलता। सम्भवत. इस सूत्र पर एक और प्राकृत वृत्ति लिखी गई जिसका मलयगिरि ने प्रस्तुत वृत्ति मे मूलटीका के नाम से उल्लेख किया है। यह भी सम्भव है कि उपलब्ध प्राकृत वृत्ति ही मूलटीका हो क्योकि मलयगिरिकृत वृत्ति मे उद्धृत मूलटीका का एक वाक्य इस समय उपलब्ध प्राकृत-वृत्ति मे मिलता है। यह भी सम्भव है कि पादलिप्तसूरिकृत वृत्ति ही मूलटीका हो जो कि इस समय उपलब्ध है, किन्तु इसके कुछ वाक्यो का कालक्रम

से लोप हो गया हो। मलयगिरि विरचित वृत्ति का ग्रन्थमान ५०० श्लोक-प्रमाण है।

जीवाभिगमविवरण :

यह टीका तृतीय उपाग जीवाभिगम के पदो के व्याख्यान के रूप मे है। इसमे अनेक प्राचीन ग्रन्थो के नाम एव उद्धरण हैं। इसी प्रकार कुछ ग्रन्थकारो का नामोल्लेख भी है। उल्लिखित ग्रन्थ ये है : धर्मसग्रहणि-टीका, प्रज्ञापना-टीका, प्रज्ञापना-मूलटीका, तत्त्वार्थ-मूलटीका, सिद्धप्राभृत, विशेषणवती, जीवाभिगम-मूलटीका, पचसग्रह, कर्मप्रकृतिसग्रहणी, क्षेत्रसमास-टीका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, कर्मप्रकृतिसग्रहणि-चूर्णि, वसुदेवचरित (वसुदेवहिण्डि), जीवाभगमि-चूर्णि, चन्द्रप्रज्ञप्ति-टीका, सूर्यप्रज्ञप्ति-टीका, देशीनाममाला, सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति-पचवस्तुक, हरिभद्रकृत तत्त्वार्थ-टीका, तत्त्वार्थ-भाष्य, विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञ-वृत्ति, पचसग्रह-टीका। प्रस्तुत विवरण का ग्रन्थमान १६००० श्लोक-प्रमाण है।

व्यवहारविवरण :

प्रस्तुत विवरण सूत्र, निर्युक्ति एव भाष्य पर है। प्रारम्भ मे टीकाकार ने भगवान् नेमिनाथ, अपने गुरुदेव एव व्यवहारचूर्णिकार को सादर नमस्कार किया है। विवरण का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक-प्रमाण है।

राजप्रश्नीयविवरण :

यह विवरण द्वितीय उपाग राजप्रश्नीय के पदो पर है। इसमे देशीनाममाला, जीवाभिगम-मूलटीका आदि के उद्धरण हैं।

अनेक स्थानो पर सूत्रो के वाचनाभेद—पाठभेद का भी उल्लेख है। टीका का ग्रन्थमान ३७०० श्लोक-प्रमाण है।

पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति

यह वृत्ति पिण्डनिर्युक्ति तथा उसके भाष्य पर है। इसमें अनेक सस्कृत कथानक हैं। वृत्ति के अन्त मे आचार्य ने पिण्डनिर्युक्तिकार द्वादशागविद् भद्रबाहु तथा पिण्डनिर्युक्ति-विषमपदवृत्तिकार (आचार्य हरिभद्र एवं वीरगणि) को नमस्कार किया है। वृत्ति का ग्रन्थमान ६७०० श्लोक-प्रमाण है।

आवश्यकविवरण :

प्रस्तुत टीका आवश्यक-निर्युक्ति पर है। इसमे यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। विवेचन भाषा एवं शैली दोनो दृष्टियों से सरल

तथा सुबोध है। स्थान-स्थान पर कथानक भी उद्धृत किए गए हैं। ये कथानक प्राकृत में हैं। विवरण में विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्तिकार, प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यकचूर्णिकार, आवश्यक-मूलटीकाकार, आवश्यक-मूलभाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकारकार अकलंक, न्यायावतार-विवृत्तिकार आदि का उल्लेख है। उपलब्ध विवरण चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन के 'थूभ रयणविचित्त कुंथु सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो' की व्याख्या तक ही है। उसके बाद 'साम्प्रतमर' अर्थात् 'अब अरनाथ के व्याख्यान का अधिकार है' इतना-सा उल्लेख और है। इसके बाद का विवरण अनुपलब्ध है। उपलब्ध विवरण का ग्रन्थमान १८००० श्लोक-प्रमाण है।

बृहत्कल्प-पीठिकावृत्ति :

यह वृत्ति भद्रबाहुकृत बृहत्कल्प-पीठिकानिर्युक्ति एवं संघदासकृत बृहत्कल्पपीठिकाभाष्य (लघुभाष्य) पर है। आचार्य मलयगिरि पीठिकाभाष्य की गा० ६०६ पर्यन्त ही प्रस्तुत वृत्ति लिख सके। शेष वृत्ति बाद में आचार्य क्षेमकीर्ति ने लिखी। इस तथ्य का प्रतिपादन स्वयं क्षेमकीर्ति ने अपनी वृत्ति प्रारम्भ करते समय किया है। प्रस्तुत वृत्ति के आरम्भ में आचार्य मलयगिरि ने बृहत्कल्पलघुभाष्यकार एवं बृहत्कल्प-चूर्णिकार के प्रति कृतज्ञता स्वीकार की है। वृत्ति में प्राकृत गाथाओं के साथ ही साथ प्राकृत कथानक भी उद्धृत किए गए हैं। मलयगिरिकृत वृत्ति का ग्रन्थमान ४६०० श्लोकप्रमाण है।

मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत टीकाएँ :

मलधारी हेमचन्द्रसूरि का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। प्रद्युम्न राजमन्त्री थे। ये अपनी चार स्त्रियों को छोड़कर मलधारी अभयदेवसूरि के पास दीक्षित हुए थे। अभयदेव की मृत्यु होने पर अर्थात् वि० सं० ११६८ में हेमचन्द्र ने आचार्य-पद प्राप्त किया था। सम्भवतः ये वि० सं० ११८० तक इस पद पर प्रतिष्ठित रहे एवं तदनन्तर इनका देहावसान हुआ। इनके किसी भी ग्रन्थ की प्रशस्ति में वि० सं० ११७७ के बाद का उल्लेख नहीं है। इन्होंने निम्नोक्त आगम-व्याख्याएँ लिखी हैं : आवश्यक-टिप्पण, अनुयोगद्वार-वृत्ति, नन्दि-टिप्पण और विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति। इनके अतिरिक्त निम्न कृतियाँ भी मलधारी हेमचन्द्र की ही हैं शतक-विवरण, उपदेशमाला, उपदेशमालावृत्ति, जीवसमास-विवरण, भवभावना, भवभावना-विवरण। इन ग्रन्थों का परिमाण लगभग ८०००० श्लोक-प्रमाण है।

आवश्यकटिप्पण :

यह टिप्पण हरिभद्रकृत आवश्यक-वृत्ति पर है। इसे आवश्यकवृत्ति प्रदेशव्याख्या अथवा हारिभद्रीयावश्यकवृत्ति-टिप्पणक भी कहते हैं। इस पर हेमचन्द्र के

ही एक शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने एक और टिप्पण लिखा है जिसे प्रदेशव्याख्या-टिप्पण कहते है। आवश्यक-टिप्पण का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है।

अनुयोगद्वारवृत्ति .

प्रस्तुत वृत्ति अनुयोगद्वार के मूलपाठ पर है। इसमें सूत्रों के पदो का सरल एव सक्षिप्त अर्थ है। यत्र-तत्र सस्कृत श्लोक भी उद्धृत किए गए है। वृत्ति का ग्रन्थमान ५९०० श्लोक-प्रमाण है।

विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति .

प्रस्तुत वृत्ति, जिसे शिष्यहितावृत्ति भी कहते हैं, मलधारी हेमचन्द्र की वृहत्तम कृति है। इसमें विशेषावश्यकभाष्य के विषय का सरल एव सुबोध प्रतिपादन है। दार्शनिक चर्चाओं की प्रधानता होते हुए भी वृत्ति की शैली मे क्लिष्टता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इस टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में अत्यधिक वृद्धि हुई है, इसमें कोई सदेह नही। आचार्य ने प्रारभ मे ही लिखा है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणविरचित विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपज्ञवृत्ति तथा कोट्याचार्यविहित विवरण के विद्यमान रहते हुए भी प्रस्तुत वृत्ति लिखी जा रही है क्योकि ये दोनो टीकाएँ अति गभीर वाक्यात्मक एव सक्षिप्त होने के कारण मद बुद्धिवाले शिष्यो के लिए कठिन सिद्ध होती है। वृत्ति के अन्त की प्रशस्ति में बताया गया है कि यह वृत्ति राजा जयसिंह के राज्य में वि सं ११७५ की कार्तिक शुक्ला पचमी के दिन समाप्त हुई। वृत्ति का ग्रन्थमान २८००० श्लोक-प्रमाण है।

नेमिचन्द्रसूरिकृत उत्तराध्ययनवृत्ति :

नेमिचन्द्रसूरि का दूसरा नाम देवेन्द्रगणि है। इन्होने वि. स ११२९ में उत्तराध्ययनसूत्र पर एक टीका लिखी। इस टीका का नाम उत्तराध्ययन-सुखबोधावृत्ति है। यह वृत्ति वादिवेताल शान्तिसूरिविहित उत्तराध्ययन-शिष्यहितावृत्ति के आधार पर लिखी गई है। वृत्ति की सरलता एव सुबोधता को दृष्टि मे रखते हुए इसका नाम सुबोधा रखा गया है। इसमें उदाहरणरूप अनेक प्राकृत कथानक हैं। वृत्ति के अन्त को प्रशस्ति मे उल्लेख है कि नेमिचन्द्राचार्य बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य है। इनके गुरु-भ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि है जिनकी प्रेरणा ही प्रस्तुत वृत्ति की रचना का मुख्य कारण है। वृत्ति-रचना का स्थान अणहिलपाटक नगर (पाटन) में सेठ दोहडि का घर है। वृत्ति की समाप्ति का समय वि. स ११२९ है। इसका ग्रन्थमान १२००० श्लोक प्रमाण है।

श्रीचन्द्रसूरिकृत टीकाएँ :

श्रीचन्द्रसूरि शीलभद्रसूरि के शिष्य हैं। इन्होंने निम्नांकित ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं निशीथ (बीसवाँ उद्देशक), श्रमणोपासक-प्रतिक्रमण (आवश्यक), नन्दी, जीतकल्प, निरयावलिकादि अन्तिम पाँच उपांग।

निशीथचूर्णि-दुर्गपदव्याख्या :

इसमें निशीथचूर्णि के बीसवें उद्देशक के कठिन अंशों की सुबोध व्याख्या की गई है। व्याख्या का अधिक अंश विविध प्रकार के मासों के भंग, दिनों की गिनती आदि से सम्बन्धित होने के कारण कुछ नीरस है। अन्त में व्याख्याकार ने अपना परिचय देते हुए अपने को शीलभद्रसूरि का शिष्य बताया है। प्रस्तुत व्याख्या वि सं ११७४ की माघ शुक्ला द्वादशी रविवार के दिन समाप्त हुई।

निरयावलिकावृत्ति :

यह वृत्ति अन्तिम पाँच उपांगरूप निरयावलिका सूत्र पर है। वृत्ति संक्षिप्त एवं शब्दार्थ-प्रधान है। इसका ग्रन्थमान ६०० श्लोक-प्रमाण है।

जीतकल्पबृहच्चूर्णि-विषमपदव्याख्या :

प्रस्तुत व्याख्या सिद्धसेनसूरिकृत जीतकल्प-बृहच्चूर्णि के विषम पदों के व्याख्यान के रूप में है। इसमें यत्र-तत्र प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। अन्त में व्याख्याकार ने अपना नामोल्लेख करते हुए बताया है कि प्रस्तुत व्याख्या वि सं० १२२७ के महावीर-जन्मकल्याण के दिन पूर्ण हुई। व्याख्या का ग्रन्थमान ११२० श्लोक-प्रमाण है।

उपर्युक्त टीकाकारों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक आचार्य हैं जिन्होंने आगमों पर छोटी या बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार की कुछ प्रकाशित टीकाओं का परिचय आगे दिया जाता है।

आचार्य क्षेमकीर्तिकृत बृहत्कल्पवृत्ति :

यह वृत्ति आचार्य मलयगिरिकृत अपूर्ण वृत्ति की पूर्ति के रूप में है। शैली आदि की दृष्टि से प्रस्तुत वृत्ति मलयगिरिकृत वृत्ति की ही कोटि की है। आचार्य क्षेमकीर्ति के गुरु का नाम विजयचन्द्रसूरि है। वृत्ति का समाप्तिकाल ज्येष्ठ शुक्ला दशमी वि सं १३३२ एवं ग्रंथमान ४२६०० श्लोक-प्रमाण है।

माणिक्यशेखरसूरिकृत आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका :

यह टीका आवश्यकनिर्युक्ति का शब्दार्थ एवं भावार्थ समझने के लिए बहुत उपयोगी है। टीका के अन्त में बताया गया है कि दीपिकाकार माणिक्यशेखर-

अचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य मेरुतुगसूरि के शिष्य है। प्रस्तुत दीपिका के अतिरिक्त निम्नलिखित दीपिकाए भी इन्ही की लिखी हुई है . दशवैकालिक-निर्युक्ति-दीपिका, पिण्डनिर्युक्ति-दीपिका, ओघनिर्युक्ति-दीपिका, उत्तराध्ययन-दीपिका, आचार-दीपिका। माणिक्यशेखरसूरि विक्रम की पन्द्रहवी शती में विद्यमान थे।

अजितदेवसूरिकृत आचारागदीपिका :

यह टीका चन्द्रगच्छीय महेश्वरसूरि के शिष्य अजितदेवसूरि ने वि स १६२९ के आस-पास लिखी है। इसका आधार शीलाकाचार्य कृत आचाराग-विवरण है। टीका सरल, सक्षिप्त एव सुबोध है।

विजयविमलगणिविहित गच्छाचारवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य विजयविमलगणि ने वि स १६३४ में लिखी है। इसका ग्रथमान ५८५० श्लोक-प्रमाण है। वृत्ति विस्तृत है एव प्राकृत कथानको से युक्त है।

विजयविमलगणिविहित तन्दुलवैचारिकवृत्ति ·

यह वृत्ति उपर्युक्त विजयविमलगणि ने गुणसौभाग्यगणि से प्राप्त तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक के ज्ञान के आधार पर लिखी है। वृत्ति शब्दार्थ-प्रधान है। इसमे कही-कही अन्य ग्रथो के उद्धरण भी हैं।

वानर्षिकृत गच्छाचारटीका :

प्रस्तुत टीका के प्रणेता वानर्षि तपागच्छीय आनन्द विमलसूरि के शिष्यानुशिष्य है। टीका सक्षिप्त एव सरल है। टीकाकार ने इसका आधार हर्षकुल से प्राप्त गच्छाचार प्रकीर्णक का ज्ञान माना है।

भावविजयगणिकृत उत्तराध्ययनव्याख्या :

प्रस्तुत व्याख्या तपागच्छीय मुनिविमलसूरि के शिष्य भावविजयगणि ने वि स. १६८९ में लिखी है। व्याख्या कथानको से भरपूर है। सभी कथानक पद्य-निबद्ध हैं। व्याख्या का ग्रंथमान १६२५५ श्लोक-प्रमाण है।

समयसुन्दरसूरिसदृब्ध दशवैकालिकदीपिका :

प्रस्तुत दीपिका के प्रणेता समयसुन्दरसूरि खरतरगच्छीय सकलचन्द्रसूरि के शिष्य हैं। दीपिका शब्दार्थ-प्रधान है। इसका ग्रथमान ३४५० श्लोक-प्रमाण है। यह वि. स १६९१ में स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में पूर्ण हुई थी।

ज्ञानविमलसूरिग्रथित प्रश्नव्याकरण-सुखबोधिकावृत्ति .

यह वृत्ति विस्तार मे अभयदेवसूरिकृत प्रश्नव्याकरण-वृत्ति से बडी है । वृत्ति के प्रारम्भ मे आचार्य ने नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरि-विरचित प्रश्नव्याकरणवृत्ति की कृतज्ञता स्वीकार की है । वृत्तिकार ज्ञानविमलसूरि का दूसरा नाम नयविमल-गणि है । ये तपागच्छीय धीरविमलगणि के शिष्य है । प्रस्तुत वृत्ति के लेखन में कवि सुखसागर ने विशेष सहायता दी थी । वृत्ति का ग्रथमान ७५०० श्लोक-प्रमाण है । इसका रचना-काल वि स १७९३ के कुछ वर्ष पूर्व है ।

लक्ष्मीवल्लभगणिविरचित उत्तराध्ययनदीपिका ·

दीपिकाकार लक्ष्मीवल्लभगणि खरतरगच्छीय लक्ष्मीकीर्तिगणि के शिष्य है । दीपिका सरल एव सुबोध है । इसमे दृष्टान्तरूप अनेक सस्कृत आख्यान है ।

दानशेखरसूरिसकलित भगवती-विशेषपदव्याख्या

यह व्याख्या प्राचीन भगवती-वृत्ति के आधार पर लिखी गई है । इसमें भग-वती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र के कठिन—दुर्ग पदो का विवेचन किया गया है । व्याख्याकार दानशेखरसूरि जिनमाणिक्यगणि के शिष्य अनन्तहसगणि के शिष्य है । प्रस्तुत व्याख्या तपागच्छनायक लक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य सुमतिसाधुसूरि के शिष्य हेमविमलसूरि के समय मे सकलित की गई थी ।

सघविजयगणिकृत कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका

कल्पसूत्र की प्रस्तुत वृत्ति विजयसेनसूरि के शिष्य सघविजयगणि ने वि सं. १६७४ मे लिखी । वि. स १६८१ में कल्याणविजयसूरि के शिष्य धनविजयगणि ने इसका सशोधन किया । वृत्ति का ग्रन्थमान ३२५० श्लोक-प्रमाण है ।

विनयविजयोपाध्यायविहित कल्पसूत्र-सुबोधिका :

यह वृत्ति तपागच्छीय कीर्तिविजयगणि के शिष्य विनयविजय उपाध्याय ने वि स १६९६ मे लिखी तथा भावविजय ने सशोधित की । इसमे कहीं-कहीं धर्मसागरगणिकृत किरणावली एवं जयविजयगणिकृत दीपिका का खण्डन किया गया है । टीका का ग्रथमान ५४०० श्लोक-प्रमाण है ।

समयसुन्दरगणिविरचित कल्पसूत्र-कल्पलता :

यह व्याख्या उपर्युक्त दशवैकालिक-दीपिकाकार खरतरगच्छीय समयसुन्दर-गणि की कृति है । इसका रचना-काल वि स १६९९ के आस-पास है । वृत्ति का सशोधन करनेवाले हर्षनन्दन है । इसका ग्रथमान ७७०० श्लोक-प्रमाण है ।

शान्तिसागरगणिविदृब्ध कल्पसूत्र-कल्पकौमुदी

यह वृत्ति तपागच्छीय धर्मसागरगणि के प्रशिष्य एव श्रुतसागरगणिके शिष्य शान्तिसागरगणि ने वि स १७०७ मे लिखी । वृत्ति का ग्रथमान ३७०७ श्लोक-प्रमाण है ।

पृथ्वीचन्द्रसूरिप्रणीत कल्पसूत्र-टिप्पणक :

प्रस्तुत टिप्पणक के प्रणेता पृथ्वीचन्द्रसूरि देवसेनगणि के शिष्य हैं । देवसेन-गणि के गुरु का नाम यशोभद्रसूरि है । यशोभद्रसूरि राजा शाकम्भरी को प्रतिबोध देने वाले आचार्य धर्मघोष के शिष्य हैं । धर्मघोषसूरि के गुरु चन्द्रकुलीन शील-भद्रसूरि हैं ।

लोकभाषाओ मे निर्मित व्याख्याएँ .

आगमो की सस्कृत व्याख्याओ की बहुलता होने हुए भी बाद के आचार्यों ने जनहित को दृष्टि मे लोकभाषाओ मे आगमो को व्याख्याएँ लिखना आवश्यक समझा । परिणामत तत्कालीन प्राचीन गुजराती मे कुछ आचार्यो ने आगमो पर सरल एव सुबोध बालावबोध लिखे । इस प्रकार के बालावबोध लिखने वालो मे विक्रम की सोलहवी शती मे विद्यमान पार्श्वचन्द्रगणि एव अठारहवी शती मे विद्यमान लोकागच्छीय (स्थानकवासी) मुनि धर्मसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय है । मनि धर्मसिंह ने भगवती, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा सूर्य-प्रज्ञप्ति को छोड स्थानकवासी-सम्मत शेष २७ आगमो पर बालावबोध—टबे लिखे है । हिन्दी व्याख्याओ मे मुनि हस्तिमलकृत दशवैकालिक-सौभाग्यचन्द्रिका एव नन्दीसूत्र-भाषाटीका, उपाध्याय आत्मारामकृत दशाश्रुतस्कन्ध-गणपतिगुणप्रकाशिका, दशवैकालिक आत्मज्ञानप्रकाशिका, उत्तराध्ययन-आत्मज्ञानप्रकाशिका, उपाध्याय अमरमुनिकृत आवश्यक-विवेचन (श्रमणसूत्र) आदि उल्लेखनीय हैं ।

आगमिक व्याख्याओ मे सामग्री-वैविध्य

जैन आगमो की जो व्याख्याएँ उपलब्ध है वे केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नही है । उनमे आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र, मनो-विज्ञान आदि विषयो से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री विद्यमान है ।

आचारशास्त्र .

आवश्यक-निर्युक्ति का सामायिकसम्बन्धी अधिकाश विवेचन आचारशास्त्र-विषयक है । इसी प्रकार अन्य निर्युक्तियो मे भी एतद्विषयक सामग्री की प्रचुरता है । विशेषावश्यक-भाष्य मे सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का विस्तार-पूर्वक व्याख्यान किया गया है । जीतकल्प-भाष्य, बृहत्कल्प-लघुभाष्य, बृहत्कल्प-

बृहद्भाष्य एवं व्यवहार-भाष्य तो आचार-सम्बन्धी विधि-विधानों से भरपूर हैं। पञ्चकल्प-महाभाष्य का कल्पविषयक वर्णन भी जैन आचारशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप की विशेष चर्चा है। इसमें तथा अन्य भाष्यों में जिनकल्प-स्थविरकल्प की विविध अवस्थाओं का विशद वर्णन है।

दर्शनशास्त्र

सूत्रकृतांग-निर्युक्ति में क्रियावादी, अक्रियावादी आदि ३६३ मत-मतान्तरों का उल्लेख है। विशेषावश्यकभाष्य में प्रतिपादित गणधरवाद और निह्नववाद दर्शनशास्त्र की विविध दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। आवश्यक-चूर्णि में आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्चणिय (तच्चणिक), बोटिक आदि अनेक मत-मतान्तरों का वर्णन है। इसी प्रकार अन्य व्याख्याओं में भी थोड़ी-बहुत दार्शनिक सामग्री मिलती है। संस्कृत टीकाओं में इस प्रकार की सामग्री की प्रचुरता है।

ज्ञानवाद :

विशेषावश्यकभाष्य में ज्ञानपञ्चक—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार इसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का भी युक्तिपुरस्सर विचार किया गया है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य के प्रारम्भ में भी ज्ञानपंचक की विशेष चर्चा है। नन्दी-चूर्णि में भी इसी विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रकृत नन्दीवृत्ति में भी ज्ञानवाद पर पर्याप्त सामग्री है।

प्रमाणशास्त्र :

दशवैकालिक-निर्युक्ति में अनुमान के प्रतिज्ञा आदि दस प्रकार के अवयवों का निर्देश है। इसी विषय का आचार्य हरिभद्र ने अपनी दशवैकालिक-वृत्ति में विस्तार से प्रतिपादन किया है। प्रमाणशास्त्र-सम्बन्धी चर्चा के लिए आचार्य शीलांक एवं मलयगिरि की टीकाएँ विशेष द्रष्टव्य हैं।

कर्मवाद :

विशेषावश्यकभाष्य में सामायिकनिर्गम की चर्चा के प्रसंग में उपशम और क्षपक श्रेणी का तथा सिद्ध-नमस्कार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने कर्मस्थिति समुद्घात, शैलेशी-अवस्था आदि का वर्णन किया है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य के तृतीय उद्देश में हिंसा के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग पर रागादि की तीव्रता और तीव्र कर्म-बन्ध, हिंसक के ज्ञान एवं अज्ञान के कारण कर्मबन्ध की न्यूनाधिकता, अधिकरण-वैविध्य से कर्म-वैविध्य आदि का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

मनोविज्ञान और योगशास्त्र :

विशेषावश्यकभाष्य के सिद्ध-नमस्कार प्रकरण मे ध्यान का पर्याप्त विवेचन है। व्यवहार-भाष्य के द्वितीय उद्देश मे भाष्यकार ने क्षिप्तचित्त तथा दीप्तचित्त साधुओ की चिकित्सा की मनोवैज्ञानिक विधि बताई है। इसी उद्देश मे क्षिप्त-चित्त एव दीप्तचित्त होने के कारणो पर भी प्रकाश डाला गया है। पचकल्प-महाभाष्य मे प्रव्रज्या की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए भाष्यकार ने व्यक्तित्व के बीस भेदो का वर्णन किया है। इसी प्रकार निशीथ-विशेषचूर्णि मे व्यक्तित्व के अडतालीस भेदो का स्वरूप बताया गया है अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुसक।

कामविज्ञान ·

दशवैकालिक-नियुक्ति मे चौदह प्रकार के सप्राप्तकाम और दस प्रकार के असप्राप्त काम का उल्लेख है। वृहत्कल्प-लघुभाष्य के तृतीय उद्देश मे पुरुष-ससर्ग के अभाव मे गर्भाधान होने के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। इसी भाष्य के चतुर्थ उद्देश मे हस्तकर्म मैथुन आदि के स्वरूप का वर्णन है। निशीथ-विशेषचूर्णि के प्रथम उद्देश मे इसी विपय पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसी चूर्णि के पष्ठ उद्देश में कामियो के प्रेमपत्र-लेखन का विवेचन किया गया है तथा सप्तम उद्देश मे विविध प्रकार की काम-क्रीडाओ पर प्रकाश डाला गया है।

समाजशास्त्र :

आवश्यक-नियुक्ति मे प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव के समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। उस समय के आहार, शिल्प, कर्म, लेखन, मानदण्ड, पोत, इपुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, यज्ञ, उत्सव, विवाह आदि चालीस सामाजिक विपयो का उल्लेख किया गया है। आचाराग-नियुक्ति मे मनुष्य-जाति के सात वर्णो एव नौ वर्णान्तरो का उल्लेख है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य मे पाँच प्रकार के सार्थ, आठ प्रकार के सार्थवाह, आठ प्रकार के सार्थ-व्यवस्थापक, छ प्रकार की आर्यजातियाँ, छः प्रकार के आर्यकुल आदि समाजशास्त्र से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विपयो का वर्णन है। आवश्यक-चूर्णि मे आवश्यक-नियुक्ति का ही अनुसरण करते हुए ऋषभदेव के जन्म, विवाह, अपत्य आदि के वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। निशीथ-विशेपचूर्णि के नवम उद्देश मे तीन प्रकार के अन्त पुरो का वर्णन है। इसी चूर्णि के सोलहवें उद्देश मे जुगुप्सित कुलो का वर्णन किया गया है।

नागरिकशास्त्र :

बृहत्कल्प-लघुभाष्य के प्रथम उद्देश में ग्राम, नगर, खेड, कर्वटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया है। शीलाकाचार्यकृत आचाराग-विवरण के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन के पष्ठ उद्देशक मे भी इसी प्रकार का वर्णन है।

भूगोल :

आवश्यक-नियुक्ति मे चौवीस तीर्थकरो के भिक्षालाभ के प्रसग से हस्तिनापुर आदि चौवीस नगरो के नाम गिनाए गए हैं। पचकल्प-महाभाष्य मे क्षेत्रकल्प की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने साढे पच्चीस आर्यदेशो एव उनकी राजधानियो का नामोल्लेख किया है। निशीथ-विशेषचूर्णि के सोलहवें उद्देश मे आर्यदेश की सीमा इस प्रकार बताई गई है : पूर्व मे मगध, पश्चिम मे स्थूणा, उत्तर में कुणाला और दक्षिण मे कौशाम्बी।

राजनीति

व्यवहार-भाष्य के प्रथम उद्देश मे राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य, कुमार, नियतिक, रूपयक्ष आदि के स्वरूप एव कार्यो पर प्रकाश डाला गया है।

ऐतिहासिक चरित्र -

आवश्यकनियुक्ति में ऋषभदेव, महावीर, आर्य रक्षित, नप्त निह्नव, नागदत्त, महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, धन्वन्तरि वैद्य, करकडु, पुष्पभूति आदि के चरित्र पर सक्षिप्त सामग्री उपलब्ध है। विशेषावश्यकभाष्य मे आर्य वज्र, आर्य रक्षित, पुष्पमित्र, जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढभूति, अश्वमित्र, गग, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल, शिवभूति आदि अनेक ऐतिहासिक पुरुषो के जीवन-चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आवश्यकचूर्णि में भगवान् ऋषभदेव एव महावीर, भरत और बाहुबलि, गोशालक, चन्दनबाला, आनन्द, कामदेव, शिव-राजर्षि, गंगदत्त, इलापुत्र, मेतार्य, कालिकाचार्य, चिलातिपुत्र, धर्मरुचि, तेतली-पुत्र, अभयकुमार, श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्म-नन्द, शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियो से सम्बन्धित आख्यान हैं।

सस्कृति एव सभ्यता -

दशवैकालिक-नियुक्ति में धान्य एव रत्न की चौबीस जातियाँ गिनाई गई हैं। बृहत्कल्प-लघुभाष्य के द्वितीय उद्देश मे जागिक आदि पाँच प्रकार के वस्त्र एव औणिक आदि पाँच प्रकार के रजोहरण का स्वरूप बताया गया है। व्यवहार-

भाष्य के प्रथम उद्देश मे सत्रह प्रकार के घान्य-भाण्डारो का वर्णन है। निशीथ-विशेषचूर्णि के प्रथम उद्देश मे दंड, विदड, लाठी, विलट्ठी आदि का अन्तर बताया गया है। इसी चूर्णि के सप्तम उद्देश मे कुडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, बालभा, पलबा, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि विविध प्रकार के आभरणो का स्वरूप-वर्णन है। अष्टम उद्देश में उद्यानगृह, निर्याणगृह, अट्ट, अट्टालक, शून्यगृह, भिन्नगृह, तृण-गृह, गोगृह आदि अनेक प्रकार के गृहो एव शालाओ का स्वरूप बताया गया है। नवम उद्देश मे कोष्ठागार, भाडागार, पानागार, क्षीरगृह, गजशाला, महानस-शाला आदि के स्वरूप का वर्णन है।



प्रथम प्रकरण

निर्युक्तियाँ और निर्युक्तिकार

मूल ग्रथो के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए उन पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्यकारो मे विशेष रूप से विद्यमान रही है। वे मूल ग्रथ के प्रत्येक शब्द की विवेचना एव आलोचना करते तथा उस पर एक बडी या छोटी टीका लिखते। विशेषत पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान देते। जिस प्रकार वैदिक पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करने के लिए यास्क महर्षि ने निघण्टुभाष्यरूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन आगमो के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य मे निर्युक्तियो की रचना की। निर्युक्ति की व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। अनुयोगद्वारसूत्र मे श्रुत, स्कन्ध आदि पदो का निर्युक्ति-पद्धति से अर्थात् निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है।[1] यास्क महर्षि के निरुक्त में जिस प्रकार सर्वप्रथम निरुक्त-उपोद्घात है उसी प्रकार जैन निर्युक्तियो में भी प्रारभ में उपोद्घात मिलता है।

दस निर्युक्तियाँ

आचार्य भद्रबाहु ने निम्नाकित ग्रथो पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं : १ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचाराग, ५ सूत्रकृताग, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ बृहत्कल्प, ८ व्यवहार, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति और १० ऋषिभाषित।

इनमे से अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नही है। शेष आठ उपलब्ध हैं। इन निर्युक्तियो मे आचार्य ने जैन न्याय-सम्मत निक्षेप-पद्धति का आधार लिया है। निक्षेप-पद्धति मे किसी एक शब्द के समस्त सभावित अर्थों का निर्देश करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियो मे प्रस्तुत अर्थ के निश्चय के साथ ही साथ तत्सम्बद्ध अन्य बातो का भी निर्देश किया है। 'निर्युक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए वे स्वय कहते हैं - एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसग के लिए उपयुक्त होता है, भगवान् के उपदेश के समय कौन-सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध था, इत्यादि बातो को

---

१ देखिए—अनुयोगद्वार, पृ० १८ और आगे

ध्यान में रखते हुए ठीक-ठीक अर्थ का निर्णय करना और उस अर्थ का सूत्र के शब्दो से सबन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।[1]

निर्युक्तियो की रचना प्रारभ करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने सर्वप्रथम पाँच प्रकार के ज्ञान का विवेचन किया है। बाद के टीकाकारो ने ज्ञान को मगलरूप मानकर यह सिद्ध किया है कि इन गाथाओ से मगल का प्रयोजन भी सिद्ध होता है : आगे आचार्य ने यह बताया है कि इन पाँच ज्ञानो मे से प्रस्तुत अधिकार श्रुतज्ञान का ही है क्योंकि यही ज्ञान ऐसा है जो प्रदीपवत् स्व पर-प्रकाशक है। यही कारण है कि श्रुतज्ञान के आधार से ही मति आदि अन्य ज्ञानो का एव स्वय श्रुत का भी निरूपण हो सकता है। इसके बाद निर्युक्तिकार ने सामान्यरूप से सभी तीर्थंकरो को नमस्कार किया है। फिर वर्तमान तीर्थ के प्रणेता—प्रवर्तक भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। तदुपरान्त महावीर के प्रमुख शिष्य एकादश गणधरो को नमस्कार करके गुरुपरपरारूप आचार्यवश और अध्यापक-परपरारूप उपाध्यायवश को नमस्कार किया है। इसके बाद आचार्य ने यह प्रतिज्ञा की है कि इन सबने श्रुत का जो अर्थ बताया है उसकी मैं निर्युक्ति अर्थात् श्रुत के साथ अर्थ को योजना करता हूँ। इसके लिए निम्नाकित श्रुतग्रथो को लेता हूँ १ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचाराग, ५ सूत्र-कृताग, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ कल्प (बृहत्कल्प), ८ व्यवहार, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति, १० ऋषिभाषित।[2]

आचार्य भद्रबाहु की इन दस निर्युक्तियो का रचना-क्रम भी वही होना चाहिए जिस क्रम से निर्युक्ति-रचना को प्रतिज्ञा की गई है। इस कथन की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण[3] नीचे दिये जाते है —

१ उत्तराध्ययन-निर्युक्ति मे विनय का व्याख्यान करते समय लिखा है कि इसके विषय में पहले कह दिया गया है।[4] यह कथन दशवैकालिक के 'विनय-समाधि' नामक अध्ययन की निर्युक्ति को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति के पूर्व दशवैकालिक-निर्युक्ति की रचना हुई।

२ 'कामा पुव्वुद्दिट्ठा' (उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा २०८) मे यह सूचित किया गया है कि काम के विषय मे पहले विवेचन हो चुका है। यह विवेचन दशवैकालिकनिर्युक्ति की गा. १६१–१६३ मे है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ८८ २ वही, गा ७९–८६ ३ गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० १५–६ ४ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा २९.

३. आवश्यकनियुंक्ति के प्रारंभ मे दस नियुंक्ति की रचना करने की प्रतिज्ञा की गई है। इससे यह स्वत सिद्ध है कि सर्वप्रथम आवश्यकनियुंक्ति लिखी गई। आवश्यकनियुंक्ति की निह्नववाद से सम्बन्धित प्राय सभी गाथाएँ ज्यो की त्यो उत्तराध्ययननियुंक्ति मे ली गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययननियुंक्ति की रचना आवश्यकनियुंक्ति के वाद ही हुई।

४ आचारागनियुंक्ति (गा. ५) मे कहा गया है कि 'आचार' और 'अग' के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की नियुंक्तियो की रचना आचारागनियुंक्ति के पूर्व सिद्ध होती है क्योकि दशवैकालिक के 'क्षुल्लिकाचार' अध्ययन की नियुंक्ति में 'आचार' की तथा उत्तराध्ययन के 'चतुरग' अध्ययन की नियुंक्ति में 'अग' शब्द की जो व्याख्या की गई है उसी का उपयुंक्त उल्लेख है।

५ आचारागनियुंक्ति (गा ३४६) में लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की नियुंक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की व्याख्या है। यह कथन उत्तराध्यन के 'मोक्ष' शब्द की नियुंक्ति से सम्बन्ध रखता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचारागनियुंक्ति से पहले उत्तराध्ययननियुंक्ति की रचना हुई।

६ सूत्रकृतागनियुंक्ति (गा. ९९) मे कहा गया है कि 'धर्म' शब्द का निक्षेप पहले हो चुका है। यह कथन दशवैकालिकनियुंक्ति की रचना सूत्रकृतागनियुंक्ति के पूर्व हुई।

७ सूत्रकृतागनियुंक्ति (गा १२७) मे कहा गया है कि 'ग्रन्थ' का निक्षेप पहले हो चुका है। यह कथन उत्तराध्ययननियुंक्ति (गा २४०) को अनुलक्षित करके है। इससे यही सिद्ध होता है कि सूत्रकृतागनियुंक्ति के पूर्व उत्तराध्ययननियुंक्ति की रचना हुई।

नियुंक्तिकार आचार्य भद्रबाहु

भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुए है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु नेपाल मे योगसाधना के लिए गए थे, जबकि दिगम्बर-मान्यता के अनुसार यही भद्रबाहु नेपाल मे न जाकर दक्षिण में गए थे। इन दो घटनाओ से यह अनुमान हो सकता है कि ये दोनो भद्रबाहु भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। नियुंक्तियो के कर्ता भद्रबाहु इन दोनो से भिन्न एक तीसरे ही व्यक्ति है। ये चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु न होकर विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान एक अन्य ही भद्रबाहु है जो प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर थे।

जैन सम्प्रदाय की सामान्यतया यही धारणा है कि छेदसूत्रकार तथा निर्युक्तिकार दोनो भद्रबाहु एक ही है जो चतुर्दशपूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुत छेदसूत्रकार चतुर्दशपूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु दो भिन्न व्यक्ति है।[१]

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारभ में निर्युक्तिकार कहते है कि प्राचीन गोत्रीय, अतिम श्रुतकेवली, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार प्रणेता महर्षि भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूँ।[२] इसी प्रकार का उल्लेख पचकल्पनिर्युक्ति के प्रारभ में भी है। इन उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि छेदसूत्रो के कर्ता चतुर्दशपूर्वधर अतिम श्रुतकेवली स्थविर आर्य भद्रबाहुस्वामी है।

छेदसूत्र तथा निर्युक्तियाँ एक ही भद्रबाहु की कृतियाँ है, इस मान्यता के समर्थन के लिए भी कुछ प्रमाण मिलते है। इसमे सबसे प्राचीन प्रमाण आचार्य शीलाककृत आचाराग-टीका में मिलता है।[३] इसका समय विक्रम की आठवी शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा नौवी शताब्दी का प्रारभ है। इसमें यही बताया गया है कि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी है।

निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी है, इस मान्यता को बाधित करने वाले प्रमाण अधिक सबल एव तर्कपूर्ण है। इन प्रमाणो की प्रामाणिकता का सबसे बडा आधार तो यह है कि स्वय निर्युक्तिकार अपने को चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी से भिन्न बताते है। दूसरी बात यह है कि ये प्रमाण अधिक प्राचीन एव प्रबल है। निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ही यदि चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी हो तो उनकी बनाई हुई निर्युक्तियो मे निम्नलिखित बातें नही मिलनी चाहिए —

१ आवश्यकनिर्युक्ति की ७६४ से ७७६ तक की गाथाओ मे स्थविर भद्रगुप्त, आर्य सिंहगिरि, वज्रस्वामी, तोमलिपुत्राचार्य, आर्य रक्षित, फाल्गुरक्षित आदि अर्वाचीन आचार्यो मे सम्बन्धित प्रसगो का वर्णन।

२ पिण्डनिर्युक्ति गाथा ४९८ मे पादलिप्ताचार्य का प्रसग तथा ५०३ से ५०५ तक की गाथाओ मे वज्रस्वामी के मामा आर्य समितसूरि का सम्बन्ध, ब्रह्मदीपिक तापसो की प्रव्रज्या और ब्रह्मदीपिका शाखा की उत्पत्ति का वर्णन।

---

१ महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रथ, पृ० १८५

२ वदामि भद्दबाहु, पाईण चरिमसगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि, दसासु कप्पे य ववहारे॥ १॥

३ निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान्।
—आचारागटीका, पृ० ४.

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा १२० में कालकाचार्य की कथा।

४ आवश्यकनिर्युक्ति की ७६४ से ७६९ तक की गाथाओं में वज्रस्वामी को नमस्कार।

५ उत्तराध्ययन सूत्र के अकाममरणीय नामक पंचम अध्ययन की निर्युक्ति-गाथा है जिसका अंक २३३ है. इसमें मरणविभक्ति में समाविष्ट सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया। इनका सम्पूर्ण रूप विस्तार से केवली जिन अर्थात् केवलज्ञानी और चतुर्दशपूर्वविद् ही कर सकते हैं।[1] यदि निर्युक्तिकार स्वय चतुर्दशपूर्वविद् होते तो अपने मुख से ऐसी बात न कहते।

६ जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारम्भ में ही आचार्य लिखते हैं. 'प्राचीन गोत्रीय अन्तिम श्रुतकेवली और दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प तथा व्यवहार के प्रणेता महर्षि भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूँ।' इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि निर्युक्तिकार स्वय चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी होते तो इस प्रकार छेदसूत्रकार को नमस्कार न करते। दूसरे शब्दों में यदि छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारम्भ में छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार न किया जाता क्योंकि कोई भी समझदार ग्रन्थकार स्वयं अपने को नमस्कार नहीं करता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से यही बात सिद्ध होती है कि छेदसूत्रकार चतुर्दशपूर्वधर श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु एक ही व्यक्ति न होकर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। हाँ, निर्युक्तियों में उपलब्ध कुछ गाथाएँ अवश्य प्राचीनतर हो सकती हैं जिनका आचार्य भद्रबाहु ने अपनी कृतियों में समावेश कर लिया हो। इसी प्रकार निर्युक्तियों की कुछ गाथाएँ अर्वाचीन—बाद के आचार्यों द्वारा जोड़ी हुई भी हो सकती हैं।[2]

---

१. सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो।
सगलणिउणे पयत्थे, जिणचउद्दसपुव्वि भासंति ॥२३३॥

२ इस विषय में मुनि श्री पुण्यविजय जी ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है वह उन्ही के शब्दो में यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

वृहत्कल्प-भाष्य भा० ६ की प्रस्तावना मे मैंने अनेक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपलब्ध निर्युक्तियो के कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु नही हैं किन्तु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु है जो विक्रम की छठी शताब्दी मे हुए हैं। अपने इस कथन का स्पष्टीकरण करना यहाँ

नियुक्तिकार आचार्य भद्रबाहु वाराहीसहिता के प्रणेता ज्योतिर्विद् बराह-मिहिर के पूर्वाश्रम के सहोदर भाई के रूप में जैन सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है। ये

उचित है। जब मै यह कहता हूँ कि उपलब्ध नियुक्तियाँ द्वितीय भद्रबाहु की है, श्रुतकेवली भद्रबाहु की नही तब इसका तात्पर्य यह नही कि श्रुत-केवली भद्रबाहु ने नियुक्तियो की रचना की ही नही। मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस अन्तिम सकलन के रूप मे आज हमारे समक्ष नियु-क्तियाँ उपलब्ध हैं वे श्रुतकेवली भद्रबाहु की नही है। इसका अर्थ यह नही कि द्वितीय भद्रवाहु के पूर्व कोई नियुक्तियाँ थी ही नही। नियुक्ति के रूप में आगमव्याख्या की पद्धति वहुत पुरानी है। इसका पता हमे अनुयोगद्वार से लगता है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि अनुगम दो प्रकार का होता है: सुत्ताणुगम और निज्जुत्तिअणुगम। इतना ही नही किन्तु नियुक्तिरूप से प्रसिद्ध गाथाएँ भी अनुयोगद्वार में दी गई हैं। पाक्षिकसूत्र में भी सनिज्जुत्तिए ऐसा पाठ मिलता है। द्वितीय भद्रबाहु के पहले की गोविन्द वाचक की नियुक्ति का उल्लेख निशीथ-भाष्य व चूर्णि मे मिलता है। इतना ही नही किन्तु वैदिक वाङ्माय में भी निरुक्त अति प्राचीन है। अतएव यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि जैनागम की व्याख्या का नियुक्ति नामक प्रकार प्राचीन है। यह सभव नही कि छठी शताब्दी तक आगमो की कोई व्याख्या नियुक्ति के रूप मे हुई ही न हो। दिगम्बरमान्य मूलाचार मे भी आवश्यक-नियुक्तिगत कई गाथाएँ हैं। इससे भी पता चलता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय का स्पष्ट भेद होने के पूर्व भी नियुक्ति की परम्परा थी। ऐसी स्थिति मे श्रुतकेवली भद्रवाहु ने नियुक्तियो की रचना की है—इस परम्परा को निर्मूल मानने का कोई कारण नही है अत यही मानना उचित है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी नियुक्तियो की रचना की थी और बाद में गोविन्द वाचक जसे अन्य आचार्यो ने भी। इस प्रकार क्रमश॰ बढते-बढते नियुक्तियो का जो अन्तिम रूप हुआ वह द्वितीय भद्रबाहु का है अर्थात् द्वितीय भद्रबाहु ने अपने समय तक की उपलब्ध नियुक्ति-गाथाओ का अपनी नियुक्तियो में सग्रह किया, साथ ही अपनी ओर से भी कुछ नई गाथाएँ बनाकर जोड दी। यही रूप आज हमारे सामने नियुक्ति के नाम से उपलब्ध है। इस तरह क्रमश नियुक्ति-गाथाएँ बढती गईं। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि दशवैकालिक की दोनो चूर्णियो मे प्रथम अध्ययन की केवल ५७ नियुक्ति-गाथाएँ है जबकि हरिभद्र की वृत्ति मे १५७ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्वितीय भद्रबाहु ने नियुक्तियो

अष्टागनिमित्त और मत्रविद्या के पारगामी अर्थात् नैमित्तिक के रूप मे भी प्रसिद्ध है। इन्होने अपने भाई के साथ धार्मिक स्पर्धा करते हुए भद्रबाहुसंहिता तथा उपसर्गहरस्तोत्र की रचना की। अथवा यो भी कह सकते है कि इन्हें इन-ग्रन्थो की रचना आवश्यक प्रतीत हुई। निर्युक्तिकार तथा उपसर्गहरस्तोत्र के प्रणेता भद्रबाहु एक है और वे नैमित्तिक भद्रबाहु है, इस मान्यता की पुष्टि के लिए यह प्रमाण दिया जाता है कि आवश्यकनिर्युक्ति की १२५२ से १२७० तक की गाथाओ मे गधर्व नागदत्त का कथानक है। इस कथानक मे नाग का विष उतारने की क्रिया बताई गई है। उपसर्गहरस्तोत्र मे भी 'विसहर फुलिंगमंत' इत्यादि से नाग का विष उतारने की क्रिया का ही वर्णन किया गया है। उपर्युक्त निर्युक्तिग्रन्थ में मत्रक्रिया के प्रयोग के साथ 'स्वाहा' पद का निर्देश भी मिलता है जो रचयिता के तत्सम्बन्धी प्रेम अथवा ज्ञान की ओर सकेत करता है। दूसरी बात यह है कि अष्टागनिमित्त तथा मत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भाई के सिवाय अन्य कोई प्रसिद्ध नही है। इससे सहज ही मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपसर्गहरस्तोत्रादि ग्रन्थो के रचयिता और आवश्यकादि निर्युक्तियो के प्रणेता भद्रबाहु एक ही है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु की नैमित्तिकता सिद्ध करने वाला एक अन्य प्रमाण भी है। उन्होने आवश्यक आदि जिन ग्रन्थो पर निर्युक्तियाँ लिखी है उनमें सूर्यप्रज्ञप्ति का भी समावेश है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे निमित्तविद्या मे कुशल एव रुचि रखने वाले थे। निमित्तविद्या के प्रति प्रेम एव कुशलता के अभाव मे यह ग्रन्थ वे हाथ मे न लेते।

पञ्चसिद्धान्तिका के अन्त में शक सवत् ४२७ अर्थात् विक्रम सवत् ५६२ का उल्लेख है। यह वराहमिहिर का समय है। जब हम यह मान लेते है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु वराहमिहिर के सहोदर थे तब यह स्वत. सिद्ध है कि आचार्य भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी मे विद्यमान थे और निर्युक्तियों का रचना-काल विक्रम सवत् ५००–६०० के बीच मे है।

आचार्य भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियाँ, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसहिता—इन बारह ग्रथो की रचना की। भद्रबाहुसहिता अनुपलब्ध है। आज जो भद्रबाहु-

---

का अन्तिम सग्रह किया उसके बाद भी उसमे वृद्धि होती रही है। इस स्पष्टीकरण के प्रकाश में यदि हम श्रुतकेवली भद्रबाहु को भी निर्युक्तिकार मानें तो अनुचित न होगा।

—मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, पृ०. ७१८–९.

१. महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रथ, पृ १९७-८.

सहिता मिलती है वह कृत्रिम है, ऐसा विद्वानो का मत है। ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति क्रमश आवश्यकनिर्युक्ति और दशवैकालिकनिर्युक्ति की ही अग-रूप है। निशीथनिर्युक्ति आचारागनिर्युक्ति का ही एक अग है क्योकि निशीथ सूत्र को आचाराग की पञ्चम चूलिका के रूप में ही माना गया है।[1]



---

१ देखिए—आचारागनिर्युक्ति, गा ११ तथा गा २९७ एव उनकी शीलाककृत वृत्ति,

द्वितीय प्रकरण

आवश्यकनिर्युक्ति

भद्रबाहुकृत दस नियु'क्तियो मे आवश्यकनियु'क्ति[1] की रचना सर्वप्रथम हुई

---

१. आवश्यकनियु'क्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई है। इनमें से निम्नलिखित टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी है :—

(अ) मलयगिरिकृत वृत्ति—(क) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८-१९३२.

(ख) देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६.

(आ) हरिभद्रकृत वृत्ति—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६-७.

(इ) मलधारी हेमचन्द्रकृत प्रदेशव्याख्या तथा चन्द्रसूरिकृत प्रदेशव्याख्या-टिप्पण—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२०

(ई) जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य तथा उसकी मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस, वीर स २४२७-२४४१

(उ) माणिक्यशेखरकृत आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका—विजयदानसूरीश्वर सूरत, सन् १९३९-१९४९

(ऊ) कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्य-विवरण-ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३६-७

(ऋ) जिनदासगणिमहत्तरकृत चूर्णि—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन् १९२८.

(ए) विशेषावश्यकभाष्य की जिनभद्रकृत स्वोपज्ञवृत्ति—ला० द० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, सन् १९६६

आवश्यकनियु'क्ति की गाथा सख्या भिन्न-भिन्न प्रतियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से उपलब्ध होती है। इन गाथाओ में कही-कही भाष्य की गाथाएँ भी मिली हुई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका की १२२ से १२६ तक की गाथाएँ विशेषावश्यककोट्याचार्यवृत्ति मे नही है। गा. १२१ को कोट्याचार्य ने भाष्य में सम्मिलित किया है। मलयगिरिविवरण में आवश्यक-नियु'क्तिदीपिका की १२४ से १२६ तक की गाथाएँ नही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी गाथाओ की सख्या, क्रम आदि मे भेद दिखाई देता है। हमने अपने लेखन, स्थलनिर्देश आदि का आधार आवश्यकनियु'क्तिदीपिका रखा है।

है। यही कारण है कि यह निर्युक्ति सामग्री, शैली आदि सभी दृष्टियो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का विस्तृत एव व्यवस्थित व्याख्यान किया गया है। आगे की निर्युक्तियो में पुन उन विषयो के आने पर संक्षिप्त व्याख्या करके आवश्यकनिर्युक्ति की ओर सकेत कर दिया गया है। इस दृष्टि से दूसरी निर्युक्तियो के विषयो को ठीक तरह से समझने के लिए इस निर्युक्ति का अध्ययन आवश्यक है। जब तक आवश्यकनिर्युक्ति का अध्ययन न किया जाय, अन्य निर्युक्तियो का अर्थ समझने में कठिनाइयाँ होती हैं।

आवश्यकसूत्र का जैन आगम-ग्रथो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें छ अध्ययन है। प्रथम अध्ययन का नाम सामायिक है। शेष पाँच अध्ययनो के नाम चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान हैं। आवश्यकनिर्युक्ति इसी सूत्र की आचार्य भद्रबाहुकृत प्राकृत पद्यात्मक व्याख्या है। इसी व्याख्या के प्रथम अश अर्थात् सामायिक-अध्ययन से सम्बन्धित निर्युक्ति की विस्तृत व्याख्या आचार्य जिनभद्र ने की है। जो विशेषावश्यकभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाष्य की भी अनेक व्याख्याएँ हुईं। इन व्याख्याओ मे स्वय जिनभद्रकृत व्याख्या भी है। मलधारी हेमचन्द्रकृत व्याख्या विशेष प्रसिद्ध है।

उपोद्घात ·

आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारम्भ में उपोद्घात है। इसे ग्रन्थ की भूमिका के रूप में समझना चाहिए। भूमिका के रूप मे होते हुए भी इसमे ८८० गाथाएँ हैं।

ज्ञानाधिकार :

उपोद्घातनिर्युक्ति की प्रथम गाथा मे पाँच प्रकार के ज्ञान बताए गए है · आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। ये पाँचो प्रकार के ज्ञान मगलरूप है अत. इस गाथा से मंगलगाथा का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, ऐसा बाद के टीकाकारो का मन्तव्य है। आभिनिबोधिक ज्ञान के सक्षेप में चार भेद किए गए है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनमे से प्रत्येक का काल-प्रमाण क्या है, यह बताते हुए आगे कहा गया है अवग्रह की मर्यादा एक समय है, ईहा और अवाय अन्तर्मुहूर्त तक रहते है, धारणा की कालमर्यादा सख्येय समय, असख्येय समय और अन्तर्मुहूर्त है। अविच्युति और स्मृतिरूप धारणा अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, वासना व्यक्तिविशेष की आयु एव तदावरणकर्म के क्षयोपशम की विशेषता के कारण सख्येय अथवा असख्येय समय तक बनी रहती है।[1]

---

१ गा० १-४

आभिनिबोधिक ज्ञान की निमित्तभूत पाँच इन्द्रियों में से श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द का ग्रहण करती है, चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय बद्धस्पृष्ट अर्थात् सम्बद्धस्पृष्ट विषयों का ज्ञान करती हैं।[1] इस कथन से उन दार्शनिकों की मान्यता का खण्डन भी हो जाता है जो शब्द को मूर्त न मानकर अमूर्त आकाश का गुण मानते हैं तथा चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी मानते हैं। आगे की कुछ गाथाओं में शब्द और भाषा के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

आभिनिबोधिक ज्ञान के निम्नलिखित पर्यायशब्द दिए गए हैं: ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा।[2] इसके बाद आचार्य ने सत्पदप्ररूपणा से गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परीत्त, पर्याप्तक, सूक्ष्म, संज्ञी, भव और चरम इन सभी द्वारों—दृष्टियों से आभिनिबोधिक ज्ञान के स्वरूप की चर्चा हो सकती है, इसकी ओर संकेत किया है।[3] यहाँ तक आभिनिबोधिक ज्ञान की चर्चा है। इसके बाद श्रुतज्ञान की चर्चा प्रारम्भ होती है।

लोक में जितने भी अक्षर हैं और उनके जितने भी संयुक्त रूप बन सकते हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं कि श्रुतज्ञान के सभी भेदों का वर्णन हो सके। यह स्वीकार करते हुए नियुक्तिकार ने केवल चौदह प्रकार के निक्षेप से श्रुतज्ञान का विचार किया है। चौदह प्रकार के श्रुतनिक्षेप इस प्रकार हैं: अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक, अंगप्रविष्ट, अनक्षर, असंज्ञी, मिथ्या, अनादिक, अपर्यवसित, अगमिक और अंगबाह्य।[4]

अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अवधिज्ञान की सम्पूर्ण प्रकृतियाँ अर्थात् भेद तो असंख्य हैं किन्तु सामान्यतया इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त अवधिज्ञान का चौदह प्रकार के निक्षेप से भी विचार हो सकता है। ये चौदह निक्षेप इस प्रकार हैं: स्वरूप, क्षेत्र, सस्थान, आनुगामिक, अवस्थित, चल, तीव्रमन्द, प्रतिपातोत्पाद, ज्ञान, दर्शन, विभग, देश, क्षेत्र और गति। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—इन सात निक्षेपों से भी अवधिज्ञान की चर्चा हो सकती है।[5] इतना निर्देश करने के बाद आचार्य ने इन निक्षेपों का विस्तार से विचार किया है।[6] पाँच प्रकार के ज्ञान की स्वरूप-चर्चा में इतना अधिक विस्तार अवधिज्ञान की चर्चा का ही है।

---

१ गा० ५. २ गा० १२. ३. गा० १३-५ ४. गा० १७-९.
५. गा० २५-९. ६. गा० ३०-७५.

मन द्वारा चिन्तित अर्थ का मात्र आत्मसापेक्ष ज्ञान मन पर्ययज्ञान है। यह मनुष्यक्षेत्र तक सीमित है, गुणप्रात्ययिक है तथा चारित्रवानो की सम्पत्ति है।[1]

सब द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायो का सर्वकालभावी तथा अप्रतिपाती ज्ञान केवलज्ञान है। इसमे किसी प्रकार का तारतम्य नही होता अत यह एक ही प्रकार का है।[2]

सामायिक ·

केवलज्ञानी जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है और जो शास्त्रो मे वचनरूप से सगृहीत है वह द्रव्यश्रुत है। इस प्रकार के श्रुत का ज्ञान भावश्रुत है। प्रस्तुत अधिकार श्रुतज्ञान का है क्योकि श्रुतज्ञान मे ही जीव आदि पदार्थ प्रकाशित होते है। इतना ही नही अपितु मति आदि ज्ञानो का प्रकाशक भी श्रुतज्ञान ही है।[3]

इतनी पीठिका—भूमिका बाँधने के बाद निर्युक्तिकार सामान्यरूप से सभी तीर्थङ्करो को नमस्कार करते है। इसके बाद भगवान् महावीर को विशेषरूप से नमस्कार करते है। महावीर के बाद उनके गणधर, शिष्य-प्रशिष्य आदि को नमस्कार करते है। इतना करने के बाद यह प्रतिज्ञा करते है कि मै भी इन सबने श्रुत का जो अर्थ बताया है उसकी निर्युक्ति अर्थात् सक्षेप मे श्रुत के साथ उसी अर्थ की योजना करता हूँ। इसके लिए आवश्यकादि दस सूत्र-ग्रन्थो का आधार लेता हूँ।[4] आवश्यकनिर्युक्ति मे भी सर्वप्रथम सामायिकनिर्युक्ति की रचना करूँगा क्योकि यह गुरु परम्परा मे उपदिष्ट है।[5] सम्पूर्ण श्रुत के आदि मे सामायिक है और अन्त मे बिन्दुसार है। श्रुतज्ञान अपने आप मे पूर्ण एव अन्तिम लक्ष्य है, ऐसी बात नही। श्रुतज्ञान का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण अर्थात् मोक्ष है[6] और यही हमारा अन्तिम लक्ष्य है।

जैन आगम-ग्रन्थो मे आचाराग सर्वप्रथम माना जाता है किन्तु यहाँ आचार्य भद्रबाहु सामायिक को सम्पूर्ण श्रुत के आदि मे रखते हैं, ऐसा क्यो ? इसका कारण यह है कि श्रमण के लिए सामायिक का अध्ययन सर्वप्रथम अनिवार्य है। सामायिक का अध्ययन करने के बाद ही वह दूसरे ग्रन्थो का अध्ययन करता है, क्योकि चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। चारित्र की पाँच भूमिकाओ में प्रथम भूमिका सामायिकचारित्र की है। आगमग्रन्थो में भी जहाँ भगवान् महावीर के श्रमणो के श्रुताध्ययन की चर्चा है वहाँ अनेक जगह अगग्रन्थो के आदि मे सामायिक के अध्ययन का निर्देश है।

---

१ गा० ७६ २ गा० ७७ ३ गा० ७८-९. ४ गा० ८०-८६
५ गा० ८७ ६ गा० ९३.

ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य ने यही सिद्ध किया है कि मुक्ति के लिए ज्ञान और चारित्र दोनो अनिवार्य है। ज्ञान और चारित्र के सतुलित समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। चारित्र-विहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन चारित्र एक-दूसरे से बहुत दूर बैठे हुए अन्धे और लगडे के समान है जो एक-दूसरे के अभाव मे अपने अभीष्ट स्थान पर नही पहुँच सकते।[1]

इसके बाद आचार्य यह बताते हैं कि सामायिक का अधिकारी कौन हो सकता है? इस बहाने वस्तुत उन्होने श्रुतज्ञान के अधिकारी का ही वर्णन किया है। वह क्रमश किस प्रकार विकास करता है, उसके कर्मों का किस प्रकार क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है, वह किस प्रकार केवलज्ञान प्राप्त करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है आदि प्रश्नो का उपशम और क्षपकश्रेणी के विस्तृत वर्णन द्वारा समाधान किया है।[2] आचार्य का अभिप्राय यही है कि सामायिक-श्रुत का अधिकारी ही क्रमश मोक्ष का अधिकारी बनता है।

जब मोक्ष की प्राप्ति के लिए सामायिक-श्रुत का अधिकार आवश्यक है। तब तीर्थंङ्कर बनने के लिए तो वह आवश्यक है ही क्योकि तीर्थंङ्कर का अन्तिम लक्ष्य भी मोक्ष ही है। जो सामायिक-श्रुत का अधिकारी होता है वही क्रमश विकास करता हुआ किसी समय तीर्थंङ्कररूप से उत्पन्न होता है। प्रत्येक तीर्थंङ्कर अपने समय मे सर्वप्रथम श्रुत का उपदेश देता है और वही श्रुत आगे जाकर सूत्र का रूप धारण करता है। तीर्थंङ्करोपदिष्ट श्रुत को जिन-प्रवचन भी कहते हैं। आचार्य भद्रबाहु ने प्रवचन के निम्न पर्याय दिये है प्रवचन, श्रुत, धर्म, तीर्थ और मार्ग। सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ और शास्त्र एकार्थक हैं। अनुयोग, नियोग, भाष्य, विभाषा और वार्तिक पर्यायवाची है।[3] आगे आचार्य ने अनुयोग और अननुयोग का निक्षेपविधि से वर्णन किया है।[4] इसके बाद भाषा, विभाषा और वार्तिक का भेद स्पष्ट किया है। साथ ही व्याख्यानविधि का निरूपण करते हुए आचार्य और शिष्य की योग्यता का नाप-दण्ड बताया है।[5] इसके बाद आचार्य अपने मुख्य विषय सामायिक का व्याख्यान प्रारम्भ करते है तथा व्याख्यान की विधिरूप निम्नलिखित बातो का निर्देश करते है .—[6]

१. उद्देश अर्थात् विषय का सामान्य कथन, २ निर्देश अर्थात् विषय का विशेष कथन, ३ निर्गम अर्थात् व्याख्येय वस्तु का उद्भव, ४ क्षेत्र अर्थात्

१. गा० ९४-१०३ २ गा० १०४-१२७
२ गा० १३०-१ ४. गा० १३२-४
५ गा० १३५-९ ६ गा० १४०-१.

देश-चर्चा, ५ काल अर्थात् समय-चर्चा, ६ पुरुष अर्थात् तदाधारभूत व्यक्ति की चर्चा, ७ कारण अर्थात् माहात्म्य-चर्चा, ८ प्रत्यय अर्थात् श्रद्धा की चर्चा, ९ लक्षण-चर्चा, १० नय-चर्चा, ११ समवतार अर्थात् नयो की अवतारणा-चर्चा, १२. अनुमत अर्थात् व्यवहार और निश्चयनय की दृष्टि से विचार, १३ किं अर्थात् स्वरूप-विचार, १४ भेद-विचार, १५ सम्बन्ध-विचार, १६ स्थान-विचार, १७ अधिकरण-विचार, १८ प्राप्ति-विचार, १९ स्थिति-विचार, २० स्वामित्व-विचार, २१ विरहकाल-विचार, २२ अविरहकाल-विचार, २३. भव-विचार, २४ प्राप्तिकाल-सख्या-विचार, २५ क्षेत्र-स्पर्शन-विचार, २६ निरुक्ति ।

ऋषभदेव-चरित्र :

उद्देश और निर्देश की निक्षेपविधि से चर्चा होने के बाद निर्गम की चर्चा प्रारम्भ होती है। निर्गम की चर्चा करते समय आचार्य यह बताते है कि भगवान् महावीर का मिथ्यात्वादि से निर्गम अर्थात् निकलना कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान महावीर के पूर्वभवो की चर्चा प्रारम्भ होती है। इतना ही नही अपितु इसी से भगवान् ऋषभदेव के युग से भी पहले होने वाले कुलकरो की चर्चा प्रारम्भ हो जाती है। इसमे उनके पूर्वभव, जन्म, नाम, शरीर-प्रमाण, सहनन, सस्थान, वर्ण, स्त्रियाँ, आयु, विभाग, भवनप्राप्ति, नीति—इन सब का सक्षिप्त विवरण है। अन्तिम कुलकर नाभि थे जिनकी पत्नी मरुदेवी थी। उन्ही के पुत्र का नाम ऋषभदेव है।[1] ऋषभदेव के अनेक पूर्वभवो का वर्णन करने के बाद निर्युक्तिकार ने बताया है कि बीस कारणो से ऋषभदेव ने अपने पूर्वभव मे तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधा था।[2] ये बीस कारण इस प्रकार है —[3]

१ अरिहत, २ सिद्ध, ३ प्रवचन, ४ गुरु, ५ स्थविर, ६ बहुश्रुत, ७ तपस्वी—इनके प्रति वत्सलता, ८ ज्ञानोपयोग, ९ दर्शन—सम्यक्त्व, १० विनय, ११ आवश्यक, १२ शीलव्रत—इनमे अतिचार का अभाव, १३ क्षणलवादि के प्रति संवेगभावना, १४ तप, १५ त्याग, १६ वैयावृत्य, १७ समाधि १८ अपूर्वज्ञानग्रहण, १९ श्रुतभक्ति और २० प्रवचन-प्रभावना ।

इसके बाद भगवान् ऋषभदेव की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाली निम्नोक्त घटनाओ का वर्णन है जन्म, नाम, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, विवाह, अपत्य, अभिषेक, राज्यसग्रह। इन घटनाओ के साथ ही साथ उस युग के आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषणा, लेख, गणित, रूप, लक्षण, [illegible]

---

१ गा० १४५-१७० २ गा० १' [illegible] ३ गा

नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बन्ध, घात, ताडन, यज्ञ, उत्सव, समवाय, मगल, कौतुक, वस्त्र, गन्ध, माल्य, अलकार, चूला, उपनयन, विवाह, दत्ति, मृतपूजना, ध्यापना, स्तूप, शब्द, खेलापन, पृच्छना—इन चालीस विषयो की ओर भी सकेत किया गया है।[1] इनके निर्माता अर्थात् प्रवर्तक के रूप मे ऋषभदेव का नाम आता है।

ऋषभदेव के जीवन-चरित्र के साथ ही साथ अन्य सभी तीर्थङ्करो के चरित्र की ओर भी थोडा-सा सकेत किया गया है तथा सम्बोधन, परित्याग, प्रत्येक, उपधि, अन्यलिङ्ग—कुलिङ्ग, ग्राम्याचार, परीषह, जीवादितत्त्वोपलम्भ, प्राग्भव-श्रुतलाभ, प्रत्याख्यान, सयम, छद्मस्थकाल, तप.कर्म, ज्ञानोत्पत्ति, साधुसाध्वी-सग्रह, तीर्थ, गण, गणधर, धर्मोपायदेशक, पर्यायकाल, अन्तक्रिया—मुक्ति इन इक्कीस द्वारो से[2] उनके जीवन-चरित्र की तुलना की गई है।

इसके बाद निर्युक्तिकार यह बताते है कि सामायिक-अध्ययन की चर्चा के साथ इन सब बातो का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी ? सामायिक के निर्गमद्वार की चर्चा के समय भगवान् महावीर के पूर्वभव की चर्चा का प्रसग आया जिसमे उनके मरीचिजन्म की चर्चा आवश्यक प्रतीत हुई। इसी प्रसग से भगवान् ऋषभदेव की चर्चा भी की गई क्योकि मरीचि की उत्पत्ति ऋषभदेव से है[3] (मरीचि ऋषभदेव का पौत्र था)। इस प्रकार पुन ऋषभदेव का चरित्र प्रारम्भ होता है। दीक्षा के समय से लेकर वर्षान्त तक पहुँचते है और भिक्षा-लाभ का प्रसग आता है। इस प्रसग पर चौबीस तीर्थंकरो के पारणो—उपवास के उपरान्त सर्वप्रथम भिक्षालाभो का वर्णन है। उन्हे जिन नगरो मे भिक्षालाभ हुआ उनके नाम ये है हस्तिनापुर, अयोध्या, श्रावस्ती, साकेत, विजयपुर, ब्रह्मस्थल, पाटलिखण्ड, पद्मखण्ड, श्रेयपुर, रिष्टपुर, सिद्धार्थपुर, महापुर, धान्यकर, वर्धमान, सोमनस, मन्दिर, चक्रपुर, राजपुर, मिथिला, राजगृह, वीरपुर, द्वारवती, कूपकट, कोल्लाकग्राम। जिन लोगो के हाथ से भिक्षालाभ हुआ, उनके नाम भी इसी प्रकार गिनाए गए है तथा उससे होने वाले लाभ का भी वर्णन किया गया है।[4]

ऋषभदेव-चरित्र को आगे बढाते हुए निर्युक्तिकार कहते है कि बाहुबलि ने भगवान् ऋषभदेव की स्मृति मे धर्मचक्र की स्थापना की। ऋषभदेव एक सहस्र वर्ष पर्यन्त छद्मस्थपर्याय मे विचरते रहे। अन्त मे उन्हे केवलज्ञान हुआ।

---

१ गा० १८५-२०६ २. गा० २०९-२१२ ३ गा० ३१३
४. गा० ३२३-३३४

इसके बाद उन्होने पञ्च-महाव्रत की स्थापना की। जिस दिन ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई उसी दिन भरत को आयुधशाला में चक्ररत्न भी उत्पन्न हुआ। भरत को ये दोनो समाचार मिले। भरत ने सोचा कि पहले कहाँ पहुँचना चाहिए ? पिता की उपकारिता को दृष्टि मे रखते हुए पहले वे भगवान् ऋषभदेव के पास पहुँचे और उनकी पूजा की। ऋषभदेव की माता मरुदेवी एव पुत्र-पुत्री-पौत्रादि सभी उनके दर्शन करने पहुँचे। भगवान् का उपदेश सुनकर उनमे से कइयो को वैराग्य हुआ और उन्होने भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने वालो में भगवान् महावीर के पूर्वभव का जीव मरीचि भी था।[1]

ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत ने देश-विजय की यात्रा प्रारम्भ की। अपने छोटे भाइयो से अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। उन्होने भगवान् ऋषभदेव के सन्मुख यह समस्या रखी। भगवान् ने उन्हें उपदेश दिया जिसे सुनकर बाहुबलि के अतिरिक्त सभी भाइयो ने दीक्षा ले ली। बाहुबलि ने भरत को युद्ध के लिए आह्वान किया। सेना की सहायता न लेते हुए दोनो ने अकेले ही आपस मे लडना स्वीकार किया। अन्त मे बाहुबलि को इस अधम-युद्ध से वैराग्य हो गया और उन्होने भी दीक्षा ले ली।[2]

इसके बाद आचार्य यह बताते हैं कि मरीचि ने किस प्रकार परीषहो से घबडाकर त्रिदण्डी संप्रदाय की स्थापना की, भरत ने समवसरण मे भगवान् ऋषभदेव से जिन और चक्रवर्ती के विषय मे पूछा और भगवान् ने किस प्रकार जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि के विषय में विस्तृत विवेचन किया आदि। भरत ने भगवान् से प्रश्न किया किया कि क्या इस सभा में भी कोई भावी तीर्थङ्कर है ? भगवान् ने ध्यानस्थ परिव्राजक स्वपौत्र मरीचि की ओर सकेत किया और कहा कि यह वीर नामक अन्तिम तीर्थंकर होगा तथा अपनी नगरी मे आदि वासुदेव त्रिपृष्ठ एव विदेह क्षेत्र मे मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा। यह सुनकर भरत भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करके मरीचि को नमस्कार करने जाते है। नमस्कार करके कहते है कि मै इस परिव्राजक मरीचि को नमस्कार नही कर रहा हूँ अपितु भावी तीर्थंकर वीरप्रभु को नमस्कार कर रहा हूँ। यह सुनकर मरीचि गर्व से फूल उठता है और अपने कुल की प्रशसा के पुल बाँधने लगता है।[3]

इसके बाद नियुंक्तिकार भगवान् के निर्वाण-मोक्ष का प्रसग उपस्थित करते है। भगवान् विचरते-विचरते अष्टापद पर्वत पर पहुँचते है जहाँ उन्हे निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण के बाद उनके लिए चिता बनाई जाती है और

---

१ गा० ३३५-३४७ २ गा० ३४८-३४९ ३ गा० ३५०-४३२.

बाद में उसी स्थान पर स्तूप और जिनालय भी बनते हैं। इसके बाद अँगूठी के गिरने से भरत को आदर्श-गृह अर्थात् शीशमहल में कैसे वैराग्य हुआ और उन्होने किस प्रकार दीक्षा ग्रहण की आदि बातो का विवरण है।[१] भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पूर्व मरीचि स्वय किसी को दीक्षा नही देता था अपितु दीक्षार्थियो को अन्य साधुओ को सौंप देता था और अपनी दुर्बलता स्वीकार करता हुआ भगवान् के धर्म का ही प्रचार करता था किन्तु अब यह बात न रही। उसने कपिल को अपने ही हाथो दीक्षा दी और कहा कि मेरे मत मे भी धर्म है। इस प्रकार के दुर्वचन के परिणामस्वरूप वह कोटा-कोटि सागरोपम तक संसार-सागर मे भटका और कुलमद के कारण नीच गोत्र का भी बन्धन किया।[२]

महावीर-चरित्र .

अनेक भवो को पार करता हुआ मरीचि अन्त में ब्राह्मणकुण्डग्राम में कोडालमगोत्र ब्राह्मण के घर देवानन्दा की कुक्षि मे आया।[३] यही से भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र प्रारम्भ होता है। उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली निम्नलिखित तेरह घटनाओ का निर्देश आवश्यकनियुंक्ति मे मिलता है . स्वप्न, गर्भापहार, अभिग्रह, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरणज्ञान, भयोत्पादन, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध और महाभिनिष्क्रमण।[४] देवानन्दा ने गज, वृषभ, सिंह आदि चौदह प्रकार के स्वप्न देखे। हरिनैगमेषी द्वारा गर्भ परिवर्तन किया गया और नई माता त्रिशला ने भी वे ही चौदह स्वप्न देखे। गर्भवास के सातवें मास मे महावीर ने यह अभिग्रह-प्रतिज्ञा-दृढ निश्चय किया कि मैं माता-पिता के जीवित रहते श्रमण नही बनूंगा। नौ मास और सात दिन बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को पूर्वरात्रि के समय कुण्डग्राम मे महावीर का जन्म हुआ। देवो द्वारा रत्नवर्षा से जन्माभिषेक किया गया।[५] महावीर ने माता-पिता के स्वर्गगमन के बाद श्रमणधर्म अगीकार किया।[६] इस अवस्था मे उन्हे अनेक परीषह सहन करने पडे। गोप आदि द्वारा उन्हे अनेक कष्ट दिए गए।[७] जीवन-यात्रा के लिए उन्होने ये प्रतिज्ञाएँ की : १ जिस घर मे रहने से गृह-स्वामी को अप्रीति हो उस घर में नही रहना, २ प्राय. कायोत्सर्ग मे रहना, ३ प्राय. मौन रहना, ४ भिक्षा पात्र मे न लेकर हाथ मे ही लेना, ५ गृहस्थ को वन्दना-नमस्कार नही करना।[८] इन प्रतिज्ञाओ का पूर्णरूप से पालन करते हुए भगवान् महावीर अनेक स्थानो में भ्रमण

---

१ गा० ४३३-७ २ गा० ४३८-४४० ३ गा० ४५८.
४ गा० ४५९ ५. ये गाथाएँ मूल नियुंक्ति की नही है। ६ गा० ४६०-१ ७ गा० ४६२ ८ गा० ४६३-४

करते रहे। अन्त मे उन्हे जृम्भिकाग्राम के बाहर ऋजुवालुका नदी के किनारे वैयावृत्य चैत्य के पास में श्यामाक गृहपति के क्षेत्र मे शाल वृक्ष के नीचे षष्ठतप के दिन उत्कुटुकावस्था मे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[1]

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भगवान् मध्यमा पापा के महसेन उद्यान मे पहुँचे। वहाँ पर द्वितीय समवसरण हुआ और उन्हे धर्मवरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति हुई। इसी स्थान पर सोमिलार्य नामक ब्राह्मण की दीक्षा के अवसर पर (यज्ञ के समय) विशाल जनसमूह एकत्र हुआ था। यज्ञपाट के उत्तर मे एकान्त मे देव-दानवेन्द्र भगवान् महावीर का महिमा-गान कर रहे थे। दिव्यध्वनि से चारो दिशाएँ गूँज रही थी। समवसरण की महिमा का पार न था। दिव्यध्वनि सुनकर यज्ञवाटिका मे बैठे हुए लोगो को बहुत आनन्द का अनुभव हो रहा था। वे सोच रहे थे कि हमारे यज्ञ से आकर्षित होकर देव दौडे आ रहे है।[2] इसी यज्ञवाटिका में भगवान् महावीर के भावी गणधर भी आये हुए थे जिनकी सख्या ग्यारह थी। उनके नाम ये हे १ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त ५ सुधर्मा, ६ मडिक, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकपित, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य, ११ प्रभास।[3] उनके मन में विविध शकाएँ थी जिनका भगवान् महावीर ने सतोषप्रद समाधान किया। अन्त मे उन्होने भगवान् से दीक्षा ग्रहण की और उनके प्रमुख शिष्य—गणधर हुए। उनके मन मे क्रमश निम्नलिखित शकाएँ थी[4] १ जीव का अस्तित्व, २ कर्म का अस्तित्व, ३ जीव और शरीर का अभेद, ४ भूतो का अस्तित्व, ५ इहभव-परभवसादृश्य, ६ बध-मोक्ष, ७ देवो का अस्तित्व, ८ नरक का अस्तित्व, ९ पुण्य-पाप, १० परलोक की सत्ता, ११ निर्वाणसिद्धि। जब यज्ञवाटिका के लोगो को यह मालूम हुआ कि देवतासमूह हमारे यज्ञ से आकर्षित होकर नही आ रहा है अपितु जिनेन्द्र भगवान् महावीर की महिमा से खिच कर दौडा आ रहा है तब अभिमानी इन्द्रभूति अमर्ष के साथ भगवान् के पास पहुँचा। ज्योही इन्द्रभूति भगवान् के समीप पहुँचा त्यो ही भगवान् ने उसे नाम लेकर सम्बोधित किया और उसके मन की शका सामने रखी और उसका समाधान किया जिसे सुनकर इन्द्रभूति का सशय दूर हुआ और वह अपने ५०० शिष्यो के साथ भगवान् के पास दीक्षित हो गया। इसी प्रकार अन्य गणधरो ने भी क्रमश. भगवान् से दीक्षा ली।[5] इन गणधरो के जन्म, गोत्र, माता-पिता आदि की ओर भी आचार्य ने सकेत किया है।[6]

क्षेत्र-कालादि द्वार

निर्गमद्वार की चर्चा के प्रसग से भगवान् ऋषभदेव और महावीर के जीवन-

---

१ गा० ५२७ २ गा० ५४०-५९२ ३ गा० ५९४-५
४ गा० ५९७. ५ गा० ५९९-६४२ ६ गा० ६४३-६६०.

चरित्र का सक्षिप्त चित्रण करने के बाद नियुक्तिकार ने क्षेत्र-काल आदि शेष द्वारो का वर्णन किया है। सामायिक का प्रकाश जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाह्न के समय महसेन उद्यान मे किया अत. इस क्षेत्र और काल मे सामायिक का साक्षात् निर्गम है। अन्य क्षेत्र और काल मे सामायिक का परपरागत निर्गम है।[1] इसके बाद पुरुष तथा कारणद्वार का वर्णन है। कारणद्वार की चर्चा करते समय ससार और मोक्ष के कारणो की भी चर्चा की गई है। इसके पश्चात् यह बताया गया है कि तीर्थंकर क्योकर सामायिक-अध्ययन का उपदेश देते है तथा गणधर उस उपदेश को किसलिए सुनते है ? इससे आगे प्रत्यय अर्थात् श्रद्धाद्वार की चर्चा है। लक्षणद्वार मे वस्तु के लक्षण की चर्चा की गई है। नयद्वार मे सात मूल नयो के नाम तथा लक्षण दिए गए है तथा यह भी बताया गया है कि प्रत्येक नय के सैकडो भेद-प्रभेद हो सकते है।[2] जिनमत में एक भी सूत्र अथवा उसका अर्थ ऐसा नही है जिसका नयदृष्टि के बिना विचार हो सकता हो। इसलिए नयविशारद का यह कर्त्तव्य है कि वह श्रोता की योग्यता को दृष्टि मे रखते हुए नय का कथन करे। तथापि इस समय कालिक श्रुत में नयावतारणा (समवतार) नही होती है। ऐसा क्यो ? इसका समाधान करते हुए नियुक्तिकार कहते है कि पहले कालिक का अनुयोग अपृथक् था किन्तु आर्य वज्र के बाद कालिक का अनुयोग पृथक् कर दिया गया।[3] इस प्रसग को लेकर आचार्य ने आर्य वज्र के जीवन-चरित्र की कुछ घटनाओ का उल्लेख किया है और अन्त मे कहा है कि आर्य रक्षित ने चार अनुयोग पृथक् किये।[4] इसके बाद आर्य रक्षित का जीवन-चरित्र भी सक्षेप मे दे दिया गया है।[5] आर्य रक्षित का मातुल गोष्ठामाहिल सप्तम निह्नव हुआ। भगवान् महावीर के शासन मे उस समय तक छ निह्नव और हो चुके थे। सातो निह्नवो के नाम इस प्रकार है १. जमालि, २ तिष्यगुप्त, ३ आषाढ, ४ अश्वमित्र, ५ गगसूरि, ६. षडुलूक, ७ गोष्ठामाहिल। इनके मत क्रमश: ये हैं . १ बहुरत, २ जीवप्रदेश, ३ अव्यक्त, ४ समुच्छेद, ५ द्विक्रिया, ६ त्रिराशि, ७ अबद्ध।[6]

इसके बाद आचार्य अनुमत द्वार का व्याख्यान करते है और फिर सामायिक के स्वरूप की चर्चा प्रारंभ करते है। नयदृष्टि से सामायिक की चर्चा करने के बाद उसके तीन भेद करते हैं : सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र।[7] सयम, नियम और तप मे जिसकी आत्मा रमण करती है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जिसके

---

१ गा० ७३५ २ गा० ७३७-७६०

३ गा० ७६४ ४ गा० ७७५. ५ गा० ७७६-७

६. गा० ७७९-७८१ ७. गा० ७९०-७.

चित्त में प्राणिमात्र के प्रति समभाव है वही सामायिक में स्थित है ।[1] इसी प्रकार शेष द्वारो की भी निर्युक्तिकार ने सक्षेप मे व्याख्या की है ।[2] इन द्वारो की व्याख्या के साथ उपोद्घातनिर्युक्ति समाप्त हो जाती है ।

उपोद्घात का यह विस्तार केवल आवश्यकनिर्युक्ति के लिए ही उपयोगी नही है । इसकी उपयोगिता वास्तव मे सभी निर्युक्तियो के लिए है । इसमे वर्णित भगवान् ऋषभदेव और महावीर के जीवन-चरित्र एव तत्सबद्ध अन्य तथ्य प्राचीन जैन इतिहास एव सस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं । जैन आचार और विचार की रूपरेखा समझने के लिए यह अश बहुत उपयोगी है । इसके बाद आचार्य नमस्कार का व्याख्यान करते हैं ।

नमस्कार :

सामायिकनिर्युक्ति की सूत्रस्पर्शी व्याख्या का प्रारभ यही से होता है । इसके पूर्व सामायिक सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य बातो का विवरण दिया गया है । सामायिक-सूत्र के प्रारभ मे नमस्कार मन्त्र आता है अत. नमस्कार की निर्युक्ति के रूप मे आचार्य उत्पत्ति निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह द्वारो मे नमस्कार की चर्चा करते हैं ।[3] उत्पत्ति आदि द्वारो का उनके भेद-प्रभेदो के साथ अति विस्तृत विवेचन किया गया है । यहाँ उनके कुछ महत्त्वपूर्ण अशो का परिचय दिया जाता है ।

जहाँ तक नमस्कार की उत्पत्ति का प्रश्न है, वह उत्पन्न भी है और अनुत्पन्न भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है । नयदृष्टि से विचार करने पर स्याद्वादियो के मत में इसमें किसी प्रकार का विरोध नही है ।[4] नमस्कार मे चार प्रकार के निक्षेप हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । पद के पाँच प्रकार हैं . नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातक और मिश्र । 'नमस्' पद नैपातिक है क्योकि यह निपातसिद्ध है । 'नमस्' पद का अर्थ द्रव्यसकोच और भावसकोच है ।[5] प्ररूपणा के दो, चार, पाँच, छ और नौ भेद हो सकते हैं । उदाहरण के लिए छ भेद इस प्रकार है १ नमस्कार क्या है, २ किससे सम्बन्ध रखता है, ३ किस कारण से प्राप्त होता है, ४ कहाँ रहता है, ५ कितने समय तक रहता है, ६ कितने प्रकार का होता है ?[6] नौ भेद ये हैं : १ सत्पदप्ररूपणता, २ द्रव्य-प्रमाण, ३. क्षेत्र, ४ स्पर्शना, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाग, ८ भाव, ९ अल्पबहुत्व ।[7] अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पाँचों

---

१ गा० ७९८-९. २ गा० ८००-८८० ३. गा० ८८१
४ गा० ८८२ ५. गा० ८८४ ६ गा० ८८५ ७ गा० ८८९.

नमस्कारयोग्य हैं अत- वस्तुद्वार के अन्तर्गत है। इस द्वार की चर्चा के प्रसग से निर्युक्तिकार ने अरिहत आदि पाँच परमेष्ठियो का बहुत विस्तारपूर्वक गुणगान किया है और यह बताया है कि अरिहत आदि को नमस्कार करने से जीव सहस्र भवो से छुटकारा पाता है तथा उसे भावपूर्वक क्रिया करते हुए बोध—सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अरिहत आदि के नमस्कार से सब पापो का नाश होता है। यह नमस्कार सब मगलो में प्रथम मगल है। 'अरिहत' (अर्हत्) शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि इद्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना, उपसर्ग आदि जितने भी आतरिक अरि अर्थात् शत्रु है उनका हनन करनेवाले अरिहत कहलाते हैं अथवा अष्ट प्रकार के कर्मरूपी अरियो का नाश करनेवालो को अरिहत कहते है अथवा जो वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार और सिद्धि के अर्ह अर्थात् योग्य है उन्हे अर्हन्त कहते है अथवा जो देव, असुर और मनुष्यो से अर्ह अर्थात् पूज्य है वे अर्हन्त है।[1] 'सिद्ध' शब्द को निक्षेपपद्धति से व्याख्या करते हुए आचार्य कहते है कि जो कर्म, शिल्प, विद्या, मन्त्र, योग, आगम, अर्थ, यात्रा, अभिप्राय, तप और कर्मक्षय—इनमे सिद्ध अर्थात् सुपरिनिष्ठित एव पूर्ण है वह सिद्ध है।[2] अभिप्राय अर्थात् बुद्धि की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने चार प्रकार की बुद्धि का वर्णन किया है १ औत्पातिकी, २ वैनयिकी, ३ कर्मजा, ४ पारिणामिकी।[3] इन चारो प्रकार की बुद्धियो का सदृष्टान्त विवेचन किया गया है।[4] कर्मक्षय की प्रक्रिया का व्याख्यान करते समय समुद्घात का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद अलावु, एरण्डफल, अग्निशिखा और बाण के दृष्टान्त द्वारा सिद्ध आत्माओ की गति का स्वरूप समझाया गया है।[5] फिर सिद्धस्थान, सिद्धशिलाप्रमाण, सिद्धशिलास्वरूप, सिद्धावगाहना, सिद्धस्पर्शना, सिद्धलक्षण, सिद्धसुख आदि सिद्धसम्बन्धी अन्य बातो पर प्रकाश डालते हुए यही निष्कर्ष निकाला गया है कि सिद्ध अशरीरी होते है, हमेशा दर्शन और ज्ञान में उपयुक्त होते है, केवलज्ञान मे उपयुक्त होकर सर्वद्रव्य और समस्त पर्यायो को विशेषरूप से जानते है, केवलदर्शन मे उपयुक्त होकर सर्वद्रव्य और समस्त पर्यायों को सामान्यरूप से देखते है उन्हे ज्ञान और दर्शन इन दोनो मे से एक समय में एक ही उपयोग होता है क्योकि युगपत् दो उपयोग नही हो सकते।[6] 'आचार्य' शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि आचार्य के चार प्रकार है नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच प्रकार के आचारो का स्वय आचरण करता है, दूसरो के सामने उनका प्रभाषण और प्ररूपण करता है तथा दूसरो को अपनी क्रिया द्वारा आचार का ज्ञान कराता-

---

१. गा० ९१३-६, २ गा० ९२१ ३ गा० ९३२,
४ गा० ९४८-९५० ५ गा० ९५१, ६ गा० ९५२-९८२

हैं वही भावाचार्य है।[१] उपाध्याय भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जो द्वादशाग का स्वय अध्ययन करता है तथा दूसरो को वाचनारूप से उपदेश देता है उसे उपाध्याय कहते हैं।[२] 'उपाध्याय' पद की दूसरी निर्युक्ति इस प्रकार है उपाध्याय के लिए 'उज्झा' शब्द है। 'उ' का अर्थ है उपयोगकरण और 'ज्झा' का है ध्यानकरण। इस प्रकार 'उज्झा' का अर्थ है उपयोगपूर्वक ध्यान करनेवाला। उपाध्याय के लिए एक और शब्द है 'उपाज्झाउ'। 'उ' का अर्थ है उपयोगकरण, 'पा' का अथ है पाप का परिवर्जन, 'झा' का अर्थ है ध्यानकरण और 'उ' का अर्थ है उत्सारणाकम। इस प्रकार 'उपाज्झाउ' का अर्थ है उपयोगपूर्वक पाप का परिवर्जन करते हुए ध्यानारोहण से कर्मों का उत्सारण—अपनयन करने वाला।[३] साधु भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जो निर्वाण साधक व्यापार की साधना करता है उसे साधु कहते हैं अथवा जो सर्वभूतो मे समभाव रखता है वह साधु है।[४] अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाचो को नमस्कार करने से सभी प्रकार के पापो का नाश होता है। यह पच नमस्कार सब मंगलो में प्रथम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मगल है।[५] यहाँ तक वस्तुद्वार का अधिकार है। आक्षेपद्वार में यह बताया गया है कि नमस्कार या तो सक्षेप में करना चाहिए या विस्तार से। सक्षेप मे सिद्ध और साधु—इन दो को ही नमस्कार करना चाहिए। विस्तार से नमस्कार करने की अवस्था मे ऋषभादि अनेक नाम लिए जा सकते हैं। अत. पचविध नमस्कार उपयुक्त नही है।[६] इस आक्षेप का प्रसिद्धिद्वार में निराकरण किया गया है। उसमें यह सिद्ध किया गया है कि पचविध नमस्कार सहेतुक है अत उपयुक्त है, अनुपयुक्त नही।[७] इसके बाद क्रमद्वार है. इसमें जिस क्रम से नमस्कार किया गया है उसे युक्तियुक्त बताया गया है। पहले सिद्धो को नमस्कार न करके अरिहंतो को नमस्कार इसलिए किया गया है कि अरिहतो के उपदेश से ही सिद्ध जाने जाते हैं अत. अरिहतो का विशेष माहात्म्य है।[८] प्रयोजनद्वार में नमस्कार का उद्देश्य कर्मक्षय और मगलागम बताया गया है। फलद्वार की ओर सकेत करते हुए कहा गया है कि नमस्कार का फल दो प्रकार का है: ऐहलौकिक और पारलौकिक। अर्थ, काम, आरोग्य, अभिरति आदि ऐहलौकिक फल के अन्तर्गत है। पारलौकिक फल मे सिद्धि, स्वर्ग, सुकुलप्राप्ति आदि का समावेश होता है।[९] यहाँ तक नमस्कारविषयक विवेचन है।

---

१. गा० ९८७-८. २. गा० ९९५ ३. गा० ९९७.

४ गा० १००२-४ ५ गा० १०१२ ६. गा० १०१३.

७ गा० १०१४. ८ गा० १०१६. ९. गा० १०१७-८

पंचनमस्कार के बाद सामायिकव्रत ग्रहण किया जाता है क्योंकि पंचनमस्कार सामायिक का ही एक अंग है। सामायिक किस प्रकार करना चाहिए, इसका करण, भय, अन्त अथवा भदन्त, सामायिक, सर्व, अवद्य, योग, प्रत्याख्यान, यावज्जीवन और त्रिविध पदों की व्याख्या के साथ विवेचन किया गया है।[1] सामायिक का लाभ कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सामायिक के सर्वघाती और देशघाती कर्मस्पर्द्धकों में से देशघाती स्पर्द्धकों की विशुद्धि की अनन्तगुणवृद्धि होने पर आत्मा को सामायिक का लाभ होता है।[2] 'साम', 'सम' और 'सम्यक्' के आगे 'इक' पद जोड़ने से जो पद बनते हैं वे सभी सामायिक के एकार्थक पद हैं। उनका नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों से विचार हो सकता है।[3] सामायिक के और भी एकार्थक पद ये हैं : समता, सम्यक्त्व, प्रशस्त, शान्ति, शिव, हित, शुभ, अनिन्द्य, अगर्हित, अनवद्य।[4] हे भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ—करेमि भंते ! सामाइयं—यहाँ पर कौन कारक है, क्या करण है और क्या कर्म है ? कारण और करण में भेद है या अभेद ? आत्मा ही कारक है, आत्मा ही कर्म है और आत्मा ही करण है। आत्मा का परिणाम ही सामायिक है अतः आत्मा ही कर्ता, कर्म और करण है।[5] संक्षेप में सामायिक का अर्थ है तीन करण और तीन योग से सावद्य क्रिया का त्याग।[6] तीन करण अर्थात् करना, कराना और करते हुए का अनुमोदन करना, तीन योग अर्थात् मन, वचन और काया, इनसे होनेवाली सावद्य अर्थात् पापकारिणी क्रिया का जीवनपर्यन्त त्याग, यही सामायिक का उद्देश्य है।

चतुर्विंशतिस्तव :

आवश्यक सूत्र का दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव है। 'चतुर्विंशति' शब्द का छः प्रकार का और 'स्तव' शब्द का चार प्रकार का निक्षेप-न्यास है। चतुर्विंशति-निक्षेप के छः प्रकार ये हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। स्तव-निक्षेप के चार प्रकार ये हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। पुष्प आदि सामग्री से पूजा करना द्रव्यस्तव है। सद्गुणों का उत्कीर्तन भावस्तव है। द्रव्यस्तव और भावस्तव में भावस्तव ही अधिक गुण वाला है क्योंकि जिन-वचन में षड्जीव की रक्षा का प्रतिपादन किया गया है। जो लोग यह सोचते हैं कि द्रव्यस्तव बहुगुण वाला है वे अनिपुणमति वाले हैं। द्रव्यस्तव में षड्जीव की रक्षा का विरोध आता है अतः संयमविद् साधु द्रव्यस्तव की इच्छा नहीं रखते हैं।

---

१. गा० १०२३-१०३४ २. गा० १०३५ ३. गा० १०३७
४. गा० १०४० ५. गा० १०४१-२. ६. गा० १०५९

चतुर्विंशतिस्तव के लिए आवश्यक सूत्र में 'लोगस्सुज्जोयगरे' का पाठ है। इसकी निर्युक्ति करते हुए आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि 'लोक' (लोग) शब्द का निम्नोक्त आठ प्रकार के निक्षेप से विचार हो सकता है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल भव, भाव और पर्याय ।[१] आलोक्यते इति 'आलोक', प्रलोक्यते इति 'प्रलोक', लोक्यते इति 'लोक', सलोक्यते इति 'सलोक'—ये सभी शब्द एकार्थक हैं।[२] 'उद्योत' (उज्जोय) दो प्रकार का है द्रव्योद्योत और भावोद्योत । अग्नि, चन्द्र, सूर्य, मणि, विद्युतादि द्रव्योद्योत हैं। ज्ञान भावोद्योत है।[३] चौबीस जिनवरों को जो लोक के उद्योतकर कहा जाता है वह भावोद्योत की अपेक्षा से है, न कि द्रव्योद्योत की अपेक्षा से।[४] 'धर्म' भी दो प्रकार का है : द्रव्यधर्म और भावधर्म। भावधर्म के पुन दो भेद हैं : श्रुतधर्म और चरणधर्म। श्रुत का स्वाध्याय श्रुतधर्म है। चारित्ररूप धर्म चरणधर्म है। इसे श्रमणधर्म कहते हैं। यह क्षान्त्यादिरूप दस प्रकार का है।[५] 'तीर्थ' के मुख्यरूप से चार निक्षेप हैं : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनमें से प्रत्येक के पुन अनेक प्रकार हो सकते हैं।[६] जहाँ अनेक भवो से सचित अष्टविध कर्मरज तप और सयम से धोया जाता है वह भावतीर्थ है।[७] जिनवर अर्थात् तीर्थङ्कर इसी प्रकार के धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। इसीलिए उन्हें 'धर्मतीर्थंकर' (धम्मतित्थयर) कहते हैं। उन्हें 'जिन' इसलिए कहते हैं कि उन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषो को जीत लिया है। कर्मजररूपी अरि का नाश करने के कारण उन्हें 'अरिहंत' भी कहते हैं।[८] इसके बाद निर्युक्तिकार चौबीस तीर्थङ्करो के नाम की निक्षेप पद्धति से व्याख्या करते हैं। फिर उनकी विशेषताओ—गुणो पर प्रकाश डालते हैं।[९] इसके साथ 'चतुर्विंशतिस्तव' नामक द्वितीय अध्ययन की निर्युक्ति समाप्त हो जाती है।

वन्दना :

तृतीय अध्ययन का नाम वन्दना है। इस अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए आचार्य सर्वप्रथम यह बताते हैं कि वन्दनाकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म पूजाकर्म और विनयकर्म—ये पाँच सामान्यतया वन्दना के पर्याय हैं। वन्दना का नौ द्वारों से विचार किया गया है १ वन्दना किसे करनी चाहिए, २ किसके द्वारा होनी चाहिए, ३ कब होनी चाहिए, ४ कितनी बार होनी चाहिए, ५ वन्दना करते समय कितनी बार झुकना चाहिए, ६ कितनी बार सिर झुकाना चाहिए, ७ कितने आवश्यको से शुद्ध होना चाहिए, ८ कितने दोषो से मुक्त होना चाहिए,

---

१ गा० १०६४ २ गा० १०६५ ३ गा० १०६६-७.
४ गा० १०६८ ५ गा० १०७०-१ ६. गा० १०७२.
७ गा० १०७५ ८ गा० १०८३ ९ गा० १०८७-११०९

९ वन्दना किसलिए करनी चाहिए।[1] इन द्वारों का निर्देश करने के बाद वन्द्यावन्द्य का बहुत विस्तार के साथ विचार किया गया है। श्रमणों को चाहिए कि वे असंयती माता, पिता, गुरु, सेनापति, प्रशासक, राजा, देव-देवी आदि को वन्दना न करें। जो संयती है, मेधावी है, सुसमाहित है, पंचसमिति और त्रिगुप्ति से युक्त है उसी श्रमण को वन्दना करें।[2] पार्श्वस्थ आदि संयमभ्रष्ट सन्यासियों की वन्दना करने से न तो कीर्ति मिलती है, न निर्जरा ही होती है। इस प्रकार की वन्दना कायक्लेश मात्र है जो केवल कर्मबंध का कारण है।[3] इसके बाद संसर्ग से उत्पन्न होने वाले गुण-दोषों का वर्णन करते हुए आचार्य ने समुद्र के दृष्टान्त से यह समझाया है कि जिस प्रकार नदियों का मीठा पानी समुद्र के लवणजल में गिरते ही खारा हो जाता है उसी प्रकार शीलवान् पुरुष शीलभ्रष्ट पुरुषों की संगति से शीलभ्रष्ट हो जाते हैं।[4] केवल बाह्य लिंग से प्रभावित न होकर पर्याय, पर्षद्, पुरुष, क्षेत्र, काल आगम आदि बातें जान कर जिस समय जैसा उचित प्रतीत हो उस समय वैसा करना चाहिए।[5] जिनप्रणीत लिंग को वन्दना करने से विपुल निर्जरा होती है, चाहे वह पुरुष गुणहीन ही क्यों न हो, क्योंकि वन्दना करनेवाला अध्यात्मशुद्धि के लिए ही वन्दना करता है।[6] अन्यलिंगी को जान-बूझकर नमस्कार करने से दोष लगता है क्योंकि वह निषिद्ध लिंग को धारण करता है। संक्षेप में जो द्रव्य और भाव से सुश्रमण है वही वन्द्य है।[7] ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विविध भंगों का विचार करने के बाद आचार्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनों का सम्यक् योग होने पर ही सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। अतः जो हमेशा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय आदि में लगे रहते हैं वे ही वंदनीय हैं और उन्हीं से जिनप्रवचन का यश फैलता है।[8]

वंदना करनेवाला पंचमहाव्रती आलस्यरहित, मानपरिवर्जितमति, संविग्न और निर्जरार्थी होता है।[9] जो आलसी, अभिमानी और पाप से भय न रखने वाला होता है उसमें वंदना करने की योग्यता कैसे आ सकती है?

जो धर्मकथा आदि से पराङ्मुख है अथवा प्रमत्त है उसे कभी भी वंदना न करे। जिस समय कोई आहार अथवा नीहार कर रहा हो उस समय उसे वन्दना न करे। जिस समय वह प्रशान्त, आसनस्थ और उपशान्त हो उसी समय उसके पास जाकर वन्दना करे।[10]

---

१. गा० १११०-१. २. गा० १११३-४. ३. गा० १११६. ४. गा० ११२७-८.
५. गा० ११३६. ६. गा० ११३९. ७. गा० ११४५-७.
८. गा० ११६७-१२००. ९. गा० १२०४ १०. १२०५-६.

वन्दना कितनी बार करनी चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए नियुंक्तिकार कहते है कि प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, अपराध आदि आठ अवस्थाओ मे वन्दना करनी चाहिए।[1]

वन्दना करते समय दो बार झुकना चाहिए, बारह आवर्त लेने चाहिए (१. अहो, २. काय, ३ काय, ४ जता भे, ५ जवणि, ६ ज्ज च भे। यह एक बार हुआ। इसी प्रकार दूसरी बार भी बोलना चाहिए) तथा चार बार सिर झुकाना चाहिए।[2]

जो पचीस प्रकार के आवश्यको से परिशुद्ध होकर गुरु को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही या तो निर्वाण प्राप्त करता है या देवपद पर पहुँचता है।[3]

कितने दोषो से मुक्त होकर वदना करनी चाहिए ? इसके उत्तर मे नियुंक्तिकार ने बत्तीस दोष गिनाये हैं जिनसे शुद्ध होकर ही वदना करनी चाहिए।[4]

वदना किसलिए करनी चाहिए ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वदना करने का मुख्य प्रयोजन विनय-प्राप्ति है क्योकि विनय ही शासन का मूल है, विनीत ही सयती होता है, विनय से दूर रहने वाला न तो धर्म कर सकता है, न तप।[5]

वन्दना की आवश्यकता और विधि की इतनी लम्बी भूमिका बाँधने के बाद आचार्य 'वन्दना' के मूल पाठ 'इच्छामि खमासमणो' की सूत्रस्पर्शी व्याख्या प्रारभ करते है। इसके लिए १ इच्छा, २. अनुज्ञापना, ३ अव्याबाध, ४ यात्रा, ५. यापना और ६ अपराधक्षमणा—इन छ स्थानो की नियुंक्ति करते है।[6] नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निक्षेपो से इनका सक्षिप्त विवेचन करके वदनाध्ययन की नियुंक्ति समाप्त करते है। इसके बाद 'प्रतिक्रमण' नामक चतुर्थ अध्ययन शुरू होता है।

प्रतिक्रमण :

प्रतिक्रमण[7] का तीन दृष्टियो से विचार किया जाता है : १ प्रतिक्रमणरूप क्रिया, २ प्रतिक्रमण का कर्ता अर्थात् प्रतिक्रामक और ३. प्रतिक्रन्तव्य अर्थात् प्रतिक्रमितव्य अशुभयोगरूप कर्म।[8] जीव पापकर्मयोगो का प्रतिक्रामक है। इसलिए जो ध्यानप्रशस्त योग है उनका साधु को प्रतिक्रमण नही करना

---

१. गा. १२०७ २ गा १२०९ ३ गा १२११. ४ गा. १२१२–६. ५ गा. १२२०–१ ६ गा. १२२३ ७. स्वस्थानात्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गत। तत्रैव क्रमण भूय प्रतिक्रमणमुच्यते॥ ८. गा. १२३६.

चाहिए ।[1] प्रतिक्रमण के निम्नोक्त पर्याय हैं : प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि ।[2] इन पर्यायों का अर्थ ठीक तरह समझ में आ जाए, इसके लिए नियुक्तिकार ने प्रत्येक शब्द के लिए अलग-अलग दृष्टात दिए है । इसके बाद शुद्धि की विधि बताते हुए दिशा आदि की ओर सकेत किया है ।[3]

प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, इत्वरिक, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थक आदि अनेक प्रकार का होता है । पचमहाव्रत, रात्रिभुक्तिविरति, चतुर्याम, भक्तपरिज्ञा आदि यावत्कथिक अर्थात् जीवनभर के लिए हैं । उच्चार, मूत्र, कफ, नासिकामल, आभोग, अनाभोग, सहसाकार आदि क्रियाओं के उपरान्त प्रतिक्रमण आवश्यक है ।

प्रतिक्रन्तव्य पाच प्रकार का है . मिथ्यात्वप्रतिक्रमण, असयमप्रतिक्रमण, कषायप्रतिक्रमण, अप्रशस्तयोगप्रतिक्रमण तथा ससारप्रतिक्रमण । ससारप्रतिक्रमण के चार दुर्गतियो के अनुसार चार प्रकार है । भावप्रतिक्रमण का अर्थ है तीन करण और तीन योग से मिथ्यात्वादि का सेवन छोडना ।[4] इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने आगे की कुछ गाथाओ मे नागदत्त का उदाहरण भी दिया है । इसके बाद यह बताया है कि प्रतिषिद्ध विषयो का आचरण करने, विहित विषयो का आचरण न करने, जिनोक्त वचनो में श्रद्धा न रखने तथा विपरीत प्ररूपणा करने पर प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए ।[6] इसके बाद आलोचना आदि बत्तीस योगो का सग्रह किया गया है । उनके नाम ये हैं :[7] १ आलोचना, २ निरपलाप, ३ आपत्ति में दृढधर्मता, ४ अनिश्रितोपधान, ५ शिक्षा, ६ निष्प्रतिकर्मता, ७ अज्ञातता, ८ अलोभता, ९ तितिक्षा १०. आर्जव, ११ शुचि, १२ सम्यग्दृष्टित्व, १३, समाधि, १४ आचारोपगत्व, १५ विनयोपगत्व, १६ धृतिमति, १७ सवेग, १८ प्रणिधि, १९ सुविधि, २०. सवर, २१ आत्मदोषोपसहार, २२ सर्वकामविरक्तता, २३. मूलगुणप्रत्याख्यान, २४ उत्तरगुणप्रत्याख्यान, २५. व्युत्सर्ग, २६. अप्रमाद, २७. लवालव, २८. ध्यान, २९. मरणाभीति, ३०. सगपरिज्ञा, ३१ प्रायश्चित्तकरण, ३२ मरणान्ताराधना । इन योगो का अर्थ ठीक तरह से समझाने के लिए विविध व्यक्तियो के उदाहरण भी दिए गए हैं ।[8] इनमे से कुछ के नाम इस प्रकार है - महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, वारत्तक, धन्वन्तरी वैद्य,

१. गा १२३७, २. गा. १२३८. ३. गा. १२३९–१२४३.
४. गा. १२४४–६ ५. गा. १२४७–८ ६. गा. १२६८.
७ गा. १२६९–११७३. ८. गा १२७४–१३१४.

करकण्डु, आर्य पुष्पभूति। तदनन्तर अस्वाध्यायिक की निर्युक्ति की गई है। अस्वाध्याय दो प्रकार का है: आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ। परसमुत्थ के पुनः पांच प्रकार हैं: संयमघातक, औत्पातिक, सदिव्य, व्युद्ग्राहक और शारीर।[2] इन पाचों प्रकारों को उदाहरणपूर्वक समझाया गया है। साथ में बहुत विस्तार से यह भी बताया गया है कि किस काल और किस देश (स्थान) में श्रमण को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय के लिए कौनसा देश और कौनसा काल उपयुक्त है, गुरु आदि के समक्ष किस प्रकार स्वाध्याय करना चाहिए, आदि। आत्मसमुत्थ अस्वाध्याय एक प्रकार का भी होता है और दो प्रकार का भी। श्रमणों के लिए एक प्रकार का है जो केवल व्रणदशा में होता है। श्रमणियों के लिए व्रण तथा ऋतुकाल में होने के कारण दो प्रकार का है।[3] तत्पश्चात् अस्वाध्याय से होने वाले परिणाम की चर्चा की गई है। इस चर्चा के साथ अस्वाध्यायिक की निर्युक्ति समाप्त होती है और साथ ही साथ चतुर्थ अध्ययन—प्रतिक्रमणाध्ययन की निर्युक्ति भी पूर्ण होती है।

कायोत्सर्ग :

प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग है। यह आवश्यक सूत्र का पाँचवाँ अध्ययन है। कायोत्सर्ग की निर्युक्ति करने के पूर्व आचार्य प्रायश्चित्त के भेद बताते हैं। प्रायश्चित्त दस प्रकार का है: १ आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३ मिश्र, ४. विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७. छेद, ८ मूल, ९ अनवस्थाप्य और १० पारांचिक।[4] कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग एकार्थवाची हैं। यहाँ कायोत्सर्ग का अर्थ है व्रणचिकित्सा। व्रण दो प्रकार का होता है: तदुद्भव अर्थात् कायोत्थ और आगन्तुक अर्थात् परोत्थ। इनमें से आगन्तुक व्रण का शल्योद्धरण किया जाता है, न कि तदुद्भव का।[5] शल्योद्धरण की विधि शल्य की प्रकृति के अनुरूप होती है। जैसा व्रण होता है वैसी ही उसकी चिकित्सा होती है। यह बाह्य व्रण की चिकित्सा की बात हुई। आभ्यन्तर व्रण की चिकित्सा की भी अलग-अलग विधियाँ हैं। भिक्षाचर्या से उत्पन्न व्रण आलोचना से ठीक हो जाता है। व्रतों के अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। किसी अतिचार की शुद्धि कायोत्सर्ग अर्थात् व्युत्सर्ग से होती है। कोई-कोई अतिचार तपस्या से शुद्ध होते हैं।[6] इस प्रकार आभ्यन्तर व्रण की चिकित्सा के भी अनेक उपाय हैं।

---

१. गा. १३१६–७. २ गा १३१८–१३९७. ३. गा. १३९८.
४. गा. १४१३. ५. गा. १४१४. ६ गा १४२०–२.

'कायोत्सर्ग' शब्द की व्याख्या करने के लिए निर्युक्तिकार निम्नलिखित ग्यारह द्वारो का आधार लेते है . १ निक्षेप, २ एकार्थकशब्द, ३ विधान-मार्गणा ४ कालप्रमाण, ५ भेदपरिमाण, ६. अशठ, ७ शठ, ८ विधि, ९ दोष, १० अधिकारी और ११ फल।[1]

'कायोत्सर्ग' में दो पद है : काय और उत्सर्ग। काय का निक्षेप बारह प्रकार का है और उत्सर्ग का छ प्रकार का। कायनिक्षेप के बारह प्रकार ये है : १ नाम, २ स्थापना, ३ शरीर, ४ गति, ५ निकाय, ६ अस्तिकाय, ७ द्रव्य, ८ मातृका, ९ सग्रह, १० पर्याय, ११. भार और १२. भाव।[2] इनमे से प्रत्येक के अनेक भेद-प्रभेद होते है।

काय के एकार्थक शब्द ये हैं · काय, शरीर, देह, बोन्दि, चय, उपचय, सघात, उच्छ्रय, समुच्छ्रय, कलेवर, भस्त्रा तनु, प्राणु।[3]

उत्सर्ग का निक्षेप छ प्रकार का है नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[4] उत्सर्ग के एकार्थवाची शब्द ये है उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झना, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोचना, परिशाठता, शातना।[5]

कायोत्सर्ग के विधान अर्थात् प्रकार दो है चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग। भिक्षाचर्या आदि में होने वाला चेष्टाकायोत्सर्ग है, उपसर्ग आदि मे होने वाला अभिभवकायोत्सर्ग है।[6]

अभिभवकायोत्सर्ग की कालमर्यादा अधिक से अधिक सवत्सर—एक वर्ष है और कम से कम अन्तर्मुहूर्त है।[7]

कायोत्सर्ग के भेदपरिमाण की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार नौ भेदो की गणना करते है : १ उच्छ्रितोच्छ्रित, २ उच्छ्रित ३ उच्छ्रितनिषण्ण, ४ निषण्णोच्छ्रित, ५ निषण्ण, ६ निषण्णनिषण्ण, ७ निर्विण्णोच्छ्रित ८. निर्विण्ण, ९ निर्विण्णनिर्विण्ण।[8] उच्छ्रित, का अर्थ है ऊर्ध्वस्थ अर्थात् खडा हुआ, निषण्ण का अर्थ है उपविष्ट अर्थात् बैठा हुआ और निर्विण्ण का अर्थ है सुप्त अर्थात् सोया हुआ।

भेदपरिमाण की चर्चा करते-करते आचार्य कायोत्सर्ग के गुणो की चर्चा शुरू कर देते है। कायोत्सर्ग से देह और मति की जडता की शुद्धि होती है, सुख-दु ख सहन करने की क्षमता आती है, अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यत्वादि का चिन्तन होता है तथा एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान का अभ्यास होता है। शुभध्यान

---

१. गा. १४२१ २. गा. १४२४–५ ३ गा १४४१ ४ गा १४४२– ५. गा १४४६. ६ गा. १४४७. ७. गा. १४५३. ८ गा. १४५४–५

का आधार लेकर आचार्य ध्यान की चर्चा छेड देते है।[१]

ध्यान का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त के लिए जो चित्त की एकाग्रता है वही ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का होता है . आर्त्त, रुद्र, धर्म और शुक्ल।[२] इनमे से प्रथम दो प्रकार ससारवर्धन के हेतु हैं और अन्तिम दो प्रकार विमोक्ष के हेतु हैं। प्रस्तुत अधिकार अन्तिम दो प्रकार के ध्यान का ही है।[३] इतना सामान्य सकेत करने के बाद निर्युक्तिकार ध्यान से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातो का वर्णन करते हैं।[४]

कायोत्सर्ग मोक्षपथप्रदाता है, ऐसा समझकर धीर श्रमण दिवसादिसबधी अतिचारो का परिज्ञान करने के लिए कायोत्सर्ग मे स्थित होते हैं। ये अतिचार कौन से है ? निर्युक्तिकार आगे की कुछ गाथाओ मे विविध प्रकार के अतिचारो का स्वरूप व उनसे शुद्ध होने का उपाय बताते हैं। साथ ही कायोत्सर्ग की विधि की ओर भी सकेत करते हैं। साधुओ को चाहिए कि सूर्य के रहते हुए ही प्रस्रवणोच्चारकालसम्बन्धी भूमि को अच्छी तरह देख कर अपने-अपने स्थान पर आकर सूर्यास्त होते ही कायोत्सर्ग मे स्थित हो जाएँ।[५] दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सावत्सरिक प्रतिक्रमणो के कायोत्सर्ग नियत हैं, गमनादिविषयक शेष कायोत्सर्ग अनियत है। अब नियतकायोत्सर्गों के उच्छ्वासो की सख्या बताते हैं दैवसिक में सौ उच्छ्वास, रात्रिक मे पचास, पाक्षिक मे तीन सौ, चातुर्मासिक मे पाँच सौ, सावत्सरिक मे एक हजार आठ।[६] इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के कायोत्सर्ग के लिए 'लोगस्सुज्जोयगरे' के पाठ भी नियत हैं दैवसिक कायोत्सर्ग मे चार, रात्रिक में दो, पाक्षिक मे बारह, चातुर्मासिक मे बीस और सावत्सरिक मे चालीस।[७] अनियतकायोत्सर्ग के लिए भी इसी प्रकार के निश्चित नियम है।

अशठद्वार का व्याख्यान करते हुए कहा गया हैं कि साधु अपनी शक्ति की मर्यादा के अनुसार ही कायोत्सर्ग करे। शक्ति की सीमा का उलंघन करने से अनेक दोष उत्पन्न होने का भय रहता है।[८]

शठद्वार की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि कायोत्सर्ग के समय छल-पूर्वक नीद लेना, सूत्र अथवा अर्थ की प्रतिपृच्छा करना, काटा निकालना, प्रस्रवण अर्थात् पेशाब करने चले जाना आदि कार्य दोषपूर्ण हैं। इनसे अनुष्ठान झूठा हो जाता है।[९]

---

१ गा १४५७ २ गा १४५८ ३ गा १४५९ ४ गा १४६०-१४९१.
५. गा १५१२. ६ गा १५२४-५ ७ गा १५२६ ८ गा १५३६.
९ गा १५३८

कायोत्सर्ग की विधि का विधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि गुरु के समीप ही कायोत्सर्ग प्रारम्भ करना चाहिए तथा गुरु के समीप ही समाप्त करना चाहिए। कायोत्सर्ग के समय दाहिने हाथ में मुखवस्त्रिका और बाएँ हाथ में रजोहरण रखना चाहिए।[1]

कायोत्सर्ग के निम्नांकित दोष हैं: १ घोटकदोष, २. लतादोष, ३. स्तम्भ, कुड्यदोष, ४ मालदोष, ५ शबरीदोष, ६ वधूदोष, ७ निगडदोष, ८ लम्बोत्तरदोष, ९ स्तनदोष, १० उर्द्धिदोष, ११ संयतीदोष, १२ खलिनदोष, १३ वायसदोष, १४ कपित्थदोष, १५ शीर्षकम्पदोष, १६. मूकदोष, १७ अंगुलिभ्रूदोष, १८ वारुणीदोष १९. प्रेक्षादोष।[2]

अब आचार्य अधिकारी का स्वरूप बताते हैं। जो वासी और चन्दन दोनों को समान समझता है, जिसकी जीने और मरने में समबुद्धि है, जो देह की ममता से परे है वही कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी है।[3]

कायोत्सर्ग के अन्तिम द्वार—फलद्वार की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सुभद्रा, राजा उदितोदित, श्रेष्ठिभार्या मित्रवती, सोदास, खड्गस्तम्भन आदि उदाहरणों से कायोत्सर्ग के ऐहलौकिक फल का अनुमान लगा लेना चाहिए। पारलौकिक फल के रूप में सिद्धि, स्वर्ग आदि समझने चाहिए।[4] यहाँ कायोत्सर्ग नामक पंचम अध्ययन के ग्यारह द्वारों की चर्चा समाप्त होती है।

प्रत्याख्यान :

आवश्यक सूत्र का षष्ठ अध्ययन प्रत्याख्यान के रूप में है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु प्रत्याख्यान का छः दृष्टियों से व्याख्यान करते हैं: १. प्रत्याख्यान, २. प्रत्याख्याता, ३. प्रत्याख्येय, ४ पर्षद्, ५. कथनविधि और ६. फल।[5]

प्रत्याख्यान के छः भेद हैं: १. नामप्रत्याख्यान, २ स्थापनाप्रत्याख्यान, ३. द्रव्यप्रत्याख्यान, ४. अदित्साप्रत्याख्यान, ५. प्रतिषेधप्रत्याख्यान और ६. भावप्रत्याख्यान।[6] प्रत्याख्यान की शुद्धि छः प्रकार से होती है: १. श्रद्धानशुद्धि, २ जाननाशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४. अनुभाषणाशुद्धि, ५ अनुपालनाशुद्धि, ६ भावशुद्धि।[7] अशन, पान, खादिम और स्वादिम—ये चार प्रकार की आहार-विधियाँ हैं। इन चार प्रकार के आहारों को छोड़ना आहार-प्रत्याख्यान है। जो शीघ्र ही क्षुधा को शान्त करता है वह अशन है। जो प्राण अर्थात् इन्द्रियादि का उपकार करता है वह पान है। जो आकाश में समाता है अर्थात् उदर के रिक्त स्थान में भरा जाता है वह खादिम है। जो सरस आहार के गुणों को स्वाद प्रदान

१. गा १५३९-१५५०. २. गा. १५४१-२. ३. गा १५४३. ४. गा. १५४५.
५. गा. १५५०. ६. गा १५५१. ७. गा. १५८०.

करता है वह स्वादिम है।[1] प्रत्याख्यान के गुणों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रत्याख्यान से आस्रव के द्वार अर्थात् कर्मागम के द्वार बंद हो जाते हैं, फलतः आस्रव का उच्छेद होता है। आस्रवोच्छेद से तृष्णा का नाश होता है। तृष्णोच्छेद से मनुष्य के अन्दर अतुल उपशम अर्थात् मध्यस्थभाव पैदा होता है। मध्यस्थभाव से पुनः प्रत्याख्यान की विशुद्धि होती है। इससे शुद्ध चारित्रधर्म का उदय होता है जिससे कर्मनिर्जरा होती है और क्रमशः अपूर्वकरण होता हुआ श्रेणिक्रम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्त में शाश्वत सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] प्रत्याख्यान दस प्रकार के आकारों से ग्रहण किया व पाला जाता है : १ नमस्कार, २ पौरुष, ३ पुरिमार्द्ध, ४. एकाशन, ५ एकस्थान, ६ आचाम्ल, ७ अभक्तार्थ, ८ चरम, ९ अभिग्रह, १० विकृति।[3]

अब प्रत्याख्याता का स्वरूप बताते हैं। प्रत्याख्याता गुरु होता है जो यथोक्तविधि से शिष्य को प्रत्याख्यान कराता है। गुरु मूलगुण और उत्तरगुण से शुद्ध तथा प्रत्याख्यान की विधि जानने वाला होता है। शिष्य कृतिकर्मादि की विधि जानने वाला, उपयोगपरायण, ऋजु प्रकृति वाला, संविग्न और स्थिरप्रतिज्ञ होता है।[4]

प्रत्याख्यातव्य का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि प्रत्याख्यातव्य दो प्रकार का होता है : द्रव्यप्रत्याख्यातव्य और भावप्रत्याख्यातव्य। अशनादि का प्रत्याख्यान प्रथम प्रकार का है। अज्ञानादि का प्रत्याख्यान दूसरे प्रकार का है।[5]

विनीत एवं अव्याक्षिप्तरूप से शिष्य के उपस्थित होने पर प्रत्याख्यान कराना चाहिए। यही पर्षद द्वार है।[6]

कथनविधि इस प्रकार है : आज्ञाग्राह्य अर्थात् आगमग्राह्य विषय का कथन आगम द्वारा ही करना चाहिए, दृष्टान्तवाच्य अर्थ का कथन दृष्टान्त द्वारा ही करना चाहिए। ऐसा न करने से कथनविधि की विराधना होती है।[7]

फल का व्याख्यान करते हुए नियुक्तिकार कहते हैं कि प्रत्याख्यान का फल ऐहलौकिक और पारलौकिक दो प्रकार का होता है। ऐहलौकिक फल के दृष्टान्त के रूप में धम्मिलादि और पारलौकिक फल के दृष्टान्त के रूप में दामन्नकादि समझने चाहिए। जिनवरोपदिष्ट प्रत्याख्यान का सेवन करके अनन्त जीव शीघ्र ही शाश्वत सुखरूप मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं।[8] फल प्रत्याख्यान का

---

१ गा १५८१–२ २ गा १५८८–१५९०. ३ गा. १५९१–१६०६.
४ गा. १६०७–९. ५. गा. १६११. ६ गा. १६१२.
७. गा. १६१३. ८. गा. १६१४–५.

अन्तिम द्वार है और प्रत्याख्यान आवश्यक सूत्र का अन्तिम अध्ययन है अतः इस द्वार की निर्युक्ति के साथ आवश्यकनिर्युक्ति समाप्त होती है।

आवश्यकनिर्युक्ति के इस विस्तृत परिचय से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन निर्युक्तिग्रंथों में आवश्यकनिर्युक्ति का कितना महत्त्व है। श्रमण-जीवन की सफल साधना के लिए अनिवार्य सभी प्रकार के विधि-विधानों का संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता है। जैन परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम इसी निर्युक्ति में किया गया है। ये सब बातें आवश्यकनिर्युक्ति के अध्ययन से स्पष्ट मालूम होती हैं।



तृतीय प्रकरण

दशवैकालिकनिर्युक्ति

सर्वप्रथम नियुक्तिकार ने सर्वसिद्धो को मगलरूप नमस्कार करके दशवैकालिकनियुक्ति[1] रचने की प्रतिज्ञा की है। मगल के विषय में वे कहते है कि ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में विधिपूर्वक मगल करना चाहिए। मगल नामादि भेद से चार प्रकार का होता है। भावमगल का अर्थ श्रुतज्ञान है। वह चार प्रकार का है चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग (कालानुयोग) और द्रव्यानुयोग। चरणकरणानुयोग के द्वार ये हैं निक्षेप, एकार्थ, निरुक्त, विधि, प्रवृत्ति, किसके द्वारा, किसका, द्वारभेद, लक्षण, पर्षद् और सूत्रार्थ।[2]

दशवैकालिक शब्द का व्याख्यान करने के लिए 'दश' और 'काल' का निक्षेप पद्धति से विचार करना चाहिए। 'दश' के पूर्व 'एक' का निक्षेप करते हुए आचार्य कहते है कि एकक के नाम, स्थापना, द्रव्य, मातृकापद, सग्रह, पर्याय और भाव—ये सात प्रकार हैं। दशक का निक्षेप छ: प्रकार का है: नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। काल के दस भेद इस प्रकार है. बाला, क्रीडा, मदा, बला, प्रज्ञा, हायिनि, प्रपचा, प्राग्भारा, मृन्मुखी और शायिनी।[3] ये प्राणियो की दस दशाएँ—अवस्थाविशेष हैं।

काल का द्रव्य, अद्ध, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण और भाव—इन नौ दृष्टियो से विचार करना चाहिए।[4]

दशकालिक अथवा दशवैकालिक 'दश' और 'काल' इन दो पदो से सम्बन्ध रखता है। दशकालिक में 'दश' का प्रयोग इसलिए किया गया है कि इस सूत्र मे

---

१ (अ) हरिभद्रीय विवरणसहित - प्रकाशक-देवचन्द लालाभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१८

(आ) नियुक्ति व मूल: सम्पादक E. Leumann, ZDMG भा ४६ पृ ५८१-६६३

२ गा १-५ ३ गा. ८-१० ४. गा ११

दस अध्ययन हैं। काल का प्रयोग इसलिए है कि इस सूत्र की रचना उस समय हुई जबकि पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी अथवा जो दश अध्ययन पूर्वों से उद्धृत किये गये उनका सुव्यवस्थित निरूपण विकाल अर्थात् अपराह्न में किया गया इसीलिए इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। इस सूत्र की रचना मनक नामक शिष्य के आधार से आचार्य शय्यम्भव ने की।[1]

दशवैकालिकसूत्र मे द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन है। प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशसा की गई है। दूसरे अध्ययन मे धृति की स्थापना की गई है और बताया गया है कि यही धर्म है। तीसरे अध्ययन मे क्षुल्लिका अर्थात् लघु आचारकथा का अधिकार है। चौथे अध्ययन में आत्मसयम के लिए षड्जीवरक्षा का उपदेश दिया गया है। पचम अध्ययन भिक्षाविशुद्धि से सम्बन्ध रखता है। भिक्षाविशुद्धि तप और सयम का पोषण करने वाली है। छठें अध्ययन में महती अर्थात् बृहद् आचारकथा का प्रतिपादन किया गया है। सप्तम अध्ययन में वचनविभक्ति का अधिकार है। आठवा अध्ययन प्रणिधान अर्थात् विशिष्ट चित्त-धर्मसम्बन्धी है। नवें अध्ययन मे विनय का तथा दसवें मे भिक्षु का अधिकार है। इन अध्ययनो के अतिरिक्त इस सूत्र में दो चूलिकाए भी हैं। प्रथम चूलिका मे सयम मे स्थिरीकरण का अधिकार है और दूसरी मे विविक्तचर्या का वर्णन है। यह दशवैकालिक का सक्षिप्त अर्थ है।[2]

द्रुमपुष्पिका नामक प्रथम अध्ययन की नियुक्ति मे सामान्य श्रुताभिधान चार प्रकार का बताया गया है : अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा।[3] आत्मा की कर्ममल से मुक्ति ही भावाध्ययन है। द्रुम और पुष्प का निक्षेप करते हुए कहा गया है कि द्रुम नाम, स्थापना, द्रव्य और भावभेद से चार प्रकार का है। इसी प्रकार पुष्प का निक्षेप भी चार प्रकार का है। द्रुम के पर्यायवाची शब्द ये है द्रुम, पादप, वृक्ष, अगम, विटपी, तरु, कुह, महीरुह, रोपक, रुञ्चक,। पुष्प के एकार्थक शब्द ये हैं पुष्प, कुसुम, फुल्ल, प्रसव, सुमन, सूक्ष्म।[4]

सूत्रस्पर्शिक नियुक्ति करते हुए आचार्य 'धर्म' पद का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं कि धर्म चार प्रकार का होता है . नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्य धर्म और भावधर्म। धर्म के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद भी होते हैं। लौकिक धर्म अनेक प्रकार का होता है। गम्यधर्म, पशुधर्म, राज्यधर्म, पुरवरधर्म, ग्रामधर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म, राजधर्म आदि लौकिक धर्म के भेद है। लोकोत्तर

१. गा १२, ५. २. गा. १९-२५.
३. गा. २६-७ ४. गा. ३५-६.

धर्म दो प्रकार का है : श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म स्वाध्यायरूप है और चारित्रधर्म श्रमणधर्म रूप है।[१]

मंगल भी द्रव्य और भावरूप होता है। पूर्णकलशादि द्रव्यमंगल है। धर्म भावमंगल है।[२]

हिंसा के प्रतिकूल अहिंसा होती है। उसके भी द्रव्यादि चार भेद होते हैं। प्राणातिपातविरति आदि भाव अहिंसा है।[३]

आचार्य संयम की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय की मन, वचन, और काय से यतना रखना संयम है।[४]

तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता बाह्य तप के भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग आभ्यंतर तप के भेद हैं।[५]

हेतु और उदाहरण की उपयोगिता बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि श्रोता की योग्यता को ध्यान में रखते हुए पांच अथवा दस अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण दो प्रकार का होता है। ये दो प्रकार पुन: चार-चार प्रकार के होते हैं। हेतु चार प्रकार का होता है। हेतु का प्रयोजन अर्थ की सिद्धि करना है।[६] आचार्य ने उदाहरण का स्वरूप समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त देते हुए उदाहरण के विविध द्वारों का विस्तृत विवेचन किया है। उदाहरण के चार तरह के दोष इस प्रकार हैं : अधर्मयुक्त, प्रतिलोम, आत्मोपन्यास और दुरुपनीत।[७] हेतु के चार प्रकार ये हैं : यापक, स्थापक, व्यंसक और लूषक।[८] प्रथम अध्ययन में भ्रमर का उदाहरण अनियतवृत्तित्व का दिग्दर्शन कराने के लिए दिया गया है।[९]

सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति करते हुए आचार्य विहंगम शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—विहंगम दो प्रकार का होता है : द्रव्यविहंगम और भावविहंगम। जिस पूर्वोपात्त कर्म के उदय के कारण जीव विहंगमकुल में उत्पन्न होता है वह द्रव्यविहंगम है। भावविहंगम के पुन: दो भेद हैं : गुणसिद्ध और संज्ञासिद्ध। जो विह अर्थात् आकाश में प्रतिष्ठित है उसे गुणसिद्ध विहंगम कहते हैं। जो आकाश में गमन करते हैं अर्थात् उड़ते हैं वे सभी संज्ञासिद्ध विहंगम हैं। प्रस्तुत प्रसंग

१. गा. ३९–४३
२. गा. ४४
३. गा. ४५.
४. गा. ४६
५. गा. ४७–८
६. गा. ५०–१.
७. गा. ८१–५
८. गा. ८६–८.
९. गा. ९७.

आकाश मे गमन करने वाले भ्रमरो का है।[1]

हेतु और दृष्टान्त के प्रसंग पर जिन दस अवयवो का निर्देश ऊपर किया गया है उनके नाम ये हैं १ प्रतिज्ञा, २ विभक्ति, ३. हेतु, ४. विभक्ति, ५ विपक्ष, ६ प्रतिबोध, ७ दृष्टान्त, ८ आशका, ९ तत्प्रतिषेध, १० निगमन। नियुक्तिकार ने इन दस प्रकार के अवयवो पर दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन को अच्छी तरह कसा है और यह सिद्ध किया है कि इस अध्ययन की रचना में इन अवयवो का सम्यक्रूपेण अनुसरण किया गया है।[2]

दूसरे अध्ययन के प्रारभ मे 'श्रामण्यपूर्वक' की निक्षेप-पद्धति से व्याख्या की गई है। 'श्रामण्य' का निक्षेप चार प्रकार का है तथा 'पूर्वक' का तेरह प्रकार का। जो सयत है वही भावश्रमण है। आगे की कुछ गाथाओ मे भावश्रमण का बहुत ही नपा-तुला और भावपूर्ण वर्णन किया गया है।[3] 'श्रमण' शब्द के पर्याय ये हैं प्रव्रजित, अनगार, पाखडी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रंथ, सयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रूक्ष, तीरार्थी।[4] 'पूर्व' के निक्षेप के तेरह प्रकार ये है - १ नाम, २ स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५ काल, ६ दिक्, ७. तापक्षेत्र, ८ प्रज्ञापक, ९. पूर्व, १०. वस्तु, ११ प्राभृत, १२ अतिप्राभृत और १३ भाव।[5] इसके बाद 'काम' का नामादि चार प्रकार के निक्षेप से विचार किया गया है। भावकाम दो प्रकार का है इच्छाकाम और मदनकाम। इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार की होती है। मदन का अर्थ है वेदोपयोग अर्थात् स्त्रीवेदादि के विपाक का अनुभव। प्रस्तुत अधिकार मदनकाम का है।[6]

'पद' की नियुक्ति करते हुए आचार्य कहते है कि पद चार प्रकार का होता है: नामपद, स्थापनापद, द्रव्यपद और भावपद। भावपद के दो भेद हैं अपराधपद और नोअपराधपद। नोअपराधपद के पुन दो भेद है मातृकापद और नोमातृकापद। नोमातृकापद के भी दो भेद है. ग्रथित और प्रकीर्णक। ग्रथित चार प्रकार का होता है गद्य, पद्य, गेय और चौर्ण। प्रकीर्णक के अनेक भेद होते हैं। इद्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना, उपसर्ग आदि अपराध पद है। श्रमणधर्म के पालन के लिए इनका परिवर्जन आवश्यक है।[7]

तीसरे अध्ययन का नाम क्षुल्लिकाचारकथा है। नियुक्तिकार क्षुल्लक, आचार और कथा—इन तीनो का निक्षेप करते है। क्षुल्लक महत् सापेक्ष है

१ गा. ११७–१२२ ३ गा १५२–७. ५. गा. १६०
२ गा १३७–१४८ ४. गा १५८–९ ६ गा १६१–३.
७. गा १६६–१७७.

अत. महत् का निक्षेप करते हुए कहा गया है कि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव—इन आठ भेदो के साथ महत का विचार करना चाहिए। क्षुल्लक महत् का प्रतिपक्षी है अत उसके भी ये ही आठ भेद हैं। आचार का निक्षेप नामादि भेद से चार प्रकार का है। नामन, धावन, वासन, शिक्षापन आदि द्रव्याचार हैं। भावाचार पाच प्रकार का है : दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य।[1] कथा चार प्रकार की होती है . अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा। अर्थकथा के निम्नोक्त भेद है . विद्या, शिल्प, उपाय, अनिर्वेद, नचय, दक्षत्व, साम, दण्ड, भेद और उपप्रदान। कामकथा के निम्नलिखित भेद है : रूप, वय, वेप, दाक्षिण्य, विपयज्ञ, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और सस्तव। धर्मकथा चार प्रकार की है . आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी। धर्म, अर्थ और काम से मिश्रित कथा का नाम मिश्रकथा है। कथा से विपक्षभूत विकथा है। उसके स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, चौरजनपदकथा, नटनर्तकजल्लमुष्टिककथा आदि अनेक भेद है। श्रमण को चाहिए कि वह क्षेत्र, काल, पुरुष, सामर्थ्य आदि का ध्यान रखते हुए अनवद्य कथा का व्याख्यान करे।[2]

चतुर्थ अध्ययन का नाम षड्जीवनिकाय है। इसकी नियुक्ति मे एक, छ, जीव, निकाय और शस्त्र का निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है। आचार्य ने जीव के निम्नोक्त लक्षण बताये है : आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेश्या, आन, आपान, इन्द्रिय, बन्ध, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, सज्ञा, विज्ञान, धारणा, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क।[3] शस्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि द्रव्यशस्त्र स्वकाय, परकाय अथवा उभयकायरूप होता है। भावशस्त्र असयम है।[4]

पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन की निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने पिण्ड और एषणा इन दो पदो का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया है। गुड, ओदन आदि द्रव्यपिण्ड हैं। क्रोधादि चार भावपिण्ड हैं। द्रव्यैषणा तीन प्रकार की है सचित्त, अचित्त और मिश्र। भावैषणा दो प्रकार की है प्रशस्त और अप्रशस्त। ज्ञानादि प्रशस्त भावैषणा है। क्रोधादि अप्रशस्त भावैषणा है। प्रस्तुत अधिकार द्रव्यैषणा का है।[5]

षष्ठ अध्ययन का नाम महाचारकथा है। इसकी निर्युक्ति में आचार्य ने यह निर्देश किया है कि क्षुल्लिकाचारकथा की निर्युक्ति मे महत्, आचार और

१. गा १७८–१८७.
२. गा. १८८–२१५
३. गा २२३–४.
४. गा. २३१.
५. गा. २३४–२४४.

कथा का व्याख्यान हो चुका है[1] सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए आचार्य 'धर्म' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं —धर्म दो प्रकार का होता है अगारधर्म और अनगारधर्म। अगारधर्म बारह प्रकार का है : पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अनगारधर्म दस प्रकार का है क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, सयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।[2] धान्य २४ प्रकार का होता है. १. यव, २ गोधूम, ३. शालि, ४ व्रीहि, ५ षष्टिक ६ कोद्रव, ७. अणुक, ८ कगु, ९. रालक, १० तिल, ११ मुद्ग, १२ माष, १३. अतसी, १४ हरिमथ, १५ त्रिपुटक, १६ निष्पाव, १७. सिलिंद, १८ राजमाष, १९ इक्षु, २० मसूर, २१, तुवरी, २२. कुलत्थ, २३ धान्यक, २४. कलाय। रत्न २४ प्रकार के होते हैं १ सुवर्ण, २ त्रपु, ३. ताम्र, ४ रजत, ५. लोह, ६. सीसक, ७ हिरण्य, ८. पाषाण, ९ वज्र, १०. मणि, ११. मौक्तिक, १२. प्रवाल, १३ शख, १३. तिनिश, १५ अगरु, १६ चदन, १७ वस्त्र, १८. अमिल, १९ काष्ठ, २०. चर्म, २१ दन्त, २२. वाल, २३. गध और २४. द्रव्यौषध। स्थावर के तीन भेद हैं भूमि, गृह और तरु। द्विपद दो प्रकार के हैं. चक्रारबद्ध और मानुष। चतुष्पद दस प्रकार के हैं गो, महिषी, उष्ट्र, अज, एडक, अश्व, अश्वतर, घोटक, गर्दभ और हस्ती। काम दो प्रकार का है सप्राप्त और असप्राप्त। संप्राप्त काम चौदह प्रकार का और असप्राप्त काम दस प्रकार का है। असप्राप्त काम के दस प्रकार ये है अर्थ, चिंता, श्रद्धा, ससंरण, विक्लवता, लज्जानाश, प्रमाद, उन्माद, तद्भावना और मरण। सप्राप्त काम के चौदह प्रकार ये हैं : दृष्टिसपात, सभाषण, हसित, ललित, उपगूहित, दतनिपात, नखनिपात, चुबन, आलिंगन, आदान, करण, आसेवन, संग और क्रीडा।[3]

सप्तम अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। 'वाक्य' का निक्षेप चार प्रकार का है। भाषाद्रव्य को द्रव्यवाक्य कहते है। भाषा शब्द भाववाक्य है। वाक्य के एकार्थक शब्द ये हैं वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाक्, भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाग्योग, योग।[4] सत्यभाषा जनपदादि के भेद से दस प्रकार की होती है, मृषाभाषा क्रोधादि के भेद से दस प्रकार की होती है, मिश्रभाषा उत्पन्नादि भेद से अनेक प्रकार की होती है, असत्यमृषा आमत्रणी आदि भेद से अनेक तरह की होती है।[5] शुद्धि का निक्षेप भी नामादि चार प्रकार का है। भावशुद्धि तीन प्रकार की है : तद्भाव, आदेशाभाव और प्राधान्यभाव।[6]

१. गा. २४५ २. गा २४६–८.
३. गा २५०–२६२. ४. गा २६९-२७०
५. गा. २७३-६. ६. गा २८६

अष्टम अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। आचार का निक्षेप पहले हो चुका है। प्रणिधि दो प्रकार की है: द्रव्यप्रणिधि और भावप्रणिधि। निधानादि द्रव्यप्रणिधि है। भावप्रणिधि के दो भेद है - इन्द्रियप्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि। ये पुन प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की होती है।[1]

विनयसमाधि नामक नवम अध्ययन की नियुंक्ति में आचार्य भावविनय के पाँच भेद करते हैं - लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भयनिमित्त और मोक्षनिमित्त। मोक्षनिमित्तक विनय पाँच प्रकार का है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारसम्बन्धी।[2]

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। सकार का निक्षेप नामादि चार प्रकार का है। द्रव्यसकार प्रशसादिविषयक है। भावसकार तदुपयुक्त जीव है। निर्देश, प्रशसा और अस्तिभाव में सकार का प्रयोग होता है। प्रस्तुत अध्ययन में निर्देश, और प्रशसा का अधिकार है।[3] भिक्षु का निक्षेप भी नामादि चार प्रकार का है। भावभिक्षु दो प्रकार का है आगमत. और नोआगमत.। भिक्षुपदार्थ मे उपयुक्त आगमत. भावभिक्षु है। भिक्षुगुणसवेदक नोआगमत. भावभिक्षु है।[4] भिक्षु के पर्याय ये है: तीर्ण, तायी, द्रव्य, व्रती, क्षात, दात, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान्, प्रव्रजित, अनगार, पासण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, सयत, मुक्त, साधु, रुक्ष, तीरार्थी।[5] इनमें से अधिकाश शब्द 'श्रमण' के पर्यायो में आ चुके है।

चूलिकाओ की निर्युक्ति करते हुए कहा गया है कि 'चूलिका' का निक्षेप द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावपूर्वक होता है। कुक्कुटचूडा आदि सचित द्रव्यचूडा है, मणिचूडा आदि अचित्त द्रव्यचूडा है और मयूरशिखा आदि मिश्र द्रव्यचूडा है। भावचूडा क्षायोपशमिक भावरूप है।[6] 'रति' का निक्षेप नामादि चार प्रकार का है। जो रति कर्म के उदय के कारण होती है वह भावरति है। जो धर्म के प्रति रतिकारक है वह अधर्म के प्रति अरतिकारक है।[7]

---

१ गा २९३-४
२ गा ३०९-३२२
३ गा. ३२८-९
४. गा. ३४१.
५ गा ३४५-७
६ गा. ३५९-३६१.
७. गा ३६२-७

चतुर्थ प्रकरण

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

इस निर्युक्ति[1] मे ६०७ गाथाए है। अन्य निर्युक्तियो की तरह इसमें भी अनेक पारिभाषिक शब्दो का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। इसी प्रकार अनेक शब्दो के विविध पर्याय भी दिये गए है।

सर्वप्रथम आचार्य 'उत्तराध्ययन' शब्द की व्याख्या करते हुए 'उत्तर' पद का पन्द्रह प्रकार के निक्षेपो से विचार करते है : १. नाम, २. स्थापना, ३ द्रव्य, ४ क्षेत्र, ५ दिशा, ६, तापक्षेत्र, ७ प्रज्ञापक, ८ प्रति, ९ काल, १० सचय, ११ प्रधान, १२. ज्ञान, १३ क्रम, १४ गणना और १५. भाव।[2] 'उत्तराध्ययन' में 'उत्तर' का अर्थ क्रमोत्तर समझना चाहिए।[3]

उत्तराध्ययनसूत्र मे भगवान् जिनेन्द्र ने छत्तीस अध्ययनो का उपदेश दिया है।[4]

'अध्ययन' पद का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार द्वारो से 'अध्ययन' का विचार हो सकता है। भावाध्ययन की व्याख्या इस प्रकार है . प्रारब्ध तथा बध्यमान कर्मो के अभाव से आत्मा का जो अपने स्वभाव मे आनयन अर्थात् ले जाना है वही अध्ययन है। जिससे जीवादि पदार्थो का अधिगम अर्थात् परिच्छेद होता है अथवा जिससे अधिक नयन अर्थात् विशेष प्राप्ति होती है अथवा जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है वही अध्ययन है।[5] चूकि अध्ययन से अनेक भवो से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्मरज का क्षय होता है इसीलिए उसे भावाध्ययन कहते हैं।[6] यहाँ तक 'उत्तराध्ययन' का व्याख्यान है। इसके बाद आचार्य 'श्रुतस्कन्ध' का निक्षेप करते है क्योकि उत्तराध्ययनसूत्र श्रुतस्कन्ध है। तदनन्तर छत्तीस अध्ययनो के नाम गिनाते है। तथा उनके विविध अधिकारो का निर्देश करते है।[7] यहाँ तक सक्षेप मे उत्तराध्ययन का पिण्डार्थ

---

१ शान्तिसूरिकृत शिष्यहिता-टीकासहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१६-१९२७ २. गा० १. ३ गा० ३.
४. गा० ४. ५. गा० ५-७. ६. गा० ११
७. गा० १२-२६.

अर्थात् समुदायार्थं दिया गया है। आगे प्रत्येक अध्ययन का विशेष व्याख्यान किया गया है।

प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत है। 'विनय' का विचार पहले हो चुका है।[1] 'श्रुत' का नामादि चार प्रकार का निक्षेप होता है। निह्नवादि द्रव्यश्रुत है। जो श्रुत में उपयुक्त है वह भावश्रुत है।[2] इसके वाद 'सयोग' शब्द की सूत्रस्पर्शिक नियुंक्ति करते हुए आचार्य ने छ एव दो प्रकार के निक्षेप से 'सयोग' की अति विस्तृत व्याख्या की है। इसमें सस्थान, अभिप्रेत, अनभिप्रेत, अभिलाप, सम्वन्धन, अनादेश, आदेश, आत्मसयोग, वाह्यसंयोग आदि विपयो का वहुत विस्तार से विवेचन किया है।[3] विनय के प्रसग से आचार्य और शिष्य के गुणो का वर्णन करते हुए यह वताया गया है कि इन दोनो का सयोग कैसे होता है। सवन्वनसयोग ससार का हेतु है क्योकि यह कर्मपाश के कारण होता है। इसे नष्ट कर जीव मुक्ति का वास्तविक आनन्द भोगता है।[4]

विनयश्रुत की वारहवी गाथा में 'गलि' शव्द आता है। इसके पर्यायवाची शव्द ये हैं : गण्डि, गलि, मरालि। 'आकीर्ण' शव्द के पर्याय ये हैं · आकीर्ण, विनीत, भद्रक।[5] 'गलि' का प्रयोग अविनीत के लिये है और 'आकीर्ण' का प्रयोग विनीत के लिए।

दूसरे अध्ययन का नाम परीपह है। परीपह का न्यास अर्थात् निक्षेप चार प्रकार का है। इनमें से द्रव्यनिक्षेप दो प्रकार का है : आगमरूप नोआगमरूप। नोआगम परीपह पुन तीन प्रकार का है · ज्ञायकशरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्त। कर्म और नोकर्मरूप से द्रव्यपरीषह दो प्रकार का भी होता है। नोकर्मरूप द्रव्यपरीपह सचित्त, अचित्त और मिश्ररूप से तीन प्रकार का है। भावपरीषह में कर्म का उदय होता है। उसके द्वार ये हैं · कुतः (कहाँ से) कस्य (किसका), द्रव्य, समवतार, अध्यास, नय, वर्त्तना, काल, क्षेत्र, उद्देश, पृच्छा, निर्देश और सूत्रस्पर्श।[6] वादरसम्पराय गुणस्थान में वाईस, सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान मे चौदह, छद्मस्थवीतराग गुणस्थान में भी चौदह और केवली अवस्था में ग्यारह परीषह होते हैं।[7]

क्षुत्पिपासा अदि परीषहो की विशेष व्याख्या करते हुए नियुंक्तिकार ने विविध उदाहरणो द्वारा यह समझाया है कि श्रमण को किस प्रकार इन परीषहो

१ दशवैकालिक, अध्ययन ९ (विनयसमाधि) की नियुंक्ति।
२ गा० २९ ३. गा० ३०-५७ ४. गा० ६२.
५. गा० ६४. ६. गा० ६५-८. ७. गा० ७९.

को सहन करना चाहिए।[1] इस प्रसंग से आचार्य ने जैन परम्परा में आने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण एव शिक्षाप्रद कथाओं का सकलन किया है।

तीसरे अध्ययन का नाम चतुरंगीय है। एक के बिना चार नही होते हैं अत निर्युक्तिकार सर्वप्रथम 'एक' का निक्षेप-पद्धति मे विचार करते हैं। इनके लिए सात प्रकार के 'एकक' का निर्देश करते हैं. १ नामैकक, २, स्थापनैकक ३. द्रव्यैकक, ४ मातृकापदैकक, ५, संग्रहैकक, ६ पर्यवैकक, और ७, भावैकक।[2] 'एकक' की विस्तृत व्याख्या दशवैकालिकनिर्युक्ति में हो चुकी है। 'चतुष्क' अर्थात् चार का सात प्रकार का निक्षेप है: नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना और भाव। प्रस्तुत अधिकार गणना का है।[3]

'अग' का निक्षेप चार प्रकार का है: नामाग, स्थापनाग, द्रव्याग, और भावाग। उनमे से द्रव्याग छ प्रकार का होता है. १. गधाग, २ औषधाग, ३ मद्याग, ४ आतोद्याग, ५ शरीराग और ६ युद्धाग।[4]

गधाग निम्नलिखित है: जमदग्निजटा (वालक), हरेणुका (प्रियगु), शवरनिवसनक (तमालपत्र), सपिन्निक, मल्लिकावासित, ओसीर, ह्रीवेर, भद्रदारु (देवदारु), शतपुष्पा, तमालपत्र,। इनका माहात्म्य यही है कि इनसे स्नान और विलेपन किया जाता है। वासवदत्ता ने उदयन को हृदय मे रखते हुए इनका सेवन किया था।[5]

औषधाग की गुटिका में पिण्डदारु, हरिद्रा, माहेन्द्रफल, सुण्ठी, पिप्पली, मरिच, आर्द्र, बिल्वमूल और पानी—ये आठ वस्तुएँ मिली हुई होती है। इससे कडु, तिमिर, अर्द्धशिरोरोग, पूर्णशिरोरोग, तार्तीयीक और चातुर्थिक ज्वर (तिजरा और चौथे दिन आने वाला बुखार), मूषक और सर्पदंश शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।[6]

द्राक्षा के सोलह भाग (सोलह दाखें), धातकीपुष्प के चार भाग और एक आढक इक्षुरस—इनसे मद्याग बनता है। आढक का नाप मागध मान से समझना चाहिए।[7]

एक मुकुन्दातूर्य, एक अभिमारदारुक, एक शाल्मलीपुष्प—इनके बंध से आमोडक अर्थात् पुष्पोन्मिश्र वालबधविशेष होता है। यही आतोद्याग है।[8]

अब शरीराग के नाम बताते हैं। सिर, उर, उदर, पीठ, बाहु (दो) और उरु (दो)—ये आठ अग है। शेष अगोपाग है।[9]

---

१. गा० ८९–१४१ २. गा० १४२. ३. गा० १४३ ४ गा० १४४–५. ५ गा० १४६–८ ६. गा० १४९–१५० ७. गा० १५१ ८ गा० १५२. ९ गा० १५३.

युद्धाग ये हैं · यान (हस्त्यादि), आवरण (कवचादि), प्रहरण (खड्गादि), कुशलत्व (प्रावीण्य), नीति, दक्षत्व (आशुकारित्व), व्यवसाय, शरीर (अहीनाग) और आरोग्य ।[1] यहाँ तक द्रव्याग का व्याख्यान है।

भावाग दो प्रकार का है श्रुताग और नोश्रुताग। श्रुताग आचारादि भेद से बारह प्रकार का है। नोश्रुताग चार प्रकार का है ये चार प्रकार ही चतुरगीय के रूप मे प्रसिद्ध है। ससार मे ये चार भावाग दुर्लभ है: मानुष्य, धर्मश्रुति, श्रद्धा और वीर्य (तप और सयम मे पराक्रम) ।[2]

अग, दशभाग, भेद, अवयव, असकल, चूर्ण, खण्ड, देश, प्रदेश, पर्व, शाखा, पटल, पर्यवखिल—ये सब शरीराग के पर्याय है। सयम के पर्याय ये है दया, सयम, लज्जा, जुगुप्सा, अछलना, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री ।[3]

आगे नियुक्तिकार ने उदाहरणो की सहायता से यह बताया है कि मनुष्यभव की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, मनुष्यभव प्राप्त हो जाने पर भी धर्मश्रुति कितनी कठिन है, धर्मश्रुति का लाभ होने पर भी उस पर श्रद्धा करना कितना कठिन है, श्रद्धा हो जाने पर भी तप और सयम में वीर्य अर्थात् पराक्रम करना तो और भी कठिन है। श्रद्धा की चर्चा करते समय जमालिप्रभृति सात निह्नवो का परिचय दिया गया है।[4]

चतुर्थ अध्ययन का नाम 'असस्कृत' है। इसकी नियुक्ति करते समय सर्वप्रथम प्रमाद और अप्रमाद दोनो का निक्षेप किया गया है। प्रमाद और अप्रमाद दोनो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार के होते है। इनमें से द्रव्य और भावप्रमाद पाँच प्रकार के होते है मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। अप्रमाद के भी पाँच प्रकार हैं जो इनसे विपरीत हैं।[5]

जो उत्तरकरण से कृत अर्थात् निर्वर्तित है वह सस्कृत है। शेष असस्कृत है। करण का निक्षेप छ प्रकार का होता है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्यकरण दो प्रकार का होता है सज्ञाकरण और नोसज्ञाकरण। सज्ञाकरण पुन तीन प्रकार का है कटकरण, अर्थकरण और वेलुकरण। नोसज्ञाकरण दो प्रकार का है प्रयोगकरण और विश्रसाकरण। विश्रसाकरण के पुन दो भेद है सादिक और अनादिक। अनादिक तीन प्रकार का है - धर्म, अधर्म और आकाश। सादिक दो प्रकार का है चक्षु स्पर्श और अचक्षुः-स्पर्श। प्रयोगकरण के दो भेद है: जीवप्रयोगकरण और अजीवप्रयोगकरण।

---

१. गा० १५४ २ गा० १५५–६ ३ गा० १५७–८.
४ गा० १५९–१७८ ५ गा० १७९–१८१

जीवप्रयोगकरण पुन' दो प्रकार का है - मूलकरण और उत्तरकरण । पाँच प्रकार के शरीर और तीन प्रकार के अगोपाग मूलकरण हैं। कर्ण, स्कध आदि उत्तरकरण हैं ।[1] अजीवप्रयोगकरण वर्णादि भेद से पाँच प्रकार का होता है ।[2] इसीप्रकार क्षेत्रकरण और कालकरण का विवेचन किया गया है ।[3] भावकरण जीवकरण और अजीवकरण के भेद से दो प्रकार का है । इनमे से अजीवकरण पुन पाँच प्रकार का है वर्ण, रस, गध, स्पर्श और सस्थान । ये क्रमश. पाँच, पाँच, दो, आठ और पांच प्रकार के हैं । जीवकरण दो प्रकार का है : श्रुतकरण और नोश्रुतकरण । श्रुतकरण बद्ध और अबद्धरूप से दो प्रकार का है । बद्ध के पुन दो भेद हैं निशीथ और अनिशीथ । नोश्रुतकरण दो प्रकार का है गुणकरण और योजनाकरण । गुणकरण तप-सयम-योगरूप है और योजना करण मन, वचन और काय विषयरूप है ।[4] इतना विस्तारपूर्वक करण का विचार करने के बाद निर्युक्तिकार अपने अभीष्ट अर्थ की योजना करते हैं । कार्मण देह के निमित्त होने वाला आयुःकरण असस्कृत है । उसे टूटने पर पटादि की भाति उत्तरकरण से साधा नही जा सकता । प्रस्तुत अधिकार आयु कर्म से असस्कृत का है । चूकि आयु कर्म असस्कृत है इसलिए हमेशा अप्रमादपूर्वक आचरण करना चाहिए ।[5]

आगे के अध्ययनो की निर्युक्ति मे भी इसी भाति प्रत्येक अध्ययन के नाम का नामादि निक्षेपो से विचार किया गया है । गाथा २०८ मे 'काम' और 'मरण' का निक्षेप है । गा० २३७ में 'निर्ग्रन्थ' शब्द का निक्षेप-पद्धति से विवेचन है । गा० २४४ मे उरभ्र, गा० २५० में कपिल, गा० २६० मे नमि, गा० २८० मे द्रुम, गा० ३१० मे बहु, श्रुत और पूजा, गा० ४५५ में प्रवचन, गा० ४८० मे साम, गा० ४९६ मे मोक्ष, गा० ५१४ मे चरण और गा० ५१६ मे विधि का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है । २१२ से २३५ तक की गाथाओ मे सत्रह प्रकार की मृत्यु का विचार किया गया है ।



१ गा० १८२-१९१. २. गा० १९५. ३. गा० १९६-२००
४. गा० २०१-४. ५. गा० २०५

पंचम प्रकरण

आचारांगनियुक्ति

यह नियुक्ति[1] आचाराग सूत्र के दोनो श्रुतस्कन्धो पर है। इसमे ३४७ गाथाएँ है जिनमें आचार, अग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, सज्ञा, दिशा, पृथिवो, विमोक्ष, इर्या आदि शब्दो के निक्षेप, पर्याय आदि है। यह नियुक्ति उत्तराध्ययननियुक्ति के बाद तथा सूत्रकृतागनियुक्ति के पहले लिखी गई है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध :

प्रारभ में मगलगाथा है जिसमे सर्वसिद्धो को नमस्कार करके आचाराग की नियुक्ति करने की प्रतिज्ञा की गई है।[2] इसके बाद यह बतलाया गया है कि आचार, अङ्ग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, सज्ञा और दिशा—इन सबका निक्षेप करना चाहिए। इनमें से कौन सा निक्षेप कितने प्रकार का है, यह बताते हुए कहा गया है कि चरण और दिशा को छोड कर शेप का निक्षेप चार प्रकार का है। चरण का निक्षेप छ प्रकार का है और दिशा का सात प्रकार का।[3]

आचार और अग का निक्षेप पहले किया जा चुका है।[4] यहाँ पर भावाचार के विषय मे कुछ विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके लिए निम्नलिखित सात द्वारो का आधार लिया गया है : एकार्थक, प्रवृत्ति, प्रथमाग, गणी, परिमाण, समवतरण और सार।[5]

आचार के एकार्थक शब्द ये है - आचार, आचाल, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, अग, आचीर्ण, आजाति, आमोक्ष।[6]

---

१. (अ) शीलाक, जिनहस तथा पार्श्वचन्द्रकृत टीकाओ सहित—
राय बहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० स० १९३६

(आ) शीलाककृत टीकासहित—
आगमोदय समिति, सूरत, वि० स० १९७२-३
जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९३५

२ गा० १. ३ गा० २-३ ४ दशवैकालिक की क्षुल्लिकाचारकथा तथा उत्तराध्ययन का चतुरगीय अध्ययन। ५ गा० ५-६.
६ गा० ७

आचार का प्रवर्तन कब हुआ ? सभी तीर्थङ्करो ने तीर्थ-प्रवर्तन के आदि में आचाराग का प्रवर्तन किया। शेष ग्यारह अगो का आनुपूर्वी से निर्माण हुआ।[१]

आचाराग प्रथम अग क्यो है, इसका कारण बताते है। आचाराग द्वादशागो मे प्रथम है क्योकि इसमे मोक्ष के उपाय का प्रतिपादन है जो सम्पूर्ण प्रवचन का सार है।[२]

चूँकि आचाराग के अध्ययन से श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है इसलिए इसका प्रधान अर्थात् आद्य गणिस्थान है।[३]

इसका परिमाण इस प्रकार है इसमें नौ ब्रह्मचर्याभिधायी अध्ययन हैं, अठारह हजार पद है, पाँच चूडाएं हैं।[४]

इन चूडाओ का ब्रह्मचर्याध्ययन मे समवतरण होता है। ये ही पुन छ कायों में, पाँच व्रतो में, सर्व द्रव्यो मे और पर्यायो के अनन्तवें भाग मे अवतरित होती है।[५]

अब अन्तिम द्वार का स्वरूप बताते है। अगो का सार क्या है ? आचार। आचार का सार क्या है ? अनुयोगार्थ। अनुयोगार्थ का सार क्या है ? प्ररूपणा। प्ररूपणा का सार क्या है ? चरण। चरण का सार क्या है ? निर्वाण। निर्वाण का सार क्या है ? अव्याबाध। यही सर्वोत्कृष्ट सार है—अन्तिम ध्येय है।[६]

चूँकि भावश्रुतस्कन्ध ब्रह्मचर्यात्मक है अत ब्रह्म और चरण का निक्षेप करते हैं। ब्रह्म की और इसी प्रकार ब्राह्मण की नामादि चार स्थानो से उत्पत्ति होती है। भावब्रह्म सयम है। ब्राह्मण के प्रसग को दृष्टि मे रखते हुए निर्युक्तिकार सात वर्णों और नौ वर्णान्तरो का भी वर्णन करते है। एक मनुष्यजाति के सात वर्ण ये हैं - क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, ब्राह्मण, सकरक्षत्रिय, सकरवैश्य और सकरशूद्र। नौ वर्णान्तर ये है · अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, अयोगव, मागध, सूत, क्षत्त, विदेह और चाण्डाल।[७]

चरण नामादि भेद से छ. प्रकार का होता है। भावचरण गति, आहार और गुण के भेद से तीन प्रकार का होता है।[८]

मूल और उत्तरगुण की स्थापना करने वाले नौ अध्याय निम्नलिखित है - १. शस्त्रपरिज्ञा २ लोकविजय, ३ शीतोष्ण, ४ सम्यक्त्व, ५ लोकसार,

---

१. गा० ८ २ गा० ९. ३. गा० १०।
४. गा० ११ ५. गा० १२-४. ६. गा० १६-७.
७. गा० १८-२२. ८ गा० २९-३०

६. धुव, ७ महापरिज्ञा, ८. विमोक्ष और ९ उपधानश्रुत । ये नौ आचार हैं, शेष आचाराग्र हैं ।[1]

अब इन अध्ययनों के अर्थाधिकार बताते है । प्रथम अध्ययन का अधिकार जीवसंयम है, दूसरे का अष्टविध कर्मविजय है, तीसरे का सुख-दु खतितिक्षा है, चौथे का सम्यक्त्व की दृढता है, पांचवें का लोकसार रत्नत्रयाराधना है, छठे का नि संगता है, सातवें का मोहसमुत्थ परीषहोपसर्गसहनता है, आठवें का निर्याण अर्थात् अन्तक्रिया है और नौवें का जिनप्रतिपादित अर्थश्रद्धान है ।[2]

शस्त्रपरिज्ञा मे दो पद है : शस्त्र और परिज्ञा . शस्त्र का निक्षेप नामादि चार प्रकार का है । खड्ग, अग्नि, विष, स्नेह, आम्ल, क्षार, लवणादि द्रव्यशस्त्र हैं । दुष्प्रयुक्त भाव ही भावशस्त्र है । परिज्ञा भी नामादि भेद से चार प्रकार की है । द्रव्यपरिज्ञा दो प्रकार की है . ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा । भावपरिज्ञा भी दो प्रकार की है . ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा । द्रव्यपरिज्ञा मे ज्ञाता अनुपयुक्त होता है जबकि भावपरिज्ञा में ज्ञाता को उपयोग होता है ।[3]

इसके बाद निर्युक्तिकार सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति प्रारभ करते है । सर्वप्रथम 'सज्ञा' का निक्षेप करते हुए कहते हैं कि सचित्तादि (हस्त, ध्वज, प्रदीपादि) से होनेवाली सज्ञा द्रव्यसज्ञा है । भावसज्ञा दो प्रकार की है : अनुभवनसज्ञा और ज्ञानसज्ञा । मति आदि ज्ञानसज्ञा है । कर्मोदयादि के कारण होने वाली सज्ञा अनुभवनसज्ञा है । यह सोलह प्रकार की है · आहार, भय, परिग्रह, मैथुन, सुख, दु ख, मोह, विचिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, लोक, धर्म और ओघ ।[4]

'दिक्' का निक्षेप सात प्रकार का है नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, ताप, प्रज्ञापक और भाव । द्रव्यादि दिशाओ का स्वरूप बताने के बाद आचार्य भाव-दिशा का वर्णन करते हुए कहते है कि भावदिशाएँ अठारह हैं . चार प्रकार के मनुष्य (सम्मूर्च्छनज, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज), चार प्रकार के तिर्यंच (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय), चार प्रकार के काय (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु), चार प्रकार के बीज (अग्र, मूल, स्कन्ध, पर्व) देव और नारक ।[5] चूँकि जीव इन अठारह प्रकार के भावो से युक्त होता है और उसका इनसे व्यपदेश होता है इसलिए इन्हें भावदिशाएँ कहा जाता है । यहाँ तक शस्त्रपरिज्ञा के प्रथम उद्देश का अधिकार है ।

द्वितीय उद्देशक के प्रारभ में पृथ्वी का निक्षेपादि पद्धति से विचार किया

---

१ गा० ३१–२. २ गा० ३३–४ ३ गा० ३६–७.
४ गा० ३८–९ ५ गा० ४०-६०.

गया है। इसके लिए निम्नोक्त द्वारो का आधार लिया गया है : निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, शस्त्र, वेदना, वध और निवृत्ति।[१]

पृथ्वी का निक्षेप चार प्रकार का है : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जो जीव पृथ्वी-नामादि कर्मो को भोगता है वही भावपृथ्वी है।[२]

प्ररूपणाद्वार की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार कहते है कि पृथ्वीजीव दो प्रकार के है। सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म जीव सर्वलोकव्यापी हैं। बादर पृथ्वी के पुन: दो भेद हैं श्लक्ष्ण और। श्लक्ष्ण के कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल वर्णरूप पाच भेद है। खर के पृथ्वी, शर्करा, बालुका आदि छत्तीस भेद है। बादर और सूक्ष्म दोनो ही या तो पर्याप्तक होते है या अपर्याप्तक।[३]

लक्षणद्वार की व्याख्या इस प्रकार है पृथ्वीकाय के जीवों मे उपयोग, योग, अध्यवसाय, मति और श्रुतज्ञान, अचक्षुर्दर्शन, अष्टविधकर्मोदय, लेश्या, सज्ञा, उच्छ्वास और कषाय होते है।[४]

परिमाणद्वार का व्याख्यान इस प्रकार है बादर-पर्याप्तक-पृथ्वीकायिक सर्वतित लोकप्रत्तर के असख्येय भागप्रमाण है, शेष तीन (बादर-अपर्याप्तक एव सूक्ष्म-पर्याप्तक और अपर्याप्तक) मे से प्रत्येक असख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाण है।[५]

उपभोगद्वार की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते है कि चलते हुए, बैठते हुए, सोते हुए, उपकरण लेते हुए, रखते हुए आदि अनेक अवसरों पर पृथ्वीकाय के जीवो का हनन होता है।[६]

हल, कुलिक, विष, कुद्दाला, लित्रक, मृगशृग, काष्ठ, अग्नि, उच्चार, प्रस्रवण आदि द्रव्यशस्त्र है। असयम भावशस्त्र है।[७]

जिस प्रकार पादादि अग-प्रत्यग के छेदन से मनुष्यो को वेदना होती है उसी प्रकार छेदन-भेदन से पृथ्वीकाय के जीवो को भी वेदना होती है।[८]

वध तीन प्रकार का होता है कृत, कारित और अनुमोदित। अनगार श्रमण मन, वचन और काय से तीनो प्रकार के वध का त्याग करते हैं।[९] यही निवृत्तिद्वार है। इसके साथ शस्त्रपरिज्ञा का द्वितीय उद्देशक समाप्त होता है।

तृतीय उद्देशक मे अप्काय की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते है कि अप्काय के भी उतने ही द्वार है जितने पृथ्वीकाय के हैं।[१०] अत: इनका विशेष विवेचन करना आवश्यक नही है। चौथे उद्देशक में तेजस्काय की चर्चा है जिसमे बादर अग्नि के पाँच भेद किये गये है : अगार, अग्नि, अर्चि, ज्वाला और

---

१. गा० ६८. २. गा० ६९-७०. ३ गा० ७१-९. ४ गा० ८४ ५. गा० ८६ ६. गा० ९२-४. ७. गा० ९५-६. ८. गा० ९७. ९ गा० १०१-५ १० गा० १०६.

मुर्मुर।[१] पाँचवें उद्देशक मे वनस्पति की चर्चा है। इसके भी वे ही द्वार है जो पृथ्वीकाय के है। बादर बनस्पति के दो भेद है : प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के बारह प्रकार है। साधारण के तो अनेक भेद है किन्तु सक्षेप मे उसके भी छ भेद किये जा सकते है। प्रत्येक के बारह भेद ये है : १ वृक्ष, २ गुच्छ, ३ गुल्म, ४ लता, ५ वल्लि, ६ पर्वक, ७ तृण, ८ वलय, ९ हरित, १०. औषधि, ११ जलरुह, १२ कुहुण। साधारण के छ भेद इस प्रकार है १ अग्रबीज, २ मूलबीज, ३ स्कन्धबीज, ४ पर्वबीज, ५ बीजरुह और ६ सम्मूर्च्छनज।[२] छठे उद्देशक में त्रसकाय की चर्चा की गई है। त्रसकाय के भी वे ही द्वार हैं जो पृथ्वीकाय के हैं। त्रसजीव दो प्रकार के हैं. लब्धित्रस और गतित्रस। तेजस् और वायु लब्धित्रस के अन्तर्गत है। गतित्रस के चार भेद हैं नारक, तिर्यक्, मनुष्य और सुर। ये या तो पर्याप्तक होते है या अपर्याप्तक।[३] सप्तम उद्देशक मे वायुकाय का विचार किया गया है। इसके भी पृथ्वीकाय के समान ही द्वार है। वायुकाय के जीव दो प्रकार के होते हैं - सूक्ष्म और बादर। बादर के पाँच भेद है उत्कलिका, मण्डलिका, गुजा, वन और शुद्ध।[४] यहाँ तक प्रथम अध्ययन का अधिकार है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। इसके प्रथम उद्देशक मे 'स्वजन' का अधिकार है, जिसमें यह बताया गया है कि श्रमण माता-पिता आदि के प्रति मोह ममता न रखे। दूसरे उद्देशक मे सयमसम्बन्धी अदृढत्व की निवृत्ति का उपदेश है। तृतीय उद्देशक मे मान न करने की सूचना दी गई है। चौथा उद्देशक भोगो की नि सारता पर है। पाँचवाँ उद्देशक लोकाश्रय की निवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। छठे उद्देशक मे अममत्व की परिपालना का उपदेश है[५]।

'लोकविजय' मे दो पद हैं 'लोक' और 'विजय'। 'लोक' का निक्षेप आठ प्रकार का है और 'विजय' का छ प्रकार का। भावलोक का अर्थ है कषाय। अत कषायविजय ही लोकविजय है।[६] कषाय की उत्पत्ति कर्म के कारण होती है। कर्म सक्षेप मे दस प्रकार का है नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समुदानकर्म, ईर्यापथिककर्म, आधाकर्म, तप कर्म, कृतिकर्म और भावकर्म।[७]

तीसरे अध्ययन का नाम शीतोष्णीय है। इसमें चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक मे भावसुप्त के दोषो पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे में भावसुप्त के अनुभव में आने वाले दु खो का विचार किया गया है। तीसरे में इस बात

---

१ गा० ११६–८ २ गा० १२६–१३० ३. गा० १५२–४
४. गा० १६४–६ ५ गा० १७२ ६ गा० १७५. ७ गा० १९२-३.

पर प्रकाश डाला गया है कि केवल दु ख सहने से ही कोई श्रमण नही बन जाता। श्रमण की क्रिया करने से श्रमण बनता है। चौथे में यह बताया गया है कषायो का क्या कार्य है, पाप से विरति कैसे सम्भव है, सयम से किस प्रकार कर्मों का क्षय होकर मुक्ति प्राप्त होती है ? साथ ही इस अध्ययन मे 'शीत' और 'उष्ण' पदो का नामादि निक्षेपो से विचार किया गया है। स्त्रीपरीषह और सत्कारपरीषह—ये दो शीत परीषह है। शेष बीस उष्ण परीषह की कोटि मे है।[1]

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक मे सम्यग्दर्शन का अधिकार है, द्वितीय में सम्यग्ज्ञान का अधिकार है, तृतीय मे सम्यक्तप की चर्चा है, चतुर्थ मे सम्यक्चारित्रका वर्णन है। ये चारो मोक्षाग है। मुमुक्षु के लिए इन चारो का पालन आवश्यक है।[2] सम्यक्त्व का भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपो से विवेचन होता है। भावसम्यक्त्व तीन प्रकार का है - दर्शन, ज्ञान और चारित्र। दर्शन और चारित्र के पुन तीन-तीन भेद होते हैं ' औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। ज्ञान के दो भेद हैं क्षायोपशमिक और क्षायिक।[3]

लोकसार नामक पचम अध्ययन के छ. उद्देशक है। प्रथम उद्देशक में यह बताया गया है कि हिंसक, विषयारम्भक और एकचर मुनि नही हो सकता। दूसरे मे यह बताया गया है कि हिंसादि से विरत ही मुनि होता है। तीसरे मे इस बात का निर्देश है कि विरत मुनि ही अपरिग्रही होता है। चौथे में यह बताया गया है कि सूत्रार्थापरिनिष्ठित के क्या-क्या प्रत्यपाय होते है। पाँचवे मे साधु के लिए ह्रदोपम होने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। छठे मे उन्मार्गवर्जना पर भार दिया गया है। 'लोक' और 'सार' का भी चार प्रकार का निक्षेप होता है। फलसाधनता ही भावसार है। इससे सिद्धि प्राप्त होती है और फलत- उत्तमसुख का लाभ होता है।[4] इसी बात को दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं सम्पूर्ण लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सयम है, सयम का सार निर्वाण है।[5]

इसके बाद सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि चर, चर्या और चरण एकार्थक है। चर का छः प्रकार का निक्षेप होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र भावचरण के अन्तर्गत है। भावचरण प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का होता हैं।[6]

१ गा. १९७-२१३ २ गा २१४-५. ३. गा २१६-८.
४ गा २३५-२४०, ५ गा. २४४. ६. गा. २४५-६.

धूत नामक षष्ठ अध्ययन के पांच उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में निजक अर्थात् स्वजनों के विधूनन का अधिकार है, द्वितीय में कर्मविधूनन का अधिकार है, तृतीय में उपकरण और शरीर के विधूनन की चर्चा है, चतुर्थ में गौरवत्रिक के विधूनन का अधिकार है, पचम में उपसर्ग और सम्मान के विधूनन की चर्चा है। वस्त्रादि का प्रक्षालन द्रव्यधूत है। अष्टविध कर्मों का क्षय भावधूत है।[1]

सप्तम अध्ययन व्यवच्छिन्न है। अष्टम अध्ययन का नाम विमोक्ष है। इसके आठ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में असमनोज्ञ के विमोक्ष अर्थात् परित्याग का उपदेश है। द्वितीय में अकल्पिक के विमोक्ष का विधान है। तृतीय में अगचेष्टा के प्रति भाषित अथवा आशंकित सशय के निवारण का विधान है। चतुर्थ में वैहानस (उद्बन्धन) तथा गार्द्धपृष्ठ को मरण की उपमा दी गई है। पचम में ग्लानता तथा भक्तपरिज्ञा का बोध है। षष्ठ में एकत्व-भावना और इगितमरण का बोध है। सप्तम में प्रतिमाओं तथा पादपोपगमन का विचार किया गया है। अष्टम में अनुपूर्वविहारियों का अधिकार है।[2]

विमोक्ष का नामादि छ प्रकार का निक्षेप होता है। भावविमोक्ष दो प्रकार का है देशविमोक्ष और सर्वविमोक्ष। साधु देशविमुक्त है, सिद्ध सर्वविमुक्त है।[3]

नवम अध्ययन का नाम उपधानश्रुत है। इस अध्ययन के अधिकार की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जो तीर्थंकर जिस समय उत्पन्न होता है वह उस समय अपने तीर्थ में उपधानश्रुताध्ययन में तप कर्म का वर्णन करता है।[4] सभी तीर्थंकरों का तप कर्म निरुपसर्ग है किन्तु वर्धमान का तप कर्म सोपसर्ग है।[5] इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक का अधिकार चर्या है, दूसरे का शय्या है, तीसरे का परीषह है, चौथे का आतंककालीन चिकित्सा है। वैसे चारों उद्देशकों में तपश्चर्या का अधिकार तो है ही।[6]

'उपधान' और 'श्रुत' दोनों का नामादि भेद से चार प्रकार का निक्षेप होता है। शय्यादि में होने वाला उपधान द्रव्योपधान है, तप और चारित्र-सम्बन्धी उपधान भावोपधान है। जिस प्रकार मलीन वस्त्र उदकादि द्रव्यों से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भावोपधान से अष्ट प्रकार के कर्मों की शुद्धि होती है।[7]

---

१. गा २४९-२५०. २ गा. २५२-६ ३ गा. २५७-९ ४ गा. २७५.
५ गा. २७६ ६ गा २७९. ७. गा. २८०-२,

जो वीरवर वर्धमानस्वामी के बताये हुए इस मार्ग पर चलता है उसे शाश्वत शिवपद की प्राप्ति होती है।[1] यहाँ ब्रह्मचर्य नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति समाप्त होती है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

प्रथम श्रुतस्कन्ध मे नौ ब्रह्मचर्याध्ययनो का प्रतिपादन किया गया। उनमें समस्त विवक्षित अर्थ का अभिधान न किया जा सका। जो अभिधान किया गया वह भी बहुत ही सक्षेप मे किया गया। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की गई। आचाराग के परिमाण की चर्चा करते समय इस ओर निर्देश किया गया था कि इनमे नौ ब्रह्मचर्याभिधायी अध्ययन है, अष्टादश सहस्र पद है और पाँच चूडाए अर्थात् चूलिकाए है।[2] चूलिका का स्वरूप बताते हुए शीलाकाचार्य कहते है 'उक्तशेषानुवादिनी चूडा' अर्थात कह चुकने पर जो कुछ शेष रह जाता है उसका कथन चूलिका कहलाता है।[3] द्वितीय श्रुतस्कन्ध को अग्रश्रुतस्कन्ध भी कहते है। निर्युक्तिकार 'अग्र' शब्द का निक्षेप करते हुए कहते है कि अग्र आठ प्रकार का होता है १ द्रव्याग्र, २ अवगाहनाग्र, ३ आदेशाग्र, ४. कालाग्र, ५ क्रमाग्र, ६. गणनाग्र, ७ सचयाग्र, ८ भावाग्र। भावाग्र पुन तीन प्रकार का है · प्रधानाग्र, प्रभूताग्र और उपकाराग्र। प्रस्तुत अधिकार उपकाराग्र का है।[4]

चूलिकाओ का परिमाण इस प्रकार है 'पिण्डैषणा' अध्ययन से लेकर 'अवग्रहप्रतिमा' अध्ययनपर्यन्त सात अध्ययनो की प्रथम चूलिका है, सप्तसप्तिका नामक द्वितीय चूलिका है, भावना नामक तृतीय चूलिका है, चतुर्थ चूलिका का नाम विमुक्ति है, निशीथ पचम चूलिका है।[5]

प्रथम चूलिका के सात अध्ययनो के नाम ये है · १ पिण्ड, २ शय्या, ३ ईर्या, ४ भाषा, ५. वस्त्र, ६. पात्र, ७ अवग्रह। निर्युक्तिकार ने इनकी नामादि निक्षेपो से व्याख्या की है।[6] आगे की गाथाओ में सप्तसप्तिका, भावना और विमुक्ति का विशेष व्याख्यान है।[7] निशीथ चूलिका के विषय मे आचार्य कहते हैं कि इसकी निर्युक्ति मै बाद मे करूँगा।[8] यह निर्युक्ति निशीथनिर्युक्ति के रूप मे अलग से उपलब्ध थी जो बाद मे निशीथभाष्य मे मिल गई।



१ गा २८४ २. गा ११ ३ गा. ११ की वृत्ति
४. गा २८५-६ ५. गा २९७ ६ गा २९८-३२२
७. गा ३२३-३४६ ८ गा. ३४७.

षष्ठ प्रकरण

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति

इस निर्युक्ति[1] मे २०५ गाथाएं हैं। गाथा १८ और २० मे 'सूत्रकृतांग' शब्द का विचार किया गया है। गाथा ६६-६७ मे पद्रह प्रकार के परमाधार्मिको के नाम गिनाये गये हैं अम्ब, अम्बरीप, श्याम, शवल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुप, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोप। आगे की कुछ गाथाओ में निर्युक्तिकार ने यह वताया है कि ये नरकवासियो को किस प्रकार सताते हैं, क्या-क्या यातनाएं पहुँचाते हैं। गाथा ११९ में आचार्य ने निम्नलिखित ३६३ मतान्तरो का निर्देश किया है १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ वैनयिक। गाथा १२७-१३१ में शिष्य और शिक्षक के भेद-प्रभेदो का निर्देश किया गया है।

इन विपयो के अतिरिक्त प्रस्तुत निर्युक्ति में अनेक पदो का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। उदाहरण के लिए गाथा, पोडश, श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि शब्दो का नामादि निक्षेपो से विचार किया गया है। इस निर्युक्ति मे पर्यायवाचक शब्दो की ओर विशेप ध्यान नही दिया गया है। 'आर्द्र' पद की व्याख्या करते समय आर्द्र की जीवन-कथा भी दे दी गई है। अन्त में नालन्दा अध्ययन की निर्युक्ति करते समय 'अलम्' शब्द की नामादि चार प्रकार के निक्षेपो से व्याख्या की गई है और वताया गया है कि राजगृह नगर के वाहर नालन्दा वसा हुआ है।



---

१. (अ) शीलाककृत टीकासहित—आगमोदय समिति, वम्बई, सन् १९१७.
(आ) सूत्रसहित—सम्पादक : डा. पी. एल. वैद्य, पूना, सन् १९२८.

सप्तम प्रकरण

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति[1] दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। प्रारंभ में निर्युक्तिकार ने दशा, कल्प और व्यवहार सूत्र के कर्ता, चरम सकलश्रुतज्ञानी, प्राचीन गोत्रीय भद्रबाहु को नमस्कार किया है :

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे अ ववहारे॥

तदनन्तर 'एक' और 'दश' का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया है तथा दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों के अधिकारों का निर्देश किया है। प्रथम अध्ययन असमाधिस्थान की निर्युक्ति में द्रव्य और भावसमाधि का स्वरूप बताया है तथा स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, संयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, संधान और भाव—इन पन्द्रह निक्षेपों का उल्लेख किया है :

नाम ठवणा दविए खेत्तद्धा उड्ढओ चरई वसही।
संजम पग्गह जोहो अचल गणण संधणा भावे॥

द्वितीय अध्ययन शबल की निर्युक्ति में शबल का नामादि चार निक्षेपों से व्याख्यान किया गया है और बताया गया है कि आचार से भिन्न अर्थात् अंशतः गिरा हुआ व्यक्ति भावशबल है।

तृतीय अध्ययन आशातना की निर्युक्ति में दो प्रकार की आशातना की व्याख्या है : मिथ्याप्रतिपादनसम्बन्धी एवं लाभसम्बन्धी (आसायणा उ दुविहा मिच्छापडिवज्जणा य लाभे अ)। लाभसम्बन्धी आशातना के पुनः नामादि छः भेद होते हैं।

चतुर्थ अध्ययन गणिसंपदा की निर्युक्ति में 'गणि' और 'संपदा' पदों का निक्षेपपूर्वक विचार किया गया है। निर्युक्तिकार ने गणि और गुणी को एका-

---

१. यह परिचय मुनि श्री पुण्यविजयजी के असीम सौजन्य से प्राप्त दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि की हस्तलिखित प्रति की निर्युक्ति-गाथाओं के आधार पर लिखा गया है।

र्थक बताया है। आचार का अध्ययन करने से श्रमणधर्म का ज्ञान होता है, अत. आचार को प्रथम गणिस्थान दिया गया है। सपदा दो प्रकार की होती है द्रव्यसपदा और भावसपदा। शरीरसपदा द्रव्यसपदा है। आचार आदि भाव-संपदा है।

चित्तसमाधिस्थान नामक पचम अध्ययन की निर्युक्ति मे 'चित्त' और 'समाधि' का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। चित्त नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से चार प्रकार का है। इसी प्रकार समाधि भी चार प्रकार की है। भावचित्त की समाधि ही भावसमाधि है। रागद्वेषरहित चित्त जब विशुद्ध धर्मध्यान मे लीन होता है तभी उसकी समाधि भावसमाधि कही जाती है।

उपासकप्रतिमा नामक षष्ठ अध्ययन की निर्युक्ति में 'उपासक' और 'प्रतिमा' का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। उपासक चार प्रकार का होता है - द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक। जो सम्यग्दृष्टि है तथा श्रमण की उपासना करता है वह भावोपासक है। उसे श्रमण भी कहते हैं। प्रतिमा नामादि चार प्रकार की है। सद्गुणधारणा का नाम भाव प्रतिमा है। वह दो प्रकार की है : भिक्षुप्रतिमा और उपासकप्रतिमा। भिक्षुप्रतिमाएँ बारह हैं। उपासकप्रतिमाओ को सख्या ग्यारह है। प्रस्तुत अधिकार उपासकप्रतिमा का है।

सप्तम अध्ययन मे भिक्षुप्रतिमा का अधिकार है। भावभिक्षु की प्रतिमा पाँच प्रकार की होती है समाधिप्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसलीनप्रतिमा और एकविहारप्रतिमा :—

समाहि उवहाणे य विवेगपडिमाइआ।
पडिसलीणा य तहा एगविहारे अ पचमिआ॥

अष्टम अध्ययन की निर्युक्ति में पर्युषणाकल्प का व्याख्यान किया गया है। परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथमसमवसरण, स्थापना और ज्येष्ठग्रह एकार्थक हैं .

परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसमणा य वासवासो य।
पढमसमोसरण ति य ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥

साधुओ के लिए वर्षा ऋतु मे चार मास तक एक स्थान पर रहने का जो विधान है उसी का नाम वर्षावास है। उन्हे हेमन्त के चारमास और ग्रीष्म के चार मास इन आठ महीनो में भिन्न-भिन्न स्थानो में विचरना चाहिए।

नवम अध्ययन में मोहनीयस्थान का अधिकार है। मोह नामादि चार प्रकार

का है। पाप, वर्ज्य, वैर, पंक, पनक, क्षोभ, असात, संग, शल्य, अंतर, निरति और धूर्त्य मोह के पर्यायवाची हैं :

पावे वज्जे वेरे पंके पणगे खुहे असाए य।
संगे सल्लेयरेए निरए धुत्ते य एगट्ठा ॥

दशम अध्ययन में आजातिस्थान का अधिकार है। आजाति अर्थात् जन्म-मरण के क्या कारण हैं और अनाजाति अर्थात् मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होता है? इन दोनों प्रश्नों का प्रस्तुत अध्ययन की नियुक्ति में समाधान किया गया है।



अष्टम प्रकरण

बृहत्कल्पनिर्युक्ति

यह निर्युक्ति[1] भाष्यमिश्रित अवस्था में मिलती है। इसमे सर्वप्रथम तीर्थंकरो को नमस्कार किया गया है।[2] इसके बाद ज्ञान के विविध भेदो का निर्देश किया गया है और कहा गया है कि ज्ञान और मगल मे कथचित् भेद और कथचित् अभेद है। मंगल चार प्रकार का है. नाममगल, स्थापनामगल, द्रव्यमगल और भावमगल।[3] इस प्रकार मगल का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है और साथ ही ज्ञान के भेदों की चर्चा की गई है।

अनुयोग का निक्षेप करते हुए कहा गया है कि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव—इन सात भेदो से अनुयोग का निक्षेप होता है।[4] निरुक्त का अर्थ है निश्चित उक्त। वह दो प्रकार का है सूत्रनिरुक्त और अर्थनिरुक्त।[5] अनुयोग का अर्थ इस प्रकार है : अनु अर्थात् पश्चाद्भूत जो योग है वह अनुयोग है। अथवा अणु अर्थात् स्तोकरूप जो योग है वह अनुयोग है। चूँकि यह पीछे होता है और स्तोकरूप मे होता है इसलिए इसे अनुयोग कहते हैं।[6] कल्प के चार अनुयोगद्वार है. उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय।[7]

कल्प और व्यवहार का श्रवण और अध्ययन करने वाला बहुश्रुत, चिर-प्रव्रजित, कल्पिक, अचचल, अवस्थित, मेधावी, अपरिश्रावी, विद्वान्, प्राप्तानुज्ञात और भावपरिणामक होता है।[8]

प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में प्रलम्बसूत्र का अधिकार है। उसकी सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति करते हुए कहा गया है कि आदि नकार, ग्रथ, आम, ताल, प्रलम्ब और भिन्न—इन सब पदो का नामादि भेद से चार प्रकार का निक्षेप होता है।[9] इसके बाद प्रलम्बग्रहण से सम्बन्ध रखने वाले प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। तत्रग्रहण का विवेचन करते हुए कहा गया है कि तत्रग्रहण दो प्रकार का होता है · सपरिग्रह और अपरिग्रह। सपरिग्रह तीन प्रकार का है - देवपरिगृहीत,

---

१. निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्तिसहित—सम्पादक मुनि चतुरविजय तथा पुण्यविजय, प्रकाशक · जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३-१९४२

२ गा. १.   ३. गा ३–५   ४ गा १५१   ५ गा १८८

६ गा १९०.   ७. गा. २५६   ८. गा. ४००–१.   ९ ८१५

मनुष्यपरिगृहीत और तिर्यक्‌परिगृहीत।[1] मासकल्पप्रकृत सूत्रों की व्याख्या करते हुए ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सबाध, घोष, अंशिका आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है।[2] आगे की कुछ गाथाओं में जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के आहार-विहार की चर्चा है। व्यवशमनप्रकृत सूत्र की निर्युक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं कि क्षमित, व्यवशमित, विनाशित और क्षपित एकार्थबोधक पद हैं। प्राभृत, प्रहेणक और प्रणयन एकार्थवाची हैं।[3] प्रथम उद्देशक के अन्त मे आर्यक्षेत्रप्रकृत सूत्र का व्याख्यान है जिसमे 'आर्य' पद का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, भाषा, शिल्प, ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन बारह प्रकार के निक्षेपों से विचार किया गया है।[4] आर्यक्षेत्र की मर्यादा भगवान् महावीर के समय से ही है, इस बात का निरूपण करते हुए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरण करने से लगने वाले दोषों का स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त के साथ दिग्दर्शन किया गया है। साथ ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की रक्षा और वृद्धि के लिए आर्यक्षेत्र के बाहर विचरने की आज्ञा भी दी गई है जिसका सम्प्रतिराज के दृष्टान्त से समर्थन किया गया है।[5] इसी प्रकार आगे के उद्देशकों का भी निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है।



१ गा. ८९१–२ २. गा १०८८–११२०. ३. गा. २६७८.
४. गा ३२६३. ५. गा. ३२७१–३२८९.

नवम प्रकरण

व्यवहारनियुक्ति

व्यवहार सूत्र और बृहत्कल्प सूत्र एक दूसरे के पूरक है। जिस प्रकार बृहत्कल्पसूत्र मे श्रमण-जीवन की साधना के लिए आवश्यक विधि-विधान, दोष, अपवाद आदि का निर्देश किया गया है उसी प्रकार व्यवहारसूत्र मे भी इन्ही विषयो से सबधित उल्लेख है। यही कारण है कि व्यवहार-निर्युक्ति[1] मे भी अधिकतर उन्ही अथवा उसी प्रकार के विषयो का विवेचन है जो बृहत्कल्प-नियुक्ति मे उपलब्ध है। इस प्रकार ये दोनो नियुक्तियाँ परस्पर पूरक है। व्यवहारनियुक्ति भी भाष्यमिश्रित अवस्था मे ही मिलती है।



१. नियुक्ति-भाष्य-मलयगिरिविवरणसहित—प्रकाशक : केशवलाल प्रेमचद मोदी व त्रिकमलाल उगरचद्र, अहमदाबाद, वि० स० १९८२–५.

दशम प्रकरण

अन्य निर्युक्तियाँ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु ने दस सूत्रग्रंथो पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी। इन दस निर्युक्तियो मे से आठ उपलब्ध है और दो अनुपलब्ध। इन आठ निर्युक्तियो का परिचय कही सक्षेप मे तो कही विस्तार से दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पचकल्पनिर्युक्ति, निशीथनिर्युक्ति व संसक्तनिर्युक्ति भी मिलती है। ससक्तनिर्युक्ति बहुत बाद के किसी आचार्य की रचना है। पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और पचकल्पनिर्युक्ति स्वतन्त्र निर्युक्तिग्रथ न होकर क्रमश· दशवैकालिकनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पनिर्युक्ति के ही पूरक अग है। निशीथनिर्युक्ति भी एक प्रकार से आचारागनिर्युक्ति का ही अग है क्योकि आचारागनिर्युक्ति के अन्त में स्वय निर्युक्तिकार ने लिखा है कि पचम चूलिका निशीथ की निर्युक्ति मैं बाद में करूँगा।[1] यह निर्युक्ति निशीथभाष्य मे इस प्रकार समाविष्ट हो गई है कि उसे अलग नही किया जा सकता। गोविन्दाचार्यकृत एक अन्य निर्युक्ति अनुपलब्ध है।



१. पचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं भणीहामि।
—आचारागनिर्युक्ति, गा० ३४७.

प्रथम प्रकरण

भाष्य और भाष्यकार

आगमो की प्राचीनतम पद्यात्मक टीकाए निर्युक्तियो के रूप मे प्रसिद्ध है। निर्युक्तियो की व्याख्यान-शैली बहुत गूढ एव सकोचशील है। किसी भी विषय का जितने विस्तार से विचार होना चाहिए, उसका उनमे अभाव है। इसका कारण यही है कि उनका मुख्य उद्देश्य पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना है, न कि किसी विषय का विस्तृत विवेचन। यही कारण है कि निर्युक्तियो की अनेक बाते बिना आगे की व्याख्याओ की सहायता के सरलता से समझ मे नही आती। निर्युक्तियो के गूढार्थ को प्रकटरूप मे प्रस्तुत करने के लिए आगे के आचार्यो ने उन पर विस्तृत व्याख्याए लिखना आवश्यक समझा। इस प्रकार निर्युक्तियो के आधार पर अथवा स्वतत्ररूप से जो पद्यात्मक व्याख्याए लिखी गईं वे भाष्य के रूप मे प्रसिद्ध है। निर्युक्तियो की भाँति भाष्य भी प्राकृत मे ही है।

भाष्य

जिस प्रकार प्रत्येक आगम-ग्रथ पर निर्युक्ति न लिखी जा सकी उसी प्रकार प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नही लिखा गया। निम्नलिखित आगम ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये है १ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४. बृहत्कल्प, ५ पचकल्प, ६ व्यवहार, ७. निशीथ, ८ जीतकल्प, ९ ओघ-निर्युक्ति, १० पिण्डनिर्युक्ति।

आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं १. मूलभाष्य, २ भाष्य और ३ विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य बहुत ही सक्षिप्त रूप मे लिखे गये और उनकी अनेक गाथाए विशेषावश्यकभाष्य मे सम्मिलित कर ली गईं। इस प्रकार विशेषावश्यकभाष्य को तीनो भाष्यो का प्रतिनिधि माना जा सकता है, जो आज भी विद्यमान है। यह भाष्य पूरे आवश्यकसूत्र पर न होकर केवल उसके प्रथम अध्ययन 'सामायिक' पर है। एक अध्ययन पर होते हुए भी इसमे ३६०३ गाथाए है। दशवैकालिकभाष्य मे ६३ गाथाए हैं। उत्तराध्ययनभाष्य भी बहुत छोटा है। इसमे केवल ४५ गाथाए हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं: बृहत् और लघु। बृहद्भाष्य पूरा उपलब्ध नही है। लघुभाष्य मे ६४९०

गाथाएं हैं। पंचकल्प-महाभाष्य की गाथासख्या २५७४ है। व्यवहारभाष्य में ४६२९ गाथाए है। निशीथभाष्य मे लगभग ६५०० गाथाए हैं। जीत-कल्पभाष्य की गाथासख्या २६०६ है। ओघनियुक्ति पर दो भाष्य है जिनमे से एक की गाथासख्या ३२२ तथा दूसरे की २५१७ है। पिण्डनियुक्ति-भाष्य मे ४६ गाथाए हैं।

भाष्यकार :

उपलब्ध भाष्यों की प्रतियो के आधार पर केवल दो भाष्यकारो के नाम का पता लगता है। वे है आचार्य जिनभद्र और सघदासगणि। आचार्य जिनभद्र ने दो भाष्य लिखे विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य। सघदासगणि के भी दो भाष्य है . बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पचकल्प-महाभाष्य।

आचार्य जिनभद्र :

आचार्य जिनभद्र[1] का अपने महत्त्वपूर्ण ग्रथो के कारण जैन परपरा के इतिहास मे एक विशिष्ट स्थान है। इतना होते हुए भी आश्चर्य इस बात का है कि उनके जीवन की घटनाओ के विषय मे जैन ग्रथो मे कोई सामग्री उपलब्ध नही है। उनके जन्म और शिष्यत्व के विषय मे परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं। ये उल्लेख बहुत प्राचीन नही हैं अपितु १५वी या १६वी शताब्दी की पट्टावलियो मे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र को पट्टपरपरा मे सम्यक् स्थान नही मिला। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रथो तथा उनके आधार पर लिखे गये विवरणो को देखकर ही बाद के आचार्यो ने उन्हे उचित महत्त्व दिया तथा आचार्य-परंपरा मे सम्मिलित करने का प्रयास किया। चूंकि इस प्रयास मे वास्तविकता की मात्रा अधिक न थी अत यह स्वाभाविक है कि विभिन्न आचार्यों के उल्लेखों मे मतभेद हो। यही कारण है कि उनके सबध मे यह भी उल्लेख मिलता है कि वे आचार्य हरिभद्र के पट्ट पर बैठे।

आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की प्रति शक सवत् ५३१ में लिखी गई तथा वलभी के एक जैन मदिर मे समर्पित की गई। इस घटना से यह प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्र का वलभी से कोई सबध अवश्य होना चाहिए। आचार्य जिनप्रभ लिखते है कि आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के देव की आराधना एक पक्ष की तपस्या द्वारा की और दीमक द्वारा खाए हुए महानिशीथसूत्र का उद्धार किया।[2] इससे

१. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ० २७–४५
२. विविधतीर्थकल्प पृ० १९

यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र का सबध वलभी के अतिरिक्त मथुरा से भी है।

डा० उमाकात प्रेमानद शाह ने अंकोट्टक—अकोटा गाँव से प्राप्त हुई दो प्रतिमाओ के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ये प्रतिमाएँ ई० सन् ५५० से ६०० तक के काल की है। उन्होने यह भी लिखा है कि इन प्रतिमाओ के लेखो में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है, वे विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण आचार्य जिनभद्र ही है। उनकी वाचना के अनुसार एक मूर्ति के पद्मासन के पिछले भाग मे 'ॐ देवाधर्मोय निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य' ऐसा लेख है और दूसरी मूर्ति के भामडल मे ॐ निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य' ऐसा लेख है।[1] इन लेखो से तीन बातें फलित होती हैं (१) आचार्य जिनभद्र ने इन प्रतिमाओ को प्रतिष्ठित किया होगा, (२) उनके कुल का नाम निवृत्तिकुल था और (३) उन्हे वाचनाचार्य कहा जाता था। चूँकि ये मूर्तियाँ अकोट्टक में मिली है, अत यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय भडौच के आसपास भी जैनो का प्रभाव रहा होगा और आचार्य जिनभद्र ने इस क्षेत्र में भी विहार किया होगा। उपर्युक्त उल्लेखो मे आचार्य जिनभद्र को क्षमाश्रमण न कहकर वाचनाचार्य इसलिए कहा गया है कि परपरा के अनुसार वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर तथा वाचक एकार्थक शब्द माने गए है।[2] वाचक और वाचनाचार्य भी एकार्थक है, अत वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण शब्द वास्तव में एक ही अर्थ के सूचक है।[3] इनमे से एक का प्रयोग करने से दूसरे का प्रयोजन भी सिद्ध हो ही जाता है।

---

१. जैन सत्य प्रकाश, अक १९६.

२ वही

३ प० श्री दलसुख मालवणिया ने इन शब्दो की मीमासा इस प्रकार की है —

प्रारभ मे 'वाचक' शब्द शास्त्रविशारद के लिए विशेष प्रचलित था। परन्तु जब वाचको मे क्षमाश्रमणो की सख्या बढती गई तब 'क्षमाश्रमण' शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप मे प्रसिद्ध हो गया। अथवा 'क्षमाश्रमण' शब्द आवश्यकसूत्र में सामान्य गुरु के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है। अत सभव है कि शिष्य विद्यागुरु को क्षमाश्रमण के नाम से सबोधित करते रहे हो। इसलिए यह स्वाभाविक है कि 'क्षमाश्रमण' 'वाचक' का पर्याय बन जाए। जैन समाज मे जब वादियों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई, शास्त्र-वैशारद्य के कारण वाचकों का ही अधिकतर भाग 'वादी' नाम से विख्यात हुआ

आचार्य जिनभद्र निवृत्तिकुल के थे, इसका प्रमाण उपर्युक्त लेखो के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलता। यह निवृत्तिकुल कैसे प्रसिद्ध हुआ, इसके लिए निम्न कथन का आधार लिया जा सकता है —

भगवान् महावीर के १७ वें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए थे। उन्होने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रो को दीक्षा दी थी। उनके नाम इस प्रकार थे नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। आगे जाकर इनके नाम से भिन्न-भिन्न चार प्रकार की परम्पराए प्रचलित हुई और उनकी नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति तथा विद्याधर कुलो के रूप मे प्रसिद्धि हुई।[1]

इन तथ्यो के अतिरिक्त उनके जीवन से सबधित और कोई विशेष बात नही मिलती। हाँ, उनके गुणो का वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है। जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनगणि अपनी चूर्णि के प्रारम्भ मे आचार्य जिनभद्र की स्तुति करते हुए उनके गुणों का इस प्रकार वर्णन करते हैं —

"जो अनुयोगधर, युगप्रधान, प्रधान ज्ञानियो से बहुमत, सर्व श्रुति और शास्त्र मे कुशल तथा दर्शन-ज्ञानोपयोग के मार्गरक्षक है। जिस प्रकार कमल की सुगन्ध के वश मे होकर भ्रमर कमल की उपासना करते है, उसी प्रकार ज्ञानरूप मकरकद के पिपासु मुनि जिनके मुखरूप निर्झर से प्रवाहित ज्ञानरूप अमृत का सर्वदा सेवन करते है। स्व-समय तथा पर-समय के आगम, लिपि, गणित, छन्द और शब्दशास्त्रों पर किए गए व्याख्यानो से निर्मित जिनका अनुपम यशपटह दशो दिशाओ मे बज रहा है। जिन्होने अपनी अनुपम बुद्धि के प्रभाव से ज्ञान, ज्ञानी, हेतु, प्रमाण तथा गणधरवाद का सविशेष विवेचन विशेषावश्यक मे ग्रथनिबद्ध किया है। जिन्होने छेदसूत्रो के अर्थ के आधार पर पुरुषविशेष के पृथक्करण के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि का विधान

होगा। अत. कालातर मे 'वादी' का भी 'वाचक' का ही पर्यायवाची बन जाना स्वभाविक है। सिद्धसेन जैसे शास्त्रविशारद विद्वान् अपने को 'दिवाकर' कहलाते होगे अथवा उनके साथियो ने उन्हें 'दिवाकर' की पदवी दी होगी, इसलिए 'वाचक' के पर्याय मे 'दिवाकर' को भी स्थान मिल गया। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणो का युग रहा होगा, अत सभव है कि उनके बाद के लेखको ने उनके लिए 'वाचनाचार्य' के स्थान पर 'क्षमाश्रमण' पद का उल्लेख किया हो।

—गणधरवाद प्रस्तावना, पृ ३१.

१ जैन गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ६६९.

करने वाले जीतकल्पसूत्र की रचना की है। ऐसे पर-समय के सिद्धांतों में निपुण, संयमशील श्रमणों के मार्ग के अनुगामी और क्षमाश्रमणों में निधानभूत जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को नमस्कार हो।"[1]

इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि जिनभद्रगणि आगमों के अद्वितीय व्याख्याता थे, 'युगप्रधान' पद के धारक थे, तत्कालीन प्रधान श्रुतधर भी इनका बहुमान करते थे, श्रुति और अन्य शास्त्रों के कुशल विद्वान् थे। जैन परम्परा में जो ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग का विचार किया गया है, उसके ये समर्थक थे। इनकी सेवा में अनेक मुनि ज्ञानाभ्यास करने के लिए सदा उपस्थित रहते थे। भिन्न-भिन्न दर्शनों के शास्त्र, लिपिविद्या, गणितशास्त्र, छन्दःशास्त्र, शब्दशास्त्र आदि के ये अनुपम पण्डित थे। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पसूत्र की रचना की थी। ये पर-सिद्धान्त में निपुण, स्वाचारपालन में प्रवण और सर्व जैन श्रमणों में प्रमुख थे।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी आचार्य जिनभद्र का बहुमानपूर्वक नामोल्लेख किया है। इनके लिए भाष्यसुधाम्भोधि, भाष्यपीयूषपाथोधि, भगवान् भाष्यकार, दुष्षमान्धकारनिमग्नजिनवचनप्रदीपप्रतिम, दलितकुवादिप्रवाद, प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्प, त्रिभुवनजनप्रथितप्रवचनोपनिषद्वेदी, सन्देहसन्दोहशैलशृङ्गभङ्गदम्भोलि आदि विशेषणों का प्रयोग किया है।

आचार्य जिनभद्र के समय के विषय में मुनि श्री जिनविजयजी का मत है कि उनकी मुख्य कृति विशेषावश्यकभाष्य की जैसलमेर स्थित प्रति के अन्त में मिलने वाली दो गाथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस भाष्य की रचना विक्रम संवत् ६६६ में हुई। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं —

पंच सता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स।
तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिण सातिंमि णक्खत्ते॥
रज्जे णु पालणपरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि।
वलभीणगरीए इम महवि .मि जिणभवणे॥

मुनि श्री जिनविजयजी ने इन गाथाओं का अर्थ इस प्रकार किया है : शक संवत् ५३१ (विक्रम संवत् ६६६) में वलभी में जिस समय शीलादित्य राज्य करता था उस समय चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, बुधवार और स्वाति नक्षत्र में विशेषावश्यकभाष्य की रचना पूर्ण हुई।

पं० श्री दलसुख मालवणिया इस मत का विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि उपर्युक्त मत मूल गाथाओं से फलित नहीं होता। उनके मतानुसार इन

१ जीतकल्पचूर्णि, गा० ५-१० (जीतकल्पसूत्र - प्रस्तावना, पृ० ६-७)

गाथाओ मे रचनाविषयक कोई उल्लेख नही है। वे कहते है कि खण्डित अक्षरो को हम यदि किसी मदिर का नाम मान लें तो इन दोनो गाथाओ में कोई क्रिया पद नही रह जाता। ऐसी अवस्था में उसकी शक सवत् ५३१ में रचना हुई, ऐसा निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। अधिक सभव यह है कि वह प्रति उस समय लिखी जाकर उस मदिर मे रखी गई हो। इस मत की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण भी दिये जा सकते है —

१—ये गाथाएँ केवल जैसलमेर की प्रति में ही मिलती है, अन्य किसी प्रति में नही। इसका अर्थ यह हुआ कि ये गाथाएँ मूलभाष्य की न होकर प्रति लिखी जाने तथा उक्त मदिर मे रखी जाने के समय की सूचक हैं। जैसलमेर की प्रति मन्दिर मे रखी गई प्रति के आधार पर लिखी गई होगी।

२—यदि इन गाथाओ को रचनाकालसूचक माना जाए तो इनकी रचना आचार्य जिनभद्र ने की है, यह भी मानना ही पडेगा। ऐसी स्थिति में इनकी टीका भी मिलनी चाहिए। परन्तु बात ऐसी नही है। आचार्य जिनभद्र द्वारा प्रारभ की गई विशेषावश्यकभाष्य की सर्वप्रथम टीका मे अथवा कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र की टीकाओ में इन गाथाओ की टीका नही मिलती। इतना ही नही अपितु इन गाथाओ के अस्तित्व को सूचना तक नही है।

इन प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि ये गाथाए आचार्य जिनभद्र ने न लिखी हो अपितु उस प्रति की नकल करने-कराने वालो ने लिखी हो। ऐसी स्थिति में यह भी स्वत सिद्ध है कि इन गाथाओ मे निर्दिष्ट समय रचना समय नही अपितु प्रतिलेखनसमय है। कोट्टार्य के उल्लेख से यह भी निश्चित है कि आचार्य जिनभद्र की अतिम कृति विशेषावश्यकभाष्य है। इस भाष्य की स्वोपज्ञ टीका उनकी मृत्यु हो जाने के कारण पूर्ण न हो सकी।[1]

यदि विशेषावश्यकभाष्य की जैसलमेर स्थित उक्त प्रति का लेखनसमय शक सवत् ५३१ अर्थात् विक्रम संवत् ६६६ माना जाए तो विशेषावश्यकभाष्य का रचनासमय इससे पूर्व ही मानना पडेगा। यह भी हम जानते है कि विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति थी और उसकी स्वोपज्ञ टीका भी उनकी मृत्यु के कारण अपूर्ण रही, ऐसी दशा में यदि यह माना जाए कि जिनभद्र का उत्तरकाल विक्रम सवत् ६५०-६६० के आसपास रहा होगा तो अनुचित नही है।

आचार्य जिनभद्र ने निम्नलिखित ग्रथो की रचना की है १ विशेषावश्यकभाष्य (प्राकृत पद्य), २ विशेषावश्यकभाष्यस्वोपज्ञवृत्ति (अपूर्ण—सस्कृत

१ गणधरवाद प्रस्तावना, पृ० ३२-३

अन्य भाष्यकार :

आचार्य जिनभद्र और सघदासगणि को छोडकर अन्य भाष्यकारो के नाम का पता अभी तक नही लग पाया है। यह तो निश्चित है कि इन दो भाष्यकारो के अतिरिक्त अन्य भाष्यकार भी हुए है जिन्होने व्यवहारभाष्य आदि की रचना की है। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार कम से कम चार भाष्यकार तो हुए ही है। उनका कथन है कि एक श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दूसरे श्री संघदासगणि क्षमाश्रमण, तीसरे व्यवहारभाष्य आदि के प्रणेता और चौथे बृहदभाष्य आदि के रचयिता—इस प्रकार सामान्यतया चार आगमिक भाष्यकार हुए है। प्रथम दो भाष्यकारो के नाम तो हमे मालूम ही है। बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य के प्रणेता, जिनका नाम अभी तक अज्ञात है, बृहत्कल्पचूर्णिकार तथा बृहत्कल्पविशेषचूर्णिकार से भी पीछे हुए है। इसका कारण यह है कि बृहत्कल्पलघुभाष्य की १६६१ वी गाथा मे प्रतिलेखना के समय का निरूपण किया गया है। उसका व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार और विशेषचूर्णिकार ने जिन आदेशातरो का अर्थात् प्रतिलेखना के समय से सबध रखने वाली विविध मान्यताओ का उल्लेख किया है उनसे भी और अधिक नई-नई मान्यताओ का सग्रह बृहत्कल्प-बृहद्भाष्यकार ने उपयु‍क्त गाथा से सम्बन्धित महाभाष्य मे किया है जो याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य श्री हरिभद्रसूरिविरचित पचवस्तुकप्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति मे उपलब्ध है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्पचूर्णि तथा विशेषचूर्णि के प्रणेताओ से पीछे हुए है। ये आचार्य हरिभद्रसूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन है। अब रही बात व्यवहारभाष्य के प्रणेता कौन है और वे कब हुए है? इतना होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि व्यवहारभाष्यकार जिनभद्र के भी पूर्ववर्ती है।[1] इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्र ने अपने विशेषणवती ग्रथ मे व्यवहार के नाम के साथ जिस विषय का उल्लेख किया है वह व्यवहारसूत्र के छठे उद्देशक के भाष्य में उपलब्ध होता है।[2] इससे

---

१ निर्यु‍क्ति-लघुभाष्य-वृत्त्युपेत बृहत्कल्पसूत्र (षष्ठ भाग) प्रस्तावना, पृ० २१–२२

२ सीहो सुदाढनागो, आसगीवो य होइ अण्णेसिं।
सिंहो मिगद्धओ त्ति य, होइ वसुदेवचरियम्मि॥
सीहो चेव सुदाढो, ज रायगिहम्मि कविलबडुओ त्ति।
सीसइ ववहारे गोयमोवसमिओ स णिक्खत॥

विशेषणवती, ३३-४,

थीहिं गिपिट्ठ निग्गो, भणियं रायगिह मल्लियट्टग ति।
जिनवर वद्दणगनुपमन; गोयमोवगम दिवगा य ॥

—व्यवहारभाष्य, १९२.

द्वितीय प्रकरण

विशेषावश्यकभाष्य

विशेषावश्यकभाष्य[1] एक ऐसा ग्रथ है जिसमे जैन आगमो मे वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। जैन ज्ञानवाद, प्रमाणशास्त्र, आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मसिद्धान्त आदि सभी विपयो से सम्बन्धित सामग्री की प्रचुरता का दर्शन इस ग्रन्थ में सहज ही उपलब्ध होता है। इस ग्रथ की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इसमें जैन तत्त्व का निरूपण केवल जैन दृष्टि से न होकर इतर दार्शनिक मान्यताओ की तुलना के साथ हुआ है। आचार्य जिनभद्र ने आगमो की सभी प्रकार की मान्यताओ का जैसा तर्कपुरस्सर निरूपण इस ग्रन्थ मे किया है वैसा अन्यत्र देखने को नही मिलता। यही कारण है कि जैनागमो के तात्पर्य को ठीक तरह समझने के लिए विशेषावश्यकभाष्य एक अत्यन्त उपयोगी ग्रथ है। आचार्य जिनभद्र के उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य की सामग्री एव तर्कपद्धति का उदारतापूर्वक उपयोग किया है। उनके बाद मे लिखा गया आगम की व्याख्या करनेवाला एक भी महत्त्वपूर्ण ग्रथ ऐसा नही है जिसमे विशेपावश्यकभाष्य का आधार न लिया गया हो।

इस सक्षिप्त भूमिका के साथ अब हम विशेषावश्यकभाष्य के विस्तृत परिचय की ओर बढते है। यह ग्रंथ आवश्यकसूत्र की व्याख्यारूप है। इसमें केवल प्रथम अध्ययन अर्थात् सामायिक से सबन्धित निर्युक्ति की गाथाओ का विवेचन किया गया है।

उपोद्‌घात :

सर्वप्रथम आचार्य ने प्रवचन को प्रणाम किया है एव गुरु के उपदेशानुसार सकल चरण-गुणसग्रहरूप आवश्यकानुयोग करने की प्रतिज्ञा की है। इसके फल

---

१ (क) शिष्यहिताख्य बृहद्वृत्ति (मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका) सहित—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस, वीर सवत् २४२७-२४४१

(ख) गुजराती अनुवाद—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४-१९२७

(ग) विशेषावश्यकगाथानामकारादि- क्रम तथा विशेषावश्यकविषयाणामनुक्रम.—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२३

(घ) स्वोपज्ञ वृत्तिसहित (प्रथम भाग)—लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद, सन् १९६६.

आदि का विचार करते हुए भाष्यकार कहते है कि आवश्यकानुयोग का फल, योग मगल, समुदायार्थ, द्वारोपन्यास, तद्‌भेद, निरुक्त, क्रमप्रयोजन आदि दृष्टियो से विचार करना चाहिए।[१]

फलद्वार :

आवश्यकानुयोग का फल यह है - ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है और आवश्यक ज्ञान-क्रियामय है, अत उसके व्याख्यानरूप कारण से मोक्षलक्षणरूप कार्यसिद्धि होती है।[२]

योगद्वार -

योगद्वार की व्याख्या इस प्रकार है जिस प्रकार वैद्य बालक आदि के लिए यथोचित आहार की सम्मति देता है, उसी प्रकार मोक्षमार्गाभिलाषी भव्य के लिए प्रारम्भ मे आवश्यक का आचरण योग्य है—उपयुक्त है।[3] आचार्य शिष्य को पचनमस्कार करने पर सर्वप्रथम विधिपूर्वक सामायिक आदि देता है; उसके बाद क्रमश शेष श्रुति का भी बोध कराता है[४] क्योकि स्थविरकल्प का क्रम उसी प्रकार है। वह क्रम यो है - प्रव्रज्या, शिक्षापद, अर्थग्रहण, अनियतवास, निष्पत्ति, विहार और सामाचारीस्थिति।[५] यहाँ एक शका होती है कि यदि पहले नमस्कार करना चाहिए और बाद मे सामायिकादि आवश्यक का ग्रहण करना चाहिए, तो सर्वप्रथम नमस्कार का अनुयोग करना चाहिए और उसके बाद आवश्यक का अनुयोग करना उपयुक्त है। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नमस्कार सर्व श्रुतस्कन्ध का अभ्यन्तर है अत आवश्यकानुयोग के ग्रहण के साथ उसका भी ग्रहण हो ही जाता है। नमस्कार सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तर है इसका क्या प्रमाण ? उसकी सर्वश्रुताभ्यन्तरता का यही प्रमाण है कि उसे प्रथम मगल कहा गया है। दूसरी बात यह है कि इसका नदी मे पृथक् श्रुतस्कन्ध के रूप मे ग्रहण नही किया गया है।[६]

मगलद्वार :

अब मगलद्वार की चर्चा प्रारम्भ होती है। मगल की क्या उपयोगिता है, यह बताते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कार्य मे अनेक विघ्न उपस्थित हो जाया करते हैं। उन्ही की शान्ति के लिए मगल किया जाता है। शास्त्र मे मगल तीन स्थानो पर होता है आदि, मध्य और अन्त। प्रथम मगल का प्रयोजन शास्त्रार्थ की अविघ्नपूर्वक समाप्ति है, द्वितीय का प्रयोजन उसी की स्थिरता है और तृतीय का प्रयोजन उसी की शिष्य-प्रशिष्यादि वशपर्यन्त अव्यवच्छित्ति है।[७] भाष्यकार ने मगल का शब्दार्थ इस प्रकार किया है मंगय्तेऽधिगम्यते येन हितं तेन मगल

१ गा० १-२ २. गा० ३ ३ गा० ४ ४ गा० ५ ५ गा० ७
६ गा० ८-१० ७ गा० १२-४

भवति' अर्थात् जिससे हित की सिद्धि होती है वह मगल है। अथवा मगो धर्मस्तं लाति तक समादत्ते' अर्थात् जो धर्म का समादान कराता है वह मंगल है। अथवा निपातन से मगल का अर्थ इष्टार्थप्रकृति हो सकता है। अथवा 'मां गालयति भवाद्' अर्थात् जो भावचक्र से मुक्त करता है वह मगल है। उसके नामादि चार प्रकार है।[1] इसके बाद आचार्य ने नाम, स्थापना, द्रव्य, और भावमगल के स्वरूप का विस्तारपूर्वक विचार किया है। द्रव्यमगल की चर्चा करते समय नयो के स्वरूप, क्षेत्र आदि की ओर भी निर्देश किया है।[2] चार प्रकार के मगलों में एक दूसरे से क्या विशेषता है, इसकी ओर निर्देश करते हुए आचार्य कहते है कि जैसा आकार, अभिप्राय, बुद्धि, क्रिया और फल स्थापनेन्द्र में देखा जाता है, वैसा न नामेन्द्र मे देखा जाता है, न द्रव्येन्द्र मे। उसी प्रकार जैसा उपयोग और परिणमन द्रव्य और भाव मे देखा जाता है, वैसा न नाम मे है, न स्थापना मे।[3] वस्तु का अभिधान मात्र नाम है, उसका आकार स्थापना है, उसकी कारणता द्रव्य है और उसको कार्यापन्नता भाव है।[4] प्रकारान्तर से मगल की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नदी को भी मगल कहा जा सकता है। उसके भी मगल की तरह चार प्रकार हैं। उनमे से भावनदी पचज्ञानरूप है।[5] वे पाँच ज्ञान है आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[6]

ज्ञानपचक ·

अभिनिबोध का अर्थ है अर्थाभिमुख नियत बोध। यही आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) है। जो सुना जाता है अथवा जो सुनता है अथवा जिसमे सुना जाता है वह श्रुत है। अवधि का अर्थ है मर्यादा। जिससे मर्यादित द्रव्यादि जाने जाते है वह अवधिज्ञान है। वह जो ज्ञान मन के पर्यायो को जानता है मन.पर्ययज्ञान है। पर्यय का अर्थ पर्यवन, पर्ययन और पर्याय है। केवलज्ञान अकेला अर्थात् असहाय है, शुद्ध है, पूर्ण है, असाधारण है, अनन्तर है।[7] इसके बाद आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि इन पाँच प्रकारो को इसी क्रम से क्यो गिनाया गया है। इन पाँच ज्ञानो मे से मति और श्रुत परोक्ष हैं, शेष प्रत्यक्ष है। अक्ष का अर्थ है जीव। जो ज्ञान सीधा जीव से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।[8] वैशेषिकादिसम्मत इन्द्रियोत्पन्न प्रत्यक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि कुछ लोग इन्द्रियो को अक्ष मानते है और उनसे उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, यह ठीक नही। इन्द्रियाँ घटादि की तरह अचेतन हैं, अत. उनसे ज्ञान उत्पन्न नही

१. गा. २२-४. २. गा. २५-५१. ३ गा. ५३-४ ४ गा. ६० ५. गा. ७८. ६ गा ७९. ७ गा. ८०-४. ८ गा. ८५-९०.

हो सकता।[1] इंद्रिय-मनोजन्य ज्ञान को परोक्ष सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार ने यही निष्कर्ष निकाला है कि लैंगिक अर्थात् अनुमान-जन्य ज्ञान एकान्तरूप से परोक्ष है, अवधिआदि एकान्तरूप से प्रत्यक्ष है, इंद्रिय मनोजन्य ज्ञान सव्यवहारप्रत्यक्ष है।[2]

मति और श्रुत .

मति और श्रुत के लक्षणभेद की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो विज्ञान इंद्रिय-मनोनिमित्तक तथा श्रुतानुसारी है वह भावश्रुत है। शेष मति है।[3] दूसरी बात यह है कि श्रुत मतिपूर्वक होता है किन्तु मति श्रुतपूर्वक नही होती।[4] भाष्यकार ने इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है कि श्रुत मतिपूर्वक होता है, इसका क्या अर्थ है? द्रव्यश्रुत और भावश्रुत मे क्या सबध है? द्रव्यश्रुत मति-पूर्वक होता है अथवा भावश्रुत ?[5] मति और श्रुत में एक भेद यह भी है कि श्रुत श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि है, शेष मति है। यहाँ पर एक शका होती है कि श्रोत्रेन्द्रियो-पलब्धि यदि श्रुत ही है, तो श्रोत्रेन्द्रियजन्य अवग्रह आदि का क्या होगा? यदि श्रोत्रेन्द्रियजन्य अवग्रह आदि बुद्धि को मति माना जाए तो वह श्रुत नही हो सकती, श्रुत मानने पर मति नही हो सकती, दोनो मानने पर सकर दोष का प्रसग उपस्थित होता है। इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि हमारा प्रयोजन यह है कि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि ही श्रुत है, न कि श्रोत्रेन्द्रियो-पलब्धि श्रुत ही है। कही-कही पर (अश्रुतानुसारिणी) श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि मति भी होती है।[6] पत्रादिगत सामग्री श्रुत का कारण होने से शब्द के समान द्रव्यश्रुत मानी गयी है। अक्षरलाभ भावश्रुत है। शेष मतिज्ञान है।[7] अन-भिलाप्य पदार्थों का अनन्तवा भाग प्रज्ञापनीय है। प्रज्ञापनीय पदार्थों का अनन्तवा भाग श्रुतनिबद्ध है। ऐसा क्यो? क्योकि जो चतुर्दशपूर्वधर होते हैं वे परस्पर षट्स्थानपतित होते हैं और इसीलिए जो सूत्र हैं वे प्रज्ञापनीय भावो के अनन्तवें भाग हैं।[8] मति और श्रुत के भेद को और स्पष्ट करने के लिए वल्क और शुम्ब के उदाहरण की युक्तियुक्त परीक्षा करते हुए भाष्यकार ने यह सिद्ध किया है कि मति वल्क के समान है और भावश्रुत शुम्ब के समान है।[9] इसी प्रकार अक्षर और अनक्षर के भेद से भी श्रुत और मति की व्याख्या की है।[10] मूक और इतर भेद से मति और श्रुत के भेद का विचार करते हुए आचार्य ने यह प्रतिपादन किया है कि करादिचेष्टा शब्दार्थ ही है, क्योकि वह

---

१ गा ९१ २. गा ९५. ३ गा १००. ४ गा० १०५. ५. गा० १०६-११३. ६. गा० १२२ ७. गा० १२४ ८ गा० १४१-२ ९. गा० १५४-१६१ १० गा० १६२-१७०.

उसी का काम करती है और इसप्रकार श्रुतज्ञान का कारण है, न कि मति का।[1] यहाँ तक मति-श्रुत के भेद का अधिकार है।

आभिनिबोधिक ज्ञान :

आभिनिबोधिक ज्ञान के भेदो की ओर निर्देश करते हुए आगे कहा गया है कि इन्द्रिय-मनोनिमित्त जो आभिनिबोधिक ज्ञान है उसके दो भेद हैं श्रुत-निश्रित और अश्रुतनिश्रित। इन दोनो के पुन चार-चार भेद होते है अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। सामान्यरूप से अर्थ का अवग्रहण अवग्रह है, भेद की मार्गणा करना ईहा है, उसका निश्चय अपाय है और उसकी अविच्युति धारणा है।[2] जो लोग सामान्यविशेष के ग्रहण को अवग्रह कहते हैं उनका मत ठीक नही क्योंकि उसमे अनेक दोष है। कुछ लोग यह कहते हैं कि ईहा सशयमात्र है, यह ठीक नही, क्योकि सशय तो अज्ञान है जबकि ईहा ज्ञान है। ऐसी स्थिति मे ज्ञानरूप ईहा अज्ञानरूप सशय कैसे हो सकती है?[3] इसी प्रकार अपाय और धारणासम्बन्धी मतान्तरो का भी भाष्यकार ने खण्डन किया है।

अवग्रह दो प्रकार का है : व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। जिसमे अर्थ (पदार्थ) प्रकट होता है वह व्यजनावग्रह है। उपकरणेन्द्रिय और शब्दादिरूप से परिणत द्रव्य का पारस्परिक सम्बन्ध व्यंजनावग्रह है।[4] इसके चार भेद है : स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत। नयन ओर मन अप्राप्यकारी है अत उनसे व्यजनावग्रह नही होता। जो लोग श्रोत्र और घ्राण को भी अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत का खण्डन करते हुए भाष्यकार ने यह सिद्ध किया है कि स्पर्शन और रसन की ही भाति घ्राण और श्रोत्र भी प्राप्त अर्थ का ही ग्रहण करते हैं।[5] इसी प्रकार नयन और मन की अप्राप्यकारिता का भी रोचक ढंग से समर्थन किया गया है।[6] विशेष कर जहाँ स्वप्न का प्रसग आता है वहाँ तो आचार्य ने प्रतिपादन की कुशलता एव रोचकता का परिचय बहुत ही सुन्दर ढग से दिया है। व्यजनावग्रह के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद अर्थावग्रह का व्याख्यान किया है, जिसमे अनेक शकाओं का समाधान करते हुए व्यावहारिक एव नैश्चयिक दृष्टि से अर्थावग्रह के विषय, समय आदि का निर्णय किया है।[7] इसके बाद ईहा, अपाय और धारण के स्वरूप की चर्चा की गई है। मतिज्ञान के मुख्यरूप से दो भेद है श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। श्रुतनिश्रित के अवग्रहादि चार भेद है। अवग्रह के पुन दो भेद है : व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह

१ गा० १७१-५ २ गा० १७७-१८० ३ गा० १८१-२. ४. गा० १९३-४. ५ गा० २०४-८ ६ गा० २०९-२३६ ७. गा० २३७-२८८.

व्यजनावग्रह श्रोत्रादि चार प्रकार का है। अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा के श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ और मन-इन छ से उत्पन्न होने के कारण प्रत्येक के छ भेद होते है। इस प्रकार व्यजनावग्रह के ४ तथा अर्थावग्रहादि के २४ कुल २८ भेद हुए। ये श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भेद है। कुछ लोग अवग्रह के दो भेदो को अलग न गिनाकर अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा-इन चारो के छ-छ भेद करके श्रुतनिश्रित मति के २४ भेद करते है और उनमे अश्रुतनिश्रित मति के औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी इन चार भेदो को मिलाकर पूरे मतिज्ञान के २८ भेद करते है।[1] भाष्यकार ने इस मत का खण्डन किया है। उपर्युक्त २८ प्रकार के श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित और ध्रुव-ये छ तथा इनसे विपरीत छ और-इस प्रकार प्रत्येक के १२ भेद होते है। इस प्रकार श्रुतनिश्रित मति के २८ × १२ = ३३६ भेद होते है।[2] इसके बाद आचार्य ने सशय ज्ञान है या अज्ञान, इसकी चर्चा करते हुए सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की विशेषताओ पर प्रकाश डाला है।[3] अवग्रहादि की कालमर्यादा इस प्रकार है अवग्रह एक समयपर्यन्त रहता है, ईहा और अपाय अन्तर्मुहूर्त तक रहते है, धारणा अन्तर्मुहूर्त, सख्येयकाल तथा असख्येयकाल तक रहती है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि केवल नैश्चयिक अर्थावग्रह एक समयपर्यन्त रहता है। वासनारूप धारणा को छोडकर शेष व्यजनावग्रह, एक समयपर्यन्त रहता है। वासनारूप धारणा को छोडकर शेष व्यजनावग्रह, व्यावहारिक अर्थावग्रह, ईहा आदि प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है। वासनारूप धारणा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की विशिष्टता के कारण सख्येय अथवा असख्येय कालपर्यन्त रहती है।[4] इसके बाद भाष्यकार ने इन्द्रियो की प्राप्तकारिता और अप्राप्तकारिता के सामीप्य, दूरी, काल आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातो पर प्रकाश डाला है।[5] इस प्रसग पर भाषा, शरीर, समुद्घात आदि विषयो का भी विस्तृत परिचय दिया गया है।

मतिज्ञान ज्ञेयभेद से चार प्रकार का है। सामान्य प्रकार से मतिज्ञानोपयुक्त जीव द्रव्यादि चारो प्रकारो को जानता है। ये चार प्रकार है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[6] निर्युक्तिकार का अनुसरण करते हुए आगे की कुछ गाथाओ मे आभिनिबोधिक ज्ञान का सत्पदप्ररूपणता, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्प-बहुत्व—इन द्वारो से विचार किया है। प्रसगवश व्यवहारवाद और निश्चयवाद के पारस्परिक मतभेद का दिग्दर्शन कराते हुए दोनो के स्याद्वाद-सम्मत सामजस्य का निरूपण किया गया है।[7]

---

१ गा० ३००-२ २ गा० ३०७ ३ गा० ३०८-३३२ ४. गा० ३३३-४
५. गा० ३४०-३९५ ६ गा० ४०२-४ ७ गा० ४०६-४४२

श्रुतज्ञान :

श्रुतज्ञान की चर्चा करते हुए कहा गया है कि लोक मे जितने भी प्रत्येकाक्षर हैं और जितने भी उनके सयोग हैं उतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ होती हैं। सयुक्त और असंयुक्त एकाक्षरो के अनन्त सयोग होते हैं और उनमे से भी प्रत्येक सयोग के अनन्त पर्याय होते हैं।[१] श्रुतज्ञान का चौदह प्रकार के निक्षेपो से विचार किया जाता है। वे चौदह प्रकार ये हैं अक्षर, सज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अगप्रविष्ट—ये सात और सात इनके प्रतिपक्षी।[२]

अक्षर तीन प्रकार का है . सज्ञाक्षर, व्यजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। जितने भी लिपिभेद हैं वे सब सज्ञाक्षर के कारण हैं। जिससे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसे व्यञ्जनाक्षर कहते हैं। अक्षर की उपलब्धि अर्थात् लाभ को लब्ध्यक्षर कहते हैं। यह विज्ञानरूप है, इन्द्रिय-मनोनिमित्तक है तथा आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। इनमे से सज्ञाक्षर और व्यञ्जनाक्षर द्रव्यश्रुतरूप हैं तथा लब्ध्यक्षर भावश्रुतरूप है।[३] श्रुतज्ञान के प्रसग को दृष्टि मे रखते हुए भाष्यकार ने यह भी सिद्ध किया है कि एकेन्द्रियादि असज्ञी जीवो को अक्षर का लाभ (लब्ध्यक्षर) कैसे होता है।[४] उच्छ्वसित, नि श्वसित, निष्ठ्यूत, कासित, क्षुत, नि सिंघित, अनुस्वार, सेण्टित आदि अनक्षर हैं।[५]

जिसके सज्ञा होती है उसे सज्ञी कहते हैं। सज्ञा तीन प्रकार की हैं कालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी। कालिकी सज्ञा वाला अतीत और अनागत वस्तु का चिंतन करने मे समर्थ होता है।[६] हेतुवादोपदेशिकी सज्ञा वाला जीव स्वदेहपरिपालन की दृष्टि से इष्ट और अनिष्ट वस्तु का विचार करता हुआ उसमे प्रवृत्त अथवा निवृत्त होता है। यह सज्ञा प्राय. साम्प्रतकालीन अर्थात् वर्तमान काल मे ही होती है। अतीत और अनागत की चिन्ता इसका विषय नही होता। क्षायोपशमिक ज्ञान में वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा वाला है। इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि असज्ञी है।[७] पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति मे ओघसज्ञा (वृत्त्यारोहणादि अभिप्रायरूप) होती है। द्वीन्द्रियादि मे हेतुसज्ञा रहती है। सुर, नारक और गर्भोद्भव प्राणियो मे कालिकी सज्ञा होती है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीवो मे दृष्टिवाद सज्ञा रहती है। केवलियो मे किसी प्रकार की सज्ञा नही होती, क्योकि स्मरण, चिन्ता आदि मति-व्यापारो से विमुक्त होते है, अत. वे सज्ञातीत हैं।[८]

---

१. गा० ४४४-५. २. गा० ४५३-४ ३ गा० ४६४-७
४ गा० ४७४-६ ५ गा० ५०१ (निर्युक्ति) ६. गा० ५०४-८
७ गा० ५१५-७. ८. गा० ५२३-४

अगप्रविष्ट आचारादि श्रुत तथा अनगप्रविष्ट आवश्यकादि श्रुत सम्यक्-श्रुत की कोटि मे है। लौकिक महाभारतादि श्रुत मिथ्याश्रुत है। स्वामित्व की दृष्टि से विचार करने पर सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत लौकिक श्रुत भी सम्यक्श्रुत की कोटि मे आ जाता है जबकि मिथ्यादृष्टिपरिगृहीत आचारादि सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत की कोटि मे चला जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वपरिगृहीत श्रुत सम्यक् होता है। सम्यक्त्व पाच प्रकार का है औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक तथा क्षायिक। भाष्यकार ने इन प्रकारो का सक्षिप्त परिचय दिया है।[1]

द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से श्रुत पचास्तिकाय की भाति अनादि तथा अपर्यवसित—अनन्त है और पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से जीव के गतिपर्यायो की भाति सादि एव सपर्यवसित—सान्त है।[2] जो बात श्रुत के लिए कही गई है वही ससार के समस्त पदार्थो के लिए है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है, नष्ट होता है तथा नित्यरूप मे स्थित रहता है। इसी प्रकार सुख-दु ख, बन्ध-मोक्ष आदि का सद्भाव सिद्ध किया जाता है।[3]

गम का अर्थ होता है भग अर्थात् गणितादि विशेष। वे जिसमें हो उसे गमिक कहते है। अथवा गम का अर्थ है सदृश पाठ। वे जिसमें बहुतायत से हो उसे गमिक कहते है। जिस श्रुत मे इस प्रकार की सामग्री न हो वह अगमिक श्रुत है।[4]

द्वादशागरूप गणधरकृत श्रुत को अगप्रविष्ट कहते है तथा अनगरूप स्थविर-कृत श्रुत को अगबाह्य कहते है। अथवा गणधरपृष्ट तीर्थंकरसबन्धी जो आदेश है, उससे निष्पन्न होने वाला श्रुत अगप्रविष्ट है तथा जो मुत्क अर्थात् अप्रश्नपूर्वक अर्थप्रतिपादन है वह अगबाह्य है। अथवा जो ध्रुव ध्रुव अर्थात् सभी तीर्थंकरो के तीर्थो में नियत है वह अगप्रविष्ट है तथा जो चल अर्थात् अनियत है वह अगबाह्य है।[5]

उपयोगयुक्त श्रुतज्ञानी सब द्रव्यो को जानता है किन्तु उनमें से अपने अचक्षु-दर्शन से कुछ को ही देखता है। ऐसा क्यो? इसका भी उत्तर भाष्यकार ने दिया है।[6] जिन आठ गुणो से आगमशास्त्र का ग्रहण होता है वे इस प्रकार है : शुश्रूषा, प्रतिपृच्छा, श्रवण, ग्रहण, पर्यालोचन, अपोहन (निश्चय), धारण और सम्यगनुष्ठान। भाष्यकार ने निर्युक्तिसम्मत इन आठ प्रकार के गुणो का सक्षिप्त विवेचन किया है।[7]

---

१ गा० ५२७-५३६. २ गा० ५३७ ३ गा० ५४४. ४ गा० ५४९.
५ गा० ५५० ६ गा० ५५३-५ ७. गा० ५६२-६

अवधिज्ञान :

अवधिज्ञान का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने नियुं क्ति की गाथाओ का बहुत विस्तार से व्याख्यान किया है। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय भेदो की ओर निर्देश करते हुए चौदह प्रकार के निक्षेपो का बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है।[1] नारक और देवो को पक्षियो के नभोगमन की भाँति जन्म से ही भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता हैं। शेष प्राणियो को गुणप्रत्यय अर्थात् अपने कर्म के क्षयोपशम के कारण यदाकदा होता है। उनके लिए ऐसा नियम नही कि उन्हें जन्म से हो ही।

मन.पर्ययज्ञान .

मन पर्ययज्ञान से मनुष्य के मानसिक परिचिंतन का प्रत्यक्ष होता है। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्र तक सीमित है, गुणप्रत्ययिक है और चारित्रशील को होता है। दूसरे शब्दों मे जो संयत है, सर्वप्रमादरहित है, विविध ऋद्धियुक्त है वही इस ज्ञान का अधिकारी होता है। मन पर्ययज्ञान का विषय चिन्तित मनोद्रव्य है, क्षेत्र नरलोक है, काल भूत और भविष्यत् का पल्योपमासख्येय भाग है। मन'पर्ययज्ञानी चिन्तित मनोद्रव्य को साक्षात् देखता व जानता है किन्तु तद्‌भासित बाह्य पदार्थ को अनुमान से जानता है।[2]

केवलज्ञान :

केवलज्ञान सर्वद्रव्य तथा सर्वपर्यायो को ग्रहण करता है। वह अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है। यह ज्ञान सर्वावरणक्षय से उत्पन्न होने वाला है, अत' सर्वोत्कृष्ट है, सर्वविशुद्ध है, सर्वगत है। केवली किसी भी अर्थ का प्रतिपादन प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही करता है। उसका वाग्योग प्रत्यक्ष ज्ञान पर अवलंबित होता है। यही वाग्योग श्रुत का रूप धारण करता है।[3] इस प्रकार केवलज्ञान के स्वरूप की चर्चा के साथ ज्ञानपचक का अधिकार समाप्त होता है।

समुदायार्थद्वार :

पचज्ञान की चर्चा के साथ मगलरूप तृतीय द्वार समाप्त होता हैं तथा समुदायार्थरूप चतुर्थ द्वार का व्याख्यान प्रारभ होता है। ज्ञानपचक मे से यह किस ज्ञान का मगलार्थ अर्थात् अनुयोग है? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि मतिज्ञानादि मे श्रुत का प्रकृतानुयोग है, अन्य का नहीं क्योकि दूसरे प्रकार के ज्ञान पराधीन होते है तथा परबोध में प्राय. समर्थ नही होते। श्रुतज्ञान दीपक

---

१. गा० ५६८-८०८ २. गा० ८१०-४. ३ गा० ८२३-८३६

की तरह स्वप्रकाशन तथा परप्रबोधन मे समर्थ है, अत उसी का अनुयोग यहाँ उचित है। यहाँ जो आवश्यक का अधिकार है वह श्रुतरूप ही है।[1] अनुयोग का अर्थ है सूत्र का अपने अभिधेय से अनुयोजन अर्थात् अनुसंबन्धन, अथवा सूत्र का अनुरूप प्रतिपादनलक्षणरूप व्यापार, अथवा सूत्र का अर्थ से अनु=अणु है—स्तोक है, तथा अनु=पश्चात् है उसकी अर्थ के साथ योजना अर्थात् सम्बन्धस्थापन।[2]

प्रस्तुत शास्त्र का नाम आवश्यक श्रुतस्कन्ध है। इसके सामायिकादि जो छः भेद हैं उन्हे अध्ययन कहते है। अतः 'आवश्यक', 'श्रुत', 'स्कन्ध', 'अध्ययन' आदि पदो का पृथक्-पृथक् अनुयोग करना चाहिए। 'आवश्यक' का नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार प्रकार का निक्षेप होता है। इनमे मे प्रस्तुत भाष्य मे द्रव्यावश्यक की आगम और नोआगमरूप से विस्तृत व्याख्या की गई है। अधिकाक्षर सूत्रपाठ के लिए कुणाल नामक राजपुत्र तथा कपि का उदाहरण दिया गया है। हीनाक्षर पाठ के लिए विद्याधर आदि के उदाहरण दिए गए है। उभय के लिए बाल तथा आतुर के लिए अतिभोजन तथा भेषजविपर्यय के उदाहरण दिए गए हैं। लोकोत्तर नोआगमरूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप की पुष्टि के लिए साध्वाभास का दृष्टान्त दिया गया है।[3] भावावश्यक भी दो प्रकार का होता है. आगमरूप तथा नोआगमरूप। आवश्यक के अर्थ का उपयोगरूप परिणाम आगमरूप भावावश्यक है। ज्ञानक्रियोभयरूप परिणाम नोआगमरूप भावावश्यक है। नोआगमरूप भावावश्यक के तीन प्रकार हैं लौकिक, लोकोत्तर तथा कुप्रावचनिक। इन तीनो मे से लोकोत्तर भावावश्यक प्रशस्त है अतः शास्त्र मे उसी का अधिकार है।[4]

आवश्यक के पर्याय ये हैं ' आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्धि, अध्ययनषट्क, वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग। भाष्यकार ने इन नामो की सार्थकता भी दिखाई है।[5] इसी प्रकार श्रुत, स्कन्ध आदि का भी निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है। श्रुत के एकार्थक नाम ये है. श्रुत, सूत्र, ग्रंथ, सिद्धात, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम।[6] स्कन्ध के पर्याय ये हैं गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुञ्ज, पिण्ड, निकर, सघात, आकुल, समूह।[7]

आवश्यक श्रुतस्कन्ध के छ अध्ययनो का अर्थाधिकार इस प्रकार है सामायिकाध्ययन का अर्थाधिकार सावद्ययोगविरति है, चतुर्विशतिस्तव का अर्थाधिकार गुणोत्कीर्तन है, वन्दनाध्ययन का अर्थाधिकार गुणी गुरु की प्रतिपत्ति है, प्रतिक्रमण

---

१ ८३७-८४०. २ गा० ८४१-२ ३ गा० ८४७-८६८
४ गा० ८६९-८७० ५ गा० ८७२-३ ६ गा० ८९४ ७ गा० ९००.

का अर्थाधिकार श्रुत-शीलस्खलन की निंदा है, कायोत्सर्गाध्ययन का अधिकार अपराधव्रणचिकित्सा है तथा प्रत्याख्यानाध्ययन का अधिकार गुण धारणा है।[1] यहाँ आवश्यक का पिण्डार्थ—समुदायार्थ नामक चतुर्थ द्वार समाप्त होता है।

द्वारोपन्यास तथा भेदद्वार :

पचम द्वार मे सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की विशेष व्याख्या करते हुए आचार्य कहते है कि सामायिक का लक्षण समभाव है। जिस प्रकार व्योम सब द्रव्यो का आधार है उसी प्रकार सामायिक सब गुणो का आधार है। शेष अध्ययन एक तरह से सामायिक के ही भेद है क्योकि सामायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप तीन प्रकार की है और कोई गुण ऐसा नही है जो इन तीनो प्रकारो से अधिक हो। किसी महानगर के द्वारो की भाँति सामायिकाध्ययन के भी चार अनुयोगद्वार है। उनके नाम इस प्रकार है - उपक्रम, निक्षेप, अनुगम तथा नय। इनके पुन क्रमशः छ, तीन, दो तथा दो प्रभेद होते है।[2] यहाँ तक पाँचवे द्वारोपन्यास तथा छठें भेदद्वार का अधिकार है।

निरुक्तद्वार

सातवें निरुक्तद्वार मे उपक्रम आदि की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शास्त्र का उपक्रमण अर्थात् समीपीकरण (न्यासदेशानयन) उपक्रम है। निक्षेप का अर्थ है निश्चित क्षेप अर्थात् न्यास अथवा नियत व्यवस्थापन। अनुगम का अर्थ है सूत्रानुरूप गमन (व्याख्यान) अथवा अर्थानुरूप गमन। इसका प्रयोजन सूत्र और अर्थ का अनुरूप सम्बन्धस्थापन है। नय का अर्थ है वस्तु का संभावित अनेक पर्यायो के अनुरूप परिच्छेदन।[3]

क्रमप्रयोजन .

अष्टम द्वार का नाम क्रमप्रयोजन है। इसमे उपक्रम, निक्षेप, अनुगम तथा नय के उक्त क्रम को युक्तियुक्त सिद्ध किया गया है।[4] यहाँ तक भाष्य की द्वितीय गाथा मे निर्दिष्ट द्वारो का अधिकार है। इसके बाद उपक्रम का भावोपक्रम की दृष्टि से विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है तथा आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार नामक छ भेदो का विस्तृत विवेचन किया गया है।[5]

---

१ गा० ९०२. २ गा० ९०५–९१० ३ गा० ९११–४
४ गा० ९१५–६ ५ गा० ९१७–९५६

निक्षेप :

निक्षेप के तीन भेद हैं : ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न तथा सूत्रालापकनिष्पन्न। श्रुत के अंग, अध्ययन आदि सामान्य नाम ओघ हैं। प्रस्तुत सामायिक श्रुत का ओघ चार प्रकार का है अध्ययन, अक्षीण, आय तथा क्षपणा। शुभ अध्यात्मा-नयन का नाम अध्ययन है। यह बोध, संयम, मोक्ष आदि की प्राप्ति में हेतुभूत है। जो अनवरत वृद्धि की ओर अग्रसर है वह अक्षीण है। जिससे ज्ञानादि का लाभ होता है वह आय है। जिससे पापकर्मों की निर्जरा होती है वह क्षपणा है। प्रस्तुत अध्ययन का एक विशेष नाम (सामायिक) है। यही नाम निक्षेप है। 'करेमि भन्ते!' आदि सूत्रपदों का न्यास ही सूत्रालापकनिक्षेप है।[1]

अनुगम :

अनुगम दो प्रकार का है : निर्युक्त्यनुगम तथा सूत्रानुगम। निर्युक्ति के पुनः तीन भेद हैं निक्षेपनिर्युक्ति, उपोद्घातनिर्युक्ति एवं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति। भाष्य-कार ने इन भेदों का विस्तृत वर्णन किया है।[2]

नय :

किसी भी सूत्र की व्याख्या करते समय सब प्रकार के नयों की परिशुद्धि का विचार करते हुए निरवशेष अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। यही नय है।[3] यहाँ चार प्रकार के अनुयोगद्वारों की व्याख्या समाप्त होती है।

उपोद्घात-विस्तार

भाष्यकार कहते हैं कि अब मैं मंगलोपचार करके शास्त्र का विस्तारपूर्वक-उपोद्घात करूँगा। यह मंगलोपचार मध्यमंगलरूप है।[4] मैं सर्वप्रथम अनुत्तर पराक्रमी, अमितज्ञानी, तीर्ण, सुगतिप्राप्त तथा सिद्धिपथप्रदर्शक तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ। जिससे तिरा जाता है अथवा जो तिरा देता है अथवा जिसमें तैरा जाता है उसे तीर्थ कहते हैं। वह नामादि भेद से चार प्रकार का है। सरित्-समुद्र आदि का कोई भी निरपाय नियत भाग द्रव्यतीर्थ कहलाता है क्योंकि वह देहादि द्रव्य को ही तिरा सकता है। जो लोग यह मानते हैं कि नद्यादि तीर्थ भवतारक है उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि स्नानादि जीव का उपघात करने वाले हैं। इनसे पुण्योपार्जन नहीं होता। यदि कोई यह कहे कि जाह्नवीजलादिक तीर्थरूप ही है क्योंकि उनसे दाहनाश, पिपासोपशमादि कार्य सम्पन्न होते हैं और इस प्रकार वे देह का उपकार करते हैं, यह ठीक नहीं। ऐसा मानने पर मधु, मद्य, मांस, वेश्या आदि भी तीर्थरूप हो जाएँगे क्योंकि वे

---

१ गा० ९५७–९७० २ गा० ९७१–१००७

३ गा० १००८–१०११ ४ गा० १०१४-६

भी देह का उपकार करते हैं।[1] जो श्रुतविहित संघ है वही भावतीर्थ है, उसमें रहने वाला साधु तारक है। ज्ञानादि त्रिक तरण है तथा भवसमुद्र तरणीय है।[2] तीर्थ का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो दाहोपशम, तृष्णाच्छेद तथा मल-क्षालनरूप अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान एव चारित्ररूप तीन अर्थों मे स्थित है वह त्रिस्थ (तित्थ) अर्थात् तीर्थ है। वह भी सघ ही है। तीर्थ (तित्थ) का अर्थ त्र्यर्थ भी हो सकता है अर्थात् जो क्रोधाग्निदाहोपशम आदि उपर्युक्त तीन अर्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है वह त्र्यर्थ—तित्थ—तीर्थ है। यह अर्थ भी सघरूप ही है।[3] जो भावतीर्थ की स्थापना करते हैं अर्थात् उसे गुणरूप से प्रकाशित करते है उन्हें तीर्थंकर—हितार्थंकर कहते हैं।[4] तीर्थंकरो के पराक्रम, ज्ञान, गति आदि विषयो पर भी आचार्य ने प्रकाश डाला है।[5] इसके बाद वर्तमान तीर्थ के प्रणेता भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। तदुपरान्त उनके एकादश गणधर आदि अन्य पूज्य पुरुषो को वन्दन किया है।[6] इसके बाद सर्वप्रथम आवश्यकसूत्र की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करते हुए सामायिक नामक-प्रथम अध्ययन का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है। 'नियुंक्ति' शब्द का विशेष व्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते है कि सूत्र के निश्चित अर्थ की व्याख्या करना ही नियुंक्ति है।[7] सूत्रादि की रचना कैसे होती है, इसकी ओर सकेत करते हुए यह बताया गया है कि जिन अर्थभाषक है तथा गणधर सूत्रग्रथक हैं। शासन के हितार्थ ही सूत्र की प्रवृत्ति है। अर्थप्रत्यायक शब्द में अर्थ का उपचार किया जाता है और इसी प्रकार अर्थ का अभिलाप होता है। सूत्र में अर्थविस्तार अधिक है अतएव वह महार्थ है।[8]

ज्ञान और चारित्र :

सामायिकादि श्रुत का सार चारित्र है, चारित्र का सार निर्वाण है। चारित्र को प्रधान इसलिए कहा जाता है कि वह मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण है। ज्ञान से वस्तु की यथार्थता-अयथार्थता का प्रकाशन होता है और इससे चारित्र की विशुद्धि होती है, अत ज्ञान चारित्र-विशुद्धि के प्रति प्रत्यक्ष कारण है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनो मोक्ष के प्रति कारण हैं। दोनो मे अन्तर यही है कि ज्ञान चारित्र-शुद्धि का कारण होने से मोक्ष का व्यवहित कारण है, जबकि चारित्र मोक्ष का अव्यवहित कारण है।[9] दूसरी बात यह है कि ज्ञान का उत्कृष्टतम

---

१ गा० १०२५–३१ २ गा० १०३२. ३ गा० १०३५–७.
४ गा० १०४७. ५ गा० १०४९–१०५३
६ गा० १०५७-६८ ७ गा० १०८६
८. गा० १०९५-११२५ ९. गा० ११२६-११३०.

लाभ (केवलज्ञान) हो जाने पर भी जीव मुक्त नही होता, जब तक कि सर्व-संवर का लाभ न हो जाए। इससे भी यही सिद्ध होता है कि संवर—चारित्र ही मोक्ष का मुख्य हेतु है, न कि ज्ञान। अतः चारित्र ज्ञान से प्रधानतर है।[1] आचार्य ने ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध की और भी चर्चा की है।[2]

सामायिक-लाभ :

सामायिक का लाभ कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है कि आठो कर्म प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति के विद्यमान होने पर जीव को चार प्रकार की सामायिक मे से एक का भी लाभ नही हो सकता।[3] इसका विवेचन करते हुए भाष्यकार कहते है कि नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम है, मोहनीय की सत्तर कोटाकोटी सागरोपम है, शेष अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय की तीस कोटाकोटी सागरोपम है तथा आयु की तैंतीस सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आयु, मोहनीय तथा अंतराय की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त है तथा वेदनीय की बारह मुहूर्त है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर छः कर्मों-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र तथा अंतराय की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता ही है (उत्कृष्ट संक्लेश होने पर ही मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है) किन्तु आयु की स्थिति का बंध उत्कृष्ट अथवा मध्यम कैसा भी हो सकता है। इतना अवश्य है कि इस स्थिति में आयु का जघन्य बंध नही हो सकता। मोहनीय को छोडकर शेष ज्ञानावरणादि किसी की भी उत्कृष्ट स्थिति का बंध होने पर मोहनीय अथवा अन्य किसी भी कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बंध होता है किन्तु आयु का स्थिति बंध जघन्य भी हो सकता है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत तथा सर्वव्रत इन चार सामायिकों में से उत्कृष्ट कर्मस्थिति वाला एक भी सामायिक की प्राप्ति नही कर सकता किन्तु उसे पूर्वप्रतिपन्न विकल्प से है अर्थात् होती भी है, नही भी होती (अनुत्तरसुर मे पूर्वप्रतिपन्न सम्यक्त्व तथा श्रुत होते है, शेष नही)। ज्ञानावरणादि की जघन्य स्थिति वाले को भी इन सामायिको मे से एक का भी लाभ नही होता क्योकि उसे पहले से ही ये सब प्राप्त होती हैं, ऐसी स्थिति में पुनर्लाभ का प्रश्न ही नही उठता। आयु की जघन्य स्थिति वाले को न तो ये पहले से प्राप्त होती है, न वह प्राप्त कर सकता है।[4] इसके बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारणो पर प्रकाश डालते हुए ग्रंथिभेद का स्वरूप बताया गया है।

१. गा० ११३१-२. २ गा० ११३३-११८२

३. गा० ११८६ ४. गा० ११८७-११९२.

सामायिक-प्राप्ति के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए पल्लकादि नौ प्रकार के दृष्टान्त दिए गए है।[1] सम्यक्त्वलाभ के बाद देशविरति आदि का लाभ कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते है कि जितनी कर्म-स्थिति के रहते हुए सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसमे से पल्योपमपृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—श्रावकत्व की प्राप्ति होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर चारित्र की प्राप्ति होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशमश्रेणी की प्राप्ति होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपकश्रेणी का लाभ होता है।[2]

सामायिक के बाधक कारण :

कषायादि के उदय से दर्शनादिसामायिक प्राप्त नही होती अथवा प्राप्त होकर पुन नष्ट हो जाती है। जिसके कारण प्राणी परस्पर हिंसा करते है (कर्षन्ति) उसे कषाय कहते है, अथवा जिसके कारण प्राणी शारीरिक एव मानसिक दु खो से घिसते रहते हैं (कृष्यन्ते) उसे कषाय कहते है, अथवा जिससे 'कष' अर्थात् कर्म का 'आय' अर्थात् लाभ होता है उसे कषाय कहते है, अथवा जिससे प्राणी 'कष' अर्थात् कर्म को 'आयन्ति' अर्थात् प्राप्त होते है उसे कषाय कहते है, अथवा जो 'कष' (कर्म) का 'आय' अर्थात् उपादान (हेतु) है वह कषाय है। कषाय मुख्यरूप से चार प्रकार के है . क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमे से किस कषाय की उत्कृष्टता अथवा मदता से किस प्रकार के चारित्रादि का घात होता है, इसका भाष्यकार ने विस्तार से वर्णन किया है।[3]

चारित्र-प्राप्ति :

अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषायो का क्षय, उपशम अथवा क्षयोप-शम होने पर मनो-वाक्-कायरूप प्रशस्त हेतुओ से चारित्र-लाभ होता है। चारित्र पाच प्रकार का है सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसपराय तथा यथाख्यात।[4] प्रस्तुत मे नियम यह है कि बारह कषायो के क्षयादि से चारित्र का लाभ होता ही है नकि पाँचो ही प्रकार के चारित्र का (गा० १२५८)—ऐसा स्पष्टीकरण भाष्यकार ने किया है।

सामान्यरूप से सभी प्रकार का चारित्र सामायिक ही है। छेदादि उसकी विशेष प्रकार की अवस्थाएँ है। सामायिक का अर्थ है सावद्य योग का त्याग। वह दो प्रकार का है इत्वर तथा यावत्कथिक। इत्वर स्वल्पकालीन है तथा यावत्कथिक जीवनपर्यन्त के लिए है।[5] जिससे चारित्र के पूर्वपर्याय का

१. गा० ११९३-१२२१ २ गा० १२२२
३ गा० १२२४-१२५३ ४ गा० १२५४-१२६१. ५ गा० १२६२-७

छेद होता है तथा व्रतो मे उपस्थापन होता है उसे छेदोपस्थापन कहते है। वह दो प्रकार का है : सातिचार तथा निरतिचार। शिष्य की उपस्थापना अथवा तीर्थान्तरसक्रांति मे जिसका आरोप किया जाता है वह निरतिचार छेदोपस्थापन है। मूलगुणघाती का जो पुन समारोपण है वह सातिचार छेदोपस्थापन है।[1] परिहार नाम तपविशेष से विशुद्ध होने का नाम परिहारविशुद्धि चारित्र है। वह दो प्रकार का है निर्विशमान तथा निर्विष्टकायिक। परिहारिक का चारित्र निर्विशमान है। अनुपहारी तथा कल्पस्थित का चारित्र निर्विष्टकायिक है।[2] क्रोधादि कषायवर्ग को सपराय कहते है। जिसमे सपराय का सूक्ष्म अवशेष रहता है वह सूक्ष्मसपराय चारित्र है। श्रेणी (उपशम अथवा क्षपक) पर आरूढ होने वाला विशुद्धिप्राप्त जीव इसका अधिकारी होता है।[3] यथाख्यात चारित्र वाला जीव कषाय से निर्लिप्त होता है। यह चारित्र दो प्रकार का है : छद्मस्थ-सम्बन्धी तथा केवलीसम्बन्धी। छद्मस्थसम्बन्धी के पुन' दो भेद है मोहक्षय-समुत्थ तथा मोहोपशमप्रभव अर्थात् कषाय के क्षय से उत्पन्न होने वाला तथा कषाय के उपशम से उत्पन्न होने वाला। केवलीसम्बन्धी यथाख्यात के दो भेद है : सयोगी तथा अयोगी।[4] कषाय के उपशम और क्षय की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने आगे उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी का स्वरूप-वर्णन किया है।[5]

प्रवचन एव सूत्र

केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रसग को दृष्टि मे रखते हुए जिन-प्रवचन की उत्पत्ति का वर्णन करने के बाद आचार्य नियुक्ति की उस गाथा का व्याख्यान प्रारम्भ करते है जिसमे यह निर्देश किया गया है कि श्रुतधर्म, तीर्थ, मार्ग, प्रावचन, प्रवचन—ये सब प्रवचन के एकार्थक है तथा सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ, शास्त्र—ये सब सूत्र के एकार्थक है। श्रुतधर्म क्या है ? इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि श्रुत का धर्म अर्थात् स्वभाव बोध होता है और वही श्रुतधर्म है, अथवा श्रुतरूप धर्म श्रुतधर्म है और वह जीव का पर्यायविशेष है, अथवा सुगति अर्थात् सयम में धारण करने के कारण धर्म को श्रुत कहते है और वही श्रुतधर्म है।[6] इसी प्रकार भाष्यकार ने तीर्थ, मार्ग, प्रावचन, सूत्र, तन्त्र, ग्रन्थ, पाठ और शास्त्र का शब्दार्थ-विवेचन किया है।[7]

---

१ गा० १२६८-९ २. १२७०-१ ३. १२७७-८.
४ गा० १२७९-१२८०. ५. गा० १२८३-१३४५.
६. गा० १३७९ ७. गा० १३८०-४.

अनुयोग :

सूत्रैकार्थकों का व्याख्यान करने के बाद अर्थैकार्थको का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा, वार्तिक—ये पाँच एकार्थक है। अनुयोग का सात प्रकार से निक्षेप होता है : नामानुयोग, स्थापनानुयोग, द्रव्यानुयोग, क्षेत्रानुयोग, कालानुयोग, वचनानुयोग और भावानुयोग।[1] आचार्य ने इन भेदो का विस्तृत विवेचन किया है।[2] इसी प्रकार अनुयोग के विपर्ययरूप अननुयोग का भी सोदाहरण एव सविस्तार वर्णन किया गया है।[3] नियत, निश्चित अथवा हित (अनुकूल) योग का नाम नियोग है। इससे अभिधेय के साथ सूत्र का सम्बन्ध स्थापित होता है। इसका भी अनुयोग की भाँति सभेद एव सोदाहरण विचार करना चाहिए। व्यक्त वाक् का नाम भाषा है। इससे श्रुत के भावसामान्य की अभिव्यक्ति होती है। भावविशेष की अभिव्यक्ति का नाम विभाषा है। वृत्ति (सूत्रविवरण) का सर्व पर्यायो से व्याख्यान करना वार्तिक कहलाता है।[4] व्याख्यान-विधि की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने विविध दृष्टान्त देकर यह समझाया है कि गुरु और शिष्य की योग्यता और अयोग्यता का माप-दण्ड क्या है ? जिस प्रकार हस मिले हुए दूध और पानी मे से पानी को छोडकर दूध पी जाता है उसी प्रकार सुशिष्य गुरु के दोषो को एक ओर रख कर उसके गुणो का ही ग्रहण करता है। जिस प्रकार एक भैसा किसी जलाशय मे उतरकर उसका सारा पानी इस प्रकार मटमैला व कलुषित कर डालता है कि वह न तो उसके खुद के पीने के काम मे आ सकता है और न कोई अन्य ही उसे पी सकता है उसी प्रकार कुशिष्य किसी व्याख्यान-मण्डल मे जाकर अपने गुरु अथवा शिष्य के साथ इस प्रकार कलह प्रारम्भ कर देता है कि उस व्याख्यान का रस न तो वह स्वय ले सकता है और न कोई अन्य ही। इस प्रकार अनेक सुन्दर-सुन्दर उदाहरण देकर आचर्य जिनभद्र ने गुरु-शिष्य के गुण-दोषो का सरस, सरल एवं सफल चित्रण किया है।[5]

सामायिक द्वार :

व्याख्यान-विधि का विवेचन करने के बाद आचार्य सामायिक-सम्बन्धी द्वारविधि की व्याख्या प्रारभ करते है। वह द्वार-विधि इस प्रकार है : उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविधि, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन, निरुक्ति।[6]

---

१ गा० १३८५-८ २ गा० १३८९-१४०९ ३ गा० १४१०-८.
४ गा० १४१९-१४२२ ५ गा० १४४६-१४८२ ६ गा० १४८४-५.

उद्देश :

उद्देश का अर्थ है सामान्य निर्देश। वह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल समास, उद्देश और भाव भेद से आठ प्रकार का होता है। भाष्यकार ने इनका सक्षिप्त परिचय दिया है।[1]

निर्देश :

वस्तु का विशेष उल्लेख निर्देश है। इसके भी मानादि आठ भेद होते हैं। इनका भी भाष्यकार ने विशेष परिचय दिया है तथा नय दृष्टि से सामायिक की त्रिलिंगता का विस्तार से विचार किया है।[2]

निर्गम :

निर्गम का अर्थ है प्रसूति अर्थात् उत्पत्ति। निर्गम छ प्रकार का है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव। इन भेदो की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिस द्रव्य से सामायिक का निर्गम हुआ है वह द्रव्य यहाँ पर महावीर के रूप में है। जिस क्षेत्र में उसका निर्गम हुआ है वह महसेन वन है। उसका काल प्रथम पौरुषी-प्रमाणकाल है। भाव वक्ष्यमाण लक्षण भावपुरुष है। ये सक्षेप में सामायिक के निर्गमाग हैं।[3] सामायिक के निर्गम के साथ स्वय महावीर के निर्गम की चर्चा करते हुए भाष्यकार निर्युक्तिकार के ही शब्दो मे कहते हैं कि महावीर किस प्रकार मिथ्यात्वादि तम से निकले, किस प्रकार उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तथा कैसे सामायिक की उत्पत्ति हुई—आदि बातें बताऊँगा।[4] इतना कहने के बाद भाष्यकार एकदम गणधरवाद की व्याख्या प्रारम्भ कर देते हैं। टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र उपर्युक्त बातो की ओर हमारा ध्यान खींचते हुए कहते है कि ये सब बातें सूत्रसिद्ध ही हैं। इनमें जो कुछ कठिन प्रतीत हो वह मूलावश्यकविवरण से जान लेना चाहिए।

गणधरवाद :

भगवान् महावीर तथा ग्यारह प्रमुख ब्राह्मण-पण्डितो के बीच विभिन्न दार्शनिक विषयो पर जो चर्चा हुई तथा भगवान् के मन्तव्यो से प्रभावित होकर उन पण्डितो ने महावीर के सघ में सम्मिलित होना स्वीकार किया, इसकी भाष्यकार जिनभद्र ने अपने ग्रथ में विस्तृत एव तर्कयुक्त चर्चा की है इसी चर्चा का नाम गणधरवाद है। इस चर्चा मे दार्शनिक जगत् के प्राय: समस्त

---

१. गा० १५८६-१४९६   २ गा० १४९७-१५३०
३ गा० १५२१-१५४६.   ४ गा० १५४८

विषयो का समावेश करलिया गया है।[1] इस चर्चा में भाग लेनेवाले पण्डित जोकि बाद मे भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य—गणधर के नाम से प्रसिद्ध हुए उनके नाम इस प्रकार हैं . १ इन्द्रभूति २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा, ६. मडिक, ७. मौर्यपुत्र, ८. अकपित, ९. अचलभ्राता, १० मेतार्य, ११ प्रभास। इनके साथ जिन विषयों की चर्चा हुई वे क्रमश इस प्रकार हैं · १. आत्मा का अस्तित्व, २ कर्म का अस्तित्व, ३. आत्मा और शरीर का भेद, ४ शून्यवादनिरास, ५. इहलोक और परलोक का वैचित्र्य, ६ बध और मोक्ष, ७ देवो का अस्तित्व, ८. नरको का अस्तित्व, ९ पुण्य और पाप, १० परलोक का अस्तित्व, ११ निर्वाण का अस्तित्व।

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व

सर्वज्ञत्व की प्राप्ति के बाद भगवान् महावीर एक समय महसेन वन में विराजित थे। जनसमूह श्रद्धावश उनके दर्शन के लिए जा रहा था। यज्ञवाटिका मे स्थित ब्राह्मण पण्डितो के मन में यह दृश्य देखकर जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसे महापुरुप से अवश्य मिलना चाहिए जिसके दर्शन के लिए इतना बडा जनसमूह उमड रहा है। उन सभी के मन में वेदवाक्यो को लेकर नाना प्रकार की शकाए थी। सर्वप्रथम इन्द्रभूति (गौतम) भगवान् महावीर के पास जाने के लिए तैयार हुए। जैसे ही वे अपनी शिष्य-मडली सहित भगवान् के पास पहुँचे, भगवान् ने उनके मन मे स्थित सन्देह की ओर सकेत करते हुए कहा—आत्मा के अस्तित्व के विषय मे तुम्हारे मन मे इस प्रकार का सशय है कि यदि जीव (आत्मा) का अस्तित्व है तो वह घटादि पदार्थों की भाँति प्रत्यक्ष दिखाई देना

१. प० श्री दलसुख मालवणियाकृत 'गणधरवाद' में आचार्य जिनभद्रकृत गणधरवाद का सवादात्मक गुजराती अनुवाद, टिप्पण, विस्तृत तुलनात्मक प्रस्तावना आदि है। गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद की ओर से सन् १९५२ मे इसका प्रकाशन हुआ है। श्री पृथ्वीराज जैन, एम०ए०, शास्त्री ने इसका हिन्दी मे भी अनुवाद किया है जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत परिचय मे इस ग्रथ का उपयोग करने के लिए लेखक व अनुवादक दोनो का आभारी हूँ।

गणधरवाद के अग्रेजी अनुवाद तथा विवेचन के लिए देखिए—श्रमण भगवान् महावीर, भा० ३ . सम्पा०—मुनि रत्नप्रभविजय, अनु०–प्रो० धीरुभाई पी० ठाकर, प्रका०–श्री जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, पाजरापोल, अहमदाबाद, सन् १९४२; श्री जैन सिद्धान्त सोसायटी, पाजरापोल, अहमदाबाद, सन् १९५० तथा डा० ई० ए० सोलोमन का अग्रेजी अनुवाद : प्रका० गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९६६

चाहिए। चूंकि वह खपुष्प की भांति सर्वथा अप्रत्यक्ष है, अत उसका अस्तित्व स्वीकार नही किया जा सकता। यदि कोई यह कहे कि जीव अनुमान से सिद्ध है तो भी ठीक नही। इसका कारण यह है कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। जिसका प्रत्यक्ष ही नही उसकी सिद्धि अनुमान से कैसे हो सकती है ? प्रत्यक्ष मे निश्चित धूम तथा अग्नि के अविनाभावसबन्ध का स्मरण होने पर ही धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। जीव के किसी भी लिंग का सबन्धग्रहण उसके साथ प्रत्यक्ष द्वारा नही होता, जिससे उस लिंग का पुन प्रत्यक्ष होने पर उस सबन्ध का स्मरण हो जाए तथा उससे जीव का अनुमान किया जा सके। आगम प्रमाण से भी जीव का स्वतत्र अस्तित्व सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि जिसका प्रत्यक्ष ही नही वह आगम का विषय कैसे हो सकता है ? कोई ऐसा व्यक्ति नजर नही आता जिसे जीव का प्रत्यक्ष हो और जिसके वचनो को प्रमाणभूत मानकर जीव का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके। दूसरी बात यह है कि आगम प्रमाण मानने पर भी जीव की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि विभिन्न आगम परस्पर विरोधी तत्त्वो को सिद्ध करते है। जिस बात की एक आगम सिद्धि करता है उसी का दूसरा खंडन करता है। ऐसी स्थिति मे आगम के आधार पर भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नही होता। इस प्रकार किसी भी प्रमाण से जीव के अस्तित्व की सिद्धि नही हो सकती, अत उसका अभाव मानना चाहिए। ऐसा होते हुए भी लोग जीव का अस्तित्व क्यो मानते है ?[1]

इस सशय का निवारण करते हुए भगवान् महावीर कहते है—हे गौतम ! तुम्हारा यह सदेह उचित नही। तुम्हारी यह मान्यता कि 'जीव प्रत्यक्ष नही है' ठीक नही, क्योकि जीव तुम्हे प्रत्यक्ष है ही। यह कैसे ? 'जीव है या नही' इस प्रकार का जो सशयरूप विज्ञान है वही जीव है क्योकि जीव विज्ञानरूप है। तुम्हारा सशय तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है। ऐसी दशा में तुम्हें जीव का प्रत्यक्ष हो हो रहा है। इसके अतिरिक्त 'मैंने किया', 'मैं करता हूँ', 'मैं करूंगा' इत्यादि रूप से तीनो काल सम्बन्धी विविध कार्यों का जो निर्देश किया जाता है उसमें 'मैं' (अहम्) रूप जो ज्ञान है वह भी आत्म-प्रत्यक्ष ही है। दूसरी बात यह है कि यदि सशय करने वाला कोई न हो तो 'मैं हूँ या नही' यह सशय किसे होगा ? जिसे स्वरूप में ही सदेह हो उसके लिए ससार मे कौन-सी वस्तु असदिग्ध होगी ? ऐसे व्यक्ति को सर्वत्र सशय होगा। अनुमान से जीव की सिद्धि करते हुए आगे कहा गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष है क्योकि उसके स्मरणादि विज्ञानरूप गुण स्वसवेदन द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। जिस गुणी के गुणो का प्रत्यक्ष अनुभव होता है उस गुणी का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है जैसे घट।

१ गा० १५४९–१५५३.

जीव के गुण प्रत्यक्ष हैं अत॰ जीव भी प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार घट के प्रत्यक्ष का आधार उसके रूपादि गुण हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव का आधार उसके ज्ञानादि गुण हैं। जो लोग गुण से गुणो को एकान्त भिन्न मानते हैं उनके मत मे रूपादि का ग्रहण होने पर भी घटादि गुणीरूप पदार्थो का ग्रहण न होगा। इन्द्रियो द्वारा मात्र रूपादि का ग्रहण होने से रूपादि को तो प्रत्यक्ष माना जा सकता है किन्तु रूपादि से एकान्त भिन्न घट का प्रत्यक्ष नही माना जा सकता। इस प्रकार जब घटादि पदार्थ भी सिद्ध नही तो फिर आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व का विचार करने से क्या लाभ ? अत स्मरणादि गुणो के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।[1]

आत्मा और शरीर के भेद॰

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर इन्द्रभूति यह बात मानने के लिए तैयार हो जाते हैं कि ज्ञानादि गुणो का प्रत्यक्ष होने के कारण उनका आधारभूत कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। इतना स्वीकार करने पर वे एक नई शका उठाते हैं। वे कहते हैं कि स्मरणादि गुणो का आधार आत्मा ही है, यह मान्यता ठीक नही क्योकि कृशता, स्थूलता आदि गुणो के समान स्मरणादि गुण भी शरीर में ही उपलब्ध होते है। ऐसी दशा मे उनका गुणीभूत आधार शरीर को ही मानना चाहिए, शरीर से भिन्न आत्मा को नही। इस शंका का समाधान करते हुए महावीर कहते है कि ज्ञानादि शरीर के गुण नही हो सकते क्योकि शरीर घट के समान मूर्त अर्थात् चाक्षुप है जबकि ज्ञानादि गुण अमूर्त अर्थात् अचाक्षुष हैं। अतः ज्ञानादि गुणो के अनुरूप देह से भिन्न किसी अमूर्त गुणी की सत्ता अवश्य मानना चाहिए। यही गुणी आत्मा अर्थात् जीव है। इसके बाद इन्द्रभूति एक और शका उठाते है। वे कहते हैं कि मैं अपनी देह में आत्मा का अस्तित्व मान सकता हूँ किन्तु दूसरो की देह मे भी आत्मा की सत्ता है, इसका क्या प्रमाण ? महावीर कहते हैं कि इस हेतु से अन्य आत्माओ की भी सिद्धि हो सकती है। दूसरो के शरीर मे भी विज्ञानमय जीव है क्योकि उनमें भी इष्टप्रवृत्ति, अनिष्टनिवृत्ति आदि विज्ञानमय क्रियाएँ देखी जाती है।[2]

आत्मा की सिद्धि के हेतु :

जिस प्रकार साख्यदर्शन मे पुरुष को प्रकृति से भिन्न सिद्ध करने के लिए अधिष्ठातृत्व, सघातपरार्थत्व आदि हेतु दिए गए उसी प्रकार विशेषावश्यकभाष्य मे भी आत्मसिद्धि के लिए इसी प्रकार के कुछ हेतु दिए गए है। (१) इन्द्रियो का कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए क्योकि वे कारण है जैसे कि दडादि

१. गा० १५५४–१५६०. २. गा० १५६१–४.

करणो का अधिष्ठाता कुभकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नही होता वह आकाश के समान करण भी नही होता। इन्द्रियो का जो अधिष्ठाता है वही आत्मा है। (२) देह का कोई कर्ता होना चाहिए क्योकि उसका घट के समान एक सादि एव नियत आकार है। जिसका कोई कर्ता नही होता उसका सादि एव निश्चित आकार भी नही होता, जैसे बादल। इस देह का जो कर्ता है वही आत्मा है। (३) जब इन्द्रियो और विषयो मे आदान-आदेयभाव है तब उनका कोई आदाता अवश्य होना चाहिए। जहाँ आदान-आदेयभाव होता है वहाँ कोई आदाता अवश्य होता है, जैसे सडासी (सदशक) और लोहे मे आदान-आदेयभाव है तथा लुहार (लोहकार) आदाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय मे आदान-आदेयभाव है तथा आत्मा आदाता है। (४) देहादि का कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए क्योकि वह भोग्य है, जैसे भोजन वस्त्रादि भोग्य पदार्थों का भोक्ता पुरुषविशेष है। देहादि का जो भोक्ता है वही आत्मा है। (५) देहादि का कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए क्योकि ये सघातरूप है। जो सघात रूप होता है उसका कोई स्वामी अवश्य होता है, जैसे गृह और उसका स्वामी गृहपति। देहादि सघातो का जो स्वामी है वही आत्मा है।[1]

व्युत्पत्तिमूलक हेतु

शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से जीव का अस्तित्व सिद्ध करते हुए भगवान् महावीर इन्द्रभूति को समझाते है कि 'जीव' पद 'घट' पद के समान व्युत्पत्ति-युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए अर्थात् 'जीव' पद का कुछ अर्थ अवश्य होना चाहिए। जो पद सार्थक नही होता वह व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद भी नही होता, जैसे डित्थ, खरविषाण आदि। 'जीव' पद व्युत्पत्तियुक्त तथा शुद्ध है अत उसका कोई अर्थ अवश्य होना चाहिए। इस तर्क को सुनकर इन्द्र-भूति फिर कहते है कि शरीर ही 'जीव' पद का अर्थ है, उससे भिन्न कोई वस्तु नही। महावीर इस मत का खण्डन करते हुए पुन कहते है—'जीव' पद का अर्थ शरीर नही हो सकता क्योकि 'जीव' शब्द के पर्याय 'शरीर' शब्द के पर्यायो से भिन्न है जीव के पर्याय है जन्तु, प्राणी, सत्त्व, आत्मा आदि। शरीर के पर्याय है : देह, वपु, काय, कलेवर आदि। और फिर देह और जीव के लक्षण भी भिन्न-भिन्न है। जीव ज्ञानादि गुणयुक्त है जबकि देह जड है।[2] इसके बाद महावीर ने अपनी सर्वज्ञता के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि सर्वज्ञ के वचनो में सन्देह नही होना चाहिए क्योकि वह राग, द्वेषादि दोषो से परे होता है जिनके कारण मनुष्य झूठ बोलता है।[3]

---

१ गा० १५६७-९. २ गा० १५७५-६. ३. गा० १५७७-९

जीव की अनेकता :

जीव का लक्षण उपयोग है। जीव के मुख्य दो भेद हैं ससारी और सिद्ध। ससारी जीव के पुन दो भेद हैं त्रस और स्थावर।[1]

जो लोग आकाश के समान एक ही जीव की सत्ता में विश्वास करते हैं[2] वे यथार्थवादी नही हैं। नारक, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि पिंडो मे आकाश के समान एक ही आत्मा मानने मे क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश के समान सब पिंडो मे एक आत्मा सभव नही। आकाश का सर्वत्र एक ही लिंग अथवा लक्षण हमारे अनुभव मे आता है अत आकाश एक ही है। जीव के विषय में ऐसा नही कहा जा सकता। जीव प्रत्येक पिण्ड में विलक्षण है अत उसे सर्वत्र एक नही कहा जा सकता। जीव अनेक है क्योकि उनमे लक्षणभेद है, जैसे विविध घट। जो वस्तु अनेक नही होती उसमे लक्षण भेद भी नही होता, जैसे आकाश। फिर, एक ही जीव मानने पर सुख, दु ख, बध, मोक्ष आदि की व्यवस्था भी नही बन सकती। एक ही जीव का एक ही समय में सुखी-दु खी होना सभव नही, बद्ध-मुक्त होना सभव नही। अत॰ अनेक जीवो की सत्ता मानना युक्तिसगत है। इन्द्रभूति महावीर के उपयुक्त वक्तव्य से पूर्ण सतुष्ट नही होते। वे पुन शका करते है कि यदि जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग है और वह सब जीवो मे विद्यमान है तो फिर प्रत्येक पिंड में लक्षण भेद कैसे माना जा सकता है ? इसका समाधान करते हुए भगवान् महावीर कहते है कि सभी जीवो मे उपयोगरूप सामान्य लक्षण के विद्यमान होते हुए भी प्रत्येक शरीर मे विशेष-विशेष उपयोग का अनुभव होता है। जीवो मे उपयोग के अपकर्ष तथा उत्कर्ष के तारतम्य के अनन्त भेद हैं। यही कारण है कि जीवो की सख्या भी अनन्त है।[3]

जीव का स्वदेह-परिमाण :

जीवो को अनेक मानते हुए भी सर्वव्यापक मानने मे क्या आपत्ति है ?[4] जीव सर्वव्यापक नही अपितु शरीरव्यापी है क्योकि उसके गुण शरीर मे ही उपलब्ध होते हैं। जैसे घट के गुण घट से बाह्य देश मे उपलब्ध नही होते अत॰ वह सर्वव्यापक नही माना जाता, उसी प्रकार आत्मा के गुण भी शरीर से बाहर उपलब्ध नही होते अत वह स्वदेहपरिमाण ही है।[5] अथवा जहाँ जिसकी उपलब्धि प्रमाणसिद्ध नही होती वहाँ उसका अभाव मानना चाहिए जैसे घट मे

---

१ गा॰ १५८०. २ ब्रह्मविन्दु उपनिषद्, ११ आदि

३ गा॰ १५८१-३ ४ जैसा कि साख्य, नैयायिक आदि मानते हैं।

५. तुलना · अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, ९

पट का अभाव है। शरीर से बाहर ससारी आत्मा की उपलब्धि नही है अतः शरीर से बाहर उसका अभाव मानना युक्तियुक्त है। जीव मे कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बध, मोक्ष, सुख, दु ख आदि सभी युक्तिसगत सिद्ध हो सकते है, जब उसे अनेक और असर्वव्यापक-स्वशरीरव्यापी माना जाए। अत जीव को अनेक और असर्वगत मानना चाहिए।[1]

जीव की नित्यानित्यता :

आत्मा पूर्व पर्याय के नाश और अपर पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से अनित्य स्वभाव वाली है। घटादि विज्ञानरूप उपयोग का नाश होने पर पटादि विज्ञानरूप उपयोग उत्पन्न होता है। इससे जीव मे उत्पाद और व्यय दोनों सिद्ध होते है अत. जीव विनाशी है। ऐसा होते हुए भी विज्ञान-सन्तति की अपेक्षा से जीव अविनाशी अर्थात् नित्य—ध्रुव भी सिद्ध होता है। आत्मा मे विज्ञानसामान्य का कभी अभाव नही होता, विज्ञानविशेष का अभाव होता है। अत विज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञानसामान्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविनाशी है। ससार के अन्य पदार्थों का भी यही स्वभाव है।[2]

जीव भूतधर्म नही :

कुछ लोग यह मानते है कि विज्ञान की उत्पत्ति भूतो से ही होती है, अत विज्ञानरूप जीव भूतो का ही धर्म है।[3] उनकी यह मान्यता अनुपयुक्त है। विज्ञान का भूतो के साथ कोई अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नही है। भूतो का अस्तित्व होने पर भी मृत शरीर मे ज्ञान का अभाव देखा जाता है। भूतो के अभाव मे भी मुक्तावस्था मे ज्ञान का सद्भाव है। अत भूतो के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक असिद्ध है। इसीलिए ज्ञानरूप जीव भूतधर्म नही हो सकता। जिस प्रकार घट का सद्भाव होने पर नियमपूर्वक पट का सद्भाव नही होता तथा घट के अभाव में भी पट का सद्भाव देखा जाता है, अत पट को घट से भिन्न एव स्वतन्त्र माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान को भी भूतो से भिन्न मानना चाहिए। अत विज्ञानरूप जीव भूतधर्म नही हो सकता।[4]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति का जीवविषयक सशय दूर किया और उन्होने अपने पांच सौ शिष्यो सहित महावीर से दीक्षा ग्रहण की।[5]

---

१ गा० १५८६-७. २ गा० १५९५ ३. चार्वाक की यही मान्यता है।
४ गा० १५९७-९ ५ गा० १६०४

कर्म का अस्तित्व :

इसके बाद अग्निभूति महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें आया हुआ देखकर नाम और गोत्र से सम्बोधित किया और कहा—अग्निभूति ! तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि कर्म है अथवा नही। मै तुम्हारे इस सन्देह का निवारण करूँगा। तुम यह समझते हो कि कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही है, अत वह खरविषाण की भाँति अभावरूप है। तुम्हारा यह सन्देह अनुपयुक्त है। मै कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। यद्यपि तुम्हे उसका प्रत्यक्ष दर्शन नही है तथापि अनुमान से तुम भी उसकी सिद्धि कर सकते हो। सुख-दु खरूप कर्मफल तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है और उससे उसके कारणरूप कर्म की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। सुख-दु ख का कोई कारण अवश्य होना चाहिए क्योकि वे कार्य है, जैसे अकुररूप कार्य का हेतु बीज है। सुख-दु खरूप कार्य का जो हेतु है वही कर्म है।[1]

अग्निभूति महावीर को यह बात मानकर आगे शका करता है कि यदि सुख-दु ख का दृष्ट कारण सिद्ध हो तो अदृष्ट कारणरूप कर्म का अस्तित्व मानने की क्या आवश्यकता है ? चन्दन आदि पदार्थ सुख के हेतु है और सर्पविष आदि दु ख के हेतु है। इन दृष्ट कारणो को छोडकर अदृष्ट कर्म को मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। इसका समाधान करते हुए भगवान् कहते है कि दृष्ट कारण मे व्यभिचार दिखाई देता है अत अदृष्ट कारण मानना अनिवार्य हो जाता है। यह कैसे ? सुख-दु ख के दृष्ट कारणो के समानरूप से उपस्थित होने पर भी उनके कार्य में जो तारतम्य दिखाई देता है वह निष्कारण नही हो सकता। इसका जो कारण है वही कर्म है।[2]

कर्म-साधक एक और प्रमाण देते हुए भगवान् महावीर कहते है—आद्य बालशरीर देहान्तरपूर्वक है क्योकि वह इन्द्रियादि से युक्त है जैसे युवदेह बालदेह-पूर्वक है। आद्य बालशरीर जिस देहपूर्वक है वही कर्म—कार्मणशरीर है।[3]

कर्म-साधक तीसरा अनुमान इस प्रकार है : दानादि क्रिया का कुछ फल अवश्य होना चाहिए, क्योकि वह सचेतन व्यक्तिकृत क्रिया है, जैसे कृषि। दानादि क्रिया का जो फल है वही कर्म है। अग्निभूति इस बात को मानता हुआ पुन प्रश्न करता है कि जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है, उसी प्रकार दानादि क्रिया का फल भी मन प्रसाद आदि क्यो न मान लिया जाए ? इस दृष्ट फल को छोडकर अदृष्ट फलरूप कर्म की सत्ता मानने से क्या लाभ ? महावीर इसका उत्तर देते हुए कहते है—अग्निभूति ! क्या तुम नही जानते कि मन प्रसाद भी एक प्रकार की क्रिया है, अत सचेतन की अन्य क्रियाओं

१. गा१६१०-२. २ गा० १६१२-३ ३. गा० १६१४

के समान उसका भी फल मानना चाहिए। वही फल कर्म है। इस कर्म के कार्य-रूप से सुखदुःख आदि आगे जाकर पुन हमारे अनुभव मे आते है।[1]

मूर्त कर्म :

यदि कार्य के अस्तित्व से कारण की सिद्धि होती है तो शरीर आदि कार्य के मूर्त होने के कारण उसका कारणरूप कर्म भी मूर्त ही होना चाहिए। इस सशय का निवारण करते हुए महावीर कहते है कि मै कर्म को मूर्त ही मानता हूँ क्योकि उसका कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त है अत परमाणु भी मूर्त है, वैसे ही कर्म का शरीरादि कार्य मूर्त है अत कर्म भी मूर्त ही है।[2]

कर्म का मूर्तत्व सिद्ध करने वाले अन्य हेतु ये है : (१) कर्म मूर्त है क्योकि उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव होता है, जैसे भोजन। जो अमूर्त होता है उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव नही होता, जैसे आकाश। (२) कर्म मूर्त है क्योकि उसके सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है, जैसे अग्नि। (३) कर्म मूर्त है क्योकि उसमे बाह्य पदार्थो से बलाधान होता है। जैसे घटादि पदार्थों पर तेल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है—स्निग्धता आती है उसी प्रकार कर्म में भी माला, चन्दन, वनिता आदि बाह्य वस्तुओ के संसर्ग से बलाधान होता है अत. वह मूर्त है। (४) कर्म मूर्त है क्योकि वह आत्मादि से भिन्न रूप में परिणामी है, जैसे दूध।[3]

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध :

कर्म को मूर्त मानने पर अमूर्त आत्मा से उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? घट मूर्त है फिर भी उसका सयोग सम्बन्ध अमूर्त आकाश से होता है। ठीक इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध होता है। अथवा जिस प्रकार अगुली आदि मूर्त द्रव्य का आकुञ्चन आदि अमूर्त क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार कर्म और जीव का सम्बन्ध सिद्ध होता है।[4]

स्थूल शरीर मूर्त है किन्तु उसका आत्मा से सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार भवान्तर में जाते हुए जीव का कार्मण शरीर से सम्बन्ध होना ही चाहिए अन्यथा नये स्थूल शरीर का ग्रहण सम्भव नही हो सकता।[5]

मूर्त द्वारा अमूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है? विज्ञानादि अमूर्त हैं किन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त वस्तुओ द्वारा उनका उपघात होता है तथा घी, दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है। इसी प्रकार मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा का अनुग्रह अथवा उपकार हो सकता है।[6]

---

१. गा० १६१५-६   २ गा० १६२५.   ३. गा० १६२६-७
४ गा० १६३५.   ५ गा० १६३६   ६. गा० १६३७

अथवा यो कहिये कि ससारी आत्मा वस्तुत एकान्तरूप से अमूर्त नही है। जीव तथा कर्म का अनादिकालीन सम्बन्ध होने के कारण कथञ्चित् जीव भी कर्म-परिणामरूप है, अत वह उस रूप में मूर्त भी है। इस प्रकार मूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म द्वारा होने वाले अनुग्रह और उपघात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। देह और कर्म मे परस्पर कार्य-कारणभाव है। जैसे बीज से अकुर और अकुर से बीज की उत्पत्ति है और इस प्रकार बीजाकुर सन्तति अनादि है उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह का उद्भव समझना चाहिए। देह और कर्म की यह परम्परा अनादि है।[1]

ईश्वरकर्तृत्व का खडन

अग्निभूति एक और शका उपस्थित करते है। वे कहते है कि यदि ईश्वरादि को जगत्-वैचित्र्य का कारण मान लिया जाए तो कर्म को कोई आवश्यकता नही रहती। महावीर कहते है कि कर्म की सत्ता न मानकर मात्र शुद्ध जीव को ही देहादि की विचित्रता का कर्ता माना जाए अथवा ईश्वरादि को इस समस्त वैचित्र्य का कर्ता माना जाए तो हमारी सारी मान्यताए असगत सिद्ध होगी। यह कैसे ? यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि को कर्म-साधन की अपेक्षा नही है तो वह शरीरादि का आरभ ही नही कर सकता क्योकि उसके पास आवश्यक उपकरणो का अभाव है जैसे कुभकार दडादि उपकरणों के अभाव में घटादि का निर्माण नही कर सकता उसी प्रकार ईश्वर कर्मादि साधनो के अभाव मे शरीरादि का निर्माण नही कर सकता। इसी प्रकार निश्चेष्टता, अमूर्तता आदि हेतुओं से भी ईश्वर-कर्तृत्व का खण्डन किया जा सकता है।[2]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अग्निभूति के सशय का निवारण कर दिया तो उन्होने अपने ५०० शिष्यो सहित भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली।[3]

आत्मा और शरीर का भेद .

इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के दीक्षित होने के समाचार सुनकर वायुभूति भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें सबोधित करते हुए कहा—वायुभूति ! तुम्हारे मन मे यह सशय है कि जीव और शरीर एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न है ? तुम्हे वेद-पदो का सच्चा अर्थ मालूम नही है, इसीलिए तुम्हें इस प्रकार का सदेह हो रहा है।[4] तुम यह मानते हो कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतो के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मद्य उत्पन्न करने वाली पृथक्-पृथक् वस्तुओ मे मदशक्ति दिखाई नही देती फिर

---

१. गा० १६३८-९ २ गा० १६४१-२ ३ गा० १६४४ ४ गा० १६४९.

भी उनके समुदाय से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि किसी भी पृथक् भूत मे चैतन्यशक्ति दिखाई नही देती फिर भी उनके समुदाय से चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् द्रव्यो के समुदाय से मदशक्ति उत्पन्न होती है और कुछ समय तक स्थिर रह कर कालान्तर में विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर पुन नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार भूतो के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और कुछ समय तक विद्यमान रहने पर कालान्तर मे विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर पुन नष्ट हो जाता है। अत चैतन्य भूतो का धर्म है और भूतरूप शरीर तथा चैतन्यरूप आत्मा अभिन्न है।[1]

भगवान् महावीर इस सशय का निराकरण करते हुए कहते है—हे वायुभूति! तुम्हारा यह सशय ठीक नही है क्योकि चैतन्य केवल भूतो के समुदाय से उत्पन्न नही हो सकता। वह स्वतन्त्ररूप से सत् है क्योकि प्रत्येक भूत मे उसकी सत्ता का अभाव है। जिसका प्रत्येक अवयव मे अभाव हो वह समुदाय से भी उत्पन्न नही हो सकता। रेत के प्रत्येक कण में तेल नही है अत रेत के समुदाय से भी तेल नही निकल सकता। तिल-समुदाय से तेल निकलता है क्योकि प्रत्येक तिल में तेल की सत्ता है।[2] तुम्हारा यह कथन कि मद्य के प्रत्येक द्रव्य मे मद अविद्यमान है, अयुक्त है। वस्तुतः मद्य के प्रत्येक अग में मद की न्यून या अधिक मात्रा विद्यमान है ही इसीलिए वह समुदाय से उत्पन्न होता है।[3]

भूतों मे भी मद्यागो के समान प्रत्येक में चैतन्य की मात्रा विद्यमान है अत वह समुदाय मे भी उत्पन्न हो जाता है, ऐसा मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? यह बात नही मानी जा सकती क्योकि जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक अग—धातकीपुष्प, गुड, द्राक्षा, इक्षुरस आदि में मदशक्ति दिखाई देती है उस प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्यशक्ति का दर्शन नही होता। अत यह नही कहा जा सकता कि केवल भूतसमुदाय से ही चैतन्य उत्पन्न होता है।[4]

मद्य के प्रत्येक अग में भी यदि मदशक्ति न मानें तो क्या दोष है? यदि भूतो में चैतन्य के समान मद्य के भी प्रत्येक अग मे मदशक्ति न हो तो यह नियम ही नही बन सकता कि मद्य के धातकीपुष्प आदि तो कारण हैं और अन्य पदार्थ नही। ऐसी अवस्था में राख, पत्थर आदि कोई भी वस्तु मद का कारण बन जाएगी और किसी भी समुदाय से मद्य उत्पन्न हो जाएगा। किन्तु व्यवहार में ऐसा नही होता अत मद्य के प्रत्येक अगभूत पदार्थ मे मदशक्ति का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए।[5]

१ गा० १६५०-१ २ यह सत्कार्यवाद का मूलभूत सिद्धान्त है।
३ गा० १६५२ ४ गा० १६५३ ५ गा० १६५४

इन्द्रिय-भिन्न आत्मसाधक अनुमान :

भूत अथवा इन्द्रियो से भिन्नस्वरूप किसी तत्त्व का धर्म चैतन्य है, क्योकि भूत अथवा इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध पदार्थ का स्मरण होता है, जैसे पाँच झरोखो से उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने के कारण झरोखो से भिन्नस्वरूप देवदत्त का धर्म चैतन्य है। जैसे क्रमश पाँच झरोखो से देखने वाला देवदत्त एक ही है और वह उन झरोखो से भिन्न है क्योकि वह पाँचो झरोखो द्वारा देखी गई चीजो का स्मरण करता है, उसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो द्वारा गृहीत पदार्थों का स्मरण करने वाला भी इन्द्रियो से भिन्न कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए। इसी तत्त्व का नाम आत्मा अथवा जीव अथवा चेतना है। यदि स्वय इन्द्रियो को ही उपलब्धि-कर्ता मान लिया जाए तो क्या आपत्ति है ? इन्द्रियव्यापार के बन्द होने पर अथवा इन्द्रियो के नाश हो जाने पर भी इन्द्रियो द्वारा गृहीत वस्तु का स्मरण होता है तथा कभी-कभी इन्द्रियव्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क को वस्तु का ज्ञान नही होता, अत यह मानना चाहिए कि किसी वस्तु का ज्ञान इन्द्रियो को नही होता अपितु इन्द्रियभिन्न किसी अन्य को ही होता है। यही ज्ञाता आत्मा है।[1]

दूसरा अनुमान इस प्रकार है - आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि वह एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत पदार्थ का दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करती है। जैसे एक खिडकी से देखे गये घट को देवदत्त दूसरी खिडकी से ग्रहण करता है अत देवदत्त दोनो खिडकियो से भिन्न है, वैसे ही आत्मा भी एक इन्द्रिय से गृहीत वस्तु का दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करती है अतः वह इन्द्रियो से भिन्न है। दूसरी बात यह है कि वस्तु का ग्रहण एक इन्द्रिय से होता है किन्तु विकार दूसरी इन्द्रिय मे होता है, जैसे आँखो द्वारा इमली आदि आम्ल पदार्थ देखते है किन्तु लालास्रवादि विकार (लार टपकना, मुँह में पानी भर आना) जिह्वा मे होता है, अत यह मानना पडता है कि आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है।[2]

तीसरा अनुमान इस प्रकार है : जीव इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि वह सभी इन्द्रियो द्वारा गृहीत अर्थ का स्मरण करता है। जिसप्रकार अपनी इच्छा से रूप आदि एक-एक गुण के ज्ञाता ऐसे पाँच पुरुषो से रूप आदि ज्ञान का ग्रहण करने वाला पुरुष भिन्न है, उसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो से उपलब्ध अर्थ का स्मरण करने वाला पाँचो इन्द्रियों से भिन्न कोई तत्त्व होना चाहिए। यही तत्त्व आत्मा है।[3]

---

१. गा० १६५७–८ २. गा० १६५९ ३ गा० १६६०.

आत्मा की नित्यता :

आत्मा शरीर से भिन्न सिद्ध होने पर भी शरीर के समान क्षणिक तो है ही। ऐसी दशा मे वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। तब फिर उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने से क्या लाभ ? यह शका ठीक नही। पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का उसके पूर्व भव के शरीर का नाश हो जाने पर भी क्षय नही माना जा सकता। जीव का क्षय मानने पर पूर्व भव का स्मरण करने वाला कोई नही रहता। जिस प्रकार बाल्यावस्था का स्मरण करने वाली वृद्ध की आत्मा का बाल्यकाल में सर्वथा नाश नही हो जाता क्योकि वह बाल्यावस्था का स्मरण करती हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी पूर्व जन्म का स्मरण करता है, यह बात सिद्ध है। अथवा जिस प्रकार विदेश में गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की बातो का स्मरण करता है अत॰ उसे नष्ट नही माना जा सकता, उसी प्रकार पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का भी सर्वथा नाश नही माना जा सकता।[1]

यदि कोई यह कहे कि जीवरूप विज्ञान को क्षणिक मानकर भी विज्ञान-सतति के सामर्थ्य से स्मरण की सिद्धि की जा सकती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर का नाश हो जाने पर भी विज्ञान-सतति का नाश नही हुआ। अत विज्ञान-सतति शरीर से भिन्न ही सिद्ध हुई। विज्ञान का सर्वथा क्षणिक होना सम्भव नही क्योकि पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता हुआ दिखाई देता है। जो क्षणिक होता है उसे अतीत का स्मरण नही हो सकता। चूँकि हमे अतीत का स्मरण होता है अत हमारा विज्ञान सर्वथा क्षणिक नही है। क्षणिकवाद के अनेक दोषो की ओर सकेत करते हुए भाष्यकार ने इस मत की स्थापना की है कि ज्ञान-सतति का जो सामान्य रूप है वह नित्य है अत॰ उसका कभी भी व्यवच्छेद नही होता। यही आत्मा के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

आत्मा की अदृश्यता :

यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह शरीर मे प्रविष्ट होते समय अथवा वहाँ से बाहर निकलते समय दिखाई क्यो नही देती ? किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है : (१) जो वस्तु खरशृगादि के समान सर्वथा असत् हो वह कभी भी उपलब्ध नही होती, (२) वस्तु सत् होने पर भी बहुत दूर, बहुत पास, अति सूक्ष्म आदि होने के कारण उपलब्ध नही होती। आत्मा स्वभाव से अमूर्त है तथा उसका कार्मण शरीर परमाणु के सदृश सूक्ष्म है अत वह हमारे शरीर मे प्रविष्ट होते समय अथवा शरीर से बाहर निकलते समय दिखाई नही देती।[3]

---

१ गा॰ १६७१   २ गा॰ १६७२–१६८१.   ३. गा॰ १६८३.

इस प्रकार जब भगवान् महावीर ने वायुभूति के संशय का निवारण किया तो उन्होंने अपने ५०० शिष्यों सहित भगवान् से दीक्षा अंगीकार कर ली।[1]

शून्यवाद का निरास :

इन्द्रभूति आदि तीनों को दीक्षित हुए सुनकर व्यक्त ने विचार किया कि मुझे भी महावीर के पास पहुँचना चाहिए। यह सोचकर वे भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें आया हुआ जान कर संबोधित करते हुए कहा—हे व्यक्त ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि भूतों का अस्तित्व है या नहीं ? तुम वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें इस प्रकार की शंका है। मैं तुम्हें इनका सच्चा अर्थ बताऊँगा जिससे तुम्हारा संशय दूर होगा।[2]

हे व्यक्त ! तुम यह समझते हो कि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले ये सब भूत स्वप्नोपम हैं तथा जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थ भी मायोपम हैं। इस प्रकार समस्त संसार यथार्थ में शून्यरूप है। तुम यह भी जानते हो कि संसार में सकल व्यवहार ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है, अत. वस्तु की सिद्धि स्वत, परत, उभयत तथा अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अत सब कुछ शून्य है। इसी प्रकार पदार्थ के साथ अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि का किसी प्रकार का संबन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, अत सब शून्य है। उत्पत्ति, अनुत्पत्ति, उभय, अनुभय आदि में भी इसी प्रकार के अनेक दोष उपस्थित होते हैं, अत जगत् को शून्यरूप ही मानना चाहिए।[3]

इन शंकाओं का निवारण इस प्रकार है : यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाश-कुसुम के समान संशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान होती है उसी के विषय मे संशय होता है जैसे स्थाणु और पुरुष के विषय में। ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसके कारण स्थाणु-पुरुष के विषय मे तो सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम के विषय मे सन्देह नहीं होता ? अथवा ऐसा क्यों नहीं होता कि आकाश-कुसुम आदि के विषय मे ही सन्देह हो तथा स्थाणु-पुरुष के विषय में सन्देह न हो ? अत. यह मानना चाहिए कि आकाश-कुसुम के समान सब कुछ समानरूप से शून्य नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा पदार्थ की सिद्धि होती है, अत इन प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों के सम्बन्ध में ही संशय उत्पन्न होता है। जो सर्वप्रमाणातीत है उसके विषय मे संशय कैसे हो सकता है ? इसीलिए स्थाणु-पुरुष आदि पदार्थों के विषय मे तो संदेह होता है किन्तु आकाश-कुसुम आदि के विषय में नहीं। दूसरी बात यह है कि संशयादि

१ गा० १६८६ २ गा० १६८७–९ ३ गा० १६९०–६

ज्ञानपर्याय है। ज्ञान की उत्पत्ति बिना ज्ञेय के सभव नही। अत यदि ज्ञेय ही नही तो सशय उत्पन्न ही कैसे होगा ?[1]

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि ऐसा कोई नियम नही कि यदि सबका अभाव हो तो सशय ही न हो। जैसे सोये हुए पुरुष के पास कुछ भी नही होता फिर भी वह स्वप्न मे सशय करता है कि 'यह गजराज है अथवा पर्वत ?' अतः सब कुछ शून्य होने पर भी सशय हो सकता है। यह कथन ठीक नही। स्वप्न मे जो सदेह होता है वह भी पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से ही होता है। यदि सभी वस्तुओ का सर्वथा अभाव हो तो स्वप्न मे भी सशय न हो। जिन कारणो से स्वप्न होता है वे इस प्रकार हैं अनुभूत अर्थ—जैसे स्नानादि, दृष्ट अर्थ—जैसे हस्ति-तुरगादि, चिन्तित अर्थ—जैसे प्रियतमा आदि, श्रुत अर्थ—जैसे स्वर्ग-नरकादि, प्रकृति विकार—जैसे वात-पित्तादि, अनुकूल या प्रतिकूल देवता, सजल प्रदेश, पुण्य तथा पाप। अत स्वप्न भी भावरूप है। स्वप्न भावरूप है क्योकि घट-विज्ञानादि के समान वह भी विज्ञानरूप है अथवा स्वप्न भावरूप है क्योकि वह भी अपने कारणो से उत्पन्न होता है, जैसे घट आदि अपने कारणो से उत्पन्न होने के कारण भावरूप है।[2]

शून्यवाद मे एक दोष यह भी है कि यदि सब कुछ शून्य हो तो स्वप्न-अस्वप्न, सत्य-मिथ्या, गन्धर्वनगर-पाटलिपुत्र, मुख्य-गौण, साध्य-साधन, कार्य-कारण, वक्ता-वचन, त्रि-अवयव-पचावयव, स्वपक्ष-परपक्ष आदि भेद भी न हो।[3]

यह कहना कि समस्त व्यवहार सापेक्ष है, अत. किसी पदार्थ की स्वरूप-सिद्धि नही हो सकती, अयुक्त है। हमारे सामने एक प्रश्न है कि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान युगपद् होता है या क्रमश ? यदि युगपद् होता है तो जिस समय मध्यम अगुली के विषय मे दीर्घत्व का प्रतिभास हुआ उसी समय प्रदेशिनी मे ह्रस्वत्व का प्रतिभास हुआ, ऐसा मानना पडेगा। ऐसी अवस्था मे यह नही कहा जा सकता कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व सापेक्ष है। यदि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान क्रमशः होता है तो पहले प्रदेशिनी में ह्रस्वत्व का ज्ञान होता है जो मध्यम अगुली के दीर्घत्व के प्रतिभास से निरपेक्ष है। अतः यह मानना पडता है कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व का व्यवहार केवल सापेक्ष नही है। एक और दृष्टान्त लें। बालक जन्म लेने के बाद सर्वप्रथम आखें खोल कर जो ज्ञान प्राप्त करता है उसमे किसकी अपेक्षा है ? तथा दो सदृश पदार्थों का ज्ञान यदि एक साथ हो तो उसमे भी किसी की अपेक्षा दृष्टिगोचर नही होती। इन सब कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए यह

---

१ गा० १६९७–१७००. २ १७०२-४ ३. गा० १७०५-९

मानना चाहिए कि किसी एक वस्तु का स्वविषयक ज्ञान अन्य वस्तु की अपेक्षा के बिना ही होता है। तत्प्रतिपक्षी पदार्थ का स्मरण होने पर इस प्रकार का व्यपदेश अवश्य होता है कि यह अमुक से ह्रस्व है, अमुक से दीर्घ है आदि। अत पदार्थों को स्वत सिद्ध मानना चाहिए।[1]

पदार्थ के अस्तित्व आदि धर्मों की सिद्धि इस प्रकार की जा सकती है यदि पदार्थ के अस्तित्व आदि धर्म अन्यनिरपेक्ष न हो तो ह्रस्व पदार्थो का नाश होने पर दीर्घ पदार्थों का भी सर्वथा नाश होजाना चाहिए, क्योकि दीर्घ पदार्थों की सत्ता ह्रस्व पदार्थ सापेक्ष है। किन्तु ऐसा नही होता। अत यही सिद्ध होता है कि पदार्थ के ह्रस्व आदि धर्मो का ज्ञान और व्यवहार ही परसापेक्ष है, उसके अस्तित्व आदि धर्म नही।[2] घटसत्ता घट का धर्म होने के कारण घट से अभिन्न है किन्तु पटादि से भिन्न है। घट के समान पटादि की सत्ता पटादि में है ही अत' घट के समान अघटरूप पटादि भी विद्यमान है। इस प्रकार अघट का अस्तित्व होने के कारण तद्भिन्न को घट कहा जा सकता है यहाँ एक शंका उठ सकती है कि यदि घट और अस्तित्व एक ही हो तो यह नियम क्यो नही बन सकता कि 'जो जो अस्तिरूप है वह सब घट ही है?' ऐसा इसलिए नही होता कि घट का अस्तित्व घट मे ही है, पटादि मे नही। अत घट और उसके अस्तित्व को अभिन्न मानकर भी यह नियम नही बन सकता कि 'जो जो अस्तिरूप है वह सब घट ही है।' केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' कहने से जितने पदार्थों मे अस्तित्व है उन सब का बोध होगा। इसमे घट और अघट सब का समावेश होग। 'घट है' ऐसा कहने से तो उतना ही बोध होगा कि केवल घट है। इसका कारण यह है कि घट का अस्तित्व घट तक ही सीमित है। जैसे 'वृक्ष' कहने से आम्र, नीम आदि सभी वृक्षो का बोध होता है क्योकि इन सबमे वृक्षत्व समानरूपेण विद्यमान है। किन्तु 'आम्र' कहने से तो केवल आम्र वृक्ष का ही बोध होगा क्योकि उसका वृक्षत्व उसी तक सीमित है।[4] इसी प्रकार जात-अजात, दृश्य-अदृश्य आदि की भी सिद्धि की जा सकती है। इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भूतादि के विषय में सन्देह नही होना चाहिए। वायु तथा आकाश प्रत्यक्ष दिखाई नही देते अत उनके विषय मे सन्देह हो सकता है। इस सशय का निवारण अनुमान से हो सकता है।

---

१ गा० १७१०-१. २ गा० १७१५
३ गा० १७२२-३. ४. गा० १७२४

वायु और आकाश का अस्तित्व :

स्पर्शादि गुणों का कोई गुणी अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये गुण हैं, जैसे रूप गुण का गुणी घट है। स्पर्शादि गुणों का जो गुणी है वह वायु है।[1]

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन सब का कोई आधार होना चाहिए क्योंकि ये सब मूर्त हैं। जो मूर्त होता है उसका आधार अवश्य होता है, जैसे कि पानी का आधार घट है। पृथ्वी आदि का जो आधार है वही आकाश है।[2]

इस प्रकार भगवान् महावीर व्यक्त की भूतविषयक शंका का समाधान करते हुए आगे कहते हैं कि जबतक शस्त्र से उपघात न हुआ हो तबतक ये भूत सचेतन हैं, शरीर के आधारभूत हैं, विविध प्रकार से जीवों के उपयोग में आते हैं।[3]

भूतों की सजीवता :

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सचेतन हैं क्योंकि उनमें जीव के लक्षण दिखाई देते हैं। आकाश अमूर्त है। वह केवल जीव का आधार ही बनता है। वह सजीव नहीं है।[4] पृथ्वी सचेतन है क्योंकि उनमें जीव में दिखाई देनेवाले जन्म, जरा, जीवन, मरण, क्षतसंरोहण, आहार, दोहद, रोग, चिकित्सा आदि लक्षण पाये जाते हैं। स्पृष्टप्ररोदिका (लाजवन्ती) क्षुद्र जीव के समान स्पर्श से संकुचित हो जाती है। लता अपना आश्रय प्राप्त करने के लिए मनुष्य के समान वृक्ष की ओर बढ़ती हुई दिखाई देती है। शमी आदि में निद्रा, प्रबोध, संकोच आदि लक्षण माने जाते हैं। बकुल शब्द का, अशोक रूप का, कुरबक गंध का, विरहक रस का, चंपक स्पर्श का उपभोग करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।[5] जल भी सचेतन है। भूमि खोदने से स्वाभाविक रूप से निकलने के कारण मेंढक के समान जल सजीव सिद्ध होता है। मत्स्य के समान स्वाभाविक रूप से व्योम से गिरने के कारण जल को सचेतन मानना चाहिए।[6] वायु की सचेतनता का प्रमाण यह है : जैसे गाय किसी की प्रेरणा के बिना ही अनियमित रूप से तिर्यग् गमन करती है उसी प्रकार वायु भी है अतः वह सजीव है। अग्नि भी सजीव है क्योंकि जैसे मनुष्य में आहार आदि से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं वैसे ही अग्नि में भी काष्ठादि आहार से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं।[7]

---

१ गाथा १७४९   २. गा० १७५०.   ३. गा० १७५१.
४. गा० १७५२.   ५ गा० १७५४-५
६ गा० १७५७.   ७. गा० १७५८

हिंसा-अहिंसा का विवेक :

यदि पृथ्वी आदि भूतो मे अनन्त जीव विद्यमान है तो साधु को आहारादि लेने के कारण अनन्त जीवो की हिंसा का दोष लगेगा। ऐसी अवस्था मे साधु को अहिंसक कैसे माना जाएगा ? भूतो के सजीव होने पर भी साधु को हिंसा का दोष इसलिए नही लगता कि शस्त्रोपहत पृथ्वी आदि भूतो मे जीव नही होता। ऐसे भूत निर्जीव ही होते है। यह कथन भी ठीक नही कि कोई व्यक्ति केवल जीव का घातक बनने से हिंसक हो जाता है। यह कथन भी अनुचित है कि एक व्यक्ति किसी भी जीव का घातक नही है अत वह निश्चित रूप से अहिंसक है। यह मानना भी युक्तिसगत नही कि थोडे जीव हो तो हिंसा नही होती और अधिक जीव हो तो हिंसा होती है। हिंसक और अहिंसक की पहिचान यह है कि जीव की हत्या न करने पर भी दुष्ट भावो के कारण व्यक्ति हिंसक कहलाता है तथा जीव का घातक होने पर भी व्यक्ति शुद्ध भावो के कारण अहिंसक कहलाता है। पाँच समिति तथा तीन गुप्ति सम्पन्न ज्ञानी मुनि अहिंसक है। इससे विपरीत जो असयमी है वह हिंसक है। सयमी किसी जीव का घात करे या न करे किन्तु वह हिंसक नही कहलाता क्योकि हिंसा-अहिंसा का आधार आत्मा का अध्यवसाय है, न कि क्रिया। वस्तुत अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है। यह अशुभ परिणाम बाह्य जीवघात की अपेक्षा रख भी सकता है और नही भी। जो जीववध अशुभ परिणामजन्य है अथवा अशुभ परिणाम का जनक है वह जीववध तो हिंसा ही है। जो जीववध अशुभ परिणाम का जनक नही वह हिंसा की कोटि से बाहर है। जिस प्रकार शब्दादि विषय वीतराग में राग उत्पन्न नही कर सकते क्योकि वीतराग के भाव शुद्ध होते है उसी प्रकार सयमी का जीववध भी हिंसा नही कहलाता क्योकि उसका मन शुद्ध है।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने व्यक्त का सशय दूर किया और उन्होने अपने ५०० शिष्यो सहित भगवान् से दीक्षा ग्रहण की।[2]

इहलोक और परलोक की विचित्रता :

उपर्युक्त चार पडितो के दीक्षित होने का समाचार सुनकर सुधर्मा भगवान् महावीर के पास पहुँचे। महावीर ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—सुधर्मा ! तुम्हें यह सशय है कि जीव जैसा इस भव मे है वैसा ही परभव मे भी होता है या नही ? तुम्हे वेदपदो का अर्थ ज्ञात नही इसीलिए इस प्रकार का सशय होता है। मैं तुम्हारे सशय का निवारण करूँगा।[3]

---

१. गा० १७६२-८ २. गा० १७६९. ३. गा० १७७०-२.

यह मान्यता कि कार्य कारण के समान ही होता है, ठीक नही। यह कोई ऐकान्तिक नियम नही कि कार्य कारण के सदृश ही होता है। शृग से भी शर नामक वनस्पति उत्पन्न होती है। उसी पर यदि सरसो का लेप किया जाये तो पुन. उसी मे से एक विशेप प्रकार की घास पैदा होती है। गाय तथा बकरी के वालो से दूर्वा (दूब) उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यो के संयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायुर्वेद मे मिलता है। अत यह मानना चाहिए कि कार्य कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है। यह ऐकान्तिक नियम नही कि कार्य कारणानुरूप ही हो।[1]

कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर मे विचित्रता सम्भव है। कारणानुरूप कार्य स्वीकार करने पर भी यह निश्चित नही कहा जा सकता कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही बनता है। यह कैसे ? बीज के अनुरूप अकुर की उत्पत्ति मानने पर भी परभव मे जीव में वैचित्र्य मानना ही पडेगा। मनुष्य का उदाहरण ले। भवाकुर का बीज मनुष्य स्वय न होकर उसका कर्म होता है। चूंकि कर्म विचित्र है अतः उसका परभव भी विचित्र ही होगा।[2] कर्म की विचित्रता का प्रमाण यह है कि कम पुद्गल का परिणाम है अत उसमे बाह्य अभ्रादि विकार के समान वैचित्र्य हाना चाहिए। कर्म की विचित्रता के राग-द्वेपादि विशेप कारण है।[3]

कर्म के अभाव में भी भव मान लिया जाए तो क्या आपत्ति है ? ऐसी स्थिति में भव का नाश भी निष्कारण मानना पडेगा और मोक्ष के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ सिद्ध होगे। इसी प्रकार जीवो के वैसादृश्य को भी निष्कारण मानना पडेगा।[4] इस प्रकार कर्म के अभाव मे भव की सत्ता मानने पर अनेक दोपो का सामना करना पडेगा।

कर्म के अभाव में स्वभाव से ही परभव मानने में क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हुए महावीर कहते है कि स्वभाव क्या है ? वह कोई वस्तु है, निष्कारणता है अथवा वस्तुधर्म है ? वस्तु मानने पर उसकी उपलब्धि होना चाहिए किन्तु आकाश-कुसुम के समान उसकी उपलब्धि नही होती अत वह वस्तु नही है। यदि अनुपलब्ध होने पर भी स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है तो अनुपलब्ध होने पर कर्म का अस्तित्व स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ? दूसरी बात यह है कि स्वभाव की विसदृशता आदि की सिद्धि के लिए कोई हेतु नही मिलता जिससे कि जगत्-वैचित्र्य सिद्ध हो सके। स्वभाव की निष्कार-

१ गा० १७७३–५. २ गा० १७७६–८. ३. गा० १७८०.
४. गा० १७८४.

णता मे भी अनेक दोषो की सम्भावना है। स्वभाव को वस्तुधर्म भी नही माना जा सकता क्योकि उसमे भी वैसादृश्य के लिए कोई स्थान नही रहता। स्वभाव को पुद्गलरूप मानकर वैसादृश्य की सिद्धि की जाये तो वह कर्मरूप ही सिद्ध होगा।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने सुधर्मा का सशय दूर किया और उन्होने अपने ५०० शिष्यो सहित भगवती दीक्षा अंगीकार की।[2]

बध और मोक्ष.

इसके बाद मडिक भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् ने उनके मन का सशय प्रकट करते हुए कहा—मडिक ! तुम्हारे मन मे सन्देह है कि बध और मोक्ष हैं कि नही ? तुम वेदपदों का अर्थ ठीक तरह से नही समझते अत तुम्हारे मन मे इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न होता है। मैं तुम्हारा सन्देह दूर करूँगा।[3]

मंडिक ! तुम यह सोचते हो कि यदि जीव का कर्म के साथ जो सयोग है वही बध है तो वह बध सादि है या अनादि ? यदि वह सादि है तो क्या (१) प्रथम जीव और तत्पश्चात् कर्म उत्पन्न होता है अथवा (२) प्रथम कर्म और तत्पश्चात् जीव उत्पन्न होता है अथवा (३) वे दोनो साथ ही उत्पन्न होते है ? इन तीनो विकल्पो मे निम्न दोष आते हैं :—

१ कर्म से पूर्व जीव की उत्पत्ति सम्भव नही क्योकि खरशृग के समान उसका कोई हेतु दृष्टिगोचर नही होता। यदि जीव की उत्पत्ति निर्हेतुक मानी जाये तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना पडेगा।

२. जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति भी सम्भव नही क्योकि जीव कर्म का कर्ता माना जाता है। यदि कर्ता ही न हो तो कर्म कैसे उत्पन्न हो सकता है ? जीव के समान ही कर्म की निर्हेतुक उत्पत्ति भी सम्भव नही। यदि कर्म की उत्पत्ति बिना किसी कारण के मानी जाये तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना पडेगा। अत कर्म को जीव से पूर्व नही माना जा सकता।

३ यदि जीव तथा कर्म दोनो की युगपत् उत्पत्ति मानी जाये तो जीव को कर्ता तथा कर्म को उसका कार्य नही कहा जा सकता। जिस प्रकार लोक मे एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के सीगो में से एक को कर्ता तथा दूसरे को कार्य नही कहा जा सकता उसी प्रकार एक साथ उत्पन्न होने वाले जीव और कर्म में कर्ता और कर्म का व्यवहार नही किया जा सकता।[4]

---

१. गा० १७८५–१७९३ २. गा० १८०१. ३ गा० १८०२–४. ४ गा० १८०५–१८१०.

जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध भी युक्तिसगत प्रतीत नही होता क्योकि ऐसा मानने पर जीव को मुक्ति कभी भी नही हो सकती। जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है जैसे जीव तथा आकाश का सम्बन्ध। जीव तथा कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानने पर अनन्त भी मानना ही पडेगा। ऐसी स्थिति मे जीव कभी भी मुक्त नही हो सकेगा।[1]

इन युक्तियो का समाधान करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि शरीर तथा कर्म की सतति अनादि है क्योकि इन दोनो में परस्पर कार्य-कारणभाव है, जैसे बीज और अकुर। जिस प्रकार बीज से अकुर तथा अकुर से बीज उत्पन्न होता है और यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अत इन दोनो की सन्तान अनादि है उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह की उत्पत्ति का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अत इन दोनो की सन्तान अनादि है। अत जीव और कर्मसम्बन्धी उपर्युक्त विकल्प व्यर्थ है। जीव और कर्म की सतति अनादि है। जीव कर्म द्वारा शरीर उत्पन्न करता है अत. वह शरीर का कर्ता है तथा शरीर द्वारा कर्म को उत्पन्न करता है अत वह कर्म का भी कर्ता है। शरीर व कर्म की सतति अनादि है अत जीव और कर्म की सतति को भी अनादि मानना चाहिए। इस प्रकार जीव और कर्म का बध भी अनादि सिद्ध होता है।[2]

यह कथन कि जो अनादि है वह अनन्त भी होता ही है, अयुक्त है। बीज और अकुर की सतति अनादि होते हुए भी सान्त हो सकती है। इसी प्रकार अनादि कर्म सतति का भी अन्त हो सकता है। बीज तथा अकुर मे से यदि किसी का भी अपना कार्य उत्पन्न करने से पूर्व ही नाश हो जाए तो उसकी सन्तान का भी अन्त हो जाता है। यही नियम मुर्गी और अण्डे के लिए भी है। दूसरा उदाहरण लीजिए। स्वर्ण तथा मिट्टी का सयोग अनादि सततिगत है फिर भी उपायविशेष से उस सयोग का नाश हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जीव तथा कर्म के अनादि सयोग का भी सम्यग्दर्शन आदि द्वारा नाश हो सकता है।[3] इसके बाद आचार्य ने मोक्षविषयक विवेचन करते हुए भव्य और अभव्य के स्वरूप की चर्चा की है।[4]

जीव तथा कर्म के सयोग का नाश उपायजन्य है अर्थात् मोक्ष की उत्पत्ति उपाय से होती है। जो उपायजन्य है वह कृतक है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट। अत मोक्ष भी घटादि के समान कृतक होने के कारण अनित्य होना चाहिए। इस सशय का निवारण करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि

---

१ गा० १८११ २. गा० १८१३-५

३ गा० १८१७-९ ४ गा० १८२१-१८३६

यह नियम व्यभिचारी है कि जो कृतक होता है वह अनित्य ही होता है। घटादि का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है। यदि प्रध्वंसाभाव को अनित्य माना जाए तो प्रध्वंसाभाव का अभाव हो जाने के कारण विनष्ट घटादि पदार्थ पुन उत्पन्न हो जाने चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। अत प्रध्वंसाभाव को कृतक होने पर भी नित्य मानना पडता है। इसी प्रकार कृतक होने पर भी मोक्ष नित्य है।[1] इसके बाद आचार्य ने सिद्ध-मुक्त आत्माओ के स्वरूप की चर्चा की है तथा लोकाकाश, अलोकाकाश आदि का वर्णन किया है।[2]

इस प्रकार जब भगवान् महावीर ने मंडिक के संशय का निवारण कर दिया तब उन्होने अपने साढे तीन सौ शिष्यो सहित जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।[3]

देवो का अस्तित्व.

मंडिक के दीक्षित होने का समाचार सुनकर मौर्यपुत्र भी भगवान् के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—मौर्यपुत्र! तुम्हारे मन मे यह सन्देह है कि देव है अथवा नही? मैं तुम्हारे सन्देह का निराकरण करूँगा।[4]

मौर्यपुत्र! तुम यह सोचते हो कि नारक तो परतन्त्र हैं तथा अत्यन्त दु खी है अत वे हमारे सन्मुख उपस्थित होने में असमर्थ है। किन्तु देव तो स्वच्छन्द-विहारी है तथा दिव्य प्रभावयुक्त है। फिर भी वे कभी दिखाई नही देते। उनके अस्तित्व के विषय मे सन्देह होना स्वाभाविक है।[5]

इस सन्देह का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कम से कम सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव तो प्रत्यक्ष दिखाई ही देते है अत यह नही कहा जा सकता कि देव कभी दिखाई नही देते। इसके अतिरिक्त लोक मे देवकृत अनुग्रह और पीडा दोनो ही हैं। इसके आधार पर भी देवो का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।[6]

चन्द्र, सूर्य आदि शून्यनगर के समान दिखाई देते है। उनमें निवास करने वाला कोई भी नही है। अत. यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्यादि का प्रत्यक्ष होने से देवो का भी प्रत्यक्ष हो गया? इस शका का समाधान करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि सूर्य, चन्द्रादि को आलय मानने पर उनमे रहने वाला भी कोई न कोई मानना ही चाहिए अन्यथा उन्हे आलय नही कहा जा सकता।[7] यहाँ एक और शका उत्पन्न होती है। जिन्हे आलय कहा गया है वे वास्तव में आलय हैं या नही, इसका निर्णय न होने की अवस्था मे यह नही कहा जा सकता कि वे

---

१. गा० १८३७. २. गा० १८४०–१८६२ ३ गा० १८६३
४. गा० १८६४–६. ५ गा० १८६७–८ ६. गा० १८७०.
७. गा० १८७१.

निवासस्थान हैं अत उनमे रहने वालो का कोई होना चाहिए। सभव है कि वे रत्नो के गोले ही हो। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वे देवो के रहने के विमान ही है क्योकि वे विद्याधरो के विमानो के समान रत्ननिर्मित हैं तथा आकाश मे गमन करते है।[1]

सूर्य, चन्द्रादि विमानो को मायिक क्यो न मान लिया जाए ? वस्तुत ये मायिक नही हैं। थोडी देर के लिए इन्हें मायिक मान भी लिया जाए तो भी इस माया को करने वाले देव तो मानने ही पडेंगे। बिना मायावी के माया सभव नही। दूसरी बात यह है कि माया तो कुछ ही देर में नष्ट हो जाती है जबकि उक्त विमान सर्वदा उपलब्ध होने के कारण शाश्वत है। अत उन्हें मायिक नही कहा जा सकता।[2]

देवो के अस्तित्व की सिद्धि के लिए एक हेतु यह भी है कि इस लोक मे जो प्रकृष्ट पाप करते है उनके लिए उस फलभोग के हेतु नारको का अस्तित्व स्वीकार करना पडता है उसी प्रकार प्रकृष्ट पुण्य करने वालो के लिए देवो का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए।[3]

यदि देव है तो वे स्वर्गविहारी होते हुए भी मनुष्य-लोक में क्यो नही आते ? सामान्यत देव इस लोक मे इसलिए नही आते कि वे स्वर्ग के दिव्य पदार्थों में ही आसक्त रहते है, वहाँ के विषयभोग मे ही लिप्त रहते हैं। उन्हे वही के काम से अवकाश नही मिलता। मनुष्य-लोक की दुर्गन्ध भी उन्हे यहाँ आने से रोकती है और फिर उनके यहाँ आने का कोई विशेष प्रयोजन भी तो नही है। ऐसा होते हुए भी कभी-कभी वे इस लोक मे आते भी हैं। तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, केवल प्राप्ति, निर्वाण आदि शुभ प्रसगो पर देव इस लोक में आया करते है। पूर्व भ के राग, वैर आदि के कारण भी उनका यहाँ आगमन होता रहता है।[4]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मौर्यपुत्र का देव विषयक सशय दूर कि और उन्होने अपने साढे तीन सौ शिष्यो सहित भगवान् से दीक्षा ले ली।[5]

नारको का अस्तित्व :

मौर्यपुत्रपर्यन्त सबको दीक्षित हुए जानकर अकंपित भी महावीर के पास पहुँ महावीर ने उन्हे सम्बोधित करते हुए कहा—अकपित ! तुम्हारे मन मे यह स है कि नारक हैं या नही ? इस सशय का समाधान इस प्रकार है[6] :

प्रकृष्ट पापफल का भोक्ता कोई न कोई अवश्य होना चाहिए क्योकि वह जघन्य-मध्यम कर्मफल के समान कर्मफल है। जघन्य-मध्यम कर्मफल के भो तिर्यच तथा मनुष्य हैं। प्रकृष्ट पापकर्मफल के जो भोक्ता हैं वे ही नारक हैं

१ गा० १८७२ २ गा० १८७३ ३ गा० १८७४ ४ गा० १८७
५ गा० १८८४ ६ गा० १८८५-७ ७ गा० १८९९

अत्यन्त दुःखी तिर्यंच और मनुष्य को ही प्रकृष्ट पापफल का भोक्ता मान लिया जाए तो क्या हर्ज है ? देवों में जैसा सुख का प्रकर्ष है वैसा दुःख का प्रकर्ष तिर्यंच और मनुष्यों में नहीं है अतः उन्हें नारक नहीं मान सकते। ऐसा एक भी तिर्यञ्च अथवा मनुष्य नहीं है जो केवल दुःखी ही हो। अतः प्रकृष्ट पापकर्मफल के भोक्ता के रूप में तिर्यञ्च और मनुष्यों से भिन्न नारकों का अस्तित्व मानना चाहिए।[1]

इस प्रकार जब भगवान् ने अकंपित का संशय दूर कर दिया तब उन्होंने भी अपने साढे तीन सौ शिष्यों सहित भगवती दीक्षा अंगीकार कर ली।[2]

पुण्य-पाप का सद्भाव

इन सब को दीक्षित हुए जानकर नवें पंडित अचलभ्राता भगवान् के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—अचलभ्राता ! तुम्हें संदेह है कि पुण्य-पाप का सद्भाव है या नहीं ? मैं तुम्हारे संदेह का निवारण करता हूँ।[3]

पुण्य-पाप के सम्बन्ध में निम्न विकल्प हैं (१) केवल पुण्य ही है, पाप नहीं; (२) केवल पाप ही है, पुण्य नहीं, (३) पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है, भिन्न-भिन्न नहीं, (४) पुण्य और पाप भिन्न-भिन्न हैं, (५) स्वभाव ही सब कुछ है, पुण्य-पाप कुछ नहीं।[4]

१. केवल पुण्य का ही सद्भाव है, पाप का सर्वथा अभाव है। जैसे-जैसे पुण्य बढता जाता है वैसे-वैसे सुख की वृद्धि होती जाती है। पुण्य की क्रमशः हानि होने पर सुख की भी क्रमशः हानि होती है। पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।[5]

२ केवल पाप का ही सद्भाव है, पुण्य का सर्वथा अभाव है। जैसे-जैसे पाप की वृद्धि होती है वैसे-वैसे दुःख बढता है। पाप की क्रमशः हानि होने पर तज्जनित दुःख का भी क्रमशः अभाव होता है। पाप का सर्वथा क्षय होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।[6]

३ पुण्य और पाप भिन्न-भिन्न न होकर एक ही साधारण वस्तु के दो भेद हैं। इस साधारण वस्तु में जब पुण्य की मात्रा बढ जाती है तब उसे पुण्य कहा जाता है तथा जब पाप की मात्रा बढ जाती है तब उसे पाप कहा जाता है। दूसरे शब्दों में पुण्यांश का अपकर्ष होने पर उसे पाप कहते हैं तथा पापांश का अपकर्ष होने पर उसे पुण्य कहते हैं।[7]

४ पुण्य व पाप दोनों स्वतन्त्र हैं। सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण पाप है।

---

१. गा० १९०० २ गा० १९०४ ३ गा० १९०५-७ ४ गा० १९०८.
५. गा० १९०९ ६. गा० १९१०. ७ गा० १९११

५ पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु इस ससार मे नही है। समस्त भवप्रपञ्च स्वभाव से ही होता है।

इन पाँच प्रकार के विकल्पो मे से चौथा विकल्प ही युक्तियुक्त है। पाप व पुण्य दोनो स्वतन्त्र है। एक दु ख का कारण है और दूसरा सुख का। स्वभाववाद आदि युक्ति से बाधित है।[1]

दु.ख की प्रकृष्टता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से सिद्ध होती है। जिस प्रकार सुख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पुण्य-प्रकर्ष है उसी प्रकार दु ख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पाप-प्रकर्ष है। अत दु खानुभव का कारण पुण्य का अपकर्ष नही अपितु पाप का प्रकर्ष है। इसी प्रकार केवल पापवाद का भी निरसन किया जा सकता है। सकीर्णपक्ष का निरास करते हुए भगवान् महावीर कहते है कि कोई भी कर्म पुण्य-पाप उभयरूप नही हो सकता क्योकि ऐसा कर्म निर्हेतुक है। यह कैसे ? कर्म-बन्ध का कारण योग है। किसी एक समय का योग या तो शुभ होगा या अशुभ। वह शुभाशुभ उभयरूप नही हो सकता। अत उसका कार्य भी या तो शुभ होगा या अशुभ। वह उभयरूप नही हो सकता। जो शुभ कार्य है वही पुण्य है और जो अशुभ कार्य है वही पाप है।[2]

पुण्य और पाप का लक्षण बताते हुए आगे कहा गया है कि जो स्वय शुभ वर्ण, गध, रस तथा स्पर्शयुक्त हो तथा जिसका विपाक भी शुभ हो वह पुण्य है। जो इससे विपरीत है वह पाप है। पुण्य व पाप दोनो पुद्गल है। वे मेरु आदि के समान अति स्थूल भी नही है और परमाणु के समान अति सूक्ष्म भी नही है।[3]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अचलभ्राता के सन्देह का निवारण किया। उन्होने भी अपने तीन सौ शिष्यो सहित भगवान् से दीक्षा ग्रहण की।[4]

परलोक का सद्भाव :

इन सब की दीक्षा का समाचार सुन कर मेतार्य भी महावीर के पास पहुँचे। महावीर ने उन्हें नाम-गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा—मेतार्य ! तुम्हें सशय है कि परलोक है या नही ? मै तुम्हारे सशय का निवारण करूँगा।[5]

मेतार्य ! तुम यह समझते हो कि मद्याग और मद के समान भूत और चैतन्य मे कोई भेद नही है अत परलोक मानना अनावश्यक है। जब भूतसयोग के नाश के साथ ही चैतन्य का भी नाश हो जाता है तब परलोक मानने की आवश्यकता ही नही रह जाती।[6] इसी प्रकार सर्वव्यापी एक ही आत्मा का अस्तित्व मानने पर भी परलोक की सिद्धि नही हो सकती।[7]

---

१ गा० १९१२-१९२०. २. गा० १९३१-५ ३ गा० १९४०. ४. गा० १९४८
५ गा० १९४९-१९५१. ६. गा० १९५२. ७. गा० १९५४.

इन दोनो हेतुओ का निराकरण करते हुए महावीर कहते है कि भूत-इन्द्रिय आदि से भिन्नस्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है, इस बात की सिद्धि पहले हो चुकी है। अत. आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए। इसी प्रकार अनेक आत्माओ का अस्तित्व भी सिद्ध किया जा चुका है। इस लोक से भिन्न देवादि परलोको का सद्भाव भी मौर्य तथा अकपित के साथ हुई चर्चा में सिद्ध हो चुका है।[1] अतः परलोक का सद्भाव मानना युक्तिसंगत है। आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्व-भावयुक्त है अत मृत्यु के पश्चात् उसका सद्भाव सिद्ध है।

इस प्रकार मेतार्य के सशय का निवारण हुआ और उन्होने अपने तीन सौ शिष्यो सहित भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।[2]

निर्वाण की सिद्धि :

इन सब को दीक्षित हुए सुनकर ग्यारहवें पडित प्रभास के मन में भी इच्छा हुई कि मै भी महावीर के पास पहुँचूँ। यह सोचकर वे भगवान् के पास पहुँचे। भगवान् ने उन्हे उसी प्रकार सम्बोधित करते हुए कहा—प्रभास! तुम्हारे मन में सशय है कि निर्वाण है अथवा नही ? इस विषय मे मेरा मत सुनो।[3]

कोई कहता है कि दीप-निर्वाण के समान जीव का नाश ही निर्वाण अर्थात् मोक्ष है।[4] कोई मानता है कि विद्यमान जीव के राग, द्वेष आदि दुःखो का अन्त हो जाने पर जो एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त होती है वही मोक्ष है।[5] इन दोनो मे से किसे ठीक कहा जाए ?[6] जीव तथा कर्म का सयोग आकाश के समान अनादि है अत उसका कभी भी नाश नही हो सकता। फिर निर्वाण कैसे माना जाए ?[7]

जिस प्रकार कनक-पाषाण तथा कनक का सयोग अनादि है फिर भी प्रयत्न द्वारा कनक को कनकपाषाण से पृथक् किया जा सकता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान और क्रिया द्वारा जीव और कर्म के अनादि सयोग का अन्त होकर जीव कर्म से मुक्त हो सकता है।[8]

जो लोग यह मानते है कि दीप-निर्वाण के समान मोक्ष में जीव का भी नाश हो जाता है उनकी मान्यता मे दोष है। दीप की अग्नि का भी सर्वथा

१ गा० १९५६-८ २. गा० १९७१, ३. गा० १९७२-४

४ दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
—सौन्दरनन्द, १६, २८-९.

५ केवलसविद्दर्शनरूपा सर्वार्तिदु खपरिमुक्ता.।
मोदन्ते मुक्तिगता जीवा. क्षीणान्तरारिगणा ॥

६. गा० १९७५. ७ गा० १९७६. ८ गा० १९७७.

नाश नही होता। यह प्रकाशपरिणाम को छोडकर अधकारपरिणाम को धारण करता है, जैसे दूध दधिरूप तथा घट कपालरूप परिणाम को धारण करते हैं। अत. दीपक के समान जीव का भी सर्वथा उच्छेद नही माना जा सकता। यहाँ एक शका होती है कि यदि दीप का सर्वथा नाश नही होता तो वह बुझने के बाद दिखाई क्यो नही देता ? इसका उत्तर यह है कि बुझने के बाद वह अधकार मे परिणत हो जाता है जो प्रत्यक्ष ही है। अत यह कथन ठीक नही कि वह दिखाई नही देता। दीप बुझने पर उतनी ही स्पष्टता से क्यो नही दिखाई देता ? इसका कारण यह है कि वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर परिणाम को धारण करता जाता है अत विद्यमान होने पर भी वह स्पष्टतया दिखाई नही देता। जिस प्रकार बादल बिखर जाने के बाद विद्यमान होते हुए भी आकाश में दृष्टिगोचर नही होते तथा अजन-रज विद्यमान होने पर भी आखो से दिखाई नही देती उसी प्रकार दीपक भी बुझने पर विद्यमान होते हुए भी अपने सूक्ष्म परिणाम के कारण स्पष्टया दिखाई नही देता।[१] इसी प्रकार निर्वाण मे भी जीव का सर्वथा नाश नही होता।

जिस प्रकार दीप जब निर्वाण प्राप्त करता है तब वह परिणामान्तर को प्राप्त होता है और सर्वथा नष्ट होता उसी प्रकार जीव भी जब परिनिर्वाण प्राप्त करता है तब वह निराबाध सुखरूप परिणामान्तर को प्राप्त करता है और सर्वथा नष्ट नही होता। अत जीव की दु खक्षयरूप विशेषावस्था ही निर्वाण है, मोक्ष है, मुक्ति है।[२] मुक्त जीव को परम मुनि के समान स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है क्योकि उनमे किसी प्रकार की बाधा नही होती।[३]

यह मान्यता भी ठीक नही कि मुक्तात्मा मे ज्ञान का अभाव है।[४] ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है। जैसे परमाणु कभी अमूर्त नही हो सकता वैसे ही आत्मा कभी ज्ञानरहित नही हो सकती। अत यह कथन परस्पर विरुद्ध है कि 'आत्मा' है और वह 'ज्ञानरहित' है। इसका क्या प्रमाण कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ? यह बात तो स्वानुभव से ही सिद्ध है कि हमारी आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार स्वात्मा की ज्ञानस्वरूपता स्वसवेदनप्रत्यक्ष से सिद्ध ही है। परदेह में विद्यमान आत्मा भी अनुमान से ज्ञानस्वरूप सिद्ध हो सकती है। वह अनुमान इस प्रकार है परदेहगत आत्मा ज्ञानस्वरूप है क्योकि उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दिखाई देती है। यदि वह ज्ञानस्वरूप न हो तो स्वात्मा के समान इष्ट मे प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त न हो। चूकि उसमे इष्टप्रवृत्ति और अनिष्टनिवृत्ति देखी जाती है अत ज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए। जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप

१ गा० १९८७-८. २. गा० १९९१ ३ गा० १९९२

४ नैयायिको की यही मान्यता है : न सविदानन्दमयी मुक्ति ।

प्रदीप को छिद्रयुक्त आवरण से आच्छादित कर देने पर वह अपना प्रकाश उन छिद्रो द्वारा थोडा-सा ही फैला सकता है उसी प्रकार ज्ञानप्रकाश स्वरूप आत्मा भी आवरणो का क्षयोपक्षम होने पर इन्द्रियरूप छिद्रो द्वारा अपना प्रकाश थोडा-सा ही फैला सकती है। मुक्तात्मा में आवरणो का सर्वथा अभाव होता है अत. वह अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित होती है। उसे ससार के सम्पूर्ण पदार्थो का ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध है कि मुक्त आत्मा ज्ञानी है।[1]

मुक्तात्मा का सुख निराबाध होता है, यह बात समझ मे नही आती क्योकि पुण्य से सुख होता है और पाप से दु ख। मुक्तात्मा में पुण्य-पापरूप किसी भी प्रकार के कर्म का सद्भाव नही होता अत उसमे सुख दु ख दोनो का अभाव होना चाहिए, जैसे आकाश मे सुख-दु ख कुछ भी नही होता। दूसरी बात यह है कि सुख-दु ख का आधार देह है। मुक्ति मे देह का अभाव है अत वहाँ आकाश के समान सुख और दु ख दोनो का अभाव होना चाहिए। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वस्तुत पुण्य का फल भी दु ख ही है क्योकि वह कर्मजन्य है। जो कर्मजन्य होता है वह पापफल के समान दु खरूप ही होता है। कोई इसका विरोधी अनुमान भी उपस्थित कर सकता है . पाप का फल भी वस्तुत सुखरूप ही है क्योकि वह कर्मजन्य है। जो कर्मजन्य होता है वह पुण्यफल के समान सुखरूप ही होता है। पाप का फल भी कर्मजन्य है अत वह सुखरूप होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि पुण्यफल का सवेदन अनुकूल प्रतीत होने के कारण सुखरूप है। ऐसी अवस्था मे पुण्यफल को दु खरूप कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। इस शका का समाधान करते हुए महावीर कहते है कि जिसे प्रत्यक्ष सुख कहा जाता है वह सुख नही किन्तु दु ख ही है। ससार जिसे सुख मानता है वह व्याधि (दाद आदि) के प्रतीकार के समान दु खरूप ही है। अत पुण्य के फल को भी तत्त्वत. दु ख ही मानना चाहिए। इसके लिए अनुमान भी दिया जा सकता है . विषयजन्य सुख दु ख ही है क्योकि वह दु ख के प्रतीकार के रूप मे है। जो दु ख के प्रतीकार के रूप मे होता है वह कुष्ठादि रोग के प्रतीकाररूप क्वाथपान आदि चिकित्सा के समान दु खरूप ही होता है। ऐसा होते हुए भी लोग इसे उपचार से सुख कहते हैं। औपचारिक सुख पारमार्थिक सुख के बिना सभव नही अत मुक्त जीव के सुख को पारमार्थिक सुख मानना चाहिए। इसकी उत्पत्ति सर्वदुःख के क्षय द्वारा होती है जो बाह्य वस्तु के ससर्ग से सर्वथा निरपेक्ष है। अत मुक्तावस्था का सुख मुख्य एव विशुद्ध सुख है तथा प्रतीकाररूप सासारिक सुख औपचारिक एव वस्तुत. दु खरूप है।[2]

१. गा० १९९७-२००१. २. गा० २००२-९.

इस प्रकार जब भगवान् महावीर ने प्रभास का सशय दूर किया तब उन्होंने भी अपने तीन सौ शिष्यो सहित भगवान् से जिनदीक्षा अगीकार की।[1] यहाँ तक गणधरवाद का अधिकार है। भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने पर जिन ग्यारह पडितो ने उनके साथ विविध दार्शनिक विषयो पर चर्चा की तथा उस चर्चा से सतुष्ट होकर भगवान् के प्रमुख शिष्य बने वे ही जैन-साहित्य मे ग्यारह गणधरो के रूप मे प्रसिद्ध है।

सामायिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल आदि द्वारो की ओर सकेत किया[2] तथा उनमे से तृतीय द्वार निर्गम अर्थात् उत्पत्ति की चर्चा करते हुए यह बताया कि जिस द्रव्य से सामायिक का निर्गम हुआ है वह द्रव्य यहाँ पर भगवान् महावीर के रूप मे है।[3] इस प्रकार भगवान् महावीर का प्रसग सामने रखते हुए भाष्यकार ने गणधरवाद की विस्तृत चर्चा की।

क्षेत्र और काल :

क्षेत्र नामक चतुर्थ द्वार की चर्चा करते हुए आचार्य कहते है कि सर्वप्रथम महासेनवन नामक उद्यान में भगवान् महावीर ने सामायिक का प्ररूपण किया और उसके बाद परपरा से अन्यत्र भी प्ररूपण किया गया। यह प्रथम प्ररूपण किस काल में हुआ? वैशाख शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न काल अर्थात् प्रथम पौरुषी मे सामायिक का निर्गम हुआ।[4] इस प्रकार क्षेत्र और काल के रूप मे चतुर्थ और पचम द्वारसम्बन्धी चर्चा पूर्ण होती है।

पुरुष :

षष्ठ द्वार पुरुष की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पुरुष के अनेक भेद हैं: द्रव्यपुरुष, अभिलापपुरुष, चिह्नपुरुष, धर्मपुरुष, अर्थपुरुष, भोगपुरुष, भावपुरुष। शुद्धजीव तीर्थंकररूप पुरुष भावपुरुष कहलाता है। प्रकृत में भावपुरुष का ग्रहण करना चाहिए।[5]

कारण :

सप्तम द्वार कारण का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते है कि कारण का निक्षेप चार प्रकार का है: नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनमें से द्रव्यकारण के दो भेद है: तद्द्रव्य और अन्यद्रव्य, अथवा निमित्त और नैमित्तिक, अथवा समवायी और असमवायी। इसके छ भेद भी हो सकते है: कर्ता, करण,

---

१. गा० २०२४. २. गा १४८४-५. ३. गा १५३१-१५४६.
४ गा० २०८३. ५. गा० २०९०-७.

कर्म, सप्रदान, अपादान, संनिधान।[1] इन सभी भेदो का भाष्यकार ने दार्शनिक दृष्टि से विशेष विवेचन किया है।[2] तीर्थंकर सामायिक का उपदेश क्यो देते है ? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि तीर्थंकरनामकर्म का उदय होने के कारण वे सामायिक आदि का उपदेश देते हे। गौतम आदि गणधर सामायिक का उपदेश क्यो सुनते है ? उन्हे भगवान् के वचन सुनकर तदर्थविषयक ज्ञान प्राप्त होता है। इससे शुभ और अशुभ पदार्थों मे विवेक-बुद्धि जाग्रत होती हैं तथा शुभप्रवृत्ति और अशुभनिवृत्ति की भावना पैदा होती हैं। परिणामत सयम और तप की वृद्धि होती है जिससे कर्मनिर्जरा होकर अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त होती हैं।[3]

प्रत्यय :

अष्टम द्वार प्रत्यय की चर्चा करते हुए देखा गया है कि प्रत्यय का भी नामादि निक्षेपपूर्वक विचार करना चाहिए। अवधि आदि ज्ञानत्रयरूप भाव-प्रत्यय हैं। केवलज्ञानी साक्षात् सामायिक का अर्थ जानकर ही सामायिक का कथन करते है। इसीलिए गणधर आदि श्रोताओ को उनके वचनो मे प्रत्यय अर्थात बोध-निश्चय होता है।[4]

लक्षण :

नवम द्वार लक्षण का व्याख्यान करते हुए बताया गया है कि नामादि भेद से लक्षण बारह प्रकार का होता है: नाम, स्थापना, द्रव्य, सादृश्य, सामान्य, आकार, गत्यागति, नानात्व, निमित्त, उत्पाद-विगम, वीर्य और भाव। भाष्य-कार ने इनका विशेष स्पष्टीकरण किया है।[5] प्रस्तुत अधिकार भावलक्षण का हैं। सामायिक चार प्रकार की है: सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरति-सामायिक और सर्वविरतिसामायिक। इनमे से सम्यक्त्वसामायिक और सर्वविरति अर्थात् चारित्रसामायिक क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव वाली होती हैं। श्रुतसामायिक और देशविरतिसामायिक केवल क्षायोपशमिक भाव वाली ही होती हैं।[6]

नय :

नय नामक दसवें द्वार का विचार करते हुए कहा गया है कि अनेक धर्मा-त्मक वस्तु का किसी एक धर्म के आधार पर विचार करना नय कहलाता हैं। वह नय सात प्रकार का है: नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ

---

१. गा० २०९८–९. २. गा० २१००–२१२१

३ गा० २१२२–८. ४ गा० २१३१–४.

५ गा० २१४६–२१७६. ६. गा० २१७७–८

और एवभूत। आचार्य ने प्रत्येक नय का लक्षण, व्युत्पत्ति, उदाहरण आदि दृष्टियो से विस्तृत विवेचन किया है।[1] इस विवेचन मे उन दार्शनिको की मान्यताओं का युक्ति पुरस्सर खडन किया गया है जो वस्तु को अनेक धर्मात्मक न मान कर किसी एक विशेष धर्मयुक्त ही मानते हैं। इसमे भारतीय दर्शन की समस्त एकान्तवादी परम्पराओ का समावेश है।

समवतार

ग्यारहवें द्वार समवतार का स्वरूप इस प्रकार है कालिक श्रुत अर्थात् प्रथम और चरम पौरुषी में पढे जाने वाले श्रुत मे नयो की अवतारणा नही होती। चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग का अपृथक् भाव से प्ररूपण होते समय नयो का विस्तारपूर्वक समवतार होता था। चरणकरणादि अनुयोगो का पृथकत्व हो जाने पर नयों का समवतार नही होता। अनुयोगों का पृथक्करण कब व क्यो हुआ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते है कि आर्य वज्र के बाद आर्य रक्षित हुए। उन्होंने भविष्य में मति-मेधा-धारणा आदि का नाश होना जानकर अनुयोगो का विभाग कर दिया। उनके समय तक किसी एक सूत्र की व्याख्या चारो प्रकार के अनुयोगो से होती थी। उन्होने विविध सूत्रो का निश्चित विभाजन कर दिया। चरणकरणानुयोग मे कालिक श्रुतरूप ग्यारह अग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्र रखे गए। धर्मकथानुयोग मे ऋषिभाषितो का समावेश किया गया। गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति और द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद रखा गया।[2] इस प्रकार अनुयोग का पृथक्करण करने के बाद आर्य रक्षित ने पुष्यमित्र को गणिपद पर प्रतिष्ठित किया। यह देखकर गोष्ठामाहिल को बहुत ईर्ष्या हुई और वह मिथ्यात्व के उदय के कारण सप्तम निह्नव के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[3] अन्य छ निह्नवो के नाम इस प्रकार हैं. १ जमालि, २. तिष्यगुप्त, ३. आषाढ, ४ अश्वमित्र, ५. गंग और ६. षडुलूक। इन सात निह्नवो के जन्म स्थान ये हैं १ श्रावस्ती, २ ऋषभपुर, ३. श्वेतविका, ४ मिथिला, ५ उलूकातीर, ६ अतिरजिका और ७ दशपुर। इन सात निह्नवो के अतिरिक्त भाष्यकार ने एक निह्नव का उल्लेख और किया है जिसका नाम है शिवभूति बोटिक। उसका जन्म-स्थान रथवीरपुर है। इन आठ निह्नवो के उत्पत्ति-काल का क्रम इस प्रकार है प्रथम दो भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के क्रमश. १४ एव १६ वर्ष बाद निह्नवरूप में उत्पन्न हुए। शेष महावीर का निर्वाण होने पर क्रमश. २१४, २२०, २२८, ५४४, ५८४ और ६०९ वर्ष बाद उत्पन्न हुए।[4]

---

१ गा० २१८०–२२७८. २. गा० २२८४–२२९५. ३. गा० २२९६–७. ४. गा० २३०१–५.

निह्नववाद

अपने अभिनिवेश के कारण आगम-प्रतिपादित तत्त्व का परपरा से विरुद्ध अर्थ करने वाला निह्नव की कोटि में आता है। जैनदृष्टि से निह्नव मिथ्यादृष्टि का ही एक प्रकार है। अभिनिवेश के बिना होने वाले सूत्रार्थ के विवाद के कारण कोई निह्नव नही कहलाता क्योकि इस प्रकार के विवाद का लक्ष्य सम्यक् अर्थ निर्णय है, न कि अपने अभिनिवेश का मिथ्या पोषण। सामान्य मिथ्यात्वी और निह्नव मे यह भेद है कि सामान्य मिथ्यात्वी जिनप्रवचन को ही नही मानता अथवा मिथ्या मानता है जबकि निह्नव उसके किसी एक पक्ष का अपने अभिनिवेश के कारण परपरा से विरुद्ध अर्थ करता है तथा शेष पक्षो को परंपरा के अनुसार ही स्वीकार करता है। इस प्रकार निह्नव वास्तव मे जैन-परपरा के भीतर ही एक नया सप्रदाय खडा कर देता है। जिनभद्र आदि पीछे के आचार्यों ने तो दिगम्बर संप्रदाय को भी निह्नव-कोटि में डाल दिया है जिसका सबध शिवभूति बोटिक निह्नव से है। भाष्यकार जिनभद्र ने जमालि आदि आठ निह्नवो का उल्लेख किया है तथा संक्षेप मे उनके मतो का भी वर्णन किया है।

प्रथम निह्नव :

प्रथम निह्नव का नाम जमालि है। उसने बहुरत मत का प्ररूपण किया। उसका जीवन-वृत्त इस प्रकार है : क्षत्रियकुमार जमालि ने वैराग उत्पन्न होने पर पाच सौ पुरुषो के साथ महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की तथा वह उनका आचार्य हुआ। जिस समय वह श्रावस्ती के तैन्दुक उद्यान मे ठहरा हुआ था उस समय उसे कोई रोग हो गया। उसने अपने एक शिष्य से बिस्तर बिछाने के लिए कहा। कुछ देर बाद उसने उस शिष्य से पूछा—"बिस्तर हो गया ?" उसने बिछाते-बिछाते ही उत्तर दिया—"हो गया है।" जमालि सोने के लिए खडा हुआ। उसने जाकर देखा तो बिस्तर अभी बिछाया ही जा रहा था। यह देख कर उसने सोचा—भगवान् महावीर जो 'क्रियमाण कृतम्' अर्थात् 'किया जाने वाला कर दिया गया' का कथन करते है वह मिथ्या है। यदि 'क्रियमाण' (किया जाने वाला) 'कृत' (कर दिया गया) होता तो मै इस बिस्तर पर इसी समय सो सकता किन्तु बात ऐसी नही है। अत महावीर का यह सिद्धान्त कि 'क्रियामाण कृत है' झूठा है। दूसरे साधुओ ने उसे 'क्रियमाण कृतम्' का वास्तविक अर्थ समझाया किन्तु उसके मन मे किसी की बात नही बैठी। उसने उसी समय से अपने विरोधी सिद्धान्त 'बहुरत' का प्रतिपादन प्रारभ कर दिया।

इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी क्रिया एक समय में न होकर बहुत समय मे होती है। भाष्यकार ने अनेक हेतु देकर इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। इसमे प्रियदर्शना (सुदर्शना—अनवद्या—ज्येष्ठा) का वृत्तान्त भी दिया गया है जिसने पहले तो पति के अनुराग के कारण जमालि के सघ मे जाना स्वीकार कर लिया था किन्तु बाद में भगवान् महावीर के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ समझने पर पुन महावीर के सघ मे सम्मिलित हो गई।[1]

द्वितीय निह्नव :

द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीवप्रादेशिक मत का प्ररूपण किया था। तिष्यगुप्त वसु नामक चौदहपूर्वधर आचार्य का शिष्य था। वह जिस समय राजगृह—ऋषभपुर में था उस समय आत्मप्रवाद नामक पूर्व के आधार पर उसने एक नया तर्क उपस्थित किया और जीवप्रादेशिक मत की स्थापना की। कथानक इस प्रकार है : गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते है ?" महावीर ने कहा—"नही ऐसा नही हो सकता। इसी प्रकार दो, तीन, सख्यात अथवा असख्यात प्रदेशो को तो क्या, जीव के जो असख्यात प्रदेश है उनमें से एक प्रदेश भी कम हो तो उसे जीव नही कह सकते। लोकाकाश के प्रदेशो के बराबर सम्पूर्ण प्रदेशयुक्त होने पर ही वह जीव कहा जाता है।" इस सवाद को सुनकर तिष्यगुप्त ने अपने गुरु वसु से कहा—"यदि ऐसा ही है तो जिस प्रदेश के बिना वह जीव नही कहलाता और जिस एक प्रदेश से वह जीव कहलाता है उस चरम प्रदेश को ही जीव क्यो न मान लिया जाए ? उसके अतिरिक्त अन्य प्रदेश तो उसके बिना अजीव ही है क्योकि उसी से वे सब जीवत्व प्राप्त करते है।" गुरु ने उसे महावीर की जीवविषयक उपर्युक्त मान्यता का रहस्य समझाने का काफी प्रयत्न किया किन्तु उसने अपना मत नही छोडा तथा दूसरो को भी इसी प्रकार समझाने लगा। परिणामस्वरूप वह सघ से निकाल दिया गया और अपनी जीवप्रदेशी मान्यता के कारण जीवप्रादेशिक के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। एक समय अमलकल्पा नामक नगरी के मित्रश्री नामक श्रमणोपासक ने तिष्यगुप्त के पात्र मे अनेक प्रकार के पदार्थो का थोडा-थोडा अतिम अश रखा और कहने लगा—"मेरा अहोभाग्य है कि आज मैने आपको इतने सारे पदार्थो का दान दिया।' यह सुनकर तिष्यगुप्त क्रुद्ध होकर बोला—"तुमने यह मेरा अपमान किया है।" मित्रश्री ने तुरन्त उत्तर दिया—"मैने आप ही के मत के अनुसार इतना सारा दान दिया है।" यह सुनकर तिष्यगुप्त को अपने मिथ्या मत का

---

१. गा० २३०६–२३३२.

भान हुआ। उसने अपने अभिनिवेश का प्रायश्चित्त किया और गुरु से क्षमा-याचना की।[1]

तृतीय निह्नव :

तीसरे निह्नव की मान्यता का नाम अव्यक्तमत है। श्वेतविका नगरी के पौलापाढ चैत्य मे आषाढ नामक आचार्य ठहरे हुए थे। उनके अनेक शिष्य योग की साधना मे सलग्न थे। आषाढ अकस्मात् रात्रि मे मरकर देव हुए। उन्हे अपने योगसलग्न शिष्यो पर दया आई और वे पुन अपने मृत शरीर मे रहने लगे तथा अपने शिष्यो को पूर्ववत् ही आचार आदि की शिक्षा देते रहे। जब योग-साधना समाप्त हुई तब उन्होने अपने शिष्यो को वन्दना कर कहा—"हे श्रमणो! मुझे क्षमा करना कि मैंने असंयतो होते हुए भी आप लोगो से आज तक वन्दना करवाई।" इतना कहकर वे अपना शरीर छोड कर देवलोक मे चले गए। यह जानकर उनके शिष्यो को भारी पश्चात्ताप होने लगा कि हमने असयती—देव को इतनी बार वदना की। उन्हे धीरे-धीरे ऐसा मालूम होने लगा कि किसी के विषय मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह साधु है या देव। इसलिए किसी को वन्दना करनी ही नही चाहिए। वन्दना करने पर वह व्यक्ति साधु के वदले देव निकल जाता है तो असयत-नमन का दोष लगता है; यदि यह कहा जाए कि वह साधु नही है और कदाचित् साधु ही हो तो मृषावाद का पाप लगता है। चूंकि किसी की साधुता का निश्चय हो ही नही सकता इसलिए किसी को भी वंदना नही करनी चाहिए। अन्य स्थविरो ने उन्हें बहुत समझाया कि ऐसा ऐकान्तिक आग्रह करना ठीक नही किन्तु उन्होने किसी की न मानी और सघ से अलग होकर अव्यक्तमत का प्रचार करने लगे। एकबार राजगृह के बलभद्र राजा ने ऐसा आदेश निकाला कि इन सब साधुओ को मार डालो। यह जानकर वे लोग बडे व्याकुल हुए और राजा से कहने लगे—"हम लोग साधु है और तू हमें कैसे मरवा सकता है? राजा ने कहा—"आपका कहना तो ठीक है किन्तु मै कैसे जान सकता हूँ कि तुम लोग चोर हो या साधु?" यह सुनकर उन लोगो का भ्रम दूर हुआ और यथोचित प्रायश्चित्त करके वे पुन. सघ में सम्मिलित हुए।[2] आषाढ़ के कारण से अव्यक्तमत का उद्भव हुआ अतः उसके नाम के साथ यह मत जोड दिया गया।

चतुर्थ निह्नव

यह निह्नव सामुच्छेदिक के नाम से प्रसिद्ध है। समुच्छेद का अर्थ है जन्म होते ही अत्यन्त नाश। इस प्रकार की मान्यता का समर्थक सामुच्छेदिक

---

१. गा० २३३३-२३५५. २. गा० २३५६-२३८८.

कहलाता है। इस मत की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है महागिरि का प्रशिष्य तथा कौण्डिन्य का शिष्य अश्वमित्र अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करता था। उसमे ऐसा वर्णन आया कि वर्तमान समय के नारक विच्छिन्न हो जाएँगे। इसी प्रकार द्वितीयादि समय के नारक भी विच्छिन्न हो जाएँगे। वैमानिक आदि के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। यह जानकर उसके मन में शका हुई कि यदि इस प्रकार उत्पन्न होते ही जीव नष्ट हो जाता हो तो वह कर्म का फल कब भोगता है ? उसकी इस शका का समाधान करते हुए गुरु ने कहा कि पर्याय-रूप से नारकादि नष्ट होते हैं किन्तु द्रव्यरूप से तो वे विद्यमान ही रहते हैं अत' कर्मफल का वेदन घट सकता है। गुरु के समझाने पर भी वह अपने हठ पर दृढ रहा और एकान्त समुच्छेद का प्रचार करने लगा। परिणामत वह सघ मे बहिष्कृत कर दिया गया। एक समय अश्वमित्र विचरते-विचरते राजगृह में जा पहुँचा। वहाँ के श्रावको ने उसे पीटना शुरू किया। यह देखकर वह कहने लगा—"तुम लोग श्रावक होकर साधु को पीटते हो !" श्रावको ने उत्तर दिया—"जो साधु बना था वह अश्वमित्र और जो श्रावक बने थे वे लोग तो कभी के नष्ट हो चुके। तुम और हम तो कोई और ही हैं।" यह सुनकर अश्वमित्र को अपने मत की दुर्बलता महसूस हुई। उसने पुन अपने गुरु के पास जाकर क्षमायाचना की तथा महावीर के सघ का अनुयायी बना।[1]

पचम निह्नव ·

पचम निह्नव का नाम गग है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि एक समय मे दो क्रियाओ का अनुभव हो सकता है। इसी मान्यता के कारण उसे द्वैक्रिय निह्नव कहा जाता है। घटना इस प्रकार है · आर्य महागिरि का प्रशिष्य तथा धनगुप्त का शिष्य गग एक समय शरद् ऋतु मे अपने आचार्य को वदना करने के लिए उल्लुकातीर नामक नगर से निकल कर चला। रास्ते मे उल्लुका नदी में चलते समय उसे सिर पर लगती हुई सूर्य की गरमी तथा पैरो मे लगती हुई नदी की ठडक का अनुभव हुआ। यह देखकर उसने सोचा— 'सूत्रो में तो कहा गया है कि एक समय में एक ही क्रिया का वेदन हो सकता है किन्तु मुझे तो एक ही साथ दो क्रियाओ का अनुभव हो रहा है।' उसने अपना अनुभव अपने गुरु के सामने रखा। गुरु ने कहा—"तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु बात यह है कि समय और मन इतने सूक्ष्म हैं कि हम लोग सामान्यतया उनके छोटे-छोटे भेदो को नही समझ सकते। वास्तव में किसी भी क्रिया का वेदन क्रमश ही होता है।" गग को गुरु की बात जँची नही। वह सघ से अलग

१. गा० २३८९-२४२३.

होकर अपने मत का प्रचार करने लगा। एक समय राजगृह मे अपने मत का प्रचार करते हुए मणिनाग द्वारा भयभीत होकर उसने पुन' अपने गुरु के पास आकर प्रायश्चित्त किया।[1]

षष्ठ निह्नव :

छठे निह्नव का नाम रोहगुप्त अथवा षडुलूक है। उसने त्रैराशिक मत का प्ररूपण किया। इस मत का अर्थ है जीव, अजीव और नोजीव–इस प्रकार की तीन राशियो का सद्भाव। कथानक इस प्रकार है: एक समय रोहगुप्त किसी अन्य ग्राम से अतरजिका नगरी के भूतगृह नामक चैत्य मे ठहरे हुए अपन गुरु श्रीगुप्त को वदना करने जा रहा था। मार्ग मे उसने अनेक प्रवादियो को पराजित किया और सारा हाल अपने गुरु के सामने रखा। इसके बाद उसने मोरी, नकुली बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी और उलावकी विद्याओ को ग्रहण किया तथा पोट्टशाल नामक परिव्राजक को जो कि वृश्चिकी, सर्पी, मूषकी, मृगी, वराही, काकी तथा पोवाकी विद्याओ मे सिद्धहस्त था, वाद के लिए चुनौती दी। राजसभा में पोट्टशाल ने जीव और अजीव–इन दो राशियो की स्थापना की। उसे परास्त करने के लिए रोहगुप्त ने एक तीसरी राशि नोजीव की भी स्थापना की। इसी प्रकार अन्य विद्याओ मे भी उसे अपनी मोरी आदि विरोधी विद्याओं से पराजित किया। जब उसने अपने अपने गुरु के सामने यह सारा वृत्तान्त रखा तो गुरु ने कहा–"तू वापिस जा और राजसभा में जाकर कह कि राशित्रय का सिद्धान्त कोई वास्तविक सिद्धान्त नही है। मैंने केवल वादो को पराजित करने के लिए ही इस सिद्धान्त की अपने बुद्धिबल से स्थापना की है। यथार्थ मे राशित्रय का सिद्धान्त अपसिद्धान्त है।" रोहगुप्त ने गुरु की इस आज्ञा को न माना तथा अपने अभिनिवेश के कारण वह राशित्रय के सिद्धान्त पर ही डटा रहा। यह देखकर गुरु स्वय उसे अपने साथ राजसभा मे ले गये। वहाँ से राजा के साथ वे कुत्रिकापण (सब चीजो की दुकान) पर गये। वहाँ जाकर उन्होने जीव मागा तो जीव मिला, अजीव मागा तो अजीव भी मिला। जब उन्होने नोजीव मागा तो कुछ नही मिला। यह देखकर सभा में रोहगुप्त की पराजय की घोषणा कर दी गयी। इतना होने पर भी उसका अभिनिवेश कम न हुआ और उसने वैशेषिक मत का प्ररूपण किया। रोहगुप्त का नाम षडुलूक कैसे हो गया, इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उसका नाम तो रोहगुप्त है किन्तु गोत्र से वह उलूक हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक षट् पदार्थों का प्ररूपण करने के कारण उलूकगोत्रीय रोहगुप्त को षडुलूक कहा गया है।[2]

१. गा० २४२४-२४५०. २. गा० २४५१-२५०८

सप्तम निह्नव ·

सप्तम निह्नव का नाम गोष्ठामाहिल है। उसने इस मान्यता का प्रचार किया कि जीव और कर्म का बंध नही अपितु स्पर्शमात्र होता है। इसी अबद्ध सिद्धान्त के कारण वह अबद्धिक निह्नव के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति से सम्बद्ध कथा इस प्रकार है · आर्यरक्षित की मृत्यु के बाद आचार्य दुर्बलिका पुष्पमित्र गणिपद पर प्रतिष्ठित हुए। उसी गण मे गोष्ठामाहिल नाम का एक साधु भी था। एक समय आचार्य दुर्बलिका पुष्पमित्र विन्ध्य नामक एक साधु को कर्मप्रवाद नामक पूर्व का कर्मबन्धाधिकार पढा रहे थे। उसमे ऐसा वर्णन आया कि कोई कर्म केवल जीव का स्पर्श करके ही अलग हो जाता है। उसकी स्थिति अधिक समय तक की नही होती। जिस प्रकार किसी सूखी दीवाल पर मिट्टी डालते ही दीवाल का स्पर्श करते ही मिट्टी तुरन्त नीचे गिर पडती है उसी प्रकार कोई कम जीव का स्पर्श करके थोडे ही समय मे उससे अलग हो जाता है। जैसे गीली दीवाल पर मिट्टी डालने से वह उसी मे मिल कर एक रूप हो जाती है तथा बहुत समय के बाद उससे अलग हो सकती है वैसे ही जो कर्म बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित होता है वह जीव के साथ एकत्व को प्राप्त कर कालान्तर मे उदय मे आता है। यह सुनकर गोष्ठामाहिल कहने लगा—"यदि ऐसी बात है तो जीव और कर्म कभी अलग नही होने चाहिए क्योकि वे एकरूप हो जाते है। ऐसी स्थिति मे कर्मबद्ध को कभी मोक्ष नही हो सकता क्योकि वह हमेशा कर्म से बधा रहेगा। इसलिए वास्तव मे जीव और कर्म का बंध ही नही मानना चाहिए। केवल जीव और कर्म का स्पर्श ही मानना चाहिए।" आचार्य ने उसे इन दोनो अवस्थाओ का रहस्य समझाया किन्तु ईर्ष्या एव अभिनिवेश के कारण उसके मन मे उनकी बात न जँची। अन्ततोगत्वा वह सघ से बहिष्कृत कर दिया गया।[१]

अष्टम निह्नव

यह अन्तिम निह्नव है। इसकी प्रसिद्धि बोटिक—दिगबर के रूप में है। कथानक इस प्रकार है रथवीरपुर नामक नगर मे शिवभूति नामक एक साधु आया हुआ था। वहाँ के राजा ने उसे बहुमूल्य रत्नकम्बल दिया। यह देखकर शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण ने कहा—"साधु के मार्ग मे अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना ठीक नही।" उसने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर उस कम्बल को छिपाकर अपने पास रख लिया। गोचरचर्या से लौटने पर प्रतिदिन उसे सभाल लेता किन्तु कभी काम मे नही लेता। गुरु ने यह

१. गा० २५०९–२५४९

सब देखकर सोचा—'इसे इसमे मूर्च्छा हो गई है। उसे दूर करने का कोई उपाय करना चाहिए।' यह सोच कर उन्होने उसके बाहर जाने पर बिना कुछ पूछे-ताछे उस रत्नकम्बल को फाडकर उसके छोटे-छोटे टुकडे करके साधुओ के पादप्रोच्छनक बना दिये। यह जानकर शिवभूति मन ही मन जलने लगा। उसका कषाय दिन-प्रतिदिन बढने लगा। एक समय आचार्य जिनकल्पियो का वर्णन कर रहे थे 'किन्ही जिनकल्पियो के रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये दो ही उपधियाँ होती है, आदि।' यह सुनकर शिवभूति ने कहा—"यदि ऐसा ही है तो हम लोग इतना सारा परिग्रह क्योकर रखते है? उसी जिनकल्प का पालन क्यो नही करते?" आचार्य ने उसे समझाया कि इस समय उपयुक्त सहनन आदि का अभाव होने से उसका पालन शक्य नही। शिवभूति ने कहा—"मेरे रहते हुए यह अशक्य कैसे हो सकता है? मै अभी इसका आचरण करके दिखाता हूँ।" यह कहकर वह अभिनिवेशवश अपने वस्त्रो को वही फेक कर चला गया। बाद मे उसने कौडिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्यो को दीक्षा दी। इस प्रकार यह परपरा आगे बढती गयी जो बोटिक मत के नाम से प्रसिद्ध हुई। बोटिको के मतानुसार वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रहरूप है अत त्याज्य है। भाष्यकार आर्य-कृष्ण के शब्दो मे इस मत का खण्डन करते हुए कहते है कि जो जो कषाय का हेतु है वह वह यदि परिग्रह है और उसे त्याग देना चाहिए तो स्वकीय शरीर को भी त्याग देना पडेगा क्योकि वह भी कषायोत्पत्ति का हेतु है अत परिग्रह है।[१]

ग्यारहवे द्वार समवतार की व्याख्या करते समय गोष्ठामाहिल का प्रसग आया और उसी प्रसग से निह्नववादी की चर्चा प्रारभ हुई। इस चर्चा की समाप्ति के साथ समवतार द्वार की व्याख्या भी समाप्त होती है।

अनुमत द्वार :

बारहवें द्वार का नाम अनुमत है। व्यवहार-निश्चय नय की दृष्टि से कौनसी सामायिक मोक्षमार्ग का कारण है, इसका विचार करना अनुमत कहलाता है। नैगम, सग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा से सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्ररूप तीनो प्रकार की सामायिक मोक्षमार्गरूप मानी गयी है। शब्द तथा ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से केवल चारित्रसामायिक ही मोक्षमार्ग है।[२]

किं द्वार :

सामायिक क्या है? सामायिक जीव है अथवा अजीव? जीव और अजीव में भी वह द्रव्य है अथवा गुण? अथवा वह जीवाजीव उभयात्मक है? अथवा जीव और अजीव दोनो से भिन्न कोई अर्थान्तर है? आत्मा अर्थात् जीव ही

१ गा० २५५०—२६०९. २. गा० २६११—२६३२.

देशविरति मे न तो सब द्रव्य ही होते है और न सब पर्याय ही। भाष्यकार ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है।[1]

कथं द्वार

सामायिक कैसे प्राप्त होती है? इस द्वार की चर्चा भाष्यकार ने यहाँ नही की है। टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने इस ओर सकेत करते हुए लिखा है कि सामायिक महाकष्टलभ्य है। इसके लाभक्रम के लिए 'माणुस्स' से लेकर 'अब्भुट्ठाणे विणए' पर्यन्त की गाथाएँ देखनी चाहिए। कही कठिनाई होने पर मूलावश्यक-टीका से सहायता लेनी चाहिए।[2]

कियच्चिर द्वार

उन्नीसवा द्वार कियच्चिर है। इसमें इस प्रश्न का विचार किया गया है कि सामायिक कितने समय तक रहती है। सम्यक्त्व और श्रुत की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम (पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक) है जबकि देशविरति और सर्वविरति की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि देशोन है। सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है जबकि सर्वविरति सामायिक की जघन्य स्थिति एक समय है। यह सब लब्धि का स्थितिकाल है। उपयोग की दृष्टि से तो सभी की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

कति द्वार

सम्यक्त्वादि सामायिको के विवक्षित समय में कितने प्रतिपत्ता, प्रतिपन्न अथवा प्रतिपतित होते है? सम्यक्त्वी और देशविरत प्राणी (क्षेत्र) पल्योपम के असख्यातवे भाग के बराबर होते है। श्रुतप्रतिपत्ता श्रेणि के असख्यातवें भाग के बराबर होते है। सर्वविरतिप्रतिपत्ता सहस्राग्रश होते हैं। यह सब प्रतिपत्ताओं की उत्कृष्ट सख्या है। पूर्वप्रतिपन्नो का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वर्तमान समय मे सम्यक्त्व और देशविरतिप्रतिपन्न असख्येय है, सर्वविरतिप्रतिपन्न सख्येय हैं। इन तीनो को प्राप्त कर जो प्रतिपतित हो चुके हैं वे अनन्तगुण है। संप्रति श्रुतप्रतिपन्न प्रतर के असख्यातवें भाग के बराबर है। शेष ससारस्थ जीव (भाषालब्धिरहित पृथ्वी आदि) भाषालब्धि को प्राप्त करके प्रतिपतित होने के कारण सामान्यश्रुत से प्रतिपतित माने गए है।[4]

सान्तर द्वार

जीव को किसी एक समय सम्यक्त्वादि सामायिक प्राप्त होने पर पुन उसका परित्याग हो जाने पर जितने समय के बाद उसे पुन. उसकी प्राप्ति होती है उसे

---

१. गा० २७५१–२७६० २. पृ० १०९७ ३ गा० २७६१–३.
४. गा० २७६४–२७७४

अन्तरकाल कहते हैं। वह सामान्याक्षरात्मक श्रुत में जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्टत अनन्तकाल है। शेष में जघन्यत अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्टत देशोन अर्धपरावर्तक है।[1]

अविरहित द्वार .

सम्यक्त्व, श्रुत तथा देशविरति सामायिक का उत्कृष्ट अविरह काल आवलिका का असख्येय भाग है, चारित्र (सर्वविरति) का आठ समय है। जघन्यत सब सामायिकों का दो समय है।[2]

सम्यक्त्व और श्रुत का उत्कृष्ट विरहकाल सप्त अहोरात्र है, देशविरति का द्वादश अहोरात्र है। सर्वविरति का पचदश अहोरात्र है।[3]

भव द्वार :

सम्यग्दृष्टि तथा देशविरत उत्कृष्टत पल्य के असख्येय भाग जितने भवों को प्राप्त करते हैं। सर्वविरत उत्कृष्टत आठ भवों को प्राप्त करता है। श्रुत-सामायिक वाला उत्कृष्टत अनन्त भव प्राप्त करता है[4] (जघन्यत सब के लिए एक भव है)।

आकर्ष द्वार :

आकर्ष का अर्थ है आकर्षण अर्थात् प्रथम बार अथवा छोड़े हुए का पुनर्ग्रहण। सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक का एक भव में उत्कृष्ट आकर्ष सहस्रपृथक्त्व बार होता है, सर्वविरति का शतपृथक्त्व बार होता है (जघन्यत सब का एक बार ही आकर्ष है)। नाना भवों की अपेक्षा से सम्यक्त्व और देशविरति के उत्कृष्टत असख्येय सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते हैं, सर्वविरति के सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते हैं, श्रुत के आकर्ष तो अनन्त हैं।[5]

स्पर्शन द्वार :

सम्यक्त्व-चरणयुक्त प्राणी उत्कृष्टत सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं (जघन्यत असख्येय भाग का स्पर्श करते हैं)। श्रुत के सप्तचतुर्दशभाग (७/१४) तथा पचचतुर्दशभाग (५/१४) स्पर्शनीय हैं। देशविरति के पचचतुर्दशभाग (५/१४) स्पर्शनीय है।[6]

निरुक्ति द्वार

अन्तिम द्वार का नाम निरुक्ति है। सम्यक्त्व सामायिक की निरुक्ति इस प्रकार है सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भावदर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि सम्यक्त्व के निरुक्त—पर्याय हैं। श्रुत सामायिक की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि अक्षर, सज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अगप्रविष्ट—

---

१. गा० २७७५. २. गा० २७७७. ३. गा० २७७८
४ गा० २७७९. ५. गा० २७८०–८१. ६. गा० २७८२.

ये सात और सात इनके प्रतिपक्षी—इस प्रकार चौदह भेद-पूर्वक श्रुत का विचार करना चाहिए। विरताविरति, सवृतासवृत, बालपण्डित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म, अगारधर्म आदि देशविरति सामायिक के निरुक्त—पर्याय है। सामायिक, सामयिक, सम्यग्वाद, समास, सक्षेप, अनवद्य, परिज्ञा, प्रत्याख्यान—ये आठ सर्वविरति सामायिक के निरुक्त—पर्याय है।[1] यहाँ तक सामायिक के उपोद्घात का अधिकार है।

नमस्कारनिर्युक्ति

सामायिक के इस सुविस्तृत उपोद्घात की समाप्ति के बाद भाष्यकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का विस्तृत व्याख्यान किया है। नमस्कार (अन्तमगलरूप) की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह द्वारो से नमस्कार का व्याख्यान करना चाहिए।[2] भाष्यकार ने इन सभी द्वारो का बहुत विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है। इस विवेचन में भी निक्षेपपद्धति का आश्रय लिया गया है जिसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, भेद, सम्बन्ध, काल, स्वामी आदि अनेक प्रभेदो का समावेश किया गया है। प्रत्येक द्वार के व्याख्यान मे यथा-सम्भव नयदृष्टि का आधार भी लिया गया है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार क्यो करना चाहिए, इसका युक्तियुक्त विचार किया गया है। राग, द्वेष, कषाय आदि दोषो की उत्पत्ति आदि का भी सक्षिप्त विवेचन किया गया है। सिद्ध के स्वरूप का वर्णन करते समय आचार्य ने कर्मस्थिति तथा समुद्घात की प्रक्रिया का भी वर्णन किया है। शैलेशी अवस्था का स्वरूप बताते हुए शुक्लध्यान आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।[3] सिद्ध को साकार उपयोग होता है अथवा निराकार, इसकी चर्चा करते हुए भाष्यकार ने केवल-ज्ञान और केवलदर्शन के भेद और अभेद का विचार किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं या क्रमश, इस प्रश्न पर आगमिक मान्यता के अनुसार विचार करते हुए इस मत की पुष्टि की है कि केवली को एक साथ दो उपयोग नही हो सकते।[4] सिद्धिगमनक्रिया का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने अलाबु, एरण्डफल, अग्निशिखा, शर आदि दृष्टान्तो का स्पष्टीकरण तथा विविध आक्षेपो का परिहार किया है। सिद्धसम्बन्धी अन्य आवश्यक बातो की जानकारी के साथ सिद्धनमस्कार का अधिकार समाप्त किया गया है।[5] इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधुनमस्कार का विवेचन किया गया है।[6] नमस्कार के प्रयोजन, फल आदि द्वारो का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने परिणाम-विशुद्धि का

१. गा० २७८४–७ २ गा० २८०५. ३. गा० २८०६–३०८८. ४. गा० ३०८९–३१३५. ५ गा० ३१४०–३१८८ ६ गा० ३१८९-३२००.

तृतीय प्रकरण

जीतकल्पभाष्य

आचार्य जिनभद्र का दूसरा भाष्य जीतकल्प सूत्र पर है। यह सूत्र आचार्य की स्वय की ही कृति है। इसमें १०३ प्राकृत गाथाएँ है जिनमें जीतव्यवहार के आधार पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्तो का सक्षिप्त वर्णन है। मोक्ष के हेतुभूत चारित्र के साथ प्रायश्चित्त का विशेषरूप से सम्वन्ध है क्योकि चारित्र के दोषो की शुद्धि का मुख्य आधार प्रायश्चित्त ही है। ऐसी दशा में मुमुक्षु के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान आवश्यक है। मूल सूत्र मे आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दस भेद गिनाए हैं तथा प्रत्येक प्रायश्चित्त के अपराधस्थानो का निर्देश किया है और यह वताया है कि किस अपराध के लिए कौन सा प्रायश्चित्त करना चाहिए। आचार्य ने यह वताया है कि अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त चौदहपूर्वधर के समय तक दिए जाते थे अर्थात् चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय तक ये प्रायश्चित्त प्रचलित थे। उसके वाद उनका विच्छेद हो गया।

जीतकल्पभाष्य[1] उपर्युक्त सूत्र पर २६०६ गाथाओ मे लिखा गया स्वोपज्ञ भाष्य है। इस भाष्य मे वृहत्कल्प-लघु भाष्य, व्यवहारभाष्य, पचकल्पमहाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रथो की अनेक गाथाएँ अक्षरश मिलती हैं।

इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए यह भी कहा जाता है कि प्रस्तुत भाष्यग्रथ कल्पभाष्य आदि ग्रथो की गाथाओ का सग्रहरूप ग्रथ है।[2] जीतकल्पसूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण है, यह निर्विवाद है। जीतकल्पभाष्य के कर्ता कौन है, इस प्रश्न का समाधान करते हुए यह कहा गया है कि प्रस्तुत भाष्य में भाष्यकार ने किसी भी स्थान पर अपने नाम का उल्लेख नही किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही है जिसके आधार पर भाष्यकार के नाम का ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके। ऐसी स्थिति मे प्रस्तुत भाष्य को निम्न गाथा के आधार पर कुछ निर्णय किया जा सकता है —

---

१ सशोधक—मुनि पुण्यविजय, प्रकाशक—बबलचद्र केशवलाल मोदी, हाजापटेल की पोल, अहमदाबाद, वि० स० १९९४

२. जीतकल्पसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्यसहित) · प्रस्तावना, पृ० ४-५.

तिमयहारादीण, गाहाणऽट्ठण्ह वी समुच्च तु।
वित्थरओ वण्णेज्जा, जह हेट्ठाऽऽवस्सए भणियं ॥६०॥

इस गाथा के 'जह हेट्ठाऽऽवस्सए भणियं' इस पाठ की ओर ध्यान देने से सहज ही प्रतीत होता है कि यहाँ 'जह आवस्सए भणियं' इतना सा पाठ ही काफी होते हुए भाष्यकार ने 'हेट्ठा' शब्द और क्यों बढ़ाया ? 'हेट्ठा' शब्द कोई पादपूर्त्यर्थक शब्द नहीं कि वैसा मानने से काम चल जाए। वाङ्मय में इस प्रकार 'हेट्ठा' और 'उवरि' इन दो शब्दों का अनुक्रम से 'पूर्व' और 'अग्रे' अर्थ में ही काम में लाते हैं, उदाहरणार्थ 'हेट्ठा भणियं' अर्थात् 'पूर्वं भणितम्' तथा 'उवरिं वोच्छं' अर्थात् 'अग्रे वक्ष्ये'। इससे यह फलित होता है कि प्रस्तुत भाष्यकार ने 'तिमयहार' अर्थात् 'जावइया तिसमया' (आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ३०) इत्यादि आठ गाथाओं का विवरण पहले आवश्यक में अर्थात् आवश्यकभाष्य में विस्तार से दे दिया है। आवश्यकनिर्युक्ति के अन्तर्गत 'जावइया तिसमया' आदि गाथाओं का भाष्य लिखकर विस्तृत व्याख्यान करने वाला आचार्य जिनभद्र के सिवाय अन्य कोई नहीं है। इसलिए जीतकल्पभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही होने चाहिए।[1]

प्रायश्चित्त का अर्थ :

सर्वप्रथम आचार्य ने 'प्रवचन' शब्द का निरुक्तार्थ करते हुए प्रवचन को नमस्कार किया है। इसके बाद इस प्रकरण में प्रायश्चित्त की व्याख्या करने का संकल्प करते हुए 'प्रायश्चित्त' शब्द का निरुक्तार्थ किया है। 'प्रायश्चित्त' के प्राकृत में दो रूप प्रचलित हैं : 'पायच्छित्त' और 'पच्छित्त'। इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो पाप का छेद करता है वह 'पायच्छित्त' है एवं प्रायः जिससे चित्त शुद्ध होता है वह 'पच्छित्त' है।[2]

आगमव्यवहार :

सूत्र की प्रथम गाथा में प्रयुक्त 'जीतव्यवहार' का व्याख्यान करने के लिए भाष्यकार ने आगमादि व्यवहारपञ्चक—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-व्यवहार का विवेचन किया है। आगमव्यवहार के दो भेद हैं : प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद हैं : इन्द्रियज और नोइन्द्रियज। इन्द्रियप्रत्यक्ष को पाँच विषयों के रूप में समझना चाहिए। 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य ने 'अक्ष' के अर्थ के सम्बन्ध में अन्य मत का निर्देश एवं प्रतिषेध

---

१. वही, पृ० ५-६ २. गा० १-५

किया है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष आगम तीन प्रकार का है - अवधि, मनःपर्यय और केवल। अवधिज्ञान या तो भवप्रत्ययिक होता है या गुणप्रत्ययिक। अवधि के छ. भेद है अनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमानक, हीयमानक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती। द्रव्यावधि, क्षेत्रावधि, कालावधि और भावावधि की दृष्टि से अवधिज्ञान का विचार किया जाता है। मन पर्यय के दो भेद है - ऋजुमति और विपुलमति। इसका भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपूर्वक विचार किया जाता है। केवलज्ञान सर्वावरण का क्षय होने पर उत्पन्न होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य का कोई ऐसा क्षण नही है जिसका केवली को प्रत्यक्ष न हो। क्षयोपशमजन्य मति आदि ज्ञानो का केवलो मे अभाव है क्योंकि उसका ज्ञान सर्वथा क्षयजन्य है।[1]

श्रुतधर आगमत परोक्ष व्यवहारी है। चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, नवपूर्वधर, गन्धहस्ती आदि इसी कोटि के है।[2]

प्रायश्चित्त के स्थान :

इसके बाद भाष्यकार अपने मूल विषय प्रायश्चित्त का विवेचन प्रारम्भ करते है। प्रायश्चित्त को न्यूनता-अधिकता सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के बाद प्रायश्चित्तदान के योग्य व्यक्ति का स्वरूप बताते हुए आलोचना के श्रवण का क्रम बताते है।[3] प्रायश्चित्त के अठारह, बत्तीस तथा छत्तीस स्थानो का विचार किया है। बत्तीस स्थानो के लिए आठ गणिसम्पदाओ का विवेचन किया है। आठ सपदाओ के प्रत्येक के चार-चार भेद किए गए है १ चार प्रकार को आचारसम्पदा, २ चार प्रकार को श्रुतसम्पदा, ३ चार प्रकार को शरीरसम्पदा, ४. चार प्रकार वचनसम्पदा, ५ चार प्रकार की वाचनासम्पदा, ६ चार प्रकार की मतिसम्पदा, ७ चार प्रकार की प्रयोगमतिसम्पदा, ८ चार प्रकार की सग्रहपरिज्ञासम्पदा। इनमे चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति और मिला देने से प्रायश्चित्त के छत्तीस स्थान बन जाते है। विनयप्रतिपत्ति के चार भेद इस प्रकार है आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणविनय और दोषनिर्घातविनय। इनमे से प्रत्येक के पुन चार भेद है।[4]

प्रायश्चित्तदाता •

प्रायश्चित्त देनेवाले योग्य ज्ञानियो का अभाव होने पर प्रायश्चित्त कैसे सम्भव हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते है कि प्रायश्चित्त

---

१ गा० ७-१०९ २ गा० ११०-६

३ गा० ११७-१४८. ४ गा० १४९-२४१.

देने की योग्यता वाले महापुरुष केवली तथा चौदहपूर्वधर इस युग मे नही है, यह बात सच है किन्तु प्रायश्चित्त की विधि का मूल प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु मे है और उसके आधार पर कल्प, प्रकल्प तथा व्यवहार ग्रन्थो का निर्माण हुआ है।[1] ये ग्रन्थ तथा इनके ज्ञाता आज भी विद्यमान है। अतः प्रायश्चित्त का व्यवहार इन ग्रन्थो के आधार पर सरलतापूर्वक किया जा सकता है और इस प्रकार चारित्र की शुद्धि हो सकती है।[2]

प्रायश्चित्तदान की सापेक्षता :

दस प्रकार के प्रायश्चित्त का नामोल्लेख करने के बाद प्रायश्चित्तदान का विभाग किया गया है तथा प्रायश्चित्तविधाताओ का सद्भाव सिद्ध किया गया है।[3] सापेक्ष प्रायश्चित्तदान के लाभ और निरपेक्ष प्रायश्चित्तदान की हानि की ओर सकेत करते हुए कहा गया है कि प्रायश्चित्तदान मे दाता को दयाभाव रखना चाहिए तथा जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति की ओर भी ध्यान रखना चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त का प्रयोजन सिद्ध होता है तथा प्रायश्चित्त करने वाले को सयम में दृढता हो सकती है। ऐसा न करने से प्रायश्चित्त करने वाले मे प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह सयम मे स्थिर होने के बजाय सयम का सर्वथा त्याग ही कर देता है। प्रायश्चित्त देने मे इतना अधिक दयाभाव भी नही रखना चाहिए कि प्रायश्चित्त का विधान ही भग हो जाए और दोषो की परम्परा इतनी अधिक बढ जाए कि चारित्रशुद्धि हो ही न सके। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र स्थिर नही रह सकता। चारित्र के अभाव मे तीर्थ चारित्र-शून्य हो जाता है। चारित्रशून्यता से निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। निर्वाण-लाभ का अभाव हो जाने पर कोई दीक्षित भी नही होगा। दीक्षित साधुओ के अभाव मे तीर्थ भी नही बनेगा। इस प्रकार प्रायश्चित्त के अभाव में तीर्थ टिक ही नही सकता। इसलिए जहाँ तक तीर्थ की स्थिति है वहाँ तक प्रायश्चित्त की परम्परा चलनी ही चाहिए।[4]

भक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण व पादपोपगमन

प्रायश्चित्त के विधान का विशेष समर्थन करते हुए भाष्यकार ने प्रसगवशात् भक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण तथा पादपोपगमन—इन तीन प्रकार की मारणातिक साधनाओका विस्तृत वर्णन किया है। भक्तपरिज्ञा की विधि की ओर सकेत करते हुए निर्व्याघात और सव्याघातरूपी सपराक्रमभक्तपरिज्ञा के स्वरूप का निम्न द्वारो से विचार किया है : १ गणिनिस्सरण, २. श्रिति, ३ सलेखना, ४. अगीत, ५ असविग्न, ६ एक, ७ आभोग, ८ अन्य, ९ अनापृच्छा,

---

१. कल्प अर्थात् बृहत्कल्प, प्रकल्प अर्थात् निशीथ।

२. गा० २५५–२७३. ३ गा० २७४–२९९. ४. गा० ३००–३१८.

१० परीक्षा, ११ आलोचना, १२ स्थान—वसति, १३ निर्यापक, १४ द्रव्यदापना, १५ हानि १६ अपरितान्त, १७ निर्जरा, १८ सस्तारक, १९ उद्वर्तना, २० स्मारणा, २१ कवच, २२ चिह्नकरण, २३ यतना। इसी प्रकार निर्व्याघात और सव्याघातरूपी अपराक्रमभक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण और पादपोपगमन के स्वरूप का विवेचन किया गया है।[1] यहाँ तक आगमव्यवहार का अधिकार है।

श्रुतादिव्यवहार :

पूर्वनिर्दिष्ट आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार मे से आगम व्यवहार का व्याख्यान समाप्त करके आचार्य ने श्रुतव्यवहार का सक्षिप्त विवेचन किया है। आज्ञाव्यवहार का व्याख्यान करते हुए अपरिणत, अतिपरिणत और परिणत शिष्यो की परीक्षा के स्वरूप की ओर निर्देश किया है। इसके बाद दर्प के दस तथा कल्पना के चौबीस भेदो का सभग विवेचन किया है। इसी प्रकार धारणाव्यवहार का भी विचार किया गया है।[2]

जीतव्यवहार :

जो व्यवहार परपरा से प्राप्त हो, श्रेष्ठ पुरुषो द्वारा अनुमत हो, जिसका बहुश्रुतो ने अनेक बार सेवन किया हो तथा जिसका उनके द्वारा निवारण न किया गया हो वह जीतव्यवहार कहलाता है। जिसका आधार आगम, श्रुत, आज्ञा अथवा धारणा न हो वह जीतव्यवहार है। उसका मूल आधार आगमादि न होकर केवल परपरा ही होती है। जिस जीतव्यवहार मे चारित्र की शुद्धि होती हो उसी का आचरण करना चाहिए। जो जीतव्यवहार चारित्र-शुद्धि का कारण न हो उसका आचरण नही करना चाहिए। संभव है कि ऐसा भी कोई जीतव्यवहार हो जिसका आचरण किसी एक ही व्यक्ति ने किया हो फिर भी यदि वह व्यक्ति सवेगपरायण हो, दान्त हो तथा वह आचार शुद्धिकर हो तो उस जीतव्यवहार का अनुकरण करना चाहिए।[3] इसके बाद भाष्यकार ने व्यवहार के स्वरूप का उपसहार किया है।[4] यहाँ तक मूल सूत्र की प्रथम गाथा का व्याख्यान है।

प्रायश्चित्त के भेद :

प्रायश्चित्त का माहात्म्य-वर्णन करने के बाद आचार्य ने उसके दस भेदों की गणना व उनका सक्षिप्त स्वरूप-वर्णन किया है। प्रायश्चित्त के दस भेद ये है १ आलोचना, २ प्रतिक्रमण, ३ मिश्र, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ मूल, ९ अनवस्थाप्य, १० पाराचिक।[5]

---

१ गा० ३२२–५५९   २. गा० ५६०–६७४   ३ गा० ६७५–६९४
४ गा० ६९५–७०५   ५ गा० ७०६–७३०

आलोचना :

प्रथम प्रायश्चित्त आलोचना के अपराध-स्थानो की ओर सक्षेप मे सकेत करते हुए इसी प्रसग से 'छद्म' का अर्थ बताते हुए भाष्यकार कहते है कि छद्म कर्म को कहते है। वह कर्म चार प्रकार का है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। जब तक प्राणी इन चार प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त नही होता तब तक वह छद्मस्थ कहलाता है। आलोचना आदि प्रायश्चित्तों का विधान छद्मस्थो के लिए ही है।[1]

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण के अपराध-स्थानों का वर्णन करते हुए गुप्ति और समिति का भी सोदाहरण वर्णन किया गया है। मनोगुप्ति के लिए जिनदास का उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार वचनगुप्ति और कायगुप्ति के लिए भी दो अन्य उदाहरण दिए गए है। समितियो का स्वरूप समझाते हुए ईर्यासमिति के लिए अर्हन्नक का उदाहरण दिया गया है। भाषासमिति का स्वरूप समझाने के लिए एक साधु का दृष्टान्त उपस्थित किया गया है। वसुदेव के जीव नदिवर्धन का उदाहरण देकर एषणासमिति का स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार आदान-निक्षेपणासमिति के लिए भी एक उदाहरण दिया गया है। परिष्ठापनिकासमिति का स्वरूप समझाने के लिए धर्मरुचि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है।[2] इस प्रसग पर भाष्यकार ने निम्न विषयो की चर्चा भी की है गुरु की आशातना और उसका स्वरूप, गुरु और शिष्य का भाषा-प्रयोग, गुरु-विनय का भग और उसका स्वरूप, विनय-भग के सात प्रकार, इच्छादि, दस प्रकार की अकरणता, लघुमृषावाद व उसका स्वरूप।[3]

प्रतिक्रमण से सम्बन्धित अविधि, कास, जृम्भा, क्षुत, वात, असक्लिष्टकर्म, कन्दर्प, हास्य, विकथा, कषाय, विषयानुषग, स्खलना, सहसा, अनाभोग, आभोग, स्नेह, भय, शोक और बाकुशिक अपराध-स्थानो का मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए व्याख्यान किया गया है।[4]

मिश्र प्रायश्चित्त :

इस प्रायश्चित्त मे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो का समावेश है। इसमें आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनो के सयुक्त अपराध-स्थानो का विवेचन किया

---

१ गा० ७३५ २ गा० ७८४–८६० ३ गा० ८६१–९०५
४ गा० ९०६–९३२.

गया है। सम्भ्रम, भय, आपत्, सहसा, अनाभोग, अनात्मवशता, दुश्चितित, दुर्भाषित, दुश्चेष्टित आदि अपराध-स्थान मिश्र कोटि के है। भाष्यकार ने इनकी विशेष व्याख्या की है।[1]

विवेक

विवेक-प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानो का विवेचन करते हुए आचार्य ने पिण्ड, उपधि, शय्या, कृतयोगी, कालातीत, अध्वातीत, शठ, अशठ, उद्गत, अनुद्गत, कारणगृहीत आदि पदो की व्याख्या की है।[2] व्याख्या बहुत सक्षिप्त एव सारग्राही है। इसके बाद व्युत्सर्ग-प्रायश्चित्त का व्याख्यान प्रारभ होता है।

व्युत्सर्ग

पचम प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग के अपराध-स्थानो का विश्लेषण करने के लिए भाष्यकार ने मूल सूत्र मे निर्दिष्ट गमन, आगमन, विहार, श्रुत, सावद्यस्वप्न, नाव, नदी, सन्तार आदि पदो का सक्षिप्त व्याख्यान किया है। इसके बाद तपः प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानो की व्याख्या प्रारभ होती है।

तप

तप की चर्चा के प्रारभ मे ज्ञान और दर्शन के आठ-आठ अतिचारो का विचार किया गया है। ज्ञान के आठ अतिचार निम्नोक्त आठ विषयो से सम्बन्धित है . १. काल, १ विनय, ३ बहुमान, ४. उपधान, ५ अनिह्नवन, ६ व्यञ्जन, ७ अर्थ, ८ तदुभय। दर्शन के अतिचारो का सम्बन्ध निम्न आठ विषयो से है १. नि शकित, २ निष्कांक्षित, ३ निर्विचिकित्सा, ४ अमूढदृष्टि, ५ उपबृहण, ६ स्थिरीकरण, ७ वात्सल्य, ८ प्रभावना।[4] इसके बाद छ. व्रतरूप चारित्र के अतिचारो का वर्णन किया गया है।[5] चारित्रोद्गम का स्वरूप बताते हुए उद्गम के सोलह दोषो का भी विवेचन किया गया है।[6] ये सोलह दोष इस प्रकार हैं . १ आधाकम, २ औद्देशिक, ३ पूतिकर्म, ४ मिश्रजात, ५ स्थापना ६ प्राभृतिका, ७ प्रादुष्करण, ८ क्रीत, ९ प्रामित्य, १० परावर्तित, ११. अभ्याहृत, १२ उद्भिन्न, १३ मालाहृत, १४ आच्छेद्य, १५ अनिसृष्ट १६ अध्यवपूरक।[7] उद्गम के बाद उत्पादना का स्वरूप बताया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार प्रकार के निक्षेपो द्वारा उत्पादना का विश्लेषण किया गया है।[8] इसके भी सोलह दोष है १ धात्रीदोष, २ दूतीदोष, ३ निमित्तदोष, ४ आजीवदोष, ५ वनीपकदोष, ६ चिकित्सादोष, ७ क्रोधदोष,

---

१. गा० ९३३–९५४. २. गा० ९५५–९७१ ३ गा० ९७२–९९७
४ गा०९९८-१०६८. ५ गा० १०६९-१०८६, ६. गा० १०९८-१२८६,
७. गा० १०९५-७ ८. गा० १३१३-८.

८. मानदोष, ९. मायादोष, १० लोभदोष, ११ सस्तवदोष, १२ विद्यादोष, १३ मन्त्रदोष, १४ चूर्णदोष, १५ योगदोष, १६ मूलकर्मदोष ।[1] इन दोषो का भाष्यकार ने बहुत विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। क्रोध के लिए क्षपक का, मान के लिए क्षुल्लक का, माया के लिये आषाढभूति का, लोभ के लिये सिंहकेसर नामक मोदक की इच्छा रखने वाले क्षपक का, विद्या के लिए भिक्षु-उपासक अर्थात् बौद्ध-उपासक का, मत्र के लिए पादलिप्त और मुरुडराज का, चूर्ण के लिए दो क्षुल्लको का और योग के लिए ब्रह्मद्वैपिक तापसो का उदाहरण दिया है।[2]

ग्रहणैषणा का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने ग्रहणैषणा के दस प्रकारो का भी उल्लेख किया है। जिन दस पदो से ग्रहणैषणा की शुद्धि होनी चाहिए उनके नाम ये हैं · शकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित।[3] इन दस प्रकार के दोषो का विशेष वर्णन करने के बाद ग्रासैषणा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके लिए सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम, कारण आदि दोषो के वर्जन का विधान किया गया है।[4] इसके बाद पिण्डविशुद्धि विषयक अतिचारो से सम्बन्धित प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है।[5]

तप प्रायश्चित्त से सम्बन्धित अन्य सूत्र-गाथाओकी विवेचना करते हुए भाष्यकार ने धावन, डेपन, सघर्ष, गमन, क्रीडा, कुधावना, उत्कृष्टि, गीत, सेण्टिका, जीवरुत आदि पदो का व्याख्यान किया है।[6] तप प्रायश्चित्त की जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट उपधियो का आश्रय लेते हुए विच्युत, विस्मृत, अप्रेक्षित, अनिवेदन आदि पदो की व्याख्या की है। इसी प्रकार कालतीतकरण, अध्वातीत-करण, तत्परिभोग, पानासवरण, कायोत्सर्गभग, कायोत्सर्ग-अकरण, वेगवन्दना, रात्रिव्युत्सर्ग, दिवसशयन, चिरकषाय, लशुन, तर्णादि-बन्धन, पुस्तक-पचक, तृणपचक, दूष्यपचक, स्थापनाकुल आदि सम्बन्धी दोष, दर्प, पचेन्द्रिय-व्यपरोपण, सक्लिष्टकर्म, दीर्घाध्वकल्प, ग्लानकल्प, छेद, अश्रद्धान आदि अनेक पदो का आचार्य ने सम्यक् विवेचन किया है।[7]

सामान्य तथा विशेष आपत्ति की दृष्टि से तप प्रायश्चित्त का क्या स्वरूप है, इसका विश्लेपण करने के बाद भाष्यकार ने तपोदान का विचार किया है। द्रव्य का क्या स्वरूप है और उस दृष्टि से तपोदान की क्या स्थिति है, क्षेत्र के स्वरूप

---

१ गा १३१९-१३२०. २. गा० १३९५-१४६७ ३ गा० १४७६
४. गा० १६०५-१६७०. ५ गा० १६८०-१७१९. ६. गा० १७२०-२४.
७. गा० १७२५-१७९४.

की दृष्टि से तपोदान का क्या अर्थ है, काल के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए तपोदान का किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है, भाव के स्वरूप की दृष्टि से तपोदान का रूप क्या हो सकता है—इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का समाधान भाष्यकार ने बहुत सक्षिप्त एवं सरल ढग से किया है।[१] इसी प्रकार पुरुष की दृष्टि से भी तपोदान का विचार किया गया है। इस प्रसग पर गीतार्थ, अगीतार्थ, सहनशील असहनशील, शठ, अशठ, परिणामी, अपरिणामी, अतिपरिणामी, धृतिसहननोपेत, हीन, आत्मतर, परतर, उभयतर, नोभयतर, अन्यतर आदि अनेक प्रकार के पुरुषो का स्वरूप-वर्णन किया गया है।[२] कल्पस्थित और अकल्पस्थित पुरुषो का वर्णन करते हुए आचार्य ने 'स्थिति' शब्द के निम्न पर्याय दिए हैं प्रतिष्ठा, स्थापना, स्थपिति, सस्थिति, स्थिति, अवस्थान, अवस्था।[३] कल्पस्थिति छ प्रकार की है सामायिक, छेद, निर्विशमान, निर्विष्ट, जिनकल्प और स्थविरकल्प।[४] कल्प दस प्रकार का है · १ आचेलक्य, २. औद्देशिक, ३ शय्यातर, ४ राजपिण्ड, ५. कृतिकर्म, ६ व्रत, ७ ज्येष्ठ, ८. प्रतिक्रमण, ९ मास, १०. पर्युषणा। भाष्यकार ने इन कल्पो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसके साथ ही परिहारकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि के स्वरूप का भी वर्णन किया है। इसके बाद परिणत, अपरिणत, कृतयोगी, अकृतयोगी, तरमाण, अतरमाण आदि पुरुषो का स्वरूप बताते हुए कल्पस्थित आदि पुरुषो की दृष्टि से तपोदान का विभाग किया गया है।[५] आगे मूल सूत्र के पदो का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने जीतयन्त्र की विधि बताई है एव प्रतिसेवना का स्वरूप बताते हुए उस दृष्टि से तपोदान का विभाग करके तप प्रायश्चित्त का सुविस्तृत विवेचन समाप्त किया है।[६]

छेद और मूल ·

छेदप्रायश्चित्त के अपराध-स्थानो के वर्णन के प्रसग से उत्कृष्ट तपोभूमि की ओर भी निर्देश किया गया है। आदि जिन की उत्कृष्ट तपोभूमि एक वर्ष की होती है, मध्यम जिनो की उत्कृष्ट तपोभूमि आठ मास की होती है तथा अन्तिम जिन की तपोभूमि का समय छ मास है।[७] इसके बाद मूलप्रायश्चित्त के अपराध-स्थानो की ओर सकेत किया गया है।[८]

अनवस्थाप्य .

अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानो का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य ने हस्तताल, हस्तालब, हस्तादान आदि का स्वरूप बताया है तथा अवसन्नाचार्य

१ गा० १७९५-१९३७ २ गा० १९३८-१९६४ ३ गा० १९६६
४ गा० १९६७. ५ गा० १९६८–२१९५ ६. गा० २१९६–२२७९.
७ गा० २२८५–६. ८ गा० २२८८–२३००.

का दृष्टान्त देकर हस्तादान के स्वरूप की पुष्टि की है।[1] इसके बाद अंतिम प्रायश्चित्त पाराचिक का वर्णन प्रारभ होता है।

पाराचिक -

पाराचिक-प्रायश्चित्त का स्वरूप बताते समय आचार्य ने तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य आदि की आशातना से सम्बन्ध रखने वाले पाराचिक का निर्देश किया है। साथ ही कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, स्त्यानर्द्धिप्रमत्त और अन्योन्य-कुर्वाण-पाराचिक का स्वरूप बताते हुए लिंग, क्षेत्र और काल की दृष्टि से पाराचिक का विवेचन किया है।[2] इसके बाद इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान खीचा है कि अनवस्थाप्य और पाराचिक-प्रायश्चित्त का सद्भाव चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु तक ही रहा है।[3] जीतकल्प का उपसहार करते हुए जीतकल्प सूत्र के अध्ययन का अधिकारी कौन है, इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो सूत्र और अर्थ दोनो से प्राप्त अर्थात् युक्त है वही जीतकल्प का योग्य अधिकारी है, शेष को उसके अयोग्य समझना चाहिए।[4] जीतकल्प के महत्त्व एव आधार की ओर एक बार पुन निर्देश करते हुए भाष्यकार ने भाष्य की समाप्ति की है।[5] आचार के नियमो और विशेषकर चारित्र के दोषो की शुद्धि का प्रायश्चित्त द्वारा विधान करने वाले जीतकल्प सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के इस सक्षिप्त परिचय से उसकी शैली एव सामग्री का अनुमान लगाना कठिन नही है। जीतकल्पभाष्य आचार्य जिनभद्र की जैन आचारशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति है, इसमें कोई सदेह नही।



---

१. गा० २३०१–२४१०. २ गा० २४६३–२५८५. ३. गा० २५८६–७
४. गा० २५९४ ५ गा० २६००–६

चतुर्थ प्रकरण

बृहत्कल्प-लघुभाष्य

बृहत्कल्प-लघुभाष्य[1] के प्रणेता सघदासगणि क्षमाश्रमण है। इसमें बृहत्कल्प सूत्र के पदो का सुविस्तृत विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होते हुए भी इसकी गाथा-सख्या ६४९० है। यह छः उद्देशो मे विभक्त है। इनके अतिरिक्त भाष्य के प्रारम्भ में एक विस्तृत पीठिका भी है जिसकी गाथा-सख्या ८०५ है। इस भाष्य मे प्राचीन भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक सामग्री भी सुरक्षित है। डा० मोतीचन्द्र ने अपनी पुस्तक सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ-पद्धति)[2] में इस भाष्य की कुछ सामग्री का 'यात्री और सार्थवाह' का परिचय देने की दृष्टि से उपयोग किया है। इसी प्रकार अन्य दृष्टियो से भी इस सामग्री का उपयोग हो सकता है। भाष्य के आगे दिये जानेवाले विस्तृत परिचय से इस बात का पता लग सकेगा कि इसमे प्राचीन भारतीय सस्कृति के इतिहास का कितना मसाला भरा पडा है।

पीठिका ·

विशेषावश्यक-भाष्य की ही भाँति इस भाष्य मे भी प्रारम्भिक गाथाओ मे मगलवाद की चर्चा की गई है। 'मगल' पद के निक्षेप, मगलाचरण का प्रयोजन, आदि, मध्य और अन्त में मगल करने की विधि आदि विषयो की चर्चा करने के बाद नन्दी—ज्ञानपचक का विवेचन किया गया है। श्रुतज्ञान के प्रसग से सम्यक्त्व-प्राप्ति के क्रम का विचार करते हुए औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप बताया गया है।[3]

अनुयोग का स्वरूप बताते हुए निक्षेप आदि बारह प्रकार के द्वारो से अनुयोग का विचार किया गया है। उनके नाम ये है १. निक्षेप, २ एकार्थिक,

---

१ निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्त्युपेत बृहत्कल्पसूत्र (६ भाग) · सम्पादक—मुनि चतुरविजय एव पुण्यविजय, प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३, १९३६, १९३६, १९३८, १९३८, १९४२.

२ सार्थवाह (प्राचीन भारत की पथ-पद्धति) प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सन् १९५३.

३ गा० ४-१३१.

३ निरुक्त, ४ विधि, ५ प्रवृत्ति, ६ केन, ७ कस्य, ८ अनुयोगद्वार, ९. भेद, १० लक्षण, ११ तदर्हं, १२ पर्षद्।[1]

कल्प-व्यवहार के अनुयोग के लिए सुयोग्य मानी जानेवाली छत्रातिक पर्षदा के गुणो का बहुश्रुतद्वार, चिरप्रव्रजितद्वार और कल्पिकद्वार—इन तीन द्वारो से विचार किया गया है। कल्पिकद्वार का आचार्य ने निम्न उपद्वारो से विवेचन किया है. सूत्रकल्पिकद्वार, अर्थकल्पिकद्वार, तदुभयकल्पिकद्वार, उपस्थापना-कल्पिकद्वार, विचारकल्पिकद्वार, लेपकल्पिकद्वार, पिण्डकल्पिकद्वार, शय्याकल्पिक-द्वार, वस्त्रकल्पिकद्वार, पात्रकल्पिकद्वार, अवग्रहकल्पिकद्वार, विहारकल्पिकद्वार, उत्सारकल्पिकद्वार, अचचलद्वार, अवस्थितद्वार, मेघावीद्वार, अपरिस्रावीद्वार, यश्चविद्वान्द्वार, पत्तद्वार, अनुज्ञातद्वार और परिणामकद्वार। इनमे से विचार-कल्पिकद्वार का निरूपण करते हुए आचार्य ने विचारभूमि अर्थात् स्थण्डिलभूमि का सविस्तार निरूपण किया है। इस निरूपण मे निम्न द्वारो का आधार लिया गया है: भेद, शोधि, अपाय, वर्जना, अनुज्ञा, कारण, यतना।[2] शय्याकल्पिक-द्वार का रक्षणकल्पिक और ग्रहणकल्पिक की दृष्टि से विचार किया है। इसी प्रकार अन्य द्वारो का भी विविध दृष्टियो से विवेचन किया गया है। यत्र-तत्र दृष्टान्तो का उपयोग भी हुआ है। उत्सारकल्पिकद्वार के योगविराधना दोष को समझाने के लिए घण्टाशृगाल का दृष्टान्त दिया गया है। परिणामकद्वार मे परिणामक, अपरिणामक आदि शिष्यो की परीक्षा के लिए आम्र, वृक्ष, बीज आदि के दृष्टान्त दिये गये है।[3] छेदसूत्रो (बृहत्कल्पादि) के अर्थश्रवण की विधि की ओर सकेत करते हुए परिणामकद्वार के उपसहार के साथ पीठिका की समाप्ति की गई है।[4]

प्रथम उद्देश—प्रलम्बसूत्र

पीठिका के बाद भाष्यकार प्रत्येक मूल सूत्र का व्याख्यान प्रारम्भ करते है। प्रथम उद्देश मे प्रलम्बप्रकृत, मासकल्पप्रकृत आदि सूत्रो का समावेश है। प्रथम प्रलम्बसूत्र की निम्न द्वारो से व्याख्या की गई है आदिनकारद्वार, ग्रन्थद्वार, आमद्वार, तालद्वार, प्रलम्बद्वार, भिन्नद्वार। ताल, तल और प्रलम्ब का अर्थ इस प्रकार है: तल वृक्षसम्बन्धी फल को ताल कहते है, तदाधारभूत वृक्ष का नाम तल है, उसके मूल को प्रलम्ब कहते है। प्रलम्ब शब्द से यहाँ मूलप्रलम्ब का ग्रहण करना चाहिए।[5]

प्रलम्बग्रहण सम्बन्धी प्रायश्चित्तो की ओर सकेत करते हुए तत्रप्रलम्बग्रहण अर्थात् जहाँ पर ताड आदि वृक्ष हो वहाँ जाकर गिरे हुए अचित्त प्रलम्बादि का

१ गा० १४९-३९९ २ गा० ४१७-४६९ ३ गा० ४००-८०२.
४ गा० ८०३-५ ५. गा० ८५०.

ग्रहण करते समय जिन दोषो की सम्भावना रहती है उनका स्वरूप बताया गया है। इसी प्रकार सचित्त प्रलम्बादि से सम्बन्धित बातो की ओर भी निर्देश किया गया है। देव, मनुष्य तथा तिर्यंच के अधिकार मे रहे हुए प्रलम्बादि का स्वरूप, तद्ग्रहणदोष आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।[1] प्रलम्बादि का ग्रहण करने से लगनेवाले आज्ञाभग, अनवस्था, मिथ्यात्व और आत्मसयमविराधना दोषो का विस्तृत वर्णन करते हुए आचार्य के अज्ञान और व्यसनो की ओर सकेत किया गया है।[2] गीतार्थ के विशिष्ट गुणो का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने गीतार्थ को प्रायश्चित्त न लगने के कारणो की मीमासा की है। गीतार्थ की केवली के साथ तुलना करते हुए श्रुतकेवली के वृद्धि-हानि के षट्स्थानो की ओर सकेत किया है।[3]

द्वितीय प्रलम्बसूत्र के व्याख्यान मे निम्न विषयो का समावेश किया गया है . निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के लिए टूटे हुए ताल-प्रलम्ब के ग्रहण से सम्बन्ध रखनेवाले अपवाद, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के देशान्तर-गमन के कारण और उसकी विधि, रोग और आतक का भेद, रुग्णावस्था के लिए विधि-विधान, वैद्य और उनके आठ प्रकार।[4]

शेष प्रलम्बसूत्रो का विवेचन निम्न विषयो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ' पक्कतालप्रलम्बग्रहण-विषयक निषेध, 'पक्क' पद के निक्षेप, 'भिन्न' और 'अभिन्न' पदो की व्याख्या, तद्विषयक षड्भगी, तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, अविधिभिन्न और विधिभिन्न तालप्रलम्ब, तत्सम्बन्धी गुण, दोष और प्रायश्चित्त, दुष्काल आदि मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के एक दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र मे रहने की विधि, तत्सम्बन्धी १४४ भग और तद्विषयक प्रायश्चित्त।[5]

मासकल्पप्रकृतसूत्र :

मासकल्पविषयक विवेचन प्रारम्भ करते समय सर्वप्रथम आचार्य ने प्रलम्ब-प्रकृत और मासकल्पप्रकृत के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया है। प्रथम सूत्र की विस्तृत व्याख्या के लिए ग्राम, नगर, खेड, कर्वटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोण-मुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सबाध, घोष, अशिका, पुटभेदन, शकर आदि पदो का विवेचन किया है।[6] ग्राम का नामग्राम, स्थापनाग्राम, द्रव्यग्राम, भूतग्राम, आतोद्यग्राम, इन्द्रियग्राम, पितृग्राम, मातृग्राम और भावग्राम—इन नौ प्रकार के निक्षेपो से विचार किया गया है। द्रव्यग्राम बारह प्रकार का होता है

---

१. गा० ८६३-९२३. २ गा० ९२४-९५० ३ गा० ९५१-१००० ४. गा० १००१-१०३३ ५. गा० १०३४-१०८५. ६ गा० १०८८-१०९३.

१ उत्तानकमल्लक, २ अवाङ्मुखमल्लक, ३ सपुटकमल्लक, ४ उत्तानकखण्ड-मल्लक, ५. अवाङ्मुखखण्डमल्लक, ६ सम्पुटखण्डमल्लक, ७ भित्ति, ८ पडालि, ९ वलभी, १० अक्षाटक, ११ रुचक, १२. काश्यपक।[२]

'मास' पद का विविध निक्षेपों से व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने नक्षत्र-मास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का स्वरूप बताया है। इसके बाद मासकल्पविहारियो का स्वरूप बताते हुए जिनकल्पिक, स्थविर-कल्पिक आदि के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया है।

जिनकल्पिक .

जिनकल्पिक की दीक्षा की दृष्टि से धर्म, धर्मोपदेशक और धर्मोपदेश के योग्य भवसिद्धिकादि जीवो का स्वरूप बताते हुए धर्मोपदेश की विधि और उसके दोषो का निरूपण किया गया है। जिनकल्पिक की शिक्षा का वर्णन करते हुए शास्त्राभ्यास से होने वाले आत्महित, परिज्ञा, भावसवर, मवेग, निष्कम्पता, तप, निर्जरा, परदेशकत्व आदि गुणो की ओर सकेत किया गया है।[३] जिनकल्पिक कब हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते है कि जिनकल्पिक जिन अर्थात् तीर्थंकर के समय मे अथवा गणधर आदि केवलियो के समय मे हो।[४] इस प्रसग का विशेष विस्तार करते हुए आचार्य ने तीर्थंकर के समवसरण (धर्मसभा) का वर्णन किया है। इस वर्णन मे निम्न विषयो का परिचय दिया गया है वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनपति, व्यतर आदि देव एक साथ एकत्रित हुए हो उस समय समवसरण की भूमि साफ करना, सुगन्धित पानी, पुष्प आदि की वर्षा बरसाना, समवसरण के प्राकार, द्वार, पताका, ध्वज, तोरण, चित्र, चैत्यवृक्ष, पीठिका, देवच्छन्दक, आमन, छत्र, चामर आदि की रचना और व्यवस्था, इन्द्र आदि महर्द्धिक देवो का अकेले ही समवसरण की रचना करना, समवसरण में तीर्थंकरो का किस समय किस दिशा से किस प्रकार प्रवेश होता है, वे किस दिशा में मुख रख कर उपदेश देते है, प्रमुख गणधर कहाँ बैठता है, अन्य दिशाओ में तीर्थंकरो के प्रतिबिम्ब कैसे होते हैं, गणधर, केवली, साधु, साध्वियाँ, देव, देवियाँ, पुरुष, स्त्रियाँ आदि समवसरण मे कहाँ बैठते है अथवा खडे रहते हैं, समवसरण मे एकत्रित देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि की मर्यादाएँ और पारस्परिक ईर्ष्या आदि का त्याग, तीर्थंकर की अमोघ देशना, धर्मोपदेश के प्रारम्भ मे तीर्थंकरो द्वारा तीर्थ को नमस्कार और उसके कारण, समवसरण मे श्रमणो के आगमन की दूरी, तीर्थंकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की रूप, सहनन, सस्थान, वर्ण, गति, सत्त्व,

२. गा० १०९४-११११. ३. गा० ११४३-११७१ ४ गा० ११७२

उच्छ्वास आदि शुभाशुभ प्रकृतियाँ, तीर्थंकर के रूप की सर्वोत्कृष्टता का कारण, श्रोताओ के सशयो का समाधान, तीर्थंकर की एकरूप भाषा का विभिन्न भाषा-भाषी श्रोताओ के लिए विभिन्न रूपो मे परिणमन, तीर्थंकर के आगमन से सम्बन्धित समाचारो को बताने वाले को चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की ओर से दिया जाने वाला प्रीतिदान, देवमाल्य, देवमाल्यानयन, गणधरोपदेश और उससे होनेवाला लाभ इत्यादि ।[1] जिनकल्पिक को शास्त्रार्थविषयक शिक्षा की ओर निर्देश करते हुए भाष्यकार ने सज्ञासूत्र, स्वसमयसूत्र, परसमयसूत्र, उत्सर्गसूत्र, अपवादसूत्र, हीनाक्षरसूत्र, अधिकाक्षरसूत्र, जिनकल्पिकसूत्र, स्थविरकल्पिकसूत्र, आर्यासूत्र, कालसूत्र, वचनसूत्र आदि सूत्रो के विविध प्रकारो की ओर सकेत किया है ।[2] इसके बाद जिनकल्पिक के अनियतवास, निष्पत्ति, उपसम्पदा, विहार, भावनाओ आदि पर प्रकाश डाला है। भावनाएँ दो प्रकार की है अप्रशस्त और प्रशस्त । अप्रशस्त भावनाएँ पाँच है कान्दर्पी भावना, देवकिल्विषिकी भावना, आभियोगी भावना, आसुरी भावना और साम्मोही भावना । इसी प्रकार पाँच प्रशस्त भावनाएँ है तपोभावना, सत्त्वभावना, सूत्रभावना, एकत्वभावना और बलभावना ।[3] जिनकल्प ग्रहण करने की विधि, जिनकल्प ग्रहण करने वाले आचार्य द्वारा कल्प ग्रहण करते समय गच्छपालन के लिए नवीन आचार्य की स्थापना, गच्छ और नये आचार्य के लिए सूचनाएँ, गच्छ, सघ आदि से क्षमापना—इन सभी बातो का सक्षिप्त वर्णन करने के बाद जिनकल्पिक की सामाचारी पर प्रकाश डाला गया है ।[4] निम्नलिखित २७ द्वारो से इस सामाचारी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है · १ श्रुत, २ सहनन, ३ उपसर्ग, ४ आतक, ५ वेदना, ६ कतिजन, ७ स्थण्डिल, ८ वसति, ९ कियच्चिर, १० उच्चार, ११ प्रस्रवण, १२ अवकाश, १३ तृणफलक, १४ सरक्षणता, १५ सस्थापनता, १६ प्राभृतिका, १७ अग्नि, १८ दीप, १९ अवधान, २० वत्स्यथ (कतिजन), २१ भिक्षाचर्या, २२ पानक, २३ लेपालेप, २४ अलेप, २५. आचाम्ल, २६ प्रतिमा, २७ मासकल्प ।[5] जिनकल्पिक की स्थिति का विचार करते हुए आचार्य ने निम्न द्वारो का आधार लिया है · क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म और भक्त ।[6] इसके बाद भाष्यकार परिहारविशुद्धिक और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बताते हैं तथा गच्छवासियो—स्थविरकल्पिको की मासकल्पविषयक विधि का वर्णन प्रारम्भ करते है ।

---

१ गा० ११७६–१२१७
२ गा० १२१९–१२२२
३ गा० १२२३–१३५७
४ गा० १३६६–१३८१
५ गा० १३८२–१४१२
६ गा० १४१३–१४२४

स्थविरकल्पिक :

स्थविरकल्पिको के लिए प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति का वर्णन जिनकल्पिको के ही समान समझ लेना चाहिए। विहार के लिए निम्न बातो का विचार किया गया है : विहार का समय और मर्यादा, विहार करने के लिए गच्छ के निवास और निर्वाहयोग्य क्षेत्र की जाच करने की विधि, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए क्षेत्रप्रत्युपेक्षको को भेजने के पहले उसके लिए योग्य सम्मति और सलाह लेने के लिए सम्पूर्ण गच्छ को बुलाने की विधि, उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य-अयोग्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षक, गच्छ के रहने योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए कितने जनो को जाना चाहिए और किस प्रकार जाना चाहिए, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए जाने की विधि और क्षेत्र मे परीक्षा करने योग्य बातें, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए जाने वाले क्षेत्रप्रत्युपेक्षको द्वारा विहार के मार्ग, मार्ग मे स्थण्डिलभूमि, पानी, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, चोर आदि के उपद्रव आदि बातो की जाच, प्रतिलेखना करने योग्य क्षेत्र मे प्रवेश करने की विधि, भिक्षाचर्या द्वारा उस क्षेत्र के लोगो की मनोवृत्ति की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की सुलभता-दुर्लभता, महास्थण्डिल की प्रतिलेखना और उसके गुण-दोष, गच्छवासी यथालदिको के लिए क्षेत्र की परीक्षा, परीक्षित—प्रतिलिखित क्षेत्र की अनुज्ञा की विधि, क्षेत्रप्रत्युपेक्षको द्वारा आचार्यादि के समक्ष क्षेत्र के गुण-दोष निवेदन करने तथा जाने योग्य क्षेत्र का निर्णय करने की विधि, विहार करने के पूर्व जिसकी वसति मे रहे हो उसे पूछने की विधि, अविधि से पूछने पर लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, विहार करने के पूर्व वसति के स्वामी को विधिपूर्वक उपदेश देते हुए विहार के समय का सूचन, विहार करते समय शुभ दिवस और शुभ शकुन देखने के कारण, शुभ शकुन और अशुभ शकुन, विहार करते समय आचार्य द्वारा वसति के स्वामी को उपदेश, विहार के समय आचार्य, बालसाधु आदि के सामान को किसे किस प्रकार उठाना चाहिए, अननुज्ञात क्षेत्र मे निवास करने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, प्रतिलिखित क्षेत्र मे प्रवेश और शुभाशुभ शकुनदर्शन, आचार्य द्वारा वसति मे प्रवेश करने की विधि, वसति मे प्रविष्ट होने के बाद गच्छवासियो की मर्यादाएँ और स्थापना-कुलो की व्यवस्था, वसति मे प्रवेश करने के बाद झोली-पात्र लिये हुए अमुक साधुओ को साथ लेकर आचार्य आदि का जिनचैत्यवदना के लिए निकलना, झोली-पात्र साथ रखने के कारण, जिनचैत्यो के वन्दन के लिए जाते हुए मार्ग में गृहजिन-मदिरो के दर्शनार्थ जाना और दानश्रद्धालु, धर्मश्रद्धालु, ईर्ष्यालु, धर्मपराङ्मुख आदि श्राद्धकुलो की पहचान करना, स्थापनाकुल आदि की व्यवस्था, उसके कारण और वीरशुनिका का उदाहरण, चार प्रकार के प्राघूर्णक साधु, स्थापना-

कुलो मे जाने की विधि, एक-दो दिन छोड कर स्थापनाकुलो में नही जाने से लगने वाले दोष, स्थापनाकुलो मे जाने योग्य अथवा भेजने योग्य वैयावृत्यकर और उनके गुण-दोष, वैयावृत्य करने वाले के गुणो की परीक्षा करने के कारण, श्रावको को गोचरचर्या के दोष समझाने मे होनेवाले लाभ और इसके लिए लुब्धक का दृष्टान्त, स्थापनाकुलो में से विधिपूर्वक उचित द्रव्यो का ग्रहण, जिस क्षेत्र मे एक ही गच्छ ठहरा हुआ हो उस क्षेत्र की दृष्टि से स्थापनाकुलो मे से भिक्षा ग्रहण करने की सामाचारी, जिस क्षेत्र मे दो-तीन गच्छ एक वसति में अथवा भिन्न-भिन्न वसतियो मे ठहरे हुए हो उस क्षेत्र की दृष्टि से भिक्षा लेने की सामाचारी इत्यादि ।[1] इसी प्रकार स्थविरकल्पिको की सामान्य सामाचारी, स्थिति आदि का वर्णन किया गया है ।[2]

गच्छवासियो—स्थविरकल्पिको की विशेष सामाचारी का भी भाष्यकार ने विस्तृत वर्णन किया है ।[3] इस वर्णन में निम्न बातो पर प्रकाश डाला गया है —

१ प्रतिलेखनाद्वार—वस्त्रादि की प्रतिलेखना का काल, प्राभातिक प्रतिलेखना के समय से सम्बन्धित विविध आदेश, प्रतिलेखना के दोष और प्रायश्चित्त, प्रतिलेखना मे अपवाद ।

२ निष्क्रमणद्वार—गच्छवासी आदि को उपाश्रय से बाहर कब और कितनी बार निकलना चाहिए ?

३ प्राभृतिकाद्वार—सूक्ष्म और बादर प्राभृतिका का वर्णन, गृहस्थादि के लिए तैयार किये गए घर, वसति आदि मे रहने और न रहने सम्बन्धी विधि और प्रायश्चित्त ।

४ भिक्षाद्वार—किस एषणा से पिण्ड आदि का ग्रहण करना चाहिए, कितनी बार और किस समय भिक्षा के लिए जाना चाहिए, मिलकर भिक्षा के लिए जाना, अकेले भिक्षा के लिए जाने के कल्पित कारण और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, भिक्षा के लिए उपकरण आदि की व्यवस्था ।

५ कल्पकरणद्वार—पात्र धोने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत द्रव्य, पात्र-लेप से होनेवाले लाभ और तद्विषयक एक श्रमण का दृष्टान्त, पात्र धोने के कारण और तद्विषयक प्रश्नोत्तर ।

६ गच्छशतिकाद्वार—सात प्रकार की सौवीरिणियाँ १ आधाकर्मिक,

---

१ गा० १४४७–१६२२ २ गा० १६२३–१६५५
३. गा० १६५६–२०३३

भी ग्रहण का निषेध है), पुर कर्मसम्बन्धी प्रायश्चित्त, पुर.कर्मविषयक अविधि-निषेध और विधिनिषेध, सात प्रकार के अविधिनिषेध, आठ प्रकार के विधिनिषेध, पुर कर्मविषयक ब्रह्महत्या का दृष्टान्त।

९ ग्लानद्वार—ग्लान—रुग्ण साधु के समाचार मिलते ही उसका पता लगाने के लिए जाना चाहिए, वहाँ उसकी सेवा करने वाला कोई है कि नही—इसकी जाँच करनी चाहिए, जाँच न करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु की श्रद्धा से सेवा करने वाले के लिए सेवा के प्रकार, ग्लान साधु की सेवा के लिए किसी की विनती या आज्ञा की अपेक्षा रखने वाले के लिए प्रायश्चित्त और तद्विषयक महर्द्धिक राजा का उदाहरण, ग्लान की सेवा करने मे अशक्ति का प्रदर्शन करने वाले को शिक्षा, ग्लान साधु की सेवा के लिए जाने मे दुःख का अनुभव करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, उद्गम आदि दोषो का बहाना करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु की सेवा के बहाने से गृहस्थो के यहाँ से उत्कृष्ट पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि लाने वाले तथा क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त आदि दोषो का सेवन करने वाले लोभी साधु को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, ग्लान साधु के लिए पथ्यापथ्य किस प्रकार लाना चाहिए, कहाँ से लाना चाहिए, कहाँ रखना चाहिए, उसकी प्राप्ति के लिए गवेषणा किस प्रकार करनी चाहिए, ग्लान साधु के विशोषणसाध्य रोग के लिए उपवास की चिकित्सा, आठ प्रकार के वैद्य (१ सविग्न, २ असंविग्न, ३ लिंगी, ४. श्रावक, ५ सज्ञी, ६ अनभिगृहीत असज्ञी (मिथ्या-दृष्टि), ७ अभिगृहीत असज्ञी, ८ परतीर्थिक), इनके क्रमभग से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, वैद्य के पास जाने की विधि, वैद्य के पास ग्लान साधु को ले जाना या ग्लान साधु के पास वैद्य को लाना, वैद्य के पास कैसा साधु जाए, कितने साधु जाएँ, उनके वस्त्र आदि कैसे हो, जाते समय कैसे शकुन देखे जाएँ, वैद्य के पास जाने वाले साधु को किस काम में व्यस्त होने पर वैद्य से रोगी साधु के विषय में बातचीत करनी चाहिए, किस काम मे व्यस्त होने पर बातचीत नही करनी चाहिए, वैद्य के घर आने के लिए श्रावकों को सकेत, वैद्य के पास जाकर रुग्ण साधु के स्वास्थ्य के समाचार कहने का क्रम, ग्लान साधु के लिए वैद्य का सकेत, वैद्य द्वारा बताये गए पथ्यापथ्य लभ्य हैं कि नही इसका विचार और लभ्य न होने पर वैद्य से प्रश्न, ग्लान साधु के लिए वैद्य का उपाश्रय में आना, उपाश्रय मे आये हुए वैद्य के साथ व्यवहार करने की विधि, वैद्य के उपाश्रय मे आने पर आचार्य आदि के उठने, वैद्य को आसन देने और रोगी को दिखाने की विधि, अविधि से उठने आदि मे दोष और उनका प्रायश्चित्त, औषध आदि के प्रबध के विषय मे भद्रक वैद्य का प्रश्न, धर्मभावनारहित वैद्य के लिए भोजनादि तथा औषधादि के मूल्य की व्यवस्था,

बाहर से वैद्य को बुलाने एव उसके खानपान की व्यवस्था करने की विधि, रोगी साधु और वैद्य की सेवा करने के कारण, रोगी तथा उसकी सेवा करने वाले को अपवाद-सेवन के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु के स्थानान्तर के कारण तथा एक-दूसरे समुदाय के ग्लान साधु की सेवा के लिए परिवर्तन, ग्लान साधु की उपेक्षा करने वाले साधुओ को सेवा करने की शिक्षा नही देने वाले आचार्य के लिए प्रायश्चित्त, निर्दयता से रुग्ण साधु को उपाश्रय, गली आदि स्थानो मे छोडकर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, एक गच्छ रुग्ण साधु की सेवा कितने समय तक करे और बाद में उस साधु को किसे सौपे, किन विशेष कारणो से किस प्रकार के विवेक के साथ किस प्रकार के ग्लान साधु को छोडा जा सकता है तथा इससे होने वाला लाभ इत्यादि ।

१० गच्छप्रतिबद्धयथालदिकद्वार—इस द्वार में वाचना आदि के कारण गच्छ के साथ सम्बन्ध रखने वाले यथालदिककल्पधारियो के वन्दनादि व्यवहार तथा मासकल्प की मर्यादा का वर्णन किया गया है ।

११ उपरिदोषद्वार—इसमें वर्षाऋतु से अतिरिक्त समय मे एक क्षेत्र मे एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोषो का वर्णन किया गया है ।

१२ अपवादद्वार—यह अन्तिम द्वार है । इसमें एक क्षेत्र मे एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण तथा उस क्षेत्र मे रहने एव भिक्षाचर्या करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है ।

मासकल्पविषयक द्वितीय सूत्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर इन दो विभागो मे बसे हुए हो तो अन्दर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र मे दो मास तक रहा जा सकता है । इसके साथ ही ग्राम, नगरादि के बाहर दूसरा मासकल्प करते समय तृण, फलक आदि ले जाने की विधि की चर्चा की गई है तथा अविधि से ले जाने पर लगने वाले दोषो और प्रायश्चित्तो का वर्णन किया गया है ।[1]

निर्ग्रन्थियाँ—साध्वियाँ

मासकल्पविषयक तृतीय सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने निर्ग्रन्थी-विषयक विशेष विधि-निषेध की चर्चा की है ।[2] इस चर्चा मे निम्न विषयो का समावेश किया गया है : निर्ग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा, विहार का वर्णन, निर्ग्रन्थियो के समुदाय का गणधर और उसके गुण, गणधर द्वारा क्षेत्र की

१. गा० २०३४–२०४६. २. गा० २०४७–२१०५.

प्रतिलेखना, स्वयं निर्ग्रन्थी द्वारा अपने रहने योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करने का निषेध तथा भडौच मे बौद्ध श्रावको द्वारा किये गए साध्वियो के अपहरण का वर्णन, साध्वियो के रहने योग्य क्षेत्र के गुण, साध्वियो के रहने योग्य वसति—उपाश्रय और उसका स्वामी, साध्वियो के योग्य स्थडिलभूमि, साध्वियो को उनके रहने योग्य क्षेत्र मे ले जाने की विधि, वारकद्वार, भक्तार्थनाविधिद्वार, विधर्मी आदि की ओर से होने वाले उपद्रवो से बचाव, भिक्षा के लिए जाने वाली साध्वियो की सख्या, समूहरूप से भिक्षाचर्या के लिए जाने के कारण और यतनाएँ, साध्वियो के ऋतुबद्ध काल के अतिरिक्त एक क्षेत्र मे दो महीने तक रह सकने के कारण।

मासकल्पविषयक चतुर्थ सूत्र का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के भीतर और बाहर बसे हुए हो तो भीतर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र मे चार मास तक साध्वियाँ रह सकती है। इससे अधिक रहने पर कुछ दोष लगते है जिनका प्रायश्चित्त करना पडता है। आपवादिक कारणो से अधिक समय तक रहने की अवस्था मे विशेष प्रकार की यतनाओ का सेवन करना चाहिए।[1]

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनो मे कौन प्रधान है ? निष्पादक और निष्पन्न इन दो दृष्टियो से दोनो ही प्रधान है। स्थविरकल्पसूत्रार्थग्रहण आदि दृष्टियो से जिनकल्प का निष्पादक है, जबकि जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि दृष्टियो से निष्पन्न है। इस प्रकार दोनो ही महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ होने के कारण प्रधान-महर्द्धिक हैं। इस दृष्टिकोण को विशेष स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने गुहासिंह, दो स्त्रियो और दो गोवर्गों के दृष्टान्त दिए है।[2]

वगडाप्रकृतसूत्र :

वगडा का अर्थ है परिक्षेप—कोट—परिखा—प्राचीर—चहारदीवारी। एक परिक्षेप और एक द्वार वाले ग्राम, नगर आदि मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक साथ नही रहना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने एतत्सम्बन्धी दोषो, प्रायश्चित्तो आदि पर प्रकाश डाला है। इस विवेचन मे निम्न बातो का समावेश किया गया है एक परिक्षेप और एक द्वार वाले क्षेत्र में निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थियो के एक समुदाय के रहते हुए दूसरे समुदाय के आकर रहने पर उसके आचार्य, प्रवर्तिनी आदि को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए भेजे गए श्रमणो की प्रेरणा से साध्वियो द्वारा अवगृहीत

---

१. गा० २१०६–८ २ गा० २१०९–२१२४.

क्षेत्र को दबाने का विचार करने वाले तथा उस क्षेत्र मे जाने का निर्णय करने वाले आचार्य, उपाध्याय आदि के लिए प्रायश्चित्त, वेदोदय आदि दोषो का अग्नि, योद्धा और गारुडिक के दृष्टान्तो द्वारा समर्थन, श्रमण और श्रमणिया भिन्न-भिन्न उपाश्रय मे रहते हुए एक-दूसरे के सहवास से दूर रह सकते है किन्तु ग्राम आदि मे रहने वाले श्रमणो के लिए गृहस्थ स्त्रियो का सहवास तो अनिवार्य है, ऐसी दशा में श्रमणो के लिए वनवास ही श्रेष्ठ है—इस प्रकार की शका का समाधान, श्रमणियो के सहवास वाले ग्राम आदि के त्याग के कारण, एक वगडा और एक द्वार वाले क्षेत्र मे रहने वाले साधु-साध्वियो को विचारभूमि—स्थडिलभूमि, भिक्षाचर्या, विहारभूमि, चैत्यवन्दन आदि कारणो से लगने वाले दोष और उनके लिए प्रायश्चित्त, एक वगडा आदि वाले जिस क्षेत्र में श्रमणियाँ रहती हो वहाँ रहने वाले श्रमणो से कुलस्थविरो द्वारा रहने के कारणो की पूछ-ताछ, कारणवशात् एक क्षेत्र मे रहने वाले श्रमण-श्रमणियो के लिए विचारभूमि, भिक्षाचर्या आदि विषयक व्यवस्था, भिन्न-भिन्न समुदाय के श्रमण अथवा श्रमणियाँ एक क्षेत्र मे एक साथ रहे हुए हो और उनमे परस्पर कलह होता हो तो उसकी शाति के लिए आचार्य, प्रवर्तिनी आदि द्वारा किए जाने वाले उपाय, न करने वाले को लगने वाले कलकादि दोष और उनका प्रायश्चित्त।[1]

साधु-साध्वियो को एक वगडा और अनेक द्वार वाले स्थान मे एक साथ रहने से जो दोष लगते है उनका निम्न द्वारो से विचार किया गया है १ एक-शाखिकाद्वार—एक कतार में बने हुए वाड के अन्तर वाले घरो मे साथ रहने वाले साधु-साध्वियो को परस्पर वार्तालाप, प्रश्नोत्तर आदि के कारण लगने वाले दोष, २ सप्रतिमुखद्वार द्वार—एक दूसरे के द्वार के सामने वाले घर में रहने से लगने वाले दोष, ३ पार्श्वमार्गद्वार—एक-दूसरे के पास के अथवा पीछे के दरवाजे वाले उपाश्रय मे रहने से लगने वाले दोष, ४ उच्चनीचद्वार—श्रमण-श्रमणियो की एक-दूसरे पर दृष्टि पडनेवाले उपाश्रय मे रहने से लगनेवाले दोष और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, दृष्टि-दोष से उत्पन्न होनेवाले दस प्रकार के काम-विकार के आवेग १ चिन्ता, २ दर्शनेच्छा, ३ दीर्घ नि श्वास, ४ ज्वर, ५. दाह, ६ भक्तारुचि, ७ मूर्च्छा, ८ उन्माद, ९ निश्चेष्टा और १० मरण, ५ धर्म-कथाद्वार—जहाँ निग्रन्थ-निग्रन्थियाँ एक-दूसरे के पास मे रहते हो वहाँ रात्रि के समय धर्मकथा, स्वाध्याय आदि करने की विधि, दुर्भिक्ष आदि कारणो से अकस्मात् एकवगडा-अनेकद्वार वाले ग्रामादि मे एक साथ आने का अवसर उपस्थित होने पर उपाश्रय आदि की प्राप्ति का प्रयत्न तथा योग्य उपाश्रय के अभाव मे

---

१ गा० २१२५–२२३१

एक-दूसरे के उपाश्रय के समीप रहने का प्रसग आने पर एक-दूसरे के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली यतनाएँ।[1]

अनेकवगडा-एकद्वार वाले ग्राम, नगर आदि में साधु-साध्वियो को साथ रहने मे लगने वाले दोपो की ओर निर्देश करते हुए कुमुबल वस्त्र की रक्षा के लिए नग्न होने वाले अगारी, अश्व, फुम्फुक और पेशी के उदाहरण दिये गये है।[2]

द्वितीय वगडासूत्र की व्याख्या करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि श्रमण-श्रमणियो को अनेकवगडा-अनेकद्वार वाले ग्राम, नगर आदि में रहना चाहिए। जिस ग्राम आदि में श्रमण और श्रमणियो की भिक्षाभूमि, स्थडिलभूमि, विहारभूमि आदि भिन्न-भिन्न हो वही उन्हें रहना चाहिए।[3]

आपणगृहादिप्रकृतसूत्र .

आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अतरापण आदि पदो की व्याख्या करते हुए आचार्य ने इन स्थानो पर बने हुए उपाश्रय मे रहने वाली श्रमणियो को लगने वाले दोपो और प्रायश्चित्तो का वर्णन किया है। सार्वजनिक स्थानो मे बने हुए उपाश्रयो मे रहने वाली श्रमणियो के मन मे युवक, वेश्याएँ, वरघोडे, राजा आदि अलकृत व्यक्तियो को देखने से अनेक दोपो का उद्भव होता है। इस प्रकार आम रास्ते पर रहने वाली साध्वियो को देख कर लोगो के मन में अनेक प्रकार के अवर्णवादादि दोप उत्पन्न होते है। यदि किसी कारण से इस प्रकार के उपाश्रय में रहना ही पडे तो उसके लिये आचार्य ने विविध यतनाओ का विधान भी किया है।[4]

अपावृतद्वारोपाश्रयप्रकृतसूत्र

श्रमणियो को बिना द्वार के खुले उपाश्रय मे नही रहना चाहिए। कदाचित् द्वारयुक्त उपाश्रय अप्राप्य हो तो खुले उपाश्रय मे परदा बाँध कर रहना चाहिए। इस सूत्र को व्याख्या मे निम्न बातो का समावेश किया गया है . निर्ग्रन्थीविषयक अपावृतद्वारोपाश्रय सूत्र आचार्य यदि प्रवर्तिनी को न समझावे, प्रवर्तिनी यदि अपनी साध्वियो को न सुनावे, साध्वियाँ यदि उसे न सुनें तो उन्हे लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, बिना दरवाजे के उपाश्रय मे रहने वाली प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और श्रमणियो को लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, आप-

---

१. गा० २२३२–२२७७. २. गा० २२७८–२२८७.
३. गा० २२८८–९ ४. गा० २२९५–२३२५.

वादिक रूप से बिना द्वार के उपाश्रय मे रहने की विधि, इस प्रकार के उपाश्रय में द्विदलकटादि बाँधने की विधि, द्वारपालिका श्रमणी और उसके गुण, गणिनी, द्वार-पालिका--प्रतिहारसाध्वी एव अन्य साध्वियो के निवास-स्थान का निर्देश, प्रस्रवण—पेशाब आदि के लिये बाहर जाने-आने मे विलम्ब करने वाली श्रमणियो को फटकारने की विधि, श्रमणी के बजाय कोई अन्य व्यक्ति उपाश्रय मे न घुस जाए इसके लिए उसकी परीक्षा करने की विधि, प्रतिहारसाध्वी द्वारा उपाश्रय के द्वार की रक्षा, शयनसम्बन्धी यतनाएँ, रात्रि के समय कोई मनुष्य उपाश्रय मे घुस जाए तो उसे बाहर निकालने की विधि, विहार आदि के समय मार्ग मे आने वाले गाँवो में सुरक्षित द्वार वाला उपाश्रय न मिले तथा कोई अनपेक्षित भयप्रद घटना घट जाए तो तरुण और वृद्ध साध्वियो को किस प्रकार उसका सामना करना चाहिए इसका निर्देश ।[1]

साधु बिना दरवाजे के उपाश्रय में रह सकते हैं । उन्हे उत्सर्गरूप से उपाश्रय का द्वार बन्द नही करना चाहिए किन्तु अपवादरूप से वैसा किया जा सकता है । अपवादरूप कारणो के विद्यमान रहते हुए द्वार बन्द न करने पर प्रायश्चित्त का विधान है ।[2]

घटीमात्रकप्रकृतसूत्र :

श्रमणियो के लिए घटीमात्रक—घडा रखना व उसका उपयोग करना विहित है किन्तु श्रमणो के लिए घटीमात्रक रखना अथवा उसका उपयोग करना निषिद्ध है । निष्कारण घटीमात्रक रखने से साधुओ को दोष लगते है । हाँ, अपवादरूप मे उनके लिए घटीमात्रक रखना वर्जित नही है । श्रमण-श्रमणियाँ विशेष कारणो से घटीमात्रक रखते है व उसका प्रयोग करते है । घटीमात्रक पास न होने की अवस्था मे उन्हे विविध यतनाओ का सेवन करना पडता है ।[3]

चिलिमिलिकाप्रकृतसूत्र .

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ वस्त्र की चिलिमिलिका—परदा रख सकते हैं व उसका प्रयोग कर सकते है । चिलिमिलिका का स्वरूप वर्णन करने के लिए भाष्यकार ने निम्न द्वारो का आश्रय लिया है १ भेदद्वार, २ प्ररूपणाद्वार--सूत्रमयी, रज्जुमयी, वल्कलमयो, दण्डकमयी और कटकमयी चिलिमिलिका, ३ द्विविधप्रमाणद्वार, ४ उपभोगद्वार ।[4]

दकतीरप्रकृतसूत्र

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के लिए जलाशय, नदी आदि पानी के स्थानो के पास

---

१ गा० २३२६–२३५२. २ गा० २३५३–२३६१

३ गा० २३६१–२३७०. ४. गा० २३७१–२३८२.

अथवा किनारे खडा रहना, बैठना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय-ध्यान-कायोत्सर्ग आदि करना निषिद्ध है। इसके प्रतिपादन के लिए निम्नलिखित विषयो पर प्रकाश डाला गया है : दकतीर की सीमा, पानी के किनारे खडे रहने, बैठने आदि से लगनेवाले अधिकरण आदि दोष, अधिकरणदोष का स्वरूप, जलाशय आदि के पास श्रमण-श्रमणियो को देख कर स्त्री, पुरुष, पशु, आदि की ओर से उत्पन्न होने वाले अधिकरण दोष का स्वरूप, पानी के पास खडे रहने आदि दस स्थानो से सम्बन्धित सामान्य प्रायश्चित्त, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला और प्रचला-प्रचला का स्वरूप, सपातिम और असपातिम जल के किनारे बैठने आदि दस स्थानो का सेवन करने वाले आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक—इन पाँच प्रकार के श्रमणो तथा प्रवर्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा और क्षुल्लिका—इन पाँच प्रकार की श्रमणियो की दृष्टि से प्रायश्चित्त के विविध आदेश, असपातिम और सपातिम का स्वरूप (जलज मत्स्य-मण्डकादि असपातिम है। उनसे युक्त जल के किनारे को असपातिम दकतीर कहते हैं। शेष प्राणी सपातिम है। उनसे युक्त तीर को सपातिम दकतीर कहते हैं। अथवा, केवल पक्षी सपातिम है और तद्भिन्न शेष प्राणी असपातिम हैं। उनसे युक्त जलतीर क्रमश. सपातिम और असपातिम है।), यूपक—जलमध्यवर्ती तट का स्वरूप और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, जल के किनारे आतापना लेने से लगनेवाले दोष, दकतीरद्वार, यूपकद्वार और आतापनाद्वार सम्बन्धी अपवाद और यतनाएँ।[1]

चित्रकर्मप्रकृतसूत्र :

साधु-साध्वियो को चित्रकर्मवाले उपाश्रय में नही ठहरना चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निर्दोष और सदोष चित्रकर्म का स्वरूप, आचार्य, उपाध्याय आदि की दृष्टि से चित्रकर्म वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, चित्रकर्मयुक्त उपाश्रय मे रहने से लगने वाले विकथा, स्वाध्याय-व्याघात आदि दोष, आपवादिक रूप से चित्रकर्मयुक्त उपाश्रय में रहना पडे तो उसके लिए विविध यतनाएँ आदि बातो का स्पष्टीकरण किया है।[2]

सागारिकनिश्राप्रकृतसूत्र :

श्रमणियो को शय्यातर—वसति के स्वामी की निश्रा (सरक्षण) में ही रहना चाहिए। सागारिक—शय्यातर की निश्रा मे न रहने वाली श्रमणियो को विविध दोष लगते हैं। इन दोषो का स्वरूप समझाने के लिए आचार्य ने गवादि-पशुवर्ग, अजा, पक्वान्न, इक्षु, घृत आदि के दृष्टान्त दिए हैं। अपवाद के रूप में सागारिक

---

१ गा० २३८३–२४२५. २. गा० २४२६–२४३३

की निश्रा के अभाव में रहने का अवसर आने पर किस प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिए, इसका दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य ने यह भी बताया है कि योग्य उपाश्रय के अभाव में वृषभो को किस प्रकार श्रमणियो की रक्षा करनी चाहिए और वे वृषभ किस प्रकार के सद्गुणो से युक्त होने चाहिए।[1]

जहाँ तक श्रमणो का प्रश्न है, वे उत्सर्गरूप से सागारिक की निश्रा में नही रह सकते किन्तु अपवादरूप में वैसा कर सकते हैं। जो निर्ग्रन्थ बिना किसी विशेष कारण के सागारिक की निश्रा में रहते हैं उन्हे दोष लगता है जिसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[2]

सागारिकोपाश्रयप्रकृतसूत्र

निर्ग्रन्थ-निग्रन्थियो के लिए सागारिक के सम्बन्ध वाले उपाश्रय में रहना वर्जित है। इस विषय पर चर्चा करते हुए भाष्यकार ने निम्नोक्त बातो का विवेचन किया है सागारिक पद का निक्षेप, द्रव्य-सागारिक के रूप, आभरण, वस्त्र, अलकार, भोजन, गध, आतोद्य, नाट्य, नाटक, गीत आदि प्रकार और तत्सबन्धी दोष एव प्रायश्चित्त, भावसागारिक का स्वरूप, अब्रह्मचर्य के हेतुभूत प्राजापत्य, कौटुम्बिक और दण्डिकपरिगृहीत देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी रूप का स्वरूप तथा उनके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रकार, देवप्रतिमा के विविध प्रकार, देवप्रतिमायुक्त उपाश्रयो में रहने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, देवता के सान्निध्यवाली प्रतिमाओ के प्रकार, मनुष्यप्रतिमा का स्वरूप, प्राजापत्य आदि दृष्टियो से विशेष विवरण, इस प्रकार की प्रतिमायुक्त वसति में ठहरने से लगने वाले दोष तथा तद्विषयक प्रायश्चित्त, तिर्यञ्चप्रतिमा का स्वरूप, भेद, तद्विषयक निवास-दोष और प्रायश्चित्त, मनुष्य के साथ मैथुन का सेवन करने वाले सिंहण का दृष्टान्त, सागारिकोपाश्रयसूत्र सम्बन्धी अपवाद और तत्सम्बन्धी यतनाएँ, सविकार पुरुष, पुरुषप्रकृति तथा स्त्रीप्रकृति वाले नपुसक का स्वरूप, इनके मध्यस्थ, आभरणप्रिय, कार्दपिक और काथिक भेद, इनके सम्बन्ध वाले उपाश्रयो में रहने से लगने वाले सयमविराधनादि दोष और प्रायश्चित्त इत्यादि।[3]

प्रतिबद्धशय्याप्रकृतसूत्र

प्रथम प्रतिबद्धशय्या सूत्र की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हो वहाँ निर्ग्रन्थो को नही रहना चाहिए। इसमें निम्न विषयो का समावेश किया गया है. 'प्रतिबद्ध' पद के निक्षेप, भावप्रतिबद्ध के प्रस्रवण, स्थान, रूप और शब्द ये चार भेद, द्रव्यप्रतिबद्ध-भाव-

---

१. गा० २४३४–२४४५ २. गा० २४४६–८ ३. गा० २४४९–२५८२.

प्रतिवद्ध की चतुर्भंगी और तत्सम्बन्धी विधि-निषेध, निर्ग्रन्थो को 'द्रव्यत. प्रतिवद्ध भावत अप्रतिवद्ध' रूप प्रथम भग वाले आश्रय मे रहने से लगने वाले अधिकरणादि दोष, उनका स्वरूप और तत्सम्बन्धी यतनाएँ, 'द्रव्यत अप्रतिवद्ध भावत प्रतिवद्ध' रूप द्वितीय भग वाले उपाश्रय मे रहने मे लगने वाले दोष, उनका स्वरूप और तत्सम्बन्धी यतनाएँ, 'द्रव्य-भावप्रतिवद्ध' रूप तृतीय भग वाले उपाश्रय मे रहने से लगने वाले दोष आदि, 'द्रव्य-भाव-अप्रतिवद्ध' रूप चतुर्थ भग वाले उपाश्रयो की निर्दोषता का प्ररूपण।[1]

द्वितीय सूत्र की व्याख्या मे इसका प्रतिपादन किया गया है कि जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हो वहाँ निर्ग्रन्थियो का निवास विहित है। द्रव्य-प्रतिवद्ध तथा भावप्रतिवद्ध उपाश्रयो मे रहने से निर्ग्रन्थियो को लगने वाले दोषो और यतनाओ का भी वर्णन किया गया है।[2]

गृहपतिकुलमध्यवासप्रकृतसूत्र

श्रमणो का गृहपतिकुल के मध्य मे रहना वर्जित है। इसके विचार के लिए आचार्य ने शालाद्वार, मध्यद्वार और छिडिकाद्वार का आश्रय लिया है।

१ शालाद्वार—श्रमणो को शाला में रहने से लगने वाले दोषो का १ प्रत्यपाय, २. वैक्रिय, ३ अपावृत, ४ आदर्श, ५ कल्पस्थ, ६. भक्त, ७ पृथिवी, ८ उदक, ९ अग्नि, १० वीज और ११ अवहन्न—इन ग्यारह द्वारो से वर्णन किया है।[3]

२ मध्यद्वार—श्रमणो को शाला के मध्य मे वने हुए भवन आदि मे रहने से लगने वाले दोषो का उपर्युक्त ग्यारह द्वारो के उपरान्त १ अतिगमन, २. अनाभोग, ३. अवभाषण, ४ मज्जन और ५ हिरण्य—इन पाँच द्वारो से निरूपण किया है।[4]

३ छिडिकाद्वार—छिडिका का अर्थ है पुरोहड अर्थात् वसति के द्वार पर बना हुआ प्रतिश्रय। छिडिका मे रहने से लगने वाले दोषो का विविध दृष्टियो से विचार किया है। इन द्वारो से सम्बन्ध रखने वाली यतनाओ का भी वर्णन किया गया है।[5]

श्रमणियो की दृष्टि से गृहपतिमध्यवास का विचार करते हुए आचार्य ने बताया है कि उन्हें भी गृहपतिकुल के मध्य मे नही रहना चाहिए। शाला आदि मे रहने से श्रमणियो को अनेक प्रकार के दोष लगते है।[6]

---

१ गा० २५८३–२६१५. २. गा० २६१६–२६२८.
३ गा० २६३३–२६४४. ४. गा० २६४५–२६५२.
५. गा० २६५३–२६६७. ६ गा० २६६८–२६७५.

आपवादिक कारणो से वर्षाऋतु में विहार करने का प्रसग उपस्थित होने पर विशेष यतनाओ के सेवन का विधान है।[1]

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को हेमन्त और ग्रीष्मऋतु के आठ महीनो में विहार करना चाहिए। इन महीनो मे विहार करने से अनेक लाभ होते हैं तथा न करने से अनेक दोप लगते है। विहार करते हुए मार्ग मे आने वाले मासकल्प के योग्य ग्राम-नगरादि क्षेत्रो को चैत्यवन्दनादि के निमित्त छोड कर चले जाने से अनेक दोष लगते है। हाँ, किन्ही आपवादिक कारणो से वैसा करना पडे तो उसमे कोई दोष नही है।[2]

वैराज्यप्रकृतसूत्र :

इस सूत्र की व्याख्या मे यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को वैराज्य अर्थात् विरुद्धराज्य मे पुन पुन गमनागमन नही करना चाहिए। इस व्याख्या मे निम्न विषयो पर विचार किया गया है . वैराज्य, विरुद्धराज्य, सद्योगमन, सद्योआगमन, वैर आदि पद, वैराज्य के चार प्रकार (अराजक, यौवराज्य, वैराज्य और द्वैराज्य), वैराज्य—विरुद्धराज्य मे आने-जाने से लगने वाले आत्मविराधना आदि दोप, वैराज्य—विरुद्धराज्य मे गमनागमन से सम्बन्धित अपवाद और यतनाए।[3]

अवग्रहप्रकृतसूत्र :

प्रथम अवग्रहसूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि भिक्षाचर्या के लिए गए हुए निर्ग्रन्थ से यदि गृहपति वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि के लिए प्रार्थना करे तो उसे चाहिए कि उस उपकरण को लेकर आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करे और आचार्य की आज्ञा लेकर ही उसे रखे अथवा काम में ले। वस्त्र दो प्रकार का है याचनावस्त्र और निमत्रणावस्त्र। याचनावस्त्र का स्वरूप पहले बताया जा चुका है।[4] निमत्रणावस्त्र का स्वरूप वर्णन करते हुए आचाय ने निम्नोक्त बातो का स्पष्टीकरण किया है : निमत्रणावस्त्र सम्बन्धी सामाचारी, उससे विरुद्ध आचरण करने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, निमत्रणावस्त्र की शुद्धता का स्वरूप, गृहीत वस्त्र का स्वामित्व आदि।[5]

द्वितीय अवग्रहसूत्र की व्याख्या मे बताया गया है कि स्थडिलभूमि आदि के लिए जाते समय यदि कोई निर्ग्रन्थ से वस्त्रादि की प्रार्थना करे तो उसे प्राप्त

---

१ गा० २७३२–२७४७.
२ गा० २७४८–२७५८
३ गा० २७५९–२७९१
४. गा० ६०३–६४८.
५. गा० २७९२–२८१३.

उपकरणादि को आचार्य के पास ले जाकर उपस्थित करना चाहिए तथा उनकी आज्ञा मिलने पर ही उनका उपयोग करना चाहिए।[1]

तृतीय और चतुर्थ सूत्र की व्याख्या में निर्ग्रन्थियो की दृष्टि से वस्त्रग्रहण आदि का विचार किया गया है। निर्ग्रन्थी गृहपतियो से मिलने वाले वस्त्र-पात्रादि को प्रवर्तिनी की आज्ञा से ही अपने काम में ले सकती है।[2]

रात्रिभक्तप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियो को रात्रि के समय अथवा विकाल मे अशन-पानादि का ग्रहण नही कल्पता। प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निम्न विषयो की चर्चा की है 'रात्रि' और 'विकाल' पदो की व्याख्या, रात्रि में खाने-पीने से लगने वाले आज्ञाभग, अनवस्था, मिथ्यात्व, सयमविराधना आदि दोष, रात्रि-भोजनविषयक 'दिवा गृहीत दिवा भुक्तम्', 'दिवा गृहीत रात्रौ भुक्तम्', 'रात्रौ गृहीतं दिवा भुक्तम्' और 'रात्रौ गृहीत रात्रौ भुक्तम्' रूप चतुर्भङ्गी एव तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, रात्रिभोजनग्रहणसम्बन्धी आपवादिक कारण, रुग्ण, क्षुधित, पिपासित, असहिष्णु, चन्द्रवेध अनशन आदि मे सम्बन्धित अपवाद, अध्वगमन अर्थात् देशान्तरगमन की अनुज्ञा, अध्वगमनोपयोगी उपकरण, १ चर्मद्वार| तलिका, पुट, वर्ध्र, कोशक, कृत्ति, सिक्कक, कापोतिका आदि, २ लोहग्रहणद्वार—पिप्पलक, सूची, आरी, नखहरणिका आदि, ३ नन्दीभाजनद्वार, ४ धर्मकरकद्वार; ५. परतीर्थिकोपकरणद्वार, ६ गुलिकाद्वार, ७ खोलद्वार, अध्वगमनोपयोगी उपकरण न लेने वाले के लिए प्रायश्चित्त, प्रयाण करते समय शकुनावलोकन; सिहपर्षदा, वृषभपर्षदा और मृगपर्षदा का स्वरूप, मार्ग में अन्न-जल प्राप्त न होने पर उसकी प्राप्ति की विधि और तद्विषयक द्वार—१ प्रतिसार्थद्वार, २ स्तेन-पल्लीद्वार, ३ शून्यग्रामद्वार, ४ वृक्षादिप्रलोकनद्वार, ५ नन्दिद्वार, ६ द्विविध-द्रव्यद्वार, उत्सर्गरूप से रात्रि में सस्तारक, वसति आदि ग्रहण करने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त; रात्रि में वसति आदि ग्रहण करने के आपवादिक कारण, गीतार्थ निर्ग्रन्थो के लिए वसति ग्रहण करने की विधि, अगीतार्थमिश्रित गीतार्थ निर्ग्रन्थो के लिए वसति-ग्रहण की विधि, अधेरे में वसति की प्रतिलेखना के लिए प्रकाश का उपयोग करने की विधि व यतनाएं, ग्रामादि के बाहर वसति ग्रहण करने के लिए यतनाए, कुल, गण, सघ आदि की रक्षा के निमित्त लगने वाले अपराधो की निर्दोषता और तद्विषयक सिंहत्रिकघातक कृतकरण श्रमण का उदाहरण।[3]

---

१. गा० २८१४. २. गा० २८१५–२८३५.
३. गा० २८३६–२९६८.

रात्रिवस्त्रादिग्रहणप्रकृतसूत्र :

श्रमण-श्रमणियो को रात्रि के समय अथवा विकाल मे वस्त्रादिग्रहण नही कल्पता। इस नियम का विश्लेषण करते हुए भाष्यकार ने निम्नलिखित बातो का स्पष्टीकरण किया है - रात्रि में वस्त्रादि ग्रहण करने से लगने वाले दोष एवं प्रायश्चित्त; इस नियम से सम्बन्धित अपवाद, सयतभद्र, गृहिभद्र, सयतप्रान्त और गृहिप्रान्त चौरविषयक चतुर्भङ्गी, सयतभद्र-गृहिप्रान्त चोर द्वारा लूटे गये गृहस्थ को वस्त्रादि देने की विधि, गृहिभद्र-संयतप्रान्त चौर द्वारा श्रमण और श्रमणी इन दो मे से कोई एक लूट लिया गया हो तो परस्पर वस्त्र आदान-प्रदान करने की विधि, श्रमण-गृहस्थ, श्रमण-श्रमणी, समनोज्ञ-अमनोज्ञ अथवा सविग्न-असविग्न ये दोनो पक्ष लूट लिये गये हो उस समय एक दूसरे को वस्त्र आदान-प्रदान करने की विधि।[1]

हृताहृतिका-हरिताहृतिकाप्रकृतसूत्र :

पहले हृत अर्थात् हरा गया हो और बाद में आहृत अर्थात् लाया गया हो उसे हृताहृत कहते हैं। हरित अर्थात् वनस्पति मे आहृत अर्थात् प्रक्षिप्त को हरिताहृत कहते हैं। चोरो द्वारा जिस वस्त्र का पहले हरण किया गया हो और बाद में वापस कर दिया गया हो अथवा जिसे चुराकर वनस्पति आदि मे फेक दिया गया हो उसके ग्रहणसम्बन्धी नियमो पर प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में प्रकाश डाला गया है। प्रसगवशात् मार्ग मे आचार्य को गुप्त रखने की विधि और आवश्यकता का भी विवेचन किया गया है।[2]

अध्वगमनप्रकृतसूत्र :

श्रमण-श्रमणियो के लिए रात्रि मे अथवा विकाल मे अध्वगमन निषिद्ध है। अध्व पथ और मार्ग भेद से दो प्रकार का है। जिसके बीच में ग्राम, नगर आदि कुछ भी न हो उसे पथ कहते हैं। जो ग्रामानुग्राम की परपरा से युक्त हो उसे मार्ग कहते है। रात्रि मे मार्गरूप अध्वगमन करने से मिथ्यात्व, उड्डाह, सयमविराधना आदि अनेक दोष लगते है। पथ दो प्रकार का होता है - छिन्नाध्वा और अछिन्नाध्वा। रात्रि के समय पथगमन करने से भी अनेक दोष लगते हैं। अपवादरूप से रात्रिगमन की छूट है किन्तु उसके लिए अध्वोपयोगी उपकरणो का सग्रह तथा योग्य सार्थ का सहयोग आवश्यक है। सार्थ पाँच प्रकार के हैं १ भडी, २ बहिलक, ३ भारवह, ४ औदरिक और ५ कार्पटिक। इनमे से किस प्रकार के सार्थ के साथ श्रमण-श्रमणियो को जाना

---

१. गा० २९६९–३००० २ गा० ३००१–३०३७

चाहिए, इसकी ओर निर्देश करते हुए आचार्य ने आठ प्रकार के सार्थवाहो और आठ प्रकार के आदियात्रिको अर्थात् सार्थव्यवस्थापको का उल्लेख किया है। इसके बाद सार्थवाह की अनुज्ञा लेने की विधि और भिक्षा, भक्तार्थना, वसति, स्थडिल आदि से सम्बन्ध रखने वाली यतनाओ का वर्णन किया है। अध्वगमनोपयोगी अध्वकल्प का स्वरूप बताते हुए अध्वगमनसम्बन्धी अशिव, दुर्भिक्ष, राजद्विष्ट आदि व्याघातो और तत्सम्बन्धी यतनाओ का विस्तृत विवेचन किया है।[1]

सखडिप्रकृतसूत्र :

'सखडि' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है · सम्–इति सामस्त्येन खण्ड्यन्ते त्रोटयन्ते जीवाना वनस्पतिप्रभृतीनामायूषि प्राचुर्येण यत्र प्रकरण विशेषे सा खलु सखडिरित्युच्यते अर्थात् जिस प्रसग विशेष पर सामूहिक रूप से वनस्पति आदि का उपभोग किया जाता हो उसे सखडि कहते है।[2] प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को रात्रि के समय सखडि मे अथवा सखडि को लक्ष्य मे रख कर कही नही जाना चाहिए। माया, लोलुपता आदि कारणो से सखडि में जाने वाले को लगने वाले दोष, यावन्तिका, प्रगणिता, सक्षेत्रा, अक्षेत्रा, बाह्या, आकीर्णा आदि सखडि के विविध भेद और तत्सम्बन्धी दोषो का प्रायश्चित्त, सखडि मे जाने योग्य आपवादिक कारण और आवश्यक यतनाएँ आदि विषयो पर भी प्रकाश डाला गया है।[3]

विचारभूमि–विहारभूमिप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थो को रात्रि के समय विचारभूमि—नीहारभूमि अथवा विहारभूमि—स्वाध्यायभूमि मे अकेले नही जाना चाहिए। विचारभूमि दो प्रकार की है : कायिकीभूमि और उच्चारभूमि। इनमे रात्रि के समय अकेले जाने से अनेक दोष लगते है। अपवादरूप से अकेले जाने का प्रसङ्ग आनेपर विविध प्रकार की यतनाओ के सेवन का विधान किया गया है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थी के लिए भी रात्रि के समय अकेली विचारभूमि और विहारभूमि मे जाने का निषेध है।[4]

आर्यक्षेत्रप्रकृतसूत्र ·

इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य ने श्रमण-श्रमणियो के विहारयोग्य क्षेत्र की मर्यादाओ का विवेचन किया है। साथ ही आर्यक्षेत्रविषयक प्रस्तुत सूत्र अथवा सम्पूर्ण कल्पाध्ययन का ज्ञान न रखनेवाले अथवा ज्ञान होते हुए भी उसका

---

१ गा० ३०३८–३१३८ २ गा० ३१४० ३ गा० ३१४१–३२०६.
४ गा० ३२०७–३२३९.

आचरण न करनेवाले आचार्य की अयोग्यता का दिग्दर्शन कराया है। इस प्रसङ्ग पर साँप के सिर और पूँछ का सवाद, खसद्रुमश्शृगाल का आख्यान, वदर और चिडिया का सवाद, वैद्यपुत्र का कथानक आदि उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। 'आर्य' पद का १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ क्षेत्र, ५ जाति, ६ कुल, ७ कर्म, ८ भाषा, ९ शिल्प, १० ज्ञान, ११ दर्शन और १२ चारित्ररूप वारह प्रकार के निक्षेपो से विचार किया है। आर्यजातियाँ छ है: अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हारित और तन्तुण। आर्यकुल भी छ है उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात—कौरव और इक्ष्वाकु। आर्यक्षेत्र के वाहर विचरने से लगनेवाले दोषो का निरूपण करते हुए स्कन्दकाचार्य का दृष्टान्त दिया गया है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रक्षा और वृद्धि को दृष्टि मे रखते हुए आर्यक्षेत्र के वाहर विचरने के विधान की दृष्टि से सम्प्रतिराज का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[1] यहाँ तक प्रथम उद्देश का अधिकार है।

द्वितीय उद्देश :

द्वितीय उद्देश की व्याख्या में निम्नलिखित सात प्रकार के सूत्रो का अधिकार है १ उपाश्रयप्रकृत, २ सागारिकपारिहारिकप्रकृत, ३. आहृतिका-निहृतिकाप्रकृत, ४ अंशिकाप्रकृत, ५ पूज्यभक्तोपकरणप्रकृत, ६ उपधिप्रकृत, ७ रजोहरणप्रकृत।[2]

उपाश्रयप्रकृतसूत्रो के विवेचन मे उपाश्रय के व्याघातो का विस्तृत वर्णन है। जिसमे शालि, व्रीहि आदि सचेतन धान्यकण विखरे हुए हो उस उपाश्रय मे श्रमण-श्रमणियो के लिए थोडे से समय के लिए रहना भी वर्जित है। बीजाकीर्ण आदि उपाश्रयो मे रहने से लगने वाले दोषो और प्रायश्चित्तो का निर्देश करते हुए भाष्यकार ने तद्विषयक अपवादो और यतनाओ की ओर भी सकेत किया है। प्रसगवशात् उत्सर्गसूत्र, आपवादिकसूत्र, उत्सर्गापवादिकसूत्र, अपवादोत्सर्गिकसूत्र, उत्सर्गोत्सर्गिकसूत्र, अपवादापवादिकसूत्र, देशसूत्र, निरवशेषसूत्र, उत्क्रमसूत्र और क्रमसूत्र का स्वरूप बताया है। आगे यह भी बताया है कि सुराविकटकुभ, शीतोदकविकटकुभ, ज्योति, दीपक, पिंड, दुग्ध, दधि, नवनीत, आगमन, विकट, वशी, वृक्ष, अभ्रावकाश आदि पदार्थो से युक्त स्थानो मे रहना साधु-साध्वियो के लिए निषिद्ध है।[1]

सागारिकपारिहारिकप्रकृतसूत्रो का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने वसति के एक अथवा अनेक सागारिको के आहार आदि के त्याग की विधि बताई है।

१. गा० ३२४०–३२८९ २. गा० ३२९०–३५१७

इसका नौ द्वारो से विचार किया गया है · १. सागारिकद्वार, २. क सागारिकद्वार, ३ कदा सागारिकद्वार, ४. कतिविध· सागारिकपिण्डद्वार, ५. अशय्यातरो वा कदाद्वार, ६ शय्यातर· कस्य परिहर्तव्यद्वार, ७. दोषद्वार, ८ कल्पनीयकारणद्वार ९ यतनाद्वार—पिता-पुत्रद्वार, सपत्नीद्वार, वणिग्द्वार, घटाद्वार और व्रजद्वार ।[1]

आहृतिका-निहृतिकाप्रकृतसूत्रो की व्याख्या मे दूसरो के यहा से आने वाली भोजन-सामग्री का दान करने वाले सागारिक और ग्रहण करने वाले श्रमण के कर्तव्यो का वर्णन किया गया है ।[2]

अशिकाप्रकृतसूत्र की व्याख्या मे इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि जब तक सागारिक की अशिका (भाग) अलग न कर दी गई हो तब तक दूसरे का अशिकापिण्ड श्रमण के लिए अग्रहणीय है । सागारिक की अशिका का पाच प्रकार के द्वारो से वर्णन किया गया है १ क्षेत्रद्वार, २. यन्त्रद्वार, ३ भोज्यद्वार, ४. क्षीरद्वार और ५ मालाकारद्वार ।[3]

पूज्यभक्तोपकरणप्रकृतसूत्रो का विवेचन करते हुए कहा गया है कि विशिष्ट व्यक्तियो के लिए निर्मित भक्त अथवा उपकरण सागारिक स्वय अथवा उसके परिवार का कोई सदस्य श्रमण को दे तो उसे ग्रहण नही करना चाहिए ।[4]

उपधिप्रकृतसूत्र की व्याख्या मे जाङ्गिक, भाङ्गिक, सानक, पोतक और तिरीटपट्टक—इन पाच प्रकार के वस्त्रो का स्वरूप, उपधि के परिभोग की विधि, उसकी सख्या, अपवाद आदि पर प्रकाश डाला गया है ।[5]

रजोहरणप्रकृतसूत्र की व्याख्या में औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक और मुञ्जचिप्पक—इन पाच प्रकार के रजोहरणो के स्वरूप, उनके ग्रहण की विधि, क्रम और कारणो का विचार किया गया है ।[6]

तृतीय उद्देश—उपाश्रयप्रवेशप्रकृतसूत्र ·

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि निर्ग्रन्थो को निर्ग्रन्थियो के और निर्ग्रन्थियो को निर्ग्रन्थो के उपाश्रय मे शयन, आहार, विहार, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करना वर्जित है । इस प्रसग पर स्थविरादि से पूछकर अथवा बिना पूछे निर्ग्रन्थियो के उपाश्रय मे बिना कारण जाने से आचार्यादि को लगनेवाले दोषो और ओघ प्रायश्चित्तो का वर्णन किया

१. गा० ३५१८–३६१५
२. गा० ३६१६–३६४२
३. गा० ३६४३–३६५२
४. गा० ३६५३–८.
५. गा० ३६५९–३६७२.
६. गा० ३६७३–८.

गया है। किसी कारण से निर्ग्रन्थियो के उपाश्रय मे प्रवेश करने का प्रसग उपस्थित होने पर तद्विषयक आज्ञा, विधि और कारणो पर निम्नलिखित छ द्वारो से प्रकाश डाला गया है १ कारणद्वार, २ प्राघुणकद्वार, ३ गणधरद्वार, ४ महर्द्धिकद्वार, ५ प्रच्छादनाद्वार, ६ असहिष्णुद्वार।[1]

चर्मप्रकृतसूत्र .

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीविषयक चर्मोपयोग से सम्बन्धित विषयो का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निर्ग्रन्थियो को सलोम चर्म के उपभोग से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, तद्विषयक अपवाद, निर्ग्रन्थियो के लिए सलोम चर्म के निषेध के कारण, उत्सर्गरूप से निर्ग्रन्थो के लिए भी सलोम चर्म अकल्प्य, पुस्तकपचक, तृणपचक, दूष्यपचकद्वय और चर्मपचक का स्वरूप, तद्विषयक दोष, प्रायश्चित्त और यतनाएँ, निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के लिए कृत्स्नचर्म अर्थात् वर्ण-प्रमाणादि से प्रतिपूर्ण चर्म के उपभोग अथवा सग्रह का निषेध, सकलकृत्स्न, प्रमाणकृत्स्न, वर्णकृत्स्न और बधनकृत्स्न का स्वरूप, तत्सम्बन्धी दोष और प्रायश्चित्त, कृत्स्नचर्म के उपभोगादि से लगने वाले दोषो का गर्व, निर्मार्दवता, निरपेक्ष, निर्दय, निरन्तर और भूतोपघात द्वारो से निरूपण, तत्सम्बन्धी अपवाद और यतनाएँ, वर्ण-प्रमाणादि से रहित चर्म के उपभोग और संग्रह का विधान सकारण अकृत्स्न का उपभोग और निष्कारणक उपभोग से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, अकृत्स्नचर्म के अष्टादश खण्ड आदि विषयो का विवेचन किया है।[2]

कृत्स्नाकृत्स्नवस्त्रप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियो के लिए कृत्स्नवस्त्र का सग्रह और उपभोग अकल्प्य है। उन्हे अकृत्स्नवस्त्र का सग्रह एव उपयोग करना चाहिए। कृत्स्नवस्त्र का निक्षेप छ. प्रकार का है १ नामकृत्स्न, २ स्थापनाकृत्स्न, ३ द्रव्यकृत्स्न, ४ क्षेत्र-कृत्स्न, ५ कालकृत्स्न और ६ भावकृत्स्न। द्रव्यकृत्स्न के दो भेद हैं : सकलकृत्स्न और प्रमाणकृत्स्न। भावकृत्स्न दो प्रकार का है : वर्णयुत भावकृत्स्न और मूल्ययुत भावकृत्स्न। वर्णयुत भावकृत्स्न के पाँच भेद है - कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल। मूल्ययुत भावकृत्स्न के तीन भेद हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इनके लिए विविध दोष, प्रायश्चित्त और अपवाद है।[3]

भिन्नाभिन्नवस्त्रप्रकृतसूत्र :

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के लिए अभिन्न वस्त्र का सग्रह एव उपयोग अकल्प्य है।

---

१. गा० ३६७९–३८०४ २ गा० ३८०५–३८७८
३ गा० ३८७९–३९१७

इसका विवेचन करते हुए आचार्य ने निम्न विषयो का व्याख्यान किया है कृत्स्न और अकृत्स्न पदो की भिन्न और अभिन्न पदो के साथ चतुर्भङ्गी, अभिन्न पद का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावदृष्टि से विचार, तद्ग्रहणसम्बन्धी विधि, प्रायश्चित्त आदि, भिन्न वस्त्र उपलब्ध न होने की अवस्था मे अभिन्न वस्त्र का फाडकर उपयोग करना, वस्त्र फाडने मे लगनेवाली हिंसा-अहिंसा की चर्चा, द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का स्वरूप, राग, द्वेष और मोह की विविधता के कारण कर्मबन्ध में न्यूनाधिकता, हिंसा करने में रागादि की तीव्रता से तीव्र कर्मबन्ध और रागादि की मन्दता से मन्द कर्मबन्ध; हिंसक के ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबन्ध में न्यूनाधिकता, हिंसक के क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक आदि भावो की विचित्रता के कारण कर्मबन्ध का वैचित्र्य; अधिकरण की विविधता के कारण कर्मबन्ध का वैविध्य, हिंसक के देहादि बल के कारण कर्मबन्ध की विविधता; जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की उपधि और उसकी सख्या, स्थविरकल्पिक के पात्रकबन्ध और रजोहरण का माप, ग्रीष्म, शिशिर और वर्षाऋतु की दृष्टि से पटलको की सख्या और माप, रजोहरण का स्वरूप और माप, सस्तारक, उत्तरपट्ट एव चोलपट्ट, रजोहरण की ऊनी और सूती निषद्याएँ, मुखवस्त्रिका, गोच्छक, पात्रप्रत्युपेक्षणिका और पात्रस्थापन का माप, प्रमाणातिरिक्त उपधिसम्बन्धी अपवाद, न्यूनाधिक उपधि मे लगने वाले दोष, वस्त्र का परिकम अर्थात् सन्धि, विधिपरिकर्म और अविधिपरिकर्म, विभूषा के लिए उपधि के प्रक्षालन आदि से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, मूर्च्छायुक्त होकर उपधि रखने वाले को लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, पात्रविषयक विधि, सख्या से अधिक अथवा न्यून और माप से बडे अथवा छोटे पात्र रखने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, पात्र का माप, तद्विषयक अपवाद; पात्र के सुलक्षण और अपलक्षण, तुम्ब, काष्ठ और मृत्पात्र तथा यथाकृत, अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म पात्र, ग्रहण के क्रम-भग मे लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, पात्र लाने वाले निर्ग्रन्थ की योग्यता, पात्र की याचना का समय, पात्र-याचना के दिवस, पात्र-प्राप्ति के स्थान, तन्दुलधावन, उष्णोदक आदि से भावित कल्प्य पात्र और उनके ग्रहण की विधि, पात्रग्रहणविषयक जघन्य यतना, तद्विषयक शका समाधान, प्रमाणयुक्त पात्र की अनुपलब्धि की अवस्था में उपयोगपूर्वक पात्र का छेदन, पात्र के मुख का मान, मात्रकविषयक विधि, प्रमाण, अपवाद आदि, निर्ग्रन्थियो के लिए पचीस प्रकार की ओघोपधि, निर्ग्रन्थियो के शरीर के अधोभाग को ढकने के लिए अवग्रहानतक, पट्ट, अर्द्धोरुक, चलनिका, अन्तर्निवसनी और बहिर्निवसनी, ऊर्ध्वभाग को ढकने के लिए कञ्चुक, औपकक्षिकी, वैकक्षिकी, सङ्घाटी और

स्कन्धकरणी, जिनकल्पिक, स्थविरकल्पिक और श्रमणियो के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट उपधि का विभाग इत्यादि ।[1]

अवग्रहानन्तक-अवग्रहपट्टकप्रकृतसूत्र

निर्ग्रन्थियो को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक नही रखने से अनेक दोष लगते हैं। इसके विषय मे कुछ अपवाद भी है। निर्ग्रन्थियो को हमेशा पूरे वस्त्रो सहित विधिपूर्वक बाहर निकलना चाहिए। अविधिपूर्वक बाहर निकलने से लगने वाले दोषो का निरूपण करते हुए भाष्यकार ने नर्तकी आदि के उदाहरण दिए है। धर्षित—अपहृत निर्ग्रन्थी के परिपालन की विधि का निर्देश करते हुए उसका अवर्णवाद—अवहेलना आदि करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसी प्रसग पर आचार्य ने यह भी बताया है कि पुरुषससर्ग के अभाव मे भी पाँच कारणो से गर्भाधान हो सकता है। वे पाँच कारण ये हैं · १ दुर्विवृत एव दुर्निषण्ण स्त्री की योनि मे पुरुषनिसृष्ट शुक्रपुद्गल किसी प्रकार प्रविष्ट हो जाएँ, २ स्त्री स्वय एव पुत्रकामना से उन्हें अपनी योनि में प्रवेश कराए, ३ अन्य कोई उन्हे उसकी योनि मे रख दे, ४ वस्त्र के ससर्ग से शुक्रपुद्गल स्त्री-योनि मे प्रविष्ट हो जाएँ, ५ उदकाचमन से स्त्री के भीतर शुक्रपुद्गल प्रविष्ट हो जाएँ।[2]

निश्राप्रकृत एव त्रिकृत्स्नप्रकृतसूत्र ·

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भिक्षा के लिए गई हुई निर्ग्रन्थी को वस्त्र आदि का ग्रहण करना हो तो प्रवर्तिनी की निश्रा में करना चाहिए। यदि प्रवर्तिनी साथ मे न हो तो उस क्षेत्र में जो आचार्य आदि हो उनकी निश्रा में करना चाहिए।[3]

त्रिकृत्स्नप्रकृतसूत्र की व्याख्या में इस विधान का प्रतिपादन किया गया है कि प्रथम दीक्षा ग्रहण करने वाले श्रमण के लिए रजोहरण, गोच्छक और प्रतिग्रहरूप तीन प्रकार की उपधि का ग्रहण विहित है। यदि दीक्षा लेने वाले ने पहले भी दीक्षा ली हो तो वह नई उपधि लेकर प्रव्रजित नही हो सकता। इस प्रसंग पर आचार्य ने निम्न विषयो का विवेचन किया है : प्रथम दीक्षा ग्रहण करने वाले शिष्य के लिए चैत्य, आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु आदि की पूजा-सत्कार की विधि, तद्विषयक विशोधिकोटि-अविशोधिकोटि का स्वरूप, रजोहरण, गोच्छक और प्रतिग्रहरूप त्रिकृत्स्न के क्रय के योग्य कुत्रिकापण, कुत्रिकापण वाले नगर, निर्ग्रन्थी के लिए चतु कृत्स्न उपधि इत्यादि ।[4]

---

१ गा० ३९१८–४०९९ २ गा० ४१००–४१४७.
३. गा० ४१४८–४१८८. ४. गा० ४१८९–४२३४.

समवसरणप्रकृतसूत्र

श्रमण-श्रमणियों को प्रथम समवसरण अर्थात् वर्षाकाल से सम्बन्धित क्षेत्र-काल में प्राप्त वस्त्रों का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस नियम की परिपुष्टि के लिए निम्न बातों का व्याख्यान किया गया है वर्षाऋतु में अधिक उपधि लेने की आज्ञा, उसके कारण, तत्सम्बन्धी कुटुम्बी का दृष्टान्त, वर्षाऋतुयोग्य अधिक उपकरण नहीं रखने से सम्भावित दोष, वर्षाऋतु के योग्य उपकरण, तत्सम्बन्धी अपवाद, वर्षाऋतु की कालमर्यादा, वर्षावास के क्षेत्र से निकले हुए श्रमण-श्रमणियों के लिए वस्त्रादि ग्रहण करने की विधि, अपवाद आदि।[1]

यथारत्नाधिकवस्त्रपरिभाजनप्रकृतसूत्र .

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में वस्त्र-विभाजन की विधि की ओर निर्देश किया गया है। इसमें बताया गया है कि यथा रत्नाधिक परिभाजन का क्या अर्थ है, क्रमभंग में क्या दोष है, गुरुओं के योग्य वस्त्र कौन-से हैं, रत्नाधिक कौन हैं, उनका क्या क्रम है, सम्मिलित रूप से लाए गए वस्त्रों के परिभाजन—विभाजन का क्या क्रम है, लोभी साधु के साथ वस्त्र-विभाजन के समय कैसा व्यवहार करना चाहिए आदि।[2] सचित्त, अचित्त और मिश्रग्रहण का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि जल, अग्नि, चोर, दुर्भिक्ष, महारण्य, ग्लान, श्वापद आदि भयप्रद प्रसंगों की उपस्थिति में आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, क्षुल्लक और स्थविर—इन पाँच निर्ग्रन्थों तथा प्रवर्तिनी, उपाध्याया, स्थविरा, भिक्षुणी और क्षुल्लिका—इन पाँच निर्ग्रन्थियों में से किसको किस क्रम से रक्षा करनी चाहिए।[3] इसी प्रकार यथारत्नाधिकशय्यासंस्तारकपरिभाजनप्रकृतसूत्र की भी व्याख्या की गई है।[4]

कृतिकर्मप्रकृतसूत्र

कृतिकर्म दो प्रकार का है अभ्युत्थान और वन्दनक। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पार्श्वस्थ आदि अन्यतीर्थिक, गृहस्थ, यथाच्छन्द आदि को देखकर अभ्युत्थान नहीं करना चाहिए अर्थात् खड़े नहीं होना चाहिए। आचार्यादि को आते देख कर अभ्युत्थान न करनेवाले को दोष लगता है। वन्दनक कृतिकर्म का स्वरूप बताते हुए निम्नोक्त बातों की चर्चा की गई है दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में आचार्य, उपाध्याय आदि को वंदना न करने, वंदना के पदों को न पालने तथा हीनाधिक वंदनक करने में लगनेवाले दोषों का प्रायश्चित्त, वन्दनक-

---

१ गा० ४२३५–४३०७ २ गा० ४३०८–४३२९.
३ गा० ४३३३–४३५२ ४ गा० ४३६७–४४१३

विषयक पचीस आवश्यक क्रियाएँ, अनादृत, स्तब्ध, प्रवृद्ध, परिपिण्डित, टोलगति, अकुश आदि बत्तीस दोष और उनके लिए प्रायश्चित्त, आचार्यादि को वन्दना करने की विधि, विधि का विपर्यास करनेवाले के लिए प्रायश्चित्त, आचार्य से पर्यायज्येष्ठ को आचार्य वन्दन करे या नही—इसका विधान, आचार्य के रत्नाधिको का स्वरूप, वन्दना किसे करनी चाहिए और किसे नही करनी चाहिए—इसका निर्णय, श्रेणिस्थितो को वन्दना करने को विधि, व्यवहार और निश्चयनय से श्रेणिस्थितो की प्रामाणिकता की स्थापना, सयमश्रेणि का स्वरूप, अपवादरूप से पार्श्वस्थादि के साथ किन स्थानो में किस प्रकार के अभ्युत्थान और वन्दनक का व्यवहार रखना चाहिए इत्यादि ।[1]

अन्तरगृहस्थानादिप्रकृतसूत्र .

साधु साध्वियो के लिए घर के अन्दर अथवा दो घरो के बीच मे रहना, बैठना, सोना आदि वर्जित है । इसी प्रकार अन्तरगृह में चार-पांच गाथाओ का आख्यान, पच महाव्रतो का व्याख्यान आदि निषिद्ध है । खडे-खडे एकाध श्लोक अथवा गाथा का आख्यान करने मे कोई दोष नही है । इससे अधिक गाथाओ अथवा श्लोको का व्याख्यान करने से अनेक प्रकार के दोषो की सम्भावना रहती है अत वैसा करना निषिद्ध है ।[2]

शय्या-सस्तारकप्रकृतसूत्र :

प्रथम शय्यासस्तारकसूत्र की व्याख्या मे यह बताया गया है कि शय्या और सस्तारक के परिशाटी और अपरिशाटी ये दो भेद है । श्रमण-श्रमणियो को माँग कर लाया हुआ शय्या-सस्तारक स्वामी को सौप कर ही अन्यत्र विहार करना चाहिए । ऐसा न करनेवाले को अनेक दोष लगते है ।

द्वितीय सूत्र की व्याख्या मे इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को अपने तैयार किये हुए शय्या-सस्तारक को बिखेर कर ही अन्यत्र विहार करना चाहिए ।

तृतीय सूत्र के व्याख्यान मे इस बात पर जोर दिया गया है कि शय्या-सस्तारक की चोरी हो जाने पर साधु-साध्वियो को उसकी खोज करनी चाहिए । खोज करने पर मिल जाने पर उसी स्वामी को वापिस सौपना चाहिए । न मिलने पर दूसरी बार याचना करके नया शय्या-सस्तारक जुटाना चाहिए । सस्तारक आदि चुरा न लिये जाएँ इसके लिए उपाश्रय को सूना नही छोडना चाहिए । सावधानी रखने पर भी उपकरण आदि की चोरी हो जाने पर उन्हे ढूढने के लिए राजपुरुषो को विधिपूर्वक समझाना चाहिए ।[3]

---

१. गा० ४४१४–४५५३. २ गा० ४५५४–४५९७. ३. गा० ४५९८–४६४९.

साधर्मिकावग्रहप्रकृतसूत्र :

जिस दिन श्रमणो ने अपनी वसति और सस्तारक का त्याग किया हो उसी दिन यदि दूसरे श्रमण वहाँ आ जायँ तो भी एक दिन तक पहले के श्रमणो का ही अवग्रह बना रहता है। प्रस्तुत सूत्र-विवेचन में शैक्षविषयक अवग्रह का भी विचार किया गया है। वास्तव्य और वाताहृत—आगन्तुक शैक्ष का अव्याघात आदि ग्यारह द्वारो से वर्णन किया गया है। साथ ही अवस्थितावग्रह, अनवस्थितावग्रह, राजावग्रह आदि का स्वरूप-वर्णन भी किया गया है।[1]

सेनादिप्रकृतसूत्र :

परचक्र, अशिव, अवमौदर्य, बोधिकस्तेनभय आदि की सभावना होने पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को पहले से ही उस क्षेत्र से बाहर निकल जाना चाहिए। वैसा न करने से अनेक प्रकार के दोष लगते है। परचक्रागमन और नगररोध की स्थिति में वहाँ से न निकल सकने की दशा मे भिक्षा, भक्तार्थना, वसति, स्थण्डिल और शरीरविवेचन सम्बन्धी विविध यतनाओ का सेवन करना चाहिए।[2]

श्रमण-श्रमणियो को चारों दिशा-विदिशाओ में सवा योजन का अवग्रह लेकर ग्राम, नगर आदि में रहना चाहिए। इस प्रसग पर भाष्यकार ने सव्याघात और निर्व्याघात क्षेत्र, क्षेत्रिक और अक्षेत्रिक, आभाव्य और अनाभाव्य, अचल और चल क्षेत्र, व्रजिका, सार्थ, सेना, सवर्त आदि का स्वरूप बताया है और एतत्सम्बन्धी अवग्रह की मर्यादा का निर्देश किया है।[3]

चतुर्थ उद्देश :

इस उद्देश मे अनुद्घातिक आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सोलह प्रकार के सूत्र हैं। भाष्यकार ने जिन विषयो का इनकी व्याख्या में समावेश किया है उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

१ अनुद्घातिकप्रकृतसूत्र—इसकी व्याख्या में यह बताया गया है कि हस्तकर्म, मैथुन और रात्रिभोजन अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त के योग्य है। हस्तकर्म का स्वरूप वर्णन करते हुए असक्लिष्ट भावहस्तकर्म के छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण अभिघात, स्नेह, काय और क्षाररूप आठ भेद बताये गए है। मैथुन का स्वरूप बताते हुए देव, मनुष्य और तिर्यञ्चसम्बन्धी मैथुन की ओर निर्देश किया गया है और बताया गया है कि मैथुनभाव रागादि से रहित नहीं होता अत उसके लिए किसी प्रकार के अपवाद का विधान नही किया गया है। रात्रिभोजन का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने तत्सम्बन्धी अपवाद, यतनाएँ, प्रायश्चित्त आदि का निरूपण किया है।[4]

---

१ गा० ४६५०–४७९४. २. गा० ४७९५–४८३९.
३. गा० ४८४०–४८७६. ४. गा० ४८७७–४९६८.

२ पाराञ्चिकप्रकृतसूत्र—दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्यकारक पाराचिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं। पाराचिक के आशातनापाराचिक और प्रतिसेवनापाराञ्चिक ये दो भेद हैं। आशातनापाराचिक का सम्बन्ध १. तीर्थंकर, २ प्रवचन, ३. श्रुत, ४. आचार्य, ५. गणधर और ६ महर्द्धिक से है। प्रतिसेवनापाराचिक के तीन भेद हैं: दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्यकारक। दुष्टपाराञ्चिक दो प्रकार का है. कषायदुष्ट और विषयदुष्ट। प्रमाद पाँच प्रकार का है: कषाय, विकथा, विकट, इन्द्रियाँ और निद्रा। प्रस्तुत अधिकार स्त्यानर्द्धि निद्रा का है। अन्योन्यकारक-पाराञ्चिक का उपाश्रय, कुल, निवेशन, लिंग, तप, काल आदि दृष्टियो से विचार किया गया है।[1]

३. अनवस्थाप्यप्रकृतसूत्र—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य तीन प्रकार के अपराध हैं. साधर्मिकस्तैन्य, अन्यधार्मिकस्तैन्य और हस्ताताल। साधर्मिकस्तैन्य का निम्न द्वारो से विचार किया गया है. १. साधर्मिकोपधिस्तैन्य, २ व्यापारणा, ३. ध्यामना, ४ प्रस्थापना, ५ शैक्ष, ६. आहारविधि। अन्यधार्मिकस्तैन्य का प्रव्रजितान्यधार्मिकस्तैन्य और गृहस्थान्यधार्मिकस्तैन्य की दृष्टि से विवेचन किया गया है। हस्ताताल का अर्थ है हस्त, खड्ग आदि से आताडन। हस्ताताल के स्वरूप के साथ ही आचार्य ने हस्तालम्ब और अर्थादान का स्वरूप भी बताया है।[2]

४ प्रव्राजनादिप्रकृतसूत्र—पडक, क्लीब और वातिक प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है। पडक के सामान्यतया छ. लक्षण है: १. महिलास्वभाव, २. स्वर-भेद, ३ वर्णभेद, ४ महन्मेढ्र—प्रलम्ब अङ्गादान, ५ मृदुवाक्, ६ सशब्द और अफेनक मूत्र। पडक के दो भेद है: दूषितपडक और उपघातपडक। दूषितपडक के पुन. दो भेद हैं: आसिक्त और उपसिक्त। उपघातपडक के भी दो भेद है. वेदोपघातपडक और उपकरणोपघातपडक। वेदोपघातपडक का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने हेमकुमार का उदाहरण दिया है तथा उपकरणोपघातपडक का वर्णन करते हुए एक ही जन्म मे पुरुष, स्त्री और नपुसक वेद का अनुभव करनेवाले कपिल का दृष्टान्त दिया है। मैथुन के विचार मात्र से जिसके अगादान मे विकार उत्पन्न हो जाता है तथा बीजबिन्दु गिरने लग जाते हैं वह क्लीब है। महामोहकर्म का उदय होने पर ऐसा होता है। सनिमित्तक अथवा अनिमित्तक मोहोदय से किसी के प्रति विकार उत्पन्न होने पर जब तक उसको प्राप्ति नही हो जाती तब तक मानसिक स्थिरता नही रहती। इसी को वातिक कहते हैं। अपवादरूप से पडक आदि को दीक्षा दी जा सकती है किन्तु उनके रहन-सहन आदि की—

१ गा० ४९९९–५०५७ २. गा० ५०५८–५१३७.

विशेष व्यवस्था करनी पडती है। पडक, क्लीब और वातिक जैसे प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है वैसे ही मुडन, शिक्षा, उपस्थापना, सहभोजन, सहवास आदि के लिए भी अनुपयुक्त है।[1]

५ वाचनाप्रकृतसूत्र—अविनीत, विकृतिप्रतिबद्ध और अन्यवशमितप्राभृत वाचना के अयोग्य हैं। इसके विपरीत विनीत, विकृतिहीन और उपशान्तकषाय वाचना के योग्य हैं।[2]

६ सज्ञाप्यप्रकृतसूत्र—दुष्ट, मूढ और व्युद्ग्राहित उपदेश आदि के अनधिकारी हैं। अदुष्ट, अमूढ और अव्युद्ग्राहित उपदेश आदि के वास्तविक अधिकारी हैं।[3]

७ ग्लानप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ रुग्णावस्था में हो उस समय उनकी विविध यतनाओ के साथ सेवा करनी चाहिए।[4]

८ काल-क्षेत्रातिक्रान्तप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के लिए कालातिक्रान्त तथा क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि अकल्प्य है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के लिए कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त की भिन्न-भिन्न मर्यादाएँ हैं।[5]

९ अनेषणीयप्रकृतसूत्र—भिक्षाचर्या मे कदाचित् अनेषणीय—अशुद्ध स्निग्ध अशनादि ले लिया गया हो तो उसे अनुपस्थापित (अनारोपितमहाव्रत) शिष्य को दे देना चाहिए। यदि कोई वैसा शिष्य न हो तो उसका प्राशुक भूमि मे विसर्जन कर देना चाहिए।[6]

१० कल्पाकल्पस्थितप्रकृतसूत्र—जो अशनादि कल्पस्थित श्रमणो के लिए कल्प्य है वह अकल्पस्थित श्रमणो के लिए अकल्प्य है। इसी प्रकार जो अशनादि अकल्पस्थित श्रमणो के लिए कल्प्य है वह कल्पस्थित श्रमणो के लिए अकल्प्य है।[7]

११ गणान्तरोपसम्पत्प्रकृतसूत्र—किसी भी निर्ग्रन्थ को किसी कारण से अन्य गण मे उपसम्पदा ग्रहण करनी हो तो आचार्य आदि से पूछकर ही वैसा करना चाहिए। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि के लिए ही गणान्तरोपसम्पदा स्वीकार की जाती है। ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा और चारित्रोपसम्पदा के की विभिन्न विधियाँ है।[8]

१२ विष्वग्भवनप्रकृतसूत्र—इसमें मृत्युप्राप्त भिक्षु परिष्ठापना का विचार किया गया है। इसके लिए न ।।

---

१ गा० ५१३८–५१९६ २ गा० ५१९७–५२१०
४ गा० ५२३६–५२६२ ५ गा० ५२६३–५३
७ गा० ५३२९ ३६१ ८. गा० ५३६२

लिया गया है १. प्रत्युपेक्षणाद्वार, २. दिग्द्वार, ३ णन्तकद्वार, ४ कालगत-द्वार, ५ जागरण-बन्धन-छेदनद्वार. ६ कुशप्रतिमाद्वार, ७. निवर्तनद्वार, ८. मात्रकद्वार, ९. शीर्षद्वार, १० तृणादिद्वार, ११. उपकरणद्वार, १२ कायोत्सर्ग-द्वार, १३. प्रादक्षिण्यद्वार, १४. अभ्युत्थानद्वार, १५. व्याहरणद्वार, १६ परिष्ठापक-कायोत्सर्गद्वार, १७ क्षपण-स्वाध्यायमार्गणाद्वार, १८ व्युत्सर्जनद्वार, १९. अवलोकनद्वार।[1]

१३ अधिकरणप्रकृतसूत्र—भिक्षु का गृहस्थ के साथ अधिकरण—झगडा हो गया हो तो उसे शान्त किए विना भिक्षाचर्या आदि करना अकल्प्य है।[2]

१४. परिहारिकप्रकृतसूत्र—परिहारतप में स्थित भिक्षु को इन्द्रमहादि उत्सवो के दिन विपुल भक्त-पानादि दिया जा सकता है। वाद मे नही। उनकी अन्य प्रकार की सेवा तो वाद में भी की जा सकती है।[3]

१५. महानदीप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को गगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही आदि महानदियो को महीने मे एक से अधिक वार पार नही करना चाहिए। ऐरावती आदि कम गहरी नदियाँ महीने में दो-तीन वार पार की जा सकती है। नदी पार करने के लिए सक्रम, स्थल और नोस्थल—इस प्रकार तीन तरह के मार्ग वताये गये है।[4]

१६ उपाश्रयविधिप्रकृतसूत्र—इन सूत्रो की व्याख्या मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के लिए वर्षाऋतु एव अन्य ऋतुओ मे रहने योग्य उपाश्रयो का वर्णन किया गया है।[5]

पचम उद्देश :

इस उद्देश मे ब्रह्मापाय आदि ग्यारह प्रकार के सूत्र है। भाष्यकार ने इन सूत्रो की व्याख्या मे निम्न विषयो का समावेश किया है —

१. ब्रह्मापायप्रकृतसूत्र—गच्छसम्बन्धी शास्त्र-स्मरणविषयक व्याघातो का धर्मकथा, महर्द्धिक, आवश्यको, नैषेधिकी, आलोचना, वादो, प्राघूर्णक, महाजन, ग्लान आदि द्वारो से निरूपण, शास्त्रस्मरण के लिए गुरु की आज्ञा, गच्छवास के गुणो का वर्णन।[6]

२. अधिकरणप्रकृतसूत्र—अधिकरण—क्लेश की शान्ति न करते हुए स्वगण को छोडकर अन्य गण में जाने वाले भिक्षु, उपाध्याय, आचार्य आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, क्लेश के कारण गच्छ का त्याग न करते हुए क्लेशयुक्त चित्त

१. गा० ५४९७–५५६५. २. गा० ५५६६–५५९३. ३. गा० ५५९४–५६१७. ४. गा० ५६१८–५६६४. ५. गा० ५६६५–५६८१. ६. गा० ५६८२–५७२१.

से गच्छ में रहने वाले भिक्षु आदि को शान्त करने की विधि, शान्त न होने वाले को लगने वाले दोष, प्रायश्चित्त आदि।[1]

३ सस्तृतनिर्विचिकित्सप्रकृतसूत्र—सशक्त अथवा अशक्त भिक्षु आदि सूर्य के उदय और अस्ताभाव के प्रति निःशंक होकर आहार आदि ग्रहण करते हो और बाद मे ऐसा मालूम हो कि सूर्योदय हुआ ही नही है अथवा सूर्यास्त हो गया है। ऐसी दशा मे आहार आदि का त्याग कर देने पर उनकी रात्रि-भोजनविरति अखण्डित ही रहती है। जो सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति शकाशील होकर आहारादि ग्रहण करते है उनकी रात्रिभोजनविरति खण्डित होती है—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन।[2]

४ उद्गारप्रकृतसूत्र—भिक्षु, आचार्य आदि सम्बन्धी उद्गार—वमनादि विषयक दोष, प्रायश्चित्त आदि, उद्गार के कारण, उद्गार की दृष्टि से भोजन विषयक विविध आदेश, तद्विषयक अपवाद आदि।[3]

५ आहारविधिप्रकृतसूत्र—जिस प्रदेश मे आहार, जल आदि जीवादि से ससक्त ही मिलते हो उस प्रदेश मे जाने का विचार, प्रयत्न आदि करने से लगने वाले दोष, प्रायश्चित्त आदि, अशिव, दुर्भिक्ष आदि कारणो से ऐसे प्रदेश मे जाने का प्रसग आने पर तद्विषयक विविध यतनाएँ।[4]

६ पानकविधिप्रकृतसूत्र—पानक अर्थात् पानी के ग्रहण की विधि, उसके परिष्ठापन की विधि, तद्विषयक अपवाद आदि।[5]

७ ब्रह्मरक्षाप्रकृतसूत्र—पशु-पक्षी के स्पर्श आदि से सभावित दोष, प्राय-श्चित्त आदि, अकेली रहने वाली निर्ग्रन्थी को लगने वाले दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद आदि, नग्न निर्ग्रन्थी को लगने वाले दोष आदि, पात्ररहित निर्ग्रन्थी को लगने वाले दोष आदि, निर्ग्रन्थी के लिए व्युत्सृष्ट काय की अकल्प्यता, निर्ग्रन्थी के लिए ग्राम, नगर आदि के बाहर आतापना लेने का निषेध, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आतापना का स्वरूप, निर्ग्रन्थी के लिए उपयुक्त आतापनाएँ, स्थानायत, प्रतिमास्थित, निषद्या, उत्कटिकासन, वीरासन, दण्डासन, लगण्डशायी, अवा-ङ्मुख, उत्तान, आम्रकुब्ज, एकपार्श्वशायी आदि आसनो का स्वरूप और निर्ग्र-न्थियो के लिए तद्विषयक विधि-निषेध, निर्ग्रन्थियो के लिए आकुंचनपट्ट के उपयोग का निषेध, निर्ग्रन्थियो के लिए सावश्रय आसन, सविषाण पीठफलक, सवृन्त अलाबु, सवृन्त पात्रकेसरिका और दारुदण्डक के उपयोग का प्रतिषेध।[6]

---

१ गा० ५७२६–५७८३ २ गा० ५७८४–५८२८.
३ गा० ५८२९–५८६० ४ गा० ५८६१–५८९६
५. गा० ५८९७–५९१८ ६ गा० ५९१९–५९७५.

८ मोकप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए परस्पर मोक के आचमन आदि का निषेध।[1]

९ परिवासितप्रकृतसूत्र—परिवासित आहार का स्वरूप, परिवासित आहार और अनाहार विषयक दोष, अपवाद आदि, परिवासित आलेपनद्रव्य के उपयोग का निषेध, परिवासित तेल आदि से अभ्यगन आदि करने का निषेध।[2]

१० व्यवहारप्रकृतसूत्र—परिहारकल्पस्थित भिक्षु को लगने वाले कारण-जन्य अतिक्रमादि दोष और उनका प्रायश्चित्त आदि।[3]

११ पुलाकभक्तप्रकृतसूत्र—धान्यपुलाक, गंधपुलाक और रसपुलाक का स्वरूप, पुलाकभक्तविषयक दोषों का वर्णन, निर्ग्रन्थियों के लिए पुलाकभक्त का निषेध।[4]

षष्ठ उद्देश :

इस उद्देश में वचन आदि से सम्बन्धित सात प्रकार के सूत्र हैं। भाष्यकार संघदासगणि क्षमाश्रमण ने इन सूत्रों की व्याख्या में जिन विषयों पर प्रकाश डाला है उनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है —

१ वचनप्रकृतसूत्र—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अलीक, हीलित, खिंसित, परुष, अगारस्थित और व्यवशमितोदीरण वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन्हें अवचन अर्थात् दुर्वचन कहा गया है। अलीक वचन के निम्नलिखित सत्रह स्थान हैं . १ प्रचला, २. आर्द्र, ३ मरुक, ४ प्रत्याख्यान, ५ गमन, ६ पर्याय, ७ समुद्देश, ८ सखडी, ९ क्षुल्लक, १० पारिहारिक, ११ घोटकमुखी, १२ अवश्यगमन, १३ दिग्विषय, १४ एककुलगमन, १५ एकद्रव्यग्रहण, १६. गमन, १७. भोजन।[5]

२. प्रस्तारप्रकृतसूत्र—इस सूत्र की व्याख्या में प्राणवधवाद, मृषावाद, अदत्तादानवाद, अविरतिवाद, अपुरुषवाद और दासवादविषयक प्रायश्चित्तों के प्रस्तारों—रचना के विविध प्रकारों का निरूपण किया गया है। साथ ही प्रस्तार-विषयक अपवादों का भी विधान किया गया है।[6]

३. कण्टकाद्युद्धरणप्रकृतसूत्र—इस प्रसंग पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीविषयक कटक

१. गा० ५९७६–५९९६ २. गा० ५९९७–६०३२

३. गा० ६०३३–६०४६. ४. गा० ६०४७–६०५९

५. गा० ६०६०–६१२८. ६ गा० ६१२९–६१६२.

आदि के उद्धरण से सम्बन्धित उत्सर्गमार्ग, विपर्यासजन्य दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद, यतनाएँ आदि बातों का विचार किया गया है।[1]

४ दुर्गप्रकृतसूत्र—इस प्रसग पर यह बताया गया है कि श्रमण-श्रमणियो को दुर्ग अर्थात् विषम मार्ग से नही जाना चाहिये। इसी प्रकार पक आदि वाले मार्ग से भी नही जाना चाहिए।[2]

५ क्षिप्तचित्तादिप्रकृतसूत्र—विविध कारणों से क्षिप्तचित्त हुई निर्ग्रन्थी को समझाने का क्या मार्ग है, क्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी की देख-रेख की क्या विधि है, दीप्तचित्त होने के क्या कारण हैं, दीप्तचित्त श्रमणी के लिए किन यतनाओ का परिपालन आवश्यक है—आदि प्रश्नो का विचार करते हुए आचार्य ने उन्माद, उपसर्ग, अधिकरण—क्लेश, प्रायश्चित्त, भक्तपान, अर्थजात आदि विषयो की दृष्टि से निर्ग्रन्थीविषयक विधि-निषेधो का विवेचन किया है।[3]

६ परिमन्थप्रकृतसूत्र—साधुओ के लिए छ प्रकार के परिमन्थ अर्थात् व्याघात माने गए हैं १ कौकुचिक, २ मौखरिक, ३ चक्षुर्लोल, ४ तितिणिक, ५ इच्छालोभ, ६ भिज्जानिदानकरण। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में इन परिमन्थो के स्वरूप, दोष, अपवाद आदि का विचार किया गया है।[4]

७ कल्पस्थितिप्रकृतसूत्र—इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने निम्नलिखित छ प्रकार की कल्पस्थितियों का वर्णन किया है. १. सामायिककल्पस्थिति, २ छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति, ३ निर्विशमानकल्पस्थिति, ४ निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, ५ जिनकल्पस्थिति, ६. स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति का दस स्थानो द्वारा निरूपण किया है १. आचेलक्यकल्पद्वार—अचेलक का स्वरूप, अचेलक-सचेलक का विभाग, वस्त्रो का स्वरूप आदि, २. औद्देशिककल्पद्वार, ३ शय्यातरपिण्डकल्पद्वार, ४ राजपिण्डकल्पद्वार—राजा का स्वरूप, आठ प्रकार के राजपिण्ड आदि, ५. कृतिकल्पद्वार, ६ व्रतकल्पद्वार—पचव्रतात्मक और चतुर्व्रतात्मक धर्म की व्यवस्था, ७. ज्येष्ठकल्पद्वार, ८. प्रतिक्रमणकल्पद्वार, ९ मासकल्पद्वार, १० पर्युषणाकल्पद्वार। बृहत्कल्प सूत्र के प्रस्तुत भाष्य की समाप्ति करते हुए आचार्य ने कल्पाध्ययन शास्त्र के अधिकारी और अनधिकारी का सक्षिप्त निरूपण किया है।[5]

बृहत्कल्प-लघुभाष्य के इस सारग्राही सक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि इसमें जैन साधुओ—मुनियो—श्रमणो—निर्ग्रन्थो—भिक्षुओ के आचार-विचार का अत्यन्त सूक्ष्म एव सतर्क विवेचन किया गया है। विवेचन के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिनका

---

१. गा० ६१६३–६१८१. २. गा० ६१८२–६१९३. ३. गा० ६१९४–६३१०. ४. गा० ६३११–६३४८. ५. गा० ६३४९–६४९०

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अच्छा अध्ययन हो सकता है। तत्कालीन भारतीय सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियो पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का भी इसमे बाहुल्य है। इन सब दृष्टियो से प्रस्तुत भाष्य का भारतीय साहित्य के इतिहास में निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साहित्य के इतिहास के लिए इसका महत्त्व और भी महान् है, यह कहने की आवश्यकता नही। संघदासगणि क्षमाश्रमण का भारतीय साहित्य पर और विशेषकर जैन साहित्य पर महान् उपकार है कि जिन्होने जैन आचार पर इस प्रकार के समृद्ध, सुव्यवस्थित एव सर्वांगसुन्दर ग्रथ का निर्माण किया।



पंचम प्रकरण

व्यवहारभाष्य

व्यवहार सूत्र भी बृहत्कल्प सूत्र की ही भाँति साधु-साध्वियो के आचार से सम्बन्ध रखता है। इसमे दस उद्देश है। इन उद्देशो में आलोचना, प्रायश्चित्त, गच्छ, पदवी, विहार, मृत्यु, उपाश्रय, उपकरण, प्रतिमाएँ आदि विषयो का वर्णन किया है। प्रस्तुत भाष्य[1] इन्ही विषयो पर विशेष प्रकाश डालता है। व्यवहारभाष्य के कर्तृत्व के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। बृहत्कल्प-लघुभाष्य का परिचय देते समय हमने जैन श्रमणो के आचार सम्बन्धी नियमो पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। व्यवहारभाष्य के परिचय में उन्ही विषयो की ओर विशेष ध्यान दिया जायेगा जिनका विशेष विवेचन बृहत्कल्प के भाष्य में नही किया गया है।

पीठिका

बृहत्कल्पभाष्यकार की भाँति व्यवहारभाष्यकार ने भी अपने भाष्य के प्रारम्भ मे पीठिका दी है। पीठिका मे सर्वप्रथम व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य का निक्षेप-पद्धति से स्वरूप वर्णन किया गया है। जो स्वय व्यवहार से अभिज्ञ है वह गीतार्थ है। जिसे व्यवहार का कोई ज्ञान नही है वह अगीतार्थ है। अगीतार्थ के साथ पुरुष को व्यवहार नही करना चाहिए क्योकि यथोचित व्यवहार करने पर भी वह यही समझेगा कि मेरे साथ उचित व्यवहार नही किया गया। अत गीतार्थ के साथ ही व्यवहार करना चाहिए।[2]

व्यवहार आदि में दोषो की सम्भावना रहती है अत उनके लिए प्रायश्चित्तो का भी विधान किया जाता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययनविशेष, तदर्हपर्षद् आदि दृष्टियो से विवेचन किया है।[3] प्रस्तुत भाष्य में प्रायश्चित्त का ठीक वही अर्थ

---

१ निर्युक्ति-भाष्य-मलयगिरिविवरणसहित' संशोधक-मुनि माणेक, प्रकाशक-केशवलाल प्रेमचन्द मोदी व त्रिकमलाल उगरचन्द, अहमदाबाद, वि० स० १९८२-५

२ प्रथम विभाग गा० ३७.

३ गा० ३४.

किया गया है जो जीतकल्पभाष्य में उपलब्ध है।[1] प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपणा और परिकुञ्चना—इन चारों के लिए चार प्रकार के प्रायश्चित्त बताये गये है।[2] प्रतिसेवना आदि के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्तो का अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदो के साथ विचार किया गया है। बृहत्कल्पभाष्यकार की भाँति व्यवहार-भाष्यकार ने भी अनेक बातो का दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण किया है।[3]

प्रथम उद्देश

पीठिका की समाप्ति के बाद आचार्य सूत्र-स्पर्शिक नियुक्ति का व्याख्यान प्रारम्भ करते है। प्रलम्ब आदि के सम्बन्ध मे आचार्य ने सकेत किया है कि कल्प नामक अध्ययन मे जिस प्रकार इनका निषेध किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए[4]। प्रथम सूत्र मे आने वाले 'भिक्षु' शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य और भावदृष्टि से विचार किया गया है।[5] 'मास' शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिक्षेप से प्ररूपण किया गया है और बताया गया है कि प्रस्तुत अधिकार कालमास का है।[6] 'परिहार' शब्द का निम्न दृष्टियों से विवेचन किया गया है - १. नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ परिरय, ५ परिहरण, ६ वर्जन, ७ अनुग्रह, ८. आपन्न ९ शुद्ध।[7] इसी प्रकार 'स्थान', 'प्रतिसेवना', 'आलोचना' आदि पदो की व्याख्या की गई है। आलोचना की विधि की ओर निर्देश करते हुए आचार्य कहते है कि जिस प्रकार एक छोटा बालक अपने माता-पिता के सामने सरल भाव से अपने मन की सब बातें रख देता है उसी प्रकार आलोचक को भी सरल भाव से अपने गुरु के समक्ष अपने प्रत्येक प्रकार के अपराध को रख देना चाहिए। ऐसा करने से उसमे आर्जव, विनय, निर्मलता, नि शल्यता आदि अनेक गुणो की वृद्धि होती है।[8] प्रायश्चित्त के विविध विधानो की ओर सकेत करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि कपटपूर्वक आलोचना करनेवाले के लिए कठोर प्रायश्चित्त का आदेश है।

---

१. पाव छिदइ जम्हा, पायच्छित्त तु भन्नए तेण।
पाएण वा वि चित्त, विसोहए तेण पच्छित्त॥
—व्यवहारभाष्य, ३५.

पाव छिंदति जम्हा, पायच्छित्त ति भण्णते तेणं।
पायेण वा वि चित्त, सोहयई तेण पच्छित्त॥
—जीतकल्पभाष्य, ५.

२ गा० ३६. ३. गा० ३७-१८४. ४. द्वितीय विभाग : गा० २ ५. गा० ३-१२. ६. गा० १३-२६. ७. गा० २७-९. ८. गा० १३४.

मासिकादि प्रायश्चित्त का सेवन करते हुए प्रायश्चित्त मे वृद्धि-हानि क्यो होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते है कि इस वृद्धि-हानि का कारण सर्वज्ञो ने राग-द्वेष-हर्ष आदि अध्यवसायो की मात्रा बताया है।[1]

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—इन चार प्रकार के आधाकर्मादि विषयक अतिचारो के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तो का विधान है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु और अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है। ये सब प्रायश्चित्त स्थविरकल्पिको की दृष्टि से हैं। जिनकल्पिको के लिए भी इनका विधान है किन्तु प्राय वे इन अतिचारो का सेवन नही करते।[2]

किस प्रकार के दोष के लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है, इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने वातादि रोग की उपशान्ति के लिए प्रयुज्यमान घृतकुट के चार भगो का दृष्टात दिया है। ये चार भंग इस प्रकार है : कभी एक घृतकुट से एक रोग का नाश होता है, कभी एक घृतकुट से अनेक रोगो का नाश होता है, कभी अनेक घृतकुटो से एक रोग दूर होता है और कभी अनेक घृतकुटो से अनेक रोग नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार विविध दोषो के लिए विविध प्रायश्चित्तो का विधान किया जाता है।[3] मूलगुण और उत्तरगुण के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य ने बताया है कि एक की रक्षा एव परिवृद्धि के लिए दूसरे का परिपालन आवश्यक है। यही कारण है कि दोनो प्रकार के गुणो के दोषो की परिशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और बताया गया है कि दोनो की शुद्धि से ही चारित्र शुद्ध रहता है।[4]

उत्तरगुणो की सख्या की ओर अपना ध्यान खीचते हुए भाष्यकार कहते है कि पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह उत्तरगुणान्तर्गत हैं। इनके क्रमश. बयालीस, आठ, पचीस, बारह, बारह और चार भेद है।[5] प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते है . निर्गत और वर्तमान। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो चुके होते हैं उन्हें निर्गत कहते हैं तथा जो उसमे विद्यमान होते हैं उन्हे वर्तमान कहते है। वर्तमान के पुन. दो भेद है : सचयित और असचयित। ये दोनो पुन दो-दो प्रकार के है : उद्घात और अनुद्घात। निर्गत तप से तो निकल जाते हैं किन्तु छेदादि प्रायश्चित्तो मे विद्यमान रहते हैं। सचायित, असचयित प्रायश्चित्त के लिए यथावसर एक मास से छ मास तक की प्रस्थापना होती है जबकि सचयित प्रायश्चित्त के लिए नियमत छ मास की प्रस्थापना होती है।[6]

१. गा० १६६. २ गा० २५१-३ ३. गा० २५७-२६२.
४ गा० २८१-८ ५. गा० २८९-२९०. ६. गा० २९१-४.

प्रायश्चित्तार्ह अर्थात् प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं : उभयतर, आत्मतर, परतर और अन्यतर। जो पुरुष तप करता हुआ दूसरों की सेवा भी कर सकता हो वह उभयतर है। जो केवल तप ही कर सकता है वह आत्मतर है। जो केवल आचार्य आदि की सेवा ही कर सकता है वह परतर है। जो तप और सेवा इन दोनो मे से एक समय मे किसी एक का ही सेवन कर सकता हो वह अन्यतर है।[1]

निकाचना आदि प्रायश्चित्तो का वर्णन करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि निकाचना वस्तुत. आलोचना ही है। आलोचना आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नही होती अतः आलोचनार्ह और आलोचक का विवेचन करना चाहिए। आलोचनार्ह निरपलापी होता है तथा निम्नलिखित आठ विशेषणो से युक्त होता है : आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी। आलोचक निम्नलिखित दस विशेषणो से युक्त होता है : जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चरणसम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी, और अपश्चात्तापी।[2] इसी प्रकार भाष्यकार ने आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्यादि, प्रायश्चित्तदान की विधि आदि का भी विवेचन किया है।[3]

परिहार आदि तपो का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने तपसहभावी सेवा—वैयावृत्य का स्वरूप-वर्णन किया है। वैयावृत्य के तीन भेद है : अनुशिष्टि, उपालम्भ और अनुग्रह। इन तीनों मे से प्रत्येक के पुन. तोन भेद है : आत्मविषयक, परविषयक और उभयविषयक।[4] इनका स्वरूप समझाने के लिए सुभद्रा, मृगावती आदि के उदाहरण भी दिये गये है।

मूल सूत्र मे आने वाले 'पट्ठव'—'प्रस्थापना' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते है कि प्रायश्चित्तप्रस्थापना दो प्रकार की होती है एक और अनेक। सचयित प्रायश्चित्तप्रस्थापना नियमत. षाण्मासिकी होती है अत वह एक प्रकार की ही है। शेष अनेक प्रकार की है।[5]

'आरोपणा' पाच प्रकार की है. प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा। यह पाँच प्रकार की आरोपणा प्रायश्चित्त की है। आचार्य ने इन प्रकारो का स्वरूप बताते हुए हाडहडा का विशेष वर्णन किया है।[6]

---

१. गा० २९८-९.   २. गा० ३३६-३४०.
३ गा० ३४१-३५३.   ४ गा० ३७४.
५. गा० ४१२   ६. गा० ४१३-७.

प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते है - कृतकरण और अकृतकरण। कृतकरण के पुन दो भेद है · सापेक्ष और निरपेक्ष। जिनादि निरपेक्ष कृतकरण है। सापेक्ष कृतकरण तीन प्रकार के हैं आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु। अकृतकरण दो प्रकार के हैं - अनधिगत और अधिगत। जिन्होने सूत्रार्थ का ग्रहण नही किया होता है वे अनधिगत है। गृहीतसूत्रार्थ अधिगत कहलाते है। अथवा प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष दो प्रकार के है · सापेक्ष और निरपेक्ष। निरपेक्ष पुरुष नियमत. कृतकरण होते है। सापेक्ष पुरुष तीन प्रकार के है : आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु। ये तीनो दो प्रकार के है · कृतकरण और अकृतकरण। ये दोनो पुन दो प्रकार के है : गीतार्थ और अगीतार्थ। इन दोनो के पुन. दो भेद है : स्थिर और अस्थिर।[1] इन भेद-प्रभेदो का वर्णन करने के बाद आचार्य ने परिहारतप का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। तदनन्तर साधुओ और साध्वियो की निस्तारणविधि का प्रतिपादन किया है। विविध भावनाओ का विवेचन करते हुए आचार्य ने मासिकी, द्वैमासिकी आदि प्रतिमाओ का परिचय दिया है तथा शिथिलतावश गच्छ छोड कर पुन. गच्छ मे सम्मिलित होने वाले श्रमण के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तो का विधान किया है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न और ससक्त की व्युत्पत्ति, उत्पत्ति, प्रायश्चित्त आदि पर भी भाष्यकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। पार्श्वस्थ के दो भेद है : देशत. पार्श्वस्थ और सर्वत पार्श्वस्थ। सर्वत पार्श्वस्थ के तीन विकल्प है पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि के पार्श्व अर्थात् तट पर विचरता है वह पार्श्वस्थ है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति स्वस्थ भाव तो रखता है किन्तु उनमे उद्यमशील नही होता अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिए परिश्रम नही करता वह प्रास्वस्थ है। जो मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुरूप पाशो मे स्थित होता है वह पाशस्थ है। देशत पार्श्वस्थ शय्यातरपिण्ड आदि का भोग करता हुआ विचरता है।[2] जो स्वय उत्सूत्र का आचरण करता है अर्थात् परिभ्रष्ट है तथा दूसरो को भी वैसे ही आचरण की शिक्षा देता है वह यथाच्छन्द है। जो ज्ञानाचार आदि की विराधना करता है वह कुशील है। अवसन्न दो प्रकार का है - देशत. और सर्वत। आवश्यकादि में हीनता, अधिकता, विपर्यय आदि दोषो का सेवन करने वाला देशावसन्न कहलाता है। जो समय पर सस्तारक आदि का प्रत्युपेक्षण नही करता वह सर्वावसन्न है। जो पार्श्वस्थादि का ससर्ग प्राप्त कर उन्ही के समान हो जाता है वह ससक्त कहलाता है। ससक्त दो प्रकार का है : असक्लिष्ट और सक्लिष्ट। जो पार्श्वस्थ में मिल कर पार्श्वस्थ हो जाता है, यथाच्छन्द मे मिल कर यथाच्छन्द

---

१. गा० ४१८-४२०.   २. तृतीय विभाग : गा० २२६-२३०.

हो जाता है और इसी प्रकार कुशीलादि में मिल कर कुशीलादि के समान हो जाता है वह असंक्लिष्ट गसक्त है। जो पांच प्रकार के आस्रव में प्रवृत्त होते हुए भी तीन प्रकार के गौरव से प्रतिबद्ध होता है तथा स्त्री आदि में बंधा होता है वह संक्लिष्ट गसक्त है। इन सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।[2]

साधुओं के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया गया है तथा तत्सम्बन्धी अनेक दोषों का वर्णन किया गया है। बिना किसी विशेष कारण के आचार्यादि को छोड़ कर नहीं रहना चाहिए। जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय गणावच्छेदक, प्रवर्तक और स्थविर—इन पांच में से एक भी विद्यमान न हो उस गच्छ में नहीं रहना चाहिए क्योंकि वहाँ अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। भाष्यकार ने इन दोषों का स्वरूप समझाते हुए एक वणिक् का दृष्टान्त दिया है। वह इस प्रकार है : किसी बनिये के पास बहुत-सा धन इकट्ठा हो गया। तब उसने सोचा—मैं कहाँ जाकर रहूँ कि इस धन का अच्छी तरह उपभोग कर सकूँ? ऐसा विचार करते हुए उसने निश्चय किया कि जहाँ पर ये पांच आधार न हों वहाँ रहना ठीक नहीं। वे पांच आधार ये हैं : राजा, वैद्य, धनिक, नियतिक और रूपयक्ष अर्थात् धर्मपाठक। जहाँ राजादि पांच प्रकार के लोग न हों वहाँ धन का अथवा जीवन का नाश हुए बिना नहीं रहता। परिणामतः द्रव्योपार्जन विफल सिद्ध होता है। अथवा राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य तथा कुमार—इन पांच प्रकार के व्यक्तियों से परिगृहीत राज्य गुणविशाल होता है। इस प्रकार के गुणविशाल राज्य में रहना चाहिए। राजा कैसा होना चाहिए? जो उभय योनि अर्थात् मातृपक्ष और पितृपक्ष से शुद्ध है, प्रजा से आय का दशम भागमात्र ग्रहण करता है, लोकाचार, दार्शनिक सिद्धान्त एवं नीतिशास्त्र में निपुण है तथा धर्म में श्रद्धा रखता है वह वास्तव में राजा है, शेष राजाभास हैं। राजा स्वभुजोपार्जित पांच प्रकार के (रूप-रसादि) गुणों का निरुद्विग्न होकर उपभोग करता है तथा देशपरिपन्थनादि व्यापार से विप्रमुक्त होता है। युवराज कैसा होना चाहिए? जो प्रातःकाल उठकर शरीरशुद्धि आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर आस्थानिका में जाकर सब कामों की विचारणा करता है वह युवराज है। महत्तरक के लक्षण ये हैं : जो गम्भीर है, मार्दवोपेत है, कुशल है, जाति और विनयसम्पन्न है तथा युवराज सहित राज कार्यों का प्रेक्षण करता है वह महत्तरक है। अमात्य कैसा होना चाहिए? जो व्यवहार कुशल और नीतिसम्पन्न होकर जनपद, पुरवर

२ गा० २३४ से आगे.

(राजधानी) और नरपति का हित-चिन्तन करता है वह अमात्य है। अमात्य राजा को भी शिक्षा देता है। इस प्रसग पर भाष्यकार ने राजा और पुरोहित अपनी-अपनी भार्या द्वारा किस प्रकार घसीटे गये, इसका बहुत रोचक उदाहरण दिया है। कुमार का स्वरूप इस प्रकार है. जो दुर्दान्त आदि लोगो का दमन करता हुआ सग्राम नीति में अपनी कुशलता का परिचय देता है वह कुमार है।[1] इस प्रकार राजा आदि के स्वरूप का वर्णन करने के बाद आचार्य वैद्य आदि का स्वरूप बताते है। जो वैद्यकशास्त्रो का सम्यग्ज्ञाता है तथा माता-पिता आदि से सम्बन्धित रोगो का नाश कर स्वास्थ्य प्रदान करता है वह वैद्य है। जिसके पास पिता-पितामह आदि परम्परा से प्राप्त करोडो की सम्पत्ति विद्यमान हो वह धनिक है। नियतिक अथवा नैयतिक का स्वरूप इस प्रकार है : जिसके पास भोजन के लिए निम्नलिखित सत्रह प्रकार के धान्य के भाण्डार भरे हुए हो वह नैयतिक—नियतिक है. १ शालि, २ यव, ३ कोद्रव, ४. व्रीहि, ५ रालक, ६. तिल, ७ मुद्ग, ८ माष, ९ चवल, १० चणक, ११. तुवरी, १२ मसुरक, १३ कुलत्थ, १४ गोधूम, १५ निष्पाव, १६. अतसी, १७ सण। रूपयक्ष का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो माढर और कौण्डिन्य को दण्डनीति मे कुशल है, किमी से भी उत्कोच नही लेता तथा किसी प्रकार का पक्षपात नही करता वह रूपयक्ष अर्थात् मूर्तिमान् धर्मैकनिष्ठ देव है। यहाँ तक वणिक् दृष्टान्त का अधिकार है।[2] इस दृष्टान्त को साधुओ पर घटाते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार राजा आदि के अभाव में उपर्युक्त वणिक् का कही वास करना उचित नही उसी प्रकार साधु के लिए भी जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गीतार्थ न हो उस गच्छ में रहना ठीक नही। इसके बाद भाष्यकार ने आचार्य आदि के स्वरूप का वर्णन किया है।[3]

द्वितीय उद्देश :

द्वितीय उद्देश के प्रथम सूत्र की सूत्र-स्पर्शिक व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'द्वि', 'साधर्मिक' और 'विहार' का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया है। 'द्वि' शब्द का छ. प्रकार का निक्षेप होता है : नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। 'सार्धमिक' शब्द के निम्नलिखित बारह निक्षेप हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रवचन, लिंग, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अभिग्रह और भावना। 'विहार' शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप से विचार होता है।

---

१. तृतीय विभाग : पृष्ठ १२७-१३१. २ वही, पृ० १३१-२.
३ वही, पृ० १३२–७

जिससे विविध प्रकार के कर्मरज का हरण होता है वह भावविहार है। भावविहार दो प्रकार का होता है : गीतार्थ और गीतार्थनिश्रित। गीतार्थ दो प्रकार के है : गच्छगत और गच्छनिर्गत। गच्छनिर्गत जिनकल्पिक गीतार्थ है। इसी प्रकार परिहारविशुद्धिक और यथालन्दकल्पिकप्रतिमापन्न भी गीतार्थ है। गच्छगत गीतार्थ मे दो प्रकार की ऋद्धियाँ है आचार्य और उपाध्याय। शेष गीतार्थनिश्रित है।[1] जो स्वय अगीतार्थ है अथवा अगीतार्थनिश्रित है वह आत्मविराधना, सयमविराधना आदि दोषो का भागी होता है। इन आत्मविराधना आदि दोषो का भाष्यकार ने मार्ग, क्षेत्र, विहार, मिथ्यात्व, एषणा, शोधि, ग्लान और स्तेन—इन आठ द्वारो से निरूपण किया है।[2] गीतार्थ और गीतार्थनिश्रित भावविहार पुन दो प्रकार का है समाप्तकल्प और असमाप्तकल्प। समाप्तकल्प के पुन. दो भेद है : जघन्य और उत्कृष्ट। तीन गीतार्थो का विहार जघन्य समाप्तकल्प है। उत्कृष्ट समाप्तकल्प तो बत्तीस हजार का होता है। तीन का समाप्तकल्प जघन्य होता है अत. दो विचरने वालो को लघुक मास प्रायश्चित्त करना पडता है। इसी प्रकार अगीतार्थो के लिए भी विविध प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है। दो के विहार मे अनेक दोषो की सभावना रहती है अत. दो का विहार अकल्प्य है।[3] उपद्रव, दुर्भिक्ष आदि अवस्थाओ मे अपवादरूप से दो के विहार का भी विधान है। कारणवशात् दो साधु साथ विचरें और दोनो को कोई दोष लगे तो एक की तपस्या के समय दूसरे को उसकी सेवा करनी चाहिए और दूसरे की तपस्या के समय पहले को उसकी सेवा करनी चाहिए। अनेक समान साधु साथ विचरते हो और उन सबको एक साथ कोई दोष लगा हो तो उनमे से किसी एक को प्रधान बनाकर अन्य साधुओ को तपश्चर्या करनी चाहिए। अन्त मे उस प्रधान साधु को उचित प्रायश्चित्त करना चाहिए।[4]

परिहार तप करने वाला यदि रुग्ण हो जाए और उसे किसी प्रकार का दोष लगे तो उसकी आलोचना करते हुए उसे तप करना चाहिए तथा अशक्ति की अवस्था मे दूसरो को उसकी सेवा करनी चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने परिहार तप के विविध दोषो और प्रायश्चित्तो का वर्णन किया है। इसी प्रकार अनवस्थाप्य, पाराचित आदि से सम्बन्धित वैयावृत्य का भी विधान किया गया है।[5] क्षिप्तचित्त की सेवा का विवेचन करते हुए आचार्य कहते है कि सक्षेप मे दो प्रकार के क्षिप्तचित्त होते हैं लौकिक और लोको-

---

१. चतुर्थ विभाग : गा० ३–२१. २ गा० २४–९.
३. गा० ३१–४९. ४. गा० ५०–६१.
५. गा० ६२–१०१.

सरिक। व्यक्ति क्षिप्तचित्त क्यो होता है ? आचार्य ने क्षिप्तचित्त होने के तीन कारण बताये हैं : राग, भय अथवा अपमान। इन तीन प्रकार के कारणो से व्यक्ति क्षिप्तचित्त होता है। इनका स्वरूप समझाने के लिए विविध उदाहरण भी दिये गये हैं। क्षिप्तचित्त को अपने हीनभाव से किस प्रकार मुक्त किया जा सकता है, इसका भाष्यकार ने विविध दृष्टान्त देते हुए अत्यन्त रोचक एव मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।[१] क्षिप्तचित्त से ठीक विरोधी स्वभाव वाले दीप्तचित्त का विश्लेषण करते हुए आचार्य कहते हैं कि क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में यह अन्तर है कि क्षिप्तचित्त प्राय. मौन रहता है जबकि दीप्तचित्त अनावश्यक बक-झक किया करता है। दीप्तचित्त होने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि क्षिप्तचित्त होने का मुख्य कारण अपमान है जबकि विशिष्ट सम्मान के मद के कारण व्यक्ति दीप्तचित्त बनता है। लाभमद से मत्त होने पर अथवा दुर्जय शत्रुओ की जीत के मद से उन्मत्त होने पर अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से व्यक्ति दीप्तचित्त बनता है।[२] आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाए तो महद्भाव जो कि हीनभाव से सर्वथा विपरीत है, दीप्तचित्त होने का मूल कारण है। इसी प्रकार आचार्य ने यक्षाविष्ट, उन्मत्त, मोहित, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण, सप्रायश्चित्त, अर्थजात, अनवस्थाप्य, पारा-चित आदि की शुश्रूषा, यतना आदि का वर्णन किया है।[३] सूत्रस्पर्शिक विवेचन करते हुए भाष्यकार ने एकपाक्षिक के दो भेद किये हैं. प्रव्रज्याविषयक और सूत्रविषयक। इसी प्रसग पर आचार्य, उपाध्याय आदि की स्थापना की विधि, दोष, प्रायश्चित्त, अपवाद आदि तथा पारिहारिक और अपारिहारिक के पारस्परिक व्यवहार, खान-पान, रहन-सहन आदि का भी विचार किया गया है।[४]

तृतीय उद्देश :

गणधारण की इच्छा करने वाले भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता का निरूपण करते हुए भाष्यकार ने सर्वप्रथम 'इच्छा' का नामादि निक्षेपो से व्याख्यान किया है। तदनन्तर 'गण' का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया है। गणधारण क्यो किया जाता है, इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने बताया है कि निर्जरा के लिए ही गणधारण किया जाता है, न कि पूजा आदि के निमित्त। गणधारण करने वाला यति महातडाग के समान होता है जो अनेक प्रकार की विघ्नबाधाओ में भी गंभीर एव शान्त रहता है।[५] इसी प्रकार आचार्य ने अन्य अनेक उदाहरण देकर

१ गा० १०३–११६ २. गा० १४९–१५१.
३. गा० १६६–२११. ४. गा० ३२१–३८२.
५. चतुर्थ विभाग—तृतीय उद्देश : गा० ६–१६.

गणधारण करने वाले की योग्यता का दिग्दर्शन कराया है। भावपरिच्छिन्न शिष्य के विद्यमान होने पर आचार्य को उसे गणधारण की अनुमति देनी चाहिए तथा अपने पास शिष्य होने पर कम से कम तीन शिष्य उसे देने चाहिए। ऐसा क्यों? इसलिए कि तीन शिष्यों में से एक किसी भी समय उसके पास रह सके तथा दो भिक्षा आदि के लिए जा सकें।[1]

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर आदि पदवियों के धारण करने वालों की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो एकादशाङ्गसूत्रार्थधारी है, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी है, बहुश्रुत हैं, बह्वागम हैं, सूत्रार्थविशारद हैं, धीर हैं, श्रुतनिघर्ष हैं, महाजन-नायक हैं वे आचार्य, उपाध्याय आदि पदों के योग्य हैं।[2]

आचार्य आदि की स्थापना का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने नव, डहरक, तरुण, मध्यम, स्थविर आदि विभिन्न अवस्थाओं का स्वरूप बताया है और लिखा है कि आचार्य के मर जाने पर विधिपूर्वक अन्य गणधर का अभिषेक करना चाहिए। वैसा न करने वालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। अन्य गणधर की स्थापना किये बिना आचार्य की मृत्यु का समाचार प्रकाशित नहीं करना चाहिए। इस विधान की पुष्टि के लिए राजा का दृष्टान्त दिया गया है। अन्य गणधर की स्थापना किये बिना आचार्य की मृत्यु का समाचार प्रकाशित करने से गच्छक्षोभ का सामना करना पड़ता है। कोई यह सोचने लगता है कि हम लोग अब अनाथ हो गए। कुछ लोग स्वच्छन्दचारिता का आश्रय ले लेते हैं। कोई क्षिप्तचित्त हो जाते हैं। कभी-कभी स्वपक्ष और परपक्ष में स्तेन उठ खड़े होते हैं। कुछ साधु लता की भाँति काँपने लगते हैं। कुछ तरुण आचार्य की पिपासा से अन्यत्र चले जाते हैं।[3]

प्रवर्तिनी के गुणों का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने साध्वियों की दुर्बलताओं का चित्रण किया है तथा स्त्रियों के विषय में लिखा है कि स्त्री उत्पन्न होने पर पिता के वश में होती है, विवाहित होने पर पति के वश में हो जाती है तथा विधवा होने पर पुत्र के वश में हो जाती है। इस प्रकार नारी कभी भी गुरु के वश में नहीं रहती। पैदा होने पर नारी की माता-पिता रक्षा करते हैं, विवाह हो जाने पर पति, श्वसुर, श्वश्रू आदि रक्षा करते हैं, विधवा हो जाने पर पिता, भ्राता, पुत्र आदि रक्षा करते हैं। इसी प्रकार आर्यिका की भी आचार्य, उपाध्याय, गणिनी—प्रवर्तिनी आदि रक्षा करते हैं।[4]

---

१. गा० १०-१ २. गा० १२२-३.
३. गा० २२०-१ ४. गा० २३३-४.

मैथुनसेवन के दोषो का स्वरूप बताते हुए आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, साधु आदि के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तो, परिस्थितियो एवं प्रव्रज्या के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। मैथुनसेवन के दो भेद हैं: सापेक्ष और निरपेक्ष। जो मैथुनसेवन की इच्छा होने पर अपने गुरु से पूछ लेते हैं वे सापेक्ष मैथुनसेवक है। जो गुरु से बिना पूछे ही मैथुन का सेवन करते रहते हैं वे निरपेक्ष मैथुन-सेवक है। इन दोनो प्रकार के साधुओ के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त है।[1] इसी प्रकार गणावच्छेदक, उपाध्याय, आचार्य आदि के लिए भी विभिन्न प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है।[2] मृषावाद आदि अन्य अतिचारों के सेवन का वर्णन करते हुए तत्सम्बन्धी विविध प्रायश्चित्तो का विवेचन किया गया है। व्यवहारी और अव्यवहारी का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने एक आचार्य का उदाहरण दिया है। आचार्य के पास सोलह शिष्य बैठे हुए थे जिनमें से आठ व्यवहारी थे और आठ अव्यवहारी। निम्नलिखित आठ प्रकार के व्यवहारियों की प्रशसा नही करनी चाहिए: १ कटुक, २. कुणप, ३. पक्क, ४. उत्तर, ५ चार्वाक, ६ बधिर, ७. गुण्ठसमान, ८ अम्लसमान। इन आठों प्रकार के व्यवहारियो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।[3]

चतुर्थ उद्देश .

इस उद्देश मे मुख्यरूप से साधुओं के विहार का विधि-विधान है। शीत और उष्णकाल के आठ महीनों में आचार्य और उपाध्याय को कोई अन्य साधु साथ में न हो तो विहार नही करना चाहिए। गणावच्छेदक को अन्य साधु साथ मे हो तो भी विहार नही करना चाहिए। उसे साथ मे दो साधु होने पर ही विहार करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य और उपाध्याय को अन्य साधु साथ मे हो तो भी अलग चातुर्मास नही करना चाहिए। उन्हें अन्य दो साधुओं के साथ मे होने पर ही अलग चातुर्मास करना चाहिए। गणावच्छेदक के लिए चातुर्मास में कम-से-कम तीन साधुओ का सहवास अनिवार्य है। साधु जिस नायक के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहे हों उसका मार्ग में देहावसान हो जाए तो उन साधुओं को अपने मे से श्रेष्ठ गीतार्थ और चारित्रवान् को नायक बना लेना चाहिए। इस प्रकार के योग्य नायक का अभाव प्रतीत होने पर उन्हें जहाँ अपने अन्य साधु विचरते हो वहाँ चले जाना चाहिए। वैसा न करने पर छेद अथवा परिहार तप का प्रायश्चित्त करना पडता है। इसी प्रकार चातुर्मास मे किसी नायक का देहावसान हो जाए तो योग्य साधु को नया नायक नियुक्त कर लेना चाहिए। कदाचित् वैसा न हो सके तो अपने समुदाय के अन्य साधुओ के

---

१ गा० २३८–२५४ २ गा० २५५–२७८. ३ गा० ३३८–३७२.

साथ मिल जाना चाहिए। बने जहाँ तक चातुर्मास में विहार करने का प्रसङ्ग उपस्थित नही होने देना चाहिए। आचार्य अथवा उपाध्याय बीमार पड़ जाएँ और समुदाय के साधुओ से कहें कि अमुक साधु को मेरी पदवी प्रदान करना और वे इस लोक में न रहें तो उस साधु को उस समय पदवी के योग्य होने की अवस्था में ही पदवी प्रदान करनी चाहिए, अयोग्यता की अवस्था में नही। कदाचित् उसे पदवी प्रदान कर दी गई हो किन्तु उसमें आवश्यक योग्यता न हो तो अन्य साधुओ को उसे कहना चाहिए कि तुम इस पदवी के अयोग्य हो अत इसे छोड दो। ऐसी अवस्था में यदि वह पदवी का त्याग कर देता है तो उसे किसी प्रकार का दोष नही लगता है। एक समुदाय के दो साधु साथ विचरते हो, उनमें एक चारित्र—पर्याय की दृष्टि से छोटा हो और दूसरा उसी दृष्टि से बडा हो तथा छोटा साधु शिष्यवाला हो और बडे साधु के पास कोई शिष्य न हो तो छोटे साधु को बडे साधु की आज्ञा मे रहना चाहिए तथा उसे आहार-पानी आदि के लिए अपने शिष्य देने चाहिए। यदि बडा साधु शिष्य-परिवार से युक्त हो और छोटे साधु के पास एक भी शिष्य न हो तो छोटे को अपनी आज्ञा में रखना अथवा न रखना बडे की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार अपना शिष्य उसकी सेवा के लिए नियुक्त करना या न करना उसकी इच्छा पर है। साराश यह है कि साथ विचरनेवाले साधुओ मे जो गीतार्थ और रत्नाधिक हो उसी को नायक बनाना चाहिए एव उसकी आज्ञा मे रहना चाहिए।

प्रस्तुत उद्देश के सूत्रो का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने निम्न विषयो का वर्णन किया है . चार कल्प—जातसमाप्तकल्प, जातअसमाप्तकल्प, अजातसमाप्तकल्प और अजातअसमाप्तकल्प, वर्षाकाल और विहार, वर्षावास के लिए उपयुक्त स्थान (चिक्खल, प्राण, स्थण्डिल, वसति, गोरस, जनसमाकुल, वैद्य, औषध, निचय, अधिपति, पाषण्ड, भिक्षा और स्वाध्याय—इन तेरह द्वारो से विचार), त्रैवर्षिकस्थापना, गणधरस्थापन की उपयुक्त विधि, उपस्थापना के नियम, ग्लान की वैयावृत्य, अवग्रह का विभाग, तीन प्रकार की अनुकम्पा—गव्यूत, द्व्यर्धगव्यूत और द्विगव्यूतसम्बन्धी अथवा आहार, उपधि और शय्याविषयक इत्यादि।[1]

पंचम उद्देश :

इस उद्देश में साध्वियो के विहार के नियमो पर प्रकाश डाला गया है। प्रवर्तिनी आदि विभिन्न पदो को दृष्टि मे रखते हुए विविध विधि-विधानो का निरूपण किया गया है। प्रवर्तिनी के लिए शीत और उष्णऋतु मे एक साध्वी को साथ रखकर विहार करने का निषेध है। इन ऋतुओ मे कम से कम दो

१ चतुर्थ उद्देश : गा० १–५७५.

साध्वियाँ उसके साथ रहनी चाहिए। गणावच्छेदिनी के लिए कम से कम तीन साध्वियो को साथ रखने का नियम है। वर्षाऋतु के लिए उक्त सख्याओ मे एक की वृद्धि की गई है। नायिका का देहावसान हो जाने पर अन्य नायिका की नियुक्ति के लिए वे ही नियम है जो चतुर्थ उद्देश मे साधुओ के लिए बताये गये है। साधु को रात्रि के समय, सध्या के समय अथवा अन्य किसी समय साँप काट खाए तो सर्वप्रथम साधु और बाद मे साध्वी, अन्य पुरुष अथवा स्त्री अपनी योग्यता के अनुसार उपचार करे। ऐसा करने पर साधु-साध्वी के लिए परिहारतप अथवा अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नही है। यह नियम स्थविर-कल्पियो के लिए है। जिनकल्पी को यदि साँप काट खाए तो भी वह दूसरे से किसी प्रकार का उपचार आदि नही करा सकता। भाष्यकार ने 'जे निग्गंथा निग्गथीओ य सभोइया ' (सूत्र १९) की व्याख्या करते हुए 'सभोगिक' का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। 'सभोग' छ प्रकार का होता है ओघ, अभिग्रह, दानग्रहण, अनुपालना, उपपात और सवास। ओघसंभोग के बारह भेद है : उपधि, श्रुत, भक्तपान, अजलीग्रह, दापना, निकाचन, अम्युत्थान, कृतिकर्म, वैयावृत्य, समवसरण, सन्निपद्या और कथाप्रबन्धनविषयक। उपसभोग के छ भेद हैं . उद्गम-शुद्ध, उत्पादनाशुद्ध, एपणाशुद्ध, परिकर्मणासभोग, परिहरणासभोग और सयोग-विपयक। इस प्रकार निशीथ के पञ्चम उद्देश में वर्णित सभोगविधि, प्रायश्चित्त आदि के अनुसार यहाँ भी 'सभोग' का वर्णन समझ लेना चाहिए।[1]

षष्ठ उद्देश .

इस उद्देश मे बताया गया है कि साधु को अपने सम्बन्धी के यहाँ से आहार आदि ग्रहण करने की इच्छा होने पर अपने से वृद्ध स्थविर आदि की आज्ञा लिए विना वैसा करना अकल्प्य है। बिना स्थविर आदि की आज्ञा के अपने सम्बन्धी के यहाँ से आहार लेनेवाले के लिए छेद अथवा परिहारतप के प्रायश्चित्त का विधान है। आज्ञा मिलने पर भी यदि जानेवाला साधु अल्पबोध हो तो उसे अकेले न जाकर किसी बहुश्रुत साधु के साथ ही जाना चाहिए। वहाँ जाने पर उसके पहुँचने के पूर्व यदि भोजन तैयार किया हुआ हो तो उसे लेना चाहिए अन्यथा नही।

आचाय तथा उपाध्याय के पाँच अतिशय होते है जिनका समुदाय के अन्य साधुओ को विशेष ध्यान रखना चाहिए (१) उनके बाहर से आने पर पैरों की रज आदि को साफ करना तथा प्रमार्जन करना, (२) उनके उच्चार-प्रस्रवण आदि (अशुचि) को निर्दोष स्थान मे फेंकना, (३) उनकी इच्छा होने पर

१ पचम उद्देश : गा० ४६–५२.

वैयावृत्य करना, (४) उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना, (५) उनके साथ उपाश्रय के बाहर रहना। गणावच्छेदक के अन्तिम दो अतिशय होते है।

ग्राम, नगर आदि मे चारो ओर दीवाल से घिरे एक ही द्वार वाले मकान में आचार्य से भिन्न खण्ड मे अगीतार्थ साधुओ का निवास निषिद्ध है। यदि उनमे कोई गीतार्थ साधु हो तो ऐसा कोई निषेध नही है। केवल अगीतार्थ साधुओ के इस प्रकार के स्थान मे निवास करने पर उन्हे छेद अथवा परिहारतप के प्रायश्चित्त का भागी बनना पडता है। इसी प्रकार अनेक द्वारो से युक्त घर आदि मे रहने के लिए भी गीतार्थ का साहचर्य अनिवार्य है। एतद्विषयक विस्तृत विवेचन बृहत्कल्पलघुभाष्य का परिचय देते समय किया जा चुका है।[1]

अनेक स्त्री-पुरुषो को किसी स्थान पर मैथुन सेवन करते हुए देखकर यदि कोई साधु विकारयुक्त हो हस्तकर्म आदि से अपने वीर्य का क्षय करे तो उसके लिए एक मास के अनुद्घाती परिहारतप के प्रायश्चित्त का विधान है, यदि वह किसी अचित्त प्रतिमादि मे अपने शुक्रपुद्गलो को बहाता हुआ मैथुनप्रतिसेवना मे प्रसक्त होता है तो उसके लिए चार मास के अनुद्घाती परिहारतप के प्रायश्चित्त का विधान है।

अन्य गण से आये हुए क्षीण आचार वाले साधु-साध्वियो को बिना उनकी परिशुद्धि किए अपने गण में नही मिलाना चाहिए और न उनके साथ आहार आदि ही करना चाहिए। जो साधु-साध्वी अपने दोषो को खुले दिल से आचार्य के सामने रख दें तथा यथोचित प्रायश्चित्त करके पुन. वैसा कृत्य न करने की प्रतिज्ञा करें उन्ही के साथ अपना सम्बन्ध जोडना चाहिए।

भाष्यकार ने षष्ठ उद्देश की व्याख्या में निम्न विषयो का भी समावेश किया है : 'ज्ञातविधि' पद का एकादश द्वारपूर्वक व्याख्यान—१ आक्रन्दनस्थान, २ क्षिप्त, ३ प्रेरणा, ४. उपसर्ग, ५ पथिरोदन, ६. अपभ्राजना, ७ घात, ८ अनुलोम, ९. अभियोग, १० विष, ११ कोप, सप्तविध कूरो की गणना—शालिकूर, व्रीहिकूर, कोद्रवकूर, यवकूर गोधूमकूर, रालककूर और आरण्यव्रीहिकूर; आचार्य की वसति के बाहर रहने से लगने वाले दोष, आचार्य स्वय भिक्षा के लिए जाए अथवा न जाए, जाने के कारण, न जाने के कारण, तत्सम्बन्धी दोष और प्रायश्चित्त; अभ्युत्थान के निराकरण के कारण, चार प्रकार की विकथा की व्याख्या, आक्षेप, आरोपणा, प्ररूपणा आदि पदो का व्याख्यान, आचार्य के पाँच अतिशय—उत्कृष्ट भक्त, उत्कृष्ट पान, मलिनोपधिधावन, प्रशसन और हस्तपादशौच; मतिभेद, पूर्वव्युद्ग्राह, ससर्ग और अभिनिवेश के कारण

---

१. देखिए—वगडाप्रकृतसूत्र : गा० २१२५—२२८९ (बृहत्कल्प-लघुभाष्य).

मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति और इनके लिए क्रमश जमालि, गोविन्द, श्रावकभिक्षु, और गोष्ठामाहिल के दृष्टान्त, वसतिविषयक विविध यतनाएँ; घर के अन्दर व बाहर की अभिनिर्विगडा, उसके विविध भेद, तद्विषयक विविध दोष, यतनाएँ एव प्रायश्चित्त ।[1]

सप्तम उद्देश :

सप्तम उद्देश के भाष्य में निम्न विषयो का विवेचन किया गया है :—

जो साधु-साध्वी साभोगिक हैं अर्थात् एक ही आचार्य के सरक्षण में है उन्हें (साध्वियों को) अपने आचार्य से पूछे बिना अन्य समुदाय से आने वाली अतिचार आदि दोषो से युक्त साध्वो को अपने सघ में नही लेना चाहिए। जिस साध्वी को आचार्य प्रायश्चित्त आदि से शुद्ध कर दे उसे अपने सघ मे न लेने वाली साध्वियो को आचार्य को यथोचित दण्ड देना चाहिए।

जो साधु-साध्वी एक गुरु की आज्ञा मे है वे (साधु) अन्य समुदाय के साधुओ के साथ गोचरी का व्यवहार कर सकते हैं। यदि अन्य सघ के साधु आचारविरुद्ध व्यवहार करते हो तो उनके साथ पीठ पीछे व्यवहार बन्द नही करना चाहिए अपितु उन्हें अपनी त्रुटियो का प्रत्यक्ष भान करवाना चाहिए। यदि वे पश्चात्ताप करके अपनी त्रुटि सुधार लें तो उनके साथ व्यवहार भग नही करना चाहिए। यदि ऐसा करते हुए भी वे अपनी भूल न सुधारें तो उनके साथ व्यवहार बन्द कर देना चाहिए। साध्वियो के लिए दूसरे प्रकार का नियम है। उन्हें प्रत्यक्ष दोष देखने पर भी गोचरी का व्यवहार नही तोडना चाहिए किन्तु अपने आचार्य की आज्ञा लेकर अशुद्ध आचार वाली साध्वी के गुरु को उसकी सूचना देनी चाहिए। वैसा करने पर भी यदि वह अपना आचार न सुधारे तो उसे सूचना दे देनी चाहिए कि तुम्हारे साथ हमारा व्यवहार बन्द है।

किसी भी साधु को अपनी वैयावृत्य के लिए स्त्री को दीक्षा देना अकल्प्य है। उसे दीक्षा देकर अन्य साध्वी को सौंप देना चाहिए। साध्वी किसी भी पुरुष को दीक्षा नही दे सकती। उसे तो किसी योग्य साधु के पास ही दीक्षा ग्रहण करना पडता है।

साध्वी को एक सघ में दीक्षा लेकर दूसरे सघ की शिष्या बनना हो तो उसे दीक्षा नही देनी चाहिए। उसे जहाँ रहना हो वही जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। साधु के लिए ऐसा नियम नही है। वह कारणवशात् एक सघ में दीक्षा लेकर दूसरे संघ के गुरु को अपना गुरु बना सकता है।

तीन वर्ष की पर्यायवाला साधु सुयोग्य होने पर तीस वर्ष की पर्यायवाली साध्वी का उपाध्याय हो सकता है। इसी प्रकार पाँच वर्ष की पर्यायवाला साधु साठ वर्ष की पर्यायवाली साध्वी का आचार्य हो सकता है।

---

१ षष्ठ विभाग : गा० १–३८७.

जिस मकान मे साधु रहना चाहे उसके स्वामी, उसकी विधवा पुत्री, पुत्र, भाई आदि किसी की भी आज्ञा लेना अनिवार्य है। मार्ग में जाते समय कही ठहरने का प्रसग आए तो भी यथावसर किसी न किसी गृहस्थ की आज्ञा लेना चाहिए। राज्य मे एक राजा के किसी कारण से न रहने पर दूसरे राजा की निश्चित रूप से स्थापना हो जाए तो उसकी पुन. आज्ञा लेकर ही उसके राज्य में रहना चाहिए।

साध्वी की दीक्षा के प्रसंग का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने एक कोशलक आचार्य और एक श्राविका का दृष्टान्त दिया है और बताया है कि कोशलक अपने देशस्वभाव से ही अनेक दोषो से युक्त होता है। इस मत की पुष्टि करते हुए अन्ध्र आदि प्रदेशो के निवासियो के स्वभाव की ओर भी सकेत किया गया है। अन्ध्र देश में उत्पन्न हुआ हो और अक्रूर हो, महाराष्ट्र मे पैदा हुआ हो और अवाचाल हो, कोशल मे उत्पन्न हुआ हो और अदुष्ट हो—ऐसा सौ में एक भी मिलना कठिन है।[1]

साधु-साध्वियो के स्वाध्याय के लिए उपयुक्त तथा अनुपयुक्त काल का भाष्यकार ने अति विस्तृत वर्णन किया है। साथ ही स्वाध्याय की विधि आदि अन्य आवश्यक बातो पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। परस्पर वाचना देने के क्या नियम है, इसका भी विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।[2]

अष्टम उद्देश :

इस उद्देश के भाष्य मे मुख्यरूप से निम्नलिखित बातो की चर्चा की गई है :—

शयन करने अथवा अन्य प्रयोजन के लिए पाटे की आवश्यकता प्रतीत होने पर साधु एक हाथ से उठा सकने योग्य हल्का पाटा गाँव अथवा परगाँव से माग कर ला सकता है। परगाँव से लाने की अवस्था में तीन दिन की दूरी वाले गाँव से लाया जा सकता है, इससे अधिक नही। वृद्ध साधु के लिए आवश्यकता होने पर पाँच दिन की दूरी वाले स्थान से भी लाया जा सकता है। वापिस लौटाने की शर्त पर लायी हुई वस्तु अन्य मकान मे ले जानी हो तो उसके लिए पुन. स्वामी की आज्ञा लेनी चाहिए। इसी प्रकार किसी मकान में ठहरना हो तो उसके स्वामी की आज्ञा लेकर ही ठहरना चाहिए। किसी साधु को गोचरी आदि के लिए जाते समय किसी अन्य साधु का छोटा-बडा उपकरण मिले तो पूछ-ताछ कर जिसका हो उसे दे देना चाहिए। स्वामी का पता न लगने की अवस्था में उसका निर्दोष स्थान में विसर्जन कर देना चाहिए। विशेष कारण उपस्थित

---

१. सप्तम उद्देश - गा० १२३–६ २ गा० १८१–४०६

होने पर दूसरे साधु के लिए पात्रादि सामग्री स्वीकार करना कल्प्य है। वह सामग्री उस साधु से पूछकर उसके ग्रहण न करने की अवस्था में ही गुरु की आज्ञा से अन्य साधु को दी जानी चाहिए। कुक्कुटी के अण्डे के बराबर अथवा कुक्षी (पेट) मे सुखपूर्वक भरा जा सके उतने आहार के बत्तीसवें भाग अर्थात् कुक्षी-अण्ड के बराबर के आठ कौर खाने वाला साधु अल्पाहारी, बारह कौर खाने वाला अपार्धाहारी, सोलह कौर खाने वाला अर्धाहारी, चौबीस कौर खाने वाला प्राप्ता-वमौदर्य, इकतीस कौर खाने वाला किंचिदवमौदर्य और बत्तीस कौर खाने वाला प्रमाणाहारी कहलाता है। कुक्कुटी अथवा कुकुटी का व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि 'कुत्सिता कुटी कुकुटी' अर्थात् शरीर। उस शरीररूप कुकुटी का अण्डक अर्थात् अण्डे के समान जो मुख है वह कुकुटीअण्डक है। मुख को अण्डक क्यो कहा गया ? क्योकि गर्भ मे सर्वप्रथम शरीर का मुख बनता है और बाद मे शेष भाग, अत प्रथम निष्पन्न होने के कारण मुख को अण्डक कहा गया है।[1]

नवम उद्देश ·

इस उद्देश का मुख्य विषय है शय्यातर अर्थात् सागारिक के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र आदि आगतुको से सम्बन्धित आहार के ग्रहण-अग्रहण का विवेक तथा साधुओ की विविध प्रतिमाओ का विधान। सागारिक के घर के अन्दर या बाहर कोई आगन्तुक भोजन कर रहा हो और उस भोजन से सागारिक का सम्बन्ध हो अर्थात् उसे यह कहा गया हो कि तुम्हारे खाने के बाद जो कुछ बचे वापिस सौपना तो उस आहार मे से साधु आगन्तुक के आग्रह करने पर भी कुछ न ले। यदि उस आहार से सागारिक का कुछ भी सम्बन्ध न रह गया हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार सागारिक के दास-दासी आदि के आहार के विषय मे भी समझना चाहिए। औषधि आदि के विषय मे भी यही नियम है कि जिसका उस वस्तु पर पूर्ण अधिकार हो उसी की इच्छा से उस वस्तु को ग्रहण करना चाहिए।

भाष्यकार ने प्रस्तुत उद्देश की व्याख्या मे आदेश अथवा आवेश, चक्रिका, गोलिका, दौषिका, सौत्रिका, बोधिका, कार्पासा, गन्धिकाशाला, शौण्डिकशाला, आपण, भाण्ड, औषधि आदि पदो का समावेश किया है।[2]

प्रतिमाओ के विवेचन मे तत्सम्बन्धी काल, भिक्षापरिमाण, करण और करणान्तर, मोक प्रतिमा का शब्दार्थ, कल्पादिग्रहण का प्रयोजन, मोक का स्वरूप, महती मोकप्रतिमा का लक्षण आदि आवश्यक बातो पर सक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

---

१ अष्टम उद्देश . गा० ३०० २ नवम उद्देश . गा० १–७३

३ गा० ७४–१२८.

दशम उद्देश :

इस उद्देश में यवमध्य-प्रतिमा और वज्रमध्य-प्रतिमा की विधि पर विशेष रूप से विचार किया गया है। पाच प्रकार के व्यवहर का विस्तृत विवेचन करते हुए बालदीक्षा की विधि पर भी प्रकाश डाला गया है। दस प्रकार की सेवा का वर्णन करते हुए उससे होने वाली महानिर्जरा का भी निरूपण किया गया है।

यवमध्य-प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि इस प्रतिमा को यव और चन्द्र की उपमा दी गई है। जिसका मध्ययव के समान है वह यवमध्य-प्रतिमा है। इसका आकार चन्द्र के समान होता है। वज्रमध्य-प्रतिमा मध्य मे वज्र के समान होती है। इसे भी चन्द्र की उपमा दी जाती है। यवमध्य-प्रतिमा मध्य मे विपुल—स्थूल होती है तथा आदि और अन्त मे तनु—कृश होती है। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्र क्रमश वृद्धि की ओर जाकर पुन ह्रास की ओर आता है उसी प्रकार यवमध्य-प्रतिमा भी क्रमश. भिक्षा की वृद्धि की ओर जाती हुई पुन ह्रास की ओर आती है। वज्रमध्य-प्रतिमा में चन्द्र की उपमा दूसरी तरह से घटित होती है। इसमे बहुलपक्ष का आदि मे ग्रहण होता है। जिस प्रकार कृष्णपक्ष का चन्द्र पहले क्रमश ह्रास को प्राप्त होता है और फिर क्रमश. बढता है उसी प्रकार वज्रमध्य-प्रतिमा मे भी क्रमश. भिक्षा का ह्रास होकर पुन उसकी वृद्धि होती है। इस प्रकार यह प्रतिमा आदि और अन्त में तो स्थूल होती है किन्तु मध्य में कृश होती है।[1]

व्यवहार पाँच प्रकार का है : आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।[2] इन पाचो प्रकारो का स्वरूपवर्णन जीतकल्पभाष्य का परिचय देते समय किया जा चुका है अत. यहा उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।[3]

निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के होते हैं : पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनके लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त दस प्रकार के हैं : १. आलोचना, २ प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४ विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८. मूल, ९ अनवस्थाप्य और १० पारचित या पाराचिक। पुलाक के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, तप और व्युत्सर्ग—ये छ प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। बकुश और कुशील के लिए सभी अर्थात् दस प्रायश्चित्त हैं। यथालन्द-कल्प मे आठ प्रकार के प्रायश्चित्त है (क्योंकि उसमें अनवस्थाप्य और पारचित का अभाव है)। निर्ग्रन्थ के लिए आलोचना और विवेक इन दो प्रायश्चित्तो का विधान है। स्नातक के लिए केवल एक प्रायश्चित्त—

१. दशम उद्देश : गा० ३–५ २ गा० ५३
३. जीतकल्पभाष्य, गा० ७–६९४ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २०३–२०७.

विवेक का विधान किया गया है। अब पांच प्रकार के संयतों के लिए प्रायश्चित्तों का विधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सामायिकसंयत स्थविरकल्पिकों के लिए छेद और मूल को छोड़कर शेष आठ प्रायश्चित्त—आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, अनवस्थाप्य और पारंचित हैं, जिनकल्पिकों के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग और तप—ये छः प्रायश्चित्त हैं। छेदोपस्थापनीय संयम में स्थित स्थविरों के लिए सब प्रकार के प्रायश्चित्त हैं; जिनकल्पिकों के लिए आठ प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। परिहारविशुद्धिक संयम में स्थित स्थविरों के लिए भी मूलपर्यन्त आठ ही प्रायश्चित्त हैं; जिनकल्पिकों के लिए छेद और मूल को छोड़कर छः प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात संयम में विद्यमान के लिए आलोचना और विवेक—ये दो ही प्रायश्चित्त हैं।[1]

आगमादि पांच प्रकार के व्यवहार का सुविस्तृत विवेचन करने के बाद चार प्रकार के पुरुषजात की चर्चा प्रारंभ की गई है: १ अर्थंकर, २ मानकर, ३. उभयकर और ४ नोभयकर। इनमें से प्रथम और तृतीय सफल माने गए हैं और द्वितीय और चतुर्थ निष्फल। इन चारों प्रकार के पुरुषों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उज्जयिनी नगरी और शकराजा का दृष्टान्त दिया गया है।[2] इसी प्रकार १. गणार्थंकर, २. मानकर, ३. उभयकर और ४ अनुभयकर का वर्णन करने के बाद गणसंग्रहकर, गणशोभाकर, गणशोधिकर आदि चार-चार प्रकार के पुरुषों का स्वरूप समझाया गया है।[3] अन्त में तीन प्रकार की स्थविरभूमि, तीन प्रकार की शैक्षकभूमि, आठ वर्ष से कम आयु वाले की दीक्षा का निषेध, आचारप्रकल्प (निशीथ) के अध्ययन की योग्यता, सूत्रकृत आदि अन्य सूत्रों के अध्ययन की योग्यता, दस प्रकार की सेवा आदि का विचार किया गया है।[4]



१. गा० ३५२–३६४.
२ दशम उद्देश : पृ० ९४, गा० १–७
३. गा० १५–४४.
४ गा० ४५–१४०

षष्ठ प्रकरण

ओघनिर्युक्ति-लघुभाष्य

प्रस्तुत प्रकरण के प्रारंभ में भाष्यों का सामान्य परिचय देते समय हमने आवश्यकादि सूत्रों पर लिखे गए भाष्यों के जो नाम गिनाए हैं उनमें से निम्नलिखित छः भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं : १ विशेषावश्यकभाष्य, २. जीतकल्पभाष्य, ३. बृहत्कल्पलघुभाष्य, ४ व्यवहारभाष्य, ५ ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य और ६. पिण्डनिर्युक्तिभाष्य। इनमें से प्रथम चार का विस्तृत परिचय दिया जा चुका है। ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य और पिण्डनिर्युक्तिभाष्य की गाथा-सख्या बहुत बड़ी नही है। प्रथम मे ३२२ और द्वितीय में ४६ गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ निर्युक्तियो में मिश्रितरूप मे उपलब्ध हैं तथा गिनती मे निर्युक्तियो की गाथाओ से कम हैं। व्यवहारभाष्यकार की भाँति इन दोनो भाष्यकारो के नाम का भी कोई उल्लेख नही मिलता।

ओघनिर्युक्तिलघुभाष्य[1] में निम्न विषयो का समावेश है : ओघ, पिण्ड, समास और सक्षेप एकार्थक है; व्रत, श्रमणधर्म, सयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्यगुप्ति, ज्ञानादित्रिक, तप और क्रोधनिग्रहादि चरण हैं, पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिरोध, प्रतिलेखना, गुप्ति और अभिग्रह करण हैं, अनुयोग चार प्रकार का होता है : चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग, ग्लान साधु की परिचर्या क्यो करनी चाहिए व उसकी क्या विधि है, भोजन-ग्रहण की निर्दोष विधि व तत्सम्बन्धी यतनाए; साधुओ के विचरण का समय और तद्विषयक मर्यादाए आदि, ग्राम मे प्रवेश तथा शकुनापशकुन का विचार, स्थापनाकुलो की स्थापना व उसकी अनिवार्यता; कायोत्सर्ग करने की विधि और उसके लिए उपयुक्त स्थान, आसन आदि; औपघातिक के तीन भेद : आत्मौपघा-

---

१ निर्युक्ति-भाष्य-द्रोणाचार्यसूत्रितवृत्तिभूषित प्रकाशक—शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र, आगमोदय समिति, मैसाना, सन् १९१९.

तिक, प्रवचनोपघातिक और संयमोपघातिक, पात्रलेप की विधि, यतनाएं और दोष, भिक्षाग्रहण का उपयुक्त काल, भिक्षाटन की निर्दोष विधि, दाता की योग्यता, अयोग्यता का विवेक, स्त्री-पुरुष का विचार; गमनागमन के समय विविध उपकरण ग्रहण करने के नियम व धर्मरुचि का दृष्टान्त, आहार का उपभोग करने की निर्दोष विधि इत्यादि।[1]



१. भाष्यगाथा १-३२२.

सप्तम प्रकरण

ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्य

मुनि श्री पुण्यविजयजी के पास ओघनिर्युक्ति-बृहद्भाष्य की एक हस्तलिखित प्रति है जिसमें २५१७ गाथाएं हैं जिनमें निर्युक्ति-गाथाएं भी सम्मिलित हैं। प्रारंभ में निर्युक्ति की निम्न गाथाएं हैं :

अरिहंते वंदित्ता चोद्दसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एक्कारसगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य ॥ १ ॥
ओहेण य निज्जुत्तिं वोच्छं चरणकरणाणुओगातो।
अप्पक्खरं महत्थं अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥ २ ॥

इन गाथाओं में निर्युक्तिकार ने अरिहंत, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी तथा एकादशांगसूत्रार्थधारक सर्व साधुओं को नमस्कार करके ओघनिर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। भाष्यकार ने इसी निर्युक्ति की गाथाओं के विवेचन के रूप में प्रस्तुत भाष्य का निर्माण किया है। ग्रंथ में भाष्यकार के नाम आदि के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं है। द्रोणाचार्य की वृत्ति लघुभाष्य पर है, बृहद्भाष्य पर नहीं।



अष्टम प्रकरण

पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य

पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य[1] में निम्न विषयों का संक्षिप्त व्याख्यान है : 'गौण' शब्द की व्युत्पत्ति, 'पिण्ड' का स्वरूप, लौकिक और सामयिक की तुलना, पिण्ड-स्थापना के दो भेद : सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना, पिण्डनिक्षेप और वातकाय, आधाकर्म का स्वरूप, अधःकर्मताहेतु, विभागोद्देशिक के भेद, मिश्रजात का स्वरूप, स्वस्थान के स्थानस्वस्थान, भाजनस्वस्थान आदि भेद, सूक्ष्म प्राभृतिका के अपसर्पण और उत्सर्पण रूप दो भेद, विशोधि और अविशोधि की कोटियाँ, चूर्ण का स्वरूप व तत्सम्बन्धी दो क्षुल्लकों का दृष्टान्त।[2]



---

१. निर्युक्ति-भाष्य-मलयगिरिविवृत्तियुक्त—प्रकाशक : देवचन्द्र लालाभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८.

२. भाष्यगाथा १–४६.

नवम प्रकरण

पञ्चकल्पमहाभाष्य

यह भाष्य[1] पञ्चकल्पनिर्युक्ति के विवेचन के रूप मे है। इसमे कुल मिलाकर २६६५ गाथाएँ है जिनमे केवल भाष्य की २५७४ गाथाएँ है। प्रारम्भ मे निर्युक्तिकारकृत निम्न गाथा है

वदामि भद्दबाहुँ पाईण चरिमसगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि दसाण कप्पे य ववहारे ॥१॥

यह गाथा दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति तथा चूर्णि मे भी प्रारम्भ मे ही है। इस गाथा का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने 'भद्रबाहु' का अर्थ 'सुन्दर बाहुओ वाला' किया है। अन्य भद्रबाहुओ से प्रस्तुत भद्रबाहु का पृथक्करण करने के लिए 'प्राचीन' (गोत्र), 'चरमसकलश्रुतज्ञानी' और 'दशा-कल्प-व्यवहार सूत्रकार' विशेषण दिये गये है। एतद्विषयक गाथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण यहाँ उद्धृत की जाती है :

भद्दत्ति सुदर त्ति य तुल्लत्थो जत्थ सुदरा बाहू।
सो होति भद्दबाहू गोण्ण जेण तु बालत्ते ॥७॥
पाएण लक्खिजइ पेसलभावो तु बाहुजुयलस्स।
उववण्णमतो णाम तस्सेय भद्दबाहु त्ति ॥८॥
अण्णे वि भद्दबाहू विसेसण गोत्तगहण पाईण।
अण्णेसि पऽविसिट्ठे विसेसण चरिमसगलसुत्तं ॥९॥
चरिमो अपच्छिमो खलु चोद्दसपुव्वा उ होति सगलसुत्त।
सेसाण वुदासट्ठा सुत्तकरज्झयणमेयस्स ॥१०॥
कि तेण कय सुत्त ज भण्णति तस्स कारतो सो उ।
भण्णति गणधारीहिं सव्वसुय चेव पुव्वकत ॥११॥
तत्तो च्चिय णिज्जूढ अणुग्गहट्ठाय सपयजतीण।
सो सुत्तकारओ खलु स भवति दसकप्पववहारे ॥१२॥

कल्प (कप्प) का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते है कि कल्प दो प्रकार का होता है : जिनकल्प और स्थविरकल्प। इन दोनो प्रकार के कल्पो का

---

१ इस भाष्य की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई है। यह प्रति मुनि श्री ने वि० स० १९८३ मे लिखकर तैयार की है।

द्रव्य और भावपूर्वक विचार करना चाहिए।[1] इसके बाद कल्प्य और अकल्प्य वस्तुओ का विचार किया गया है।

कल्पियो अर्थात् साधुओ की ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप त्रिविध सम्पदा का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने पांच प्रकार के चारित्र का स्वरूप बताया है: सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मराग–सूक्ष्मसपराय और यथाख्यात। इसी प्रकार चारित्र के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक—इन तीन भेदो का भी वर्णन किया गया है। ज्ञान दो प्रकार का होता है. क्षायिक और क्षायोपशमिक। केवलज्ञान क्षायिक है और शेष ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। दर्शन तीन प्रकार का है. क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। चारित्र का पालन कौन करता है? निर्ग्रन्थ और संयत। निर्ग्रन्थ और सयत के पांच-पांच भेद होते हैं:

कस्सेत चारित्त णियठ तह सजयाण ते कतिहा।
पच णियठा पचेव सजया होतिमे कमसो ॥८३॥

पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ ये हैं. पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। सयत के सामायिक आदि उपर्युक्त पांच भेद है। इन दस प्रकार के श्रमणो के प्रस्तुत भाष्य में और भी अनेक भेद-प्रभेद किये गए हैं।

'कल्प' शब्द का प्रयोग किन-किन अर्था में किया गया है. इसका विचार करते हुए कहा गया है कि 'कल्प' शब्द निम्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है: सामर्थ्य, वर्णना, काल, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास:

सामत्थे वण्णणा काले छेयणे करणे तहा।
ओवम्मे अहिवासे य कप्पसद्दो वियाहिओ ॥१५४॥

इन सब का भेदपुर सर विस्तृत विवेचन नवम पूर्व मे किया गया है। प्रस्तुत भाष्य मे केवल पञ्चकल्प—पांच प्रकार के कल्प का सक्षिप्त वर्णन है। जैसा कि स्वय भाष्यकार लिखते है:

सो पुण पचविकप्पो, कप्पो इह वण्णिओ समासेण।
वित्थरतो पुव्वगतो, तस्स इमे होंति भेदा तु ॥१७४॥

पांच प्रकार के कल्प के क्रमश छ, सात, दस, बीस और बयालीस भेद हैं छव्विह सत्तविहे य, दसविह वीसतिविहे य बायाले।[2] छ प्रकार के कल्प का छ प्रकार से निक्षेप करना चाहिए। वह छः प्रकार का निक्षेप है: नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।[3] द्रव्यकल्प तीन प्रकार का है. जीव, अजीव और मिश्र। जीवकल्प के पुन तीन भेद हैं. द्विपद, चतुष्पद और अपद।

१. गा० ५९. २. गा० १७५ ३. गा० १८०.

प्रस्तुत अधिकार द्विपद का है और उसमे भी मनुष्यद्विपद का। मनुष्यद्विपद में भी कर्मभूमिज का अधिकार अभीष्ट है।[1] वह मनुजजीवकल्प छ प्रकार का है: प्रव्राजन, मुडन, शिक्षण, उपस्थापन, भोग और सवसन :

पव्वावण मु डावण सिक्खावणुवट्ठ भु ज सवसणा।
एसोत्थ (तु) जीवकप्पो, छब्भेदो होति णायव्वो ॥१८६॥

भाष्यकार ने इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रव्राजन का विवेचन करते हुए जाति, कुल, रूप और विनयसम्पन्न व्यक्ति को ही प्रव्रज्या के योग्य माना है। बाल, वृद्ध, नपुसक, जड, क्लीब, रोगी, स्तेन, राजापकारो, उन्मत्त, अदर्शी, दास, दुष्ट, मूढ, अज्ञानी, जुगित, भयभीत, पलायित, निष्कासित, गर्भिणी और बालवत्सा—इन बीस प्रकार के व्यक्तियो को प्रव्रज्या—दीक्षा देना अकल्प्य है·

बाले वुड्ढे नपु से य, जड्डे कीवे य वाहिए।
तेणे रायावगारी य उन्मत्ते य अदसणे ॥ २०० ॥
दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जु गितेइ य।
ओबद्धए य भयए, सेहणिप्फेडितेति य ॥ २०१ ॥
गुव्विणी बालवच्छा य, पव्वावेतु ण कप्पए।
एसिं परूवणा दुविहा, उस्सग्गववायसजुत्ता ॥ २०२ ॥

इसी से मिलता-जुलता विधान निशीथभाष्य मे भी है। एतद्विषयक अनेक गाथाएँ दोनो भाष्यो मे समान है।[2]

अचित्त अर्थात् अजीव-द्रव्यकल्प का विवेचन करते हुए आचार्य ने निम्नलिखित सोलह विषयो पर प्रकाश डाला है · १. आहार, २. उपधि, ३ उपाश्रय, ४ प्रस्रवण, ५ शय्या, ६. निषद्या, ७ स्थान, ८ दड, ९ चर्म, १० चिलिमिली, ११. अवलेखनिका, १२ दतधावन, १३. कर्णशोधन, १४ पिप्पलक, १५ सूची, १६ नखछेदन।[3]

मिश्र द्रव्यकल्प का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि जीव और अजीव के सयोग आदि से निष्पन्न कल्प मिश्रकल्प कहलाता है।[4] इसके विविध भग होते हैं। यहाँ तक द्रव्यकल्प का व्याख्यान है।

---

१ गा० १८२–४. २ तुलना : निशीथ-भाष्य, गा० ३५०६–८.

३ आहारे उवहिम्मि य, उवस्सए तह य पस्सवणए य।
सेज्ज णिसेज्ज ट्ठाणे, डडे चम्मे चिलिमिली य ॥ ७२३ ॥
अवलेहणिया दताण, धोवणे कण्णसोहणे चेव।
पिप्पलग सूति णक्खाण, छेदणे चेव सोलसमे ॥ ७२४ ॥

४. गा० ९०१.

क्षेत्रकल्प का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने अर्धषड्विंशति (अढ्ढछब्बीस) अर्थात् साढे पचीस देशो को आर्यक्षेत्र बताया है जिसमे साधुओ को विचरना चाहिए। इन देशो के साथ ही इनकी राजधानियो के नाम भी दिये हैं। यहाँ एतद्विषयक भाष्य की छ गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं जिनसे आर्यक्षेत्रीय देशो और उनकी राजधानियो के नामो का ठीक-ठीक पता लग सकेगा

रायगिह मगह चपा, अगा तह तामलित्ति वंगा य।
कचणपुर कलिगा, वाराणसि चेव कासी य ॥९६९॥
साए य कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्ठा य।
कपिल्ल पचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥९७०॥
बारवती य सुरट्ठा, महिल विदेहा य वच्छ कोसवी।
णदिपुर सदिभा, भद्दिलपुरमेव वलया य ॥९७१॥
वयराडवच्छ वरणा, अच्छा तह मत्तियावति दसण्णा।
सोत्तियमती य चेती, वीतिभय सिधु सोवीरा ॥९७२॥
महुरा य सुरसेणा, पावा भगी य मासपुरिवट्टा।
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिस च लाढा य ॥९७३॥
सेयवियाऽविय णगरी केततिअद्धं च आरियं भणितं।
जत्थुप्पत्ति जिणाण चक्कीण रामकिण्हाण ॥९७४॥

आर्य जनपद और उनकी मुख्य नगरियो के नाम ये है

देश	राजधानी
१—मगध	राजगृह
२—अग	चम्पा
३—वग	ताम्रलिप्ति
४—कलिग	काचनपुर
५—काशी	वाराणसी
६—कोशल	साकेत
७—कुरु	गजपुर
८—कुशावर्त	सौरिक
९—पाचाल	काम्पिल्य
१०—जागल	अहिच्छत्रा
११—सौराष्ट्र	द्वारवती
१२—विदेह	मिथिला
१३—वत्स	कौशाम्बी,
१४—शाडिल्य	नन्दिपुर

देश	राजधानी
१५–मलय	भद्दिलपुर
१६–मत्स्य	वैराटपुर
१७–वरण	अच्छापुरी
१८–दशार्ण	मृत्तिकावती
१९–चेदि	शौक्तिकावती
२०–सिंधु सौवीर	वीतिभय
२१–शूरसेन	मथुरा
२२–भगि	पापा
२३–वट्ट	मासपुरी
२४–कुणाल	श्रावस्ती
२५–लाट	कोटिवर्ष
२५–½केकयार्ध	श्वेताम्बिका

क्षेत्रकल्प के बाद कालकल्प का वर्णन करते हुए आचार्य ने निम्न विषयों का व्याख्यान किया है . मासकल्प, पर्युषणाकल्प, वृद्धवासकल्प, पर्यायकल्प, उत्सवर्ग, प्रतिक्रमण, कृतिकर्म, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षा, भक्त, विकार निष्क्रमण और प्रवेश ।[1]

भावकल्प के वर्णन मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, सयम, समिति, गुप्ति आदि का विवेचन किया गया है ।[2] यहाँ तक प्रथम कल्प के अन्तर्गत छ प्रकार के कल्पो का अधिकार है । इसके बाद द्वितीय कल्प के सात भेदो का व्याख्यान प्रारम होता है ।

सात प्रकार के कल्प मे निम्न कल्पो का समावेश किया गया है स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और सभोगकल्प ।[3] भाष्यकार ने इनका विस्तार से वर्णन किया है ।

तृतीय कल्प के अन्तर्गत दस प्रकार के कल्पो का वर्णन किया गया है · कल्प, प्रकल्प, विकल्प, सकल्प उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प ।[4] पिण्डैषणा, भावना, भिक्षुप्रतिमा आदि यतिगुणो की वृद्धि करना कल्प है । उत्सारकल्प, लोकानुयोग, प्रथमानुयोग, सग्रहणी, सभोग, शृगनादित आदि प्रकल्प है ।[5] अतिरेक, परिकर्म, भडोत्पादना आदि विकल्प है . अतिरेग परिकम्मण

१ गा०१०२४-११३५ २ गा० ११३६–१२६७ ३. गा० १२६८.

४ गा० १५१४.

५ उस्सारकप्प लोगाणुओग पढमाणुओग सगहणी ।
संभोग सिंगणाइय एवमादी पकप्पो उ ॥ १५३२ ॥

देश	राजधानी
१५–मलय	भद्दिलपुर
१६–मत्स्य	वैराटपुर
१७–वरण	अच्छापुरी
१८–दशार्ण	मृत्तिकावती
१९–चेदि	शौक्तिकावती
२०–सिंधु सौवीर	वीतिभय
२१–शूरसेन	मथुरा
२२–भगि	पापा
२३–वट्ट	मासपुरी
२४–कुणाल	श्रावस्ती
२५–लाट	कोटिवर्ष
२५–३केकयार्ध	श्वेताम्बिका

क्षेत्रकल्प के बाद कालकल्प का वर्णन करते हुए आचार्य ने निम्न विषयों का व्याख्यान किया है : मासकल्प, पर्युषणाकल्प, वृद्धवासकल्प, पर्यायकल्प, उत्सवर्ग, प्रतिक्रमण, कृतिकर्म, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षा, भक्त, विकार निष्क्रमण और प्रवेश ।[1]

भावकल्प के वर्णन मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, सयम, समिति, गुप्ति आदि का विवेचन किया गया है ।[2] यहाँ तक प्रथम कल्प के अन्तर्गत छ प्रकार के कल्पो का अधिकार है । इसके बाद द्वितीय कल्प के सात भेदो का व्याख्यान प्रारम होता है ।

सात प्रकार के कल्प में निम्न कल्पो का समावेश किया गया है स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और सभोगकल्प ।[3] भाष्यकार ने इनका विस्तार से वर्णन किया है ।

तृतीय कल्प के अन्तर्गत दस प्रकार के कल्पो का वर्णन किया गया है कल्प, प्रकल्प, विकल्प, सकल्प उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प अकल्प, दुष्कल्प और सुकल्प ।[4] पिण्डैषणा, भावना, भिक्षुप्रतिमा आदि यतिगुणो की वृद्धि करना कल्प है । उत्सारकल्प, लोकानुयोग, प्रथमानुयोग, संग्रहणी, सभोग, शृगनादित आदि प्रकल्प हैं ।[5] अतिरेक, परिकर्म, भडोत्पादना आदि विकल्प हैं - अतिरेग परिकम्मण

१ गा० १०२४-११३५ २. गा० ११३६–१२६७ ३. गा० १२६८.

४ गा० १५१४.

५ उस्सारकप्प लोगाणुओग पढमाणुओग सगहणी ।
संभोग सिंगणाइय एवमादी पकप्पो उ ॥ १५३२ ॥

तह भङ्गपायणा ।[१] प्रकल्प सकारण होता है जबकि विकल्प निष्कारण होता है कारणे पकप्पो होती, विकप्पो णिक्कारणे मुणेयव्वो ।[२] सकल्प प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का होता है । दर्शन-ज्ञान-चारित्रविषयक संकल्प प्रशस्त है । इद्रिय-विपय-कषायविपयक सकल्प अप्रशस्त है ।[3] उपकल्प, क्रिया और उपनयन एकार्थक है · उवकप्पती करेति उवणेइ व होति एगट्ठा[४] । ज्ञान और चारित्र से समृद्ध पूर्वाचार्यों का अनुकरण करना अनुकल्प है ।[५] ऊर्ध्वकल्पी होना अथवा छिन्नकल्पी होना उत्कल्प कहलाता है ।[६] निष्कृप अर्थात् कृपाहीन तथा निरनुकम्प अर्थात् अनुकम्पाहीन होकर प्रवृत्ति करना अकल्प कहलाता है ।[७] नित्य निंदित प्रवृत्ति करना दुष्कल्प है ।[८] नित्य प्रशसित प्रवृत्ति करना सुकल्प है ।[९]

चतुर्थ कल्प के अन्तर्गत निम्नलिखित बीस कल्पो का समावेश किया गया है · १ नामकल्प, २ स्थापनाकल्प, ३ द्रव्यकल्प, ४ क्षेत्रकल्प, ५ कालकल्प, ६ दर्शनकल्प, ७ श्रुतकल्प, ८ अध्ययनकल्प, ९. चारित्रकल्प, १०. उपधिकल्प, ११ सभोगकल्प, १२ आलोचनाकल्प, १३ उपसम्पदाकल्प, १४ उद्देशकल्प, १५ अनुज्ञाकल्प, १६ अध्वकल्प, १७ अनुवासकल्प (स्थित और अस्थित), १८ जिनकल्प, १९ स्थविरकल्प और २० अनुपालनाकल्प । इसकी निम्नोक्त तीन द्वारगाथाएँ है :

कप्पेसु णामकप्पो, ठवणाकप्पो य दवियकप्पो य ।
खित्ते काले कप्पो, दसणकप्पो य सुयकप्पो ॥१६७०॥
अज्झयण चरित्तम्मि य, कप्पो उवही तहेव सभोगो ।
आलोयण उवसपद तहेव उद्देसणुण्णाए ॥१६७१॥
अद्धाणम्मि य कप्पो, अणुवासे तह य होइ ठितकप्पो ।
अट्ठितकप्पो य तहा, जिणथेर अणुवालणाकप्पो ॥१६७२॥

भाष्यकार ने इन बीस प्रकार के कल्पो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । पंचम कल्प के बयालीस भेद हैं : १ द्रव्य, २ भाव, ३ तदुभय, ३ करण, ५ विरमण, ६ सदाचार, ७ निर्वेश, ८ अन्तर, ९ नयातर, १० स्थित, ११. अस्थित, १२ स्थान, १३ जिन, १४ स्थविर, १५, पर्युषण, १६. श्रुत, १७. चारित्र, १८ अध्ययन, १९ उद्देश, २० वाचना, २१. प्रत्येषणा, २२. परिवर्तना, २३. अनुप्रेक्षा, २४ यात, २५ अयात, २६. चीर्ण, २७ अचीर्ण, २८.

---

१ गा० १५९१, २ गा० १६०३ ३ गा० १६२९–१६३०.
४ गा० १६३५ ५ १६४२ ६ गा० १६४९ ७ गा० १६५९
८ गा० १६६५. ९ गा० १६६७.

संधान, २९ च्यवन, ३०. उपपात, ३१. निशीथ, ३२. व्यवहार, ३३ क्षेत्र, ३४. काल, ३५ उपधि, ३६ सभोग, ३७. लिंग, ३८. प्रतिसेवना, ३९ अनुवास, ४०. अनुपालना, ४१. अनुज्ञा, ४२. स्थापना। उसकी चार द्वारगाथाएँ हैं जिनका भाष्यकार ने विवेचन किया है :

दव्वे भावे तदुभय करणे वेरमणनेव साहारो।
निव्वेस अतर णयतरे य ठिय अट्ठिए चेव ॥२१९२॥
ठाण जिण थेर पज्जुमणमेव सुत्ते चरित्तमज्झयणे।
उद्देस वायण पडिच्छणा य परियट्टणुप्पेहा ॥२१९३॥
जायमजाए चिण्णमचिण्णे संधाणमेव चयणे य।
उववाय णिसीहे या, ववहारे खेत्तकाले य ॥२१९४॥
उवही सभोगे लिंगकप्प पडिसेवणा य अणुवासे।
अणुपालणा अणुण्णा, ठवणाकप्पे य बोधव्वे ॥२१९५॥

इस तरह पांच प्रकार के कल्पो का विवेचन करने के बाद प्रस्तुत भाष्य जिसका कि नाम पचकल्पमहाभाष्य है और जिसमें पचकल्पलघुभाष्य का भी समावेश है, समाप्त होता है। प्रति के अन्त मे भाष्य एव भाष्यकार के नाम का इस प्रकार उल्लेख है: महत्पञ्चकल्पभाष्य सघदासक्षमाश्रमणविरचित समासमिति। भाष्य का कलेवर-प्रमाण बताते हुए कहा गया है - गाहग्गेण पंचवीससयाइं चउहत्तराइ। सिलोयग्गाण एगतीससयादि पचत्तीसाणि। यह भाष्य २५७४ गाथाप्रमाण अथवा ३१३५ श्लोकप्रमाण है।



दशम प्रकरण

बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य

यह भाष्य जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, बृहत्कल्प-लघुभाष्य से आकार में बडा है। दुर्भाग्य से यह अपूर्ण ही उपलब्ध है।[1] इसमें पीठिका और प्रारम्भ के दो उद्देश तो पूर्ण हैं किन्तु तृतीय उद्देश अपूर्ण है। अन्त के तीन उद्देश अनुपलब्ध हैं। भाष्य का यह अंश लिखा अवश्य गया है, जैसा कि आचार्य क्षेमकीर्ति की टीका से स्पष्ट है।[2] प्रस्तुत भाष्य में लघुभाष्य समाविष्ट है।

लघुभाष्य की प्रथम गाथा है :

काऊण नमोक्कार, तित्थयराण तिलोगमहियाणं।
अप्पव्ववहाराणं, वाखाणविहिं पवक्खामि॥ १॥

बृहद्भाष्य की भी प्रथम गाथा है :

काऊण नमोक्कार, तित्थकराण तिलोकमहिताण।
कप्पव्ववहाराण, वक्खाणविधिं पवक्खामि॥

इन दोनों गाथाओं में कहीं-कहीं अक्षरभेद अर्थात् अक्षर-परिवर्तन है। इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य गाथाओं में भी दृष्टिगोचर होता है।

लघुभाष्य की दूसरी गाथा है

सक्कयपाययवयणाण विभासा जत्थ जुज्जते ज तु।
अज्झयणनिरुत्ताणि य, वक्खाणविही य अणुओगो॥ २॥

यह गाथा बृहद्भाष्य में बहुत दूर है।[3] लगभग सौ गाथाओं के बाद यह गाथा दी गई है। बीच की ये सब गाथाएँ प्रथम गाथा के विवेचन के रूप में हैं। बृहद्भाष्य में उपर्युक्त गाथा कुछ परिवर्तन के साथ इस प्रकार है :

सक्कयपायतवयणाण विभासा जच्छ कुज्झते जातु।
अज्झयणिरुत्ताणिय वत्तव्वाइं जहाकमसो॥

---

१. यह भाष्य मुनि श्री पुण्यविजयजी की असीम कृपा से हस्तलिखितरूप में प्राप्त हुआ एतदर्थं मुनि श्री का अत्यन्त आभारी हूँ।

२ आह च बृहद्भाष्यकृत्—रत्ति दवपरिवासे, लहुगा दोसा हवंत णेगविहा।—बृहत्कल्पलघुभाष्य, गा० ५९८१ की व्याख्या (उद्देश ५, पृ० १५८०).

३ पृ० १४.

इस गाथा में कुछ अशुद्धियाँ हैं। इस प्रकार की अनेक अशुद्धियाँ प्रस्तुत प्रति में भरी पड़ी हैं। यह दोष प्रस्तुत प्रति का नहीं अपितु उस मूल प्रति का है जिसकी यह प्रतिलिपि है।

बृहद्भाष्य के प्रारंभ में ऐसी कुछ गाथाएँ हैं जो लघुभाष्य में बाद में आती हैं। उदाहरण के रूप में कुछ गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

कडकरण दव्वे सासण तु सच्चेव दव्वतो आणा।
दव्वनिमित्त वुभयं दोण्ह वि भावे इम चेव ॥ ३६ ॥
दव्ववती दव्वांति जांति गहितांति मुचंति ण ताव।
आराहणि दव्वस्स तु दोण्ह वि पडिपक्खे भाववई ॥ ३७ ॥
दव्वाण दव्वभूतो दव्वट्ठाए व वेज्जमातीया।
अध दव्वे उवदेसो पण्णवणा आगमो चेव ॥ ३८ ॥
अणुयोगो (य णियोगो) भास विभासा य वत्तिय चेव।
एते अणुयोगस्स तु णामा एगट्ठया पच ॥ ४१ ॥
—बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य, पृ० ५-६ (संशोधित)

कडकरण दव्वे सासण तु दव्वे व दव्वओ आणा।
दव्वनिमित्त वुभय, दुन्नि वि भावे इम चेव ॥ १८४ ॥
दव्ववती दव्वाइ गहियाइ मुचइ न ताव।
आराहणि दव्वस्स वि, दोहि वि भावस्स पडिवक्खो ॥ १८५ ॥
दव्वाण दव्वभूओ, दव्वट्ठाए व विज्जमाईया।
अह दव्वे उवएसो, पन्नवणा आगमे चेव ॥ १८६ ॥
अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तिय चेव।
एए अणुओगस्स उ, नामा एगट्ठिया पच ॥ १८७ ॥
—बृहत्कल्प-लघुभाष्य, भा० १.

उपर्युक्त गाथाओ से यह स्पष्ट है कि दोनो भाष्यो की कुछ गाथाओ में कही-कही आगे-पीछे हेर-फेर भी हुआ है। बृहद्भाष्यकार ने लघुभाष्य की कुछ गाथाएँ बिना किसी व्याख्यान के वैसी की वैसी भी अपने भाष्य में उद्धृत की हैं। जिनका व्याख्यान करना उन्हें आवश्यक प्रतीत न हुआ उन गाथाओ के विषय में उन्होने यही नीति अपनायी है। उदाहरण के तौर पर लघुभाष्य की नाम और स्थापना मगलविषयक छठी, सातवी और आठवी ये तीन गाथाएँ बृहद्भाष्य मे क्रमश एक साथ दे दी गई हैं।[1] इनका बृहद्भाष्यकार ने उन प्रसग पर कोई अतिरिक्त विवेचन नही किया है। द्रव्यमगलविषयक नौवी गाथा

---

१. पृ० १८.

के विषय में यह बात नहीं है। इस गाथा के व्याख्यान के रूप में बृहद्भाष्यकार ने चार नई गाथाओं की रचना की है।[1] इस प्रकार बृहद्भाष्य में लघुभाष्य के विषयों का ही विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। ऐसी दशा में पूरा बृहद्भाष्य एक विशालकाय ग्रन्थ होना चाहिए जिसका कलेवर लगभग पंद्रह हजार गाथाओं के बराबर हो। अपूर्ण उपलब्ध प्रति जिसका कलेवर पूरे ग्रन्थ का लगभग आधा है, अनुमानतः सात हजार गाथाप्रमाण है। ये गाथाएँ लघुभाष्य की गाथाओं (तीन उद्देश) से करीब दुगुनी हैं। लगभग इतनी ही गाथाएँ अनुपलब्ध अंश में भी होंगी, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

बृहद्भाष्य की प्रति में जो अक्षरपरावर्तन दृष्टिगोचर होता है उसके कुछ रूप नीचे दिये जाते हैं :[2]

प्रचलित रूप			परिवर्तित रूप
ण—	—	—	—म
ण्ण	—	—	—स्स
धि—	—	—	—वि
ऊ—	—	—	—ज
धा अथवा ह्रा	—	—	—द्धा
व	—	—	—प
त	—	—	—न
द्ध	—	—	—घ
त	—	—	—व[3]



१ पृ० १८-९.

२ मुनि श्री पुण्यविजयजी के अध्ययन के आधार पर।

३. निशीथभाष्य के परिचय के लिए आगे निशीथचूर्णि का परिचय देखिये।

चूर्णियाँ

प्रथम प्रकरण

चूर्णियाँ और चूर्णिकार

आगमो की प्राचीनतम पद्यात्मक व्याख्याएँ निर्युक्तियो और भाष्यो के रूप मे प्रसिद्ध है। वे सब प्राकृत मे है। जैनाचार्य इन पद्यात्मक व्याख्याओं से ही सन्तुष्ट होने वाले न थे। उन्हें उसी स्तर की गद्यात्मक व्याख्याओ की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति के रूप मे जैन आगमो पर प्राकृत अथवा सस्कृतमिश्रित प्राकृत मे जो व्याख्याएँ लिखी गई है, वे चूर्णियों के रूप मे प्रसिद्ध है। आगमेतर साहित्य पर भी कुछ चूर्णियाँ लिखी गईं, किन्तु वे आगमो की चूर्णियो की तुलना मे बहुत कम है। उदाहरण के लिए कर्मप्रकृति, शतक आदि की चूर्णियाँ उपलब्ध है -

चूर्णियाँ :

निम्नाकित आगम-ग्रन्थो पर आचार्यो ने चूर्णियाँ लिखी है १ आचाराग, २. सूत्रकृताग, ३ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४ जीवाभिगम, ५ निशीथ, ६ महानिशीथ, ७ व्यवहार, ८ दशाश्रुतस्कन्ध, ९ बृहत्कल्प, १० पंचकल्प, ११ ओधनिर्युक्ति, १२ जीतकल्प, १३. उत्तराध्ययन, १४. आवश्यक, १५. दशवैकालिक, १६ नन्दी, १७ अनुयोगद्वार, १८. जबूद्वीपप्रज्ञप्ति। निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियाँ लिखी गईं, किन्तु वर्तमान में एक-एक ही उपलब्ध है। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प एव दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियाँ हैं।

चूर्णियो की रचना का क्या क्रम है, इस विषय में निश्चितरूप से कुछ नही कहा जा सकता। चूर्णियो में उल्लिखित एक-दूसरे के नाम के आधार पर क्रम-निर्धारण का प्रयत्न किया जा सकता है। श्री आनन्दसागर सूरि के मत से जिनदासगणिकृत निम्नलिखित चूर्णियो का रचनाक्रम इस प्रकार है - नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारागचूर्णि, सूत्रकृतागचूर्णि और व्याख्याप्रज्ञप्तिचूर्णि।[1]

---

१. आर्हत आगमोनी चूर्णिओ अने तेनु मुद्रण—सिद्धचक्र, भा ९, अ. ८. पृ० १६५

आवश्यकचूर्णि मे ओघनिर्युक्तिचूर्णि का उल्लेख है।[1] इससे प्रतीत होता है कि ओघनिर्युक्तिचूर्णि आवश्यकचूर्णि से पूर्व लिखी गई है। दशवैकालिकचूर्णि मे आवश्यकचूर्णि का नामोल्लेख है[2] जिससे यह सिद्ध होता है कि आवश्यकचूर्णि दशवैकालिकचूर्णि से पूर्व की रचना है। उत्तराध्ययनचूर्णि मे दशवैकालिकचूर्णि का निर्देश है[3] जिससे प्रकट होता है कि दशवैकालिकचूर्णि उत्तराध्ययनचूर्णि के पहले लिखी गई है। अनुयोगद्वारचूर्णि मे नदीचूर्णि का उल्लेख किया गया है[4] जिससे सिद्ध होता है कि नदीचूर्णि की रचना अनुयोगद्वारचूर्णि के पूर्व हुई है। इन उल्लेखो को देखते हुए श्री आनन्दसागर सूरि के मत का समर्थन करना अनुचित नही है। हाँ, उपर्युक्त रचना-क्रम मे अनुयोगद्वारचूर्णि के बाद तथा आवश्यकचूर्णि के पहले ओघनिर्युक्तिचूर्णि का भी समावेश कर लेना चाहिए क्योकि आवश्यकचूर्णि में ओघनिर्युक्तिचूर्णि का उल्लेख है जो आवश्यकचूर्णि के पूर्व की रचना है।

भाषा की दृष्टि से नन्दीचूर्णि मुख्यतया प्राकृत मे है। इसमे सस्कृत का बहुत कम प्रयोग किया गया है। अनुयोगद्वारचूर्णि भी मुख्यरूप से प्राकृत मे ही है, जिसमे यत्र-तत्र सस्कृत के श्लोक और गद्याश उद्‌धृत किये गये है। जिनदासकृत दशवैकालिकचूर्णि की भाषा मुख्यतया प्राकृत है, जबकि अगस्त्यसिंहकृत दशवैकालिकचूर्णि प्राकृत मे ही है। उत्तराध्ययनचूर्णि सस्कृतमिश्रित प्राकृत मे है। इसमे अनेक स्थानो पर सस्कृत के श्लोक उद्‌धृत किये गये है। आचारागचूर्णि प्राकृत-प्रधान है, जिसमें यत्र-तत्र सस्कृत के श्लोक भी उद्‌धृत किये गये हैं। सूत्रकृतागचूर्णि की भाषा एव शैली आचारागचूर्णि के ही समान है। इसमे सस्कृत का प्रयोग अन्य चूर्णियो की अपेक्षा अधिक मात्रा में हुआ है। जीतकल्पचूर्णि मे प्रारम्भ से अन्त तक प्राकृत का ही प्रयोग है। इसमें जितने उद्धरण हैं वे भी प्राकृत-ग्रन्थो के ही है। इस दृष्टि से यह चूर्णि अन्य चूर्णियो से विलक्षण है। निशीथविशेषचूर्णि अल्प-सस्कृतमिश्रित प्राकृत में है। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि प्रधानतया प्राकृत मे है। बृहत्कल्पचूर्णि सस्कृतमिश्रित प्राकृत मे है।

चूर्णिकार :

चूर्णिकार के रूप मे मुख्यतया जिनदासगणि महत्तर का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने वस्तुत: कितनी चूर्णियाँ लिखी है, इसका कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। परपरा से निम्नाकित चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर की कही जाती

---

१. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ० ३४१. २. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ७१.
३. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० २७४. ४. अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ० १

हैं : निशीथविशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि और सूत्रकृतागचूर्णि। उपलब्ध जीतकल्पचूर्णि सिद्धसेनसूरि की कृति है। बृहत्कल्पचूर्णिकार का नाम प्रलम्बसूरि है।[1] आचार्य जिनभद्र की कृतियो मे एक चूर्णि का भी समावेश है। यह चूर्णि अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर है जिसे जिनदास की अनुयोगद्वारचूर्णि मे अक्षरश उद्धृत किया गया है।[2] इसी प्रकार दशवैकालिकसूत्र पर भी एक और चूर्णि है। इसके रचयिता अगस्त्यसिंह है। अन्य चूर्णिकारो के नाम अज्ञात हैं।

जिनदासगणि महत्तर के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। निशीथविशेषचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का नाम जिनदास बताया गया है तथा प्रारभ मे उनके विद्यागुरु के रूप में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण के नाम का उल्लेख किया गया है। उत्तराध्ययनचूर्णि के अन्त मे चूर्णिकार का परिचय दिया गया है किन्तु उनके नाम का स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है। इसमें उनके गुरु का नाम वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर बताया गया है। नन्दीचूर्णि के अन्त मे चूर्णिकार ने अपना जो परिचय दिया है वह अस्पष्ट रूप मे उपलब्ध है। जिनदास के समय के विषय में इतना कहा जा सकता है कि ये भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के बाद एव टीकाकार आचार्य हरिभद्र के पूर्व हुए हैं क्योकि आचार्य जिनभद्र के भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग इनकी चूर्णियों मे हुआ है, जबकि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीकाओं मे इनकी चूर्णियो का पूरा उपयोग किया है। आचार्य जिनभद्र का समय विक्रम सवत् ६००-६६० के आसपास है[3] तथा आचार्य हरिभद्र का समय वि० स० ७५७-८२७ के बीच का है।[4] ऐसी दशा मे जिनदासगणि महत्तर का समय वि० स० ६५०-७५० के बीच मे मानना चाहिए। नन्दीचूर्णि के अन्त मे उसका रचना-काल शक सवत् ५९८ अर्थात् वि० स० ७३३ निर्दिष्ट है।[5] इससे भी यही सिद्ध होता है।

उपलब्ध जीतकल्पचूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। प्रस्तुत सिद्धसेन, सिद्धसेनदिवाकर से भिन्न ही कोई आचार्य है। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्पकार आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। प्रस्तुत चूर्णि की एक

१. जैन ग्रथावली, पृ० १२, टि० ५ २ गणधरवाद, पृ० २११.

३ गणधरवाद प्रस्तावना, पृ० ३२-३

४ जैन आगम, पृ० २७

५ A History of the Canonical Literature of the Jainas, पृ० १९१, नन्दीसूत्र-चूर्णि (प्रा० टे० सो०), पृ० ८३.

व्याख्या (विषमपदव्याख्या) श्रीचन्द्रसूरि ने वि० स० १२२७ मे पूर्ण की है अत चूर्णिकार सिद्धसेन वि० स० १२२७ के पहले होने चाहिए। ये सिद्धसेन कौन हो सकते हैं, इसकी सभावना का विचार करते हुए प० दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती तत्त्वार्थभाष्य-व्याख्याकार सिद्धसेनगणि और उपमितिभवप्रपचकथा के लेखक सिद्धर्षि अथवा सिद्धव्याख्यानिक—ये दो प्रसिद्ध आचार्य तो प्रस्तुत चूर्णि के लेखक प्रतीत नही होते, क्योकि यह चूर्णि भाषा का प्रश्न गौण रखते हुए देखा जाय तो भी कहना पडेगा कि बहुत सरल शैली में लिखी गई है, जबकि उपर्युक्त दोनो आचार्यों की शैली अति क्लिष्ट है। दूसरी बात यह है कि इन दोनो आचार्यों की कृतियो मे इसकी गिनती भी नही की जाती। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन कोई अन्य ही होने चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्रकृत बृहत्क्षेत्रसमास की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेनसूरि प्रस्तुत चूर्णि के भी कर्ता होने चाहिए क्योकि इन्होने उपर्युक्त वृत्ति वि० स० ११९२ मे पूर्ण की थी। दूसरी बात यह है कि इन सिद्धसेन के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धसेन का इस समय के आसपास होना ज्ञात नही होता। ऐसी स्थिति मे बृहत्क्षेत्रसमास की वृत्ति के कर्ता और प्रस्तुत चूर्णि के लेखक सभवत एक ही सिद्धसेन है। यदि ऐसा ही है तो मानना पडेगा कि चूर्णिकार सिद्धसेन उपकेशगच्छ के थे तथा देवगुप्तसूरि के शिष्य एव यशोदेवसूरि के गुरुभाई थे। इन्ही यशोदेवसूरि ने उन्हे शास्त्रार्थ सिखाया था।[1]

उपर्युक्त मान्यता पर अपना मत प्रकट करते हुए प० श्री सुखलालजी लिखते हैं कि जीतकल्प एक आगमिक ग्रथ है। यह देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी चूर्णि के कर्ता कोई आगमिक होने चाहिए। इस प्रकार के एक आगमिक सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निर्देश पचकल्पचूर्णि तथा हारिभद्रीयवृत्ति मे है। सभव है कि जीतकल्पचूर्णि के लेखक भी यही सिद्धसेन क्षमाश्रमण हो।[2] जब तक एतद्विषयक निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही होते तब तक प्रस्तुत चूर्णिकार सिद्धसेन सूरि के विषय मे निश्चित रूप से विशेष कुछ नही कहा जा सकता।

प० दलसुख मालवणिया ने निशीथ-चूर्णि की प्रस्तावना में सभावना की है कि ये सिद्धसेन आचार्य जिनभद्र के साक्षात् शिष्य हो। ऐसा इसलिए सभव है कि जीतकल्पभाष्य-चूर्णि का मगल इस बात की पुष्टि करता है। साथ ही यह भी संभावना की है कि बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्य के भी कर्ता ये हो।[3]

---

१. गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ० ४४ २ वही : वृद्धिपत्र, पृ० २११.
३. निशीथसूत्र (सन्मति ज्ञानपीठ), भा० ४ : प्रस्तावना, पृ० ३८ से.

द्वितीय प्रकरण

नन्दीचूर्णि

यह चूर्णि[1] मूल सूत्रानुसारी है तथा मुख्यतया प्राकृत मे लिखी गयी है। इसमे यत्र-तत्र संस्कृत का प्रयोग अवश्य है किन्तु वह नही के बराबर है। इसकी व्याख्यानशैली संक्षिप्त एव सारग्राही है। इसमे सर्वप्रथम जिन और वीरस्तुति की व्याख्या की गई है, तदनन्तर संघस्तुति की। मूल गाथाओ का अनुसरण करते हुए आचार्य ने तीर्थंकरों, गणधरो और स्थविरो की नामावली भी दी है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् की ओर संकेत करते हुए ज्ञानचर्चा प्रारंभ की है। जैनागमों मे प्रसिद्ध आभिनिबोधिक (मति), श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल—इन पाँच प्रकार के ज्ञानो का स्वरूप-वर्णन करने के बाद आचार्य ने प्रत्यक्ष-परोक्ष की स्वरूप-चर्चा की है। केवलज्ञान की चर्चा करते हुए चूर्णिकार ने पन्द्रह प्रकार के सिद्धो का भी वर्णन किया है - १. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३ तीर्थंकरसिद्ध, ४ अतीर्थंकरसिद्ध, ५ स्वयंबुद्धसिद्ध, ६ प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिंगसिद्ध, ९ पुरुषलिंगसिद्ध, १० नपुंसकलिंगसिद्ध, ११ स्वलिंगसिद्ध, १२ अन्यलिंगसिद्ध, १३ गृहलिंगसिद्ध, १४ एकसिद्ध, १५ अनेकसिद्ध। ये अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान के भेद हैं। इसी प्रकार केवलज्ञान के परम्परसिद्धकेवलज्ञान आदि अनेक भेदोपभेद हैं। इन सब का मूल सूत्रकार ने स्वयं ही निर्देश किया है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए आचार्य ने तीन मत उद्धृत किये हैं - १ केवलज्ञान और केवलदर्शन का यौगपद्य, २ केवलज्ञान और केवलदर्शन का क्रमिकत्व, ३ केवलज्ञान और केवलदर्शन का अभेद। एतद्विषयक गाथाएँ इस प्रकार हैं -

केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा।
अण्णे एगतरियं इच्छंति सुतोवदेसेण॥ १॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दंसणं बेंति॥ २॥

---

१ श्रीविशेषावश्यकसत्का अमुद्रितगाथा श्रीनन्दीसूत्रस्य चूर्णि हारिभद्रीया वृत्तिश्च—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८. नंदिसूत्रम् चूर्णिसहितम्—प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, सन् १९६६.

तृतीय प्रकरण

अनुयोगद्वारचूर्णि

यह चूर्णि[1] मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए मुख्यतया प्राकृत में लिखी गई है। इसमें संस्कृत का बहुत कम प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में मंगल के प्रसंग से भावनंदी का स्वरूप बताते हुए 'णाणं पंचविधं पण्णत्तं' इस प्रकार का सूत्र उद्धृत किया गया है और कहा गया है कि इस सूत्र का जिस प्रकार नंदीचूर्णि में व्याख्यान किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी व्याख्यान कर लेना चाहिए।[2] इस कथन से स्पष्ट है कि नन्दीचूर्णि अनुयोगद्वारचूर्णि से पहले लिखी गई है। प्रस्तुत चूर्णि में आवश्यक, तदुलवैचारिक आदि का भी निर्देश किया गया है।[3] अनुयोगविधि और अनुयोगार्थ का विचार करते हुए चूर्णिकार ने आवश्यकाधिकार पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। आनुपूर्वी का विवेचन करते हुए कालानुपूर्वी के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग से आचार्य ने पूर्वांगों का परिचय दिया है। 'णामाणि जाणि' आदि की व्याख्या करते हुए नाम शब्द का कर्म आदि दृष्टियों से विचार किया गया है। सात नामों के रूप में सप्तस्वर का संगीतशास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। नवविध नामका नौ प्रकार के काव्यरस के रूप में सोदाहरण वर्णन किया गया है: वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त। इसी प्रकार प्रस्तुत चूर्णि में आत्मागुल, उत्सेधागुल, प्रमाणागुल, कालप्रमाण, औदारिकादि शरीर, मनुष्यादि प्राणियों का प्रमाण, गर्भजादि मनुष्यों की संख्या, ज्ञान और प्रमाण, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।



---

१ हरिभद्रकृत वृत्तिसहित—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८

२ इमस्स सुत्तस्स जहा नंदिचुण्णीए वक्खाणं तथा इहपि वक्खाणं दट्ठव्व-अणुयोगद्दारचूर्णि, पृ १–२. तुलना नन्दीचूर्णि, पृ. १० और आगे। ३ अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. ३.

चतुर्थ प्रकरण

आवश्यकचूर्णि

यह चूर्णि[1] मुख्यरूप से नियुक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। कही-कही पर भाष्य की गाथाओ का भी उपयोग किया गया है। इसकी भाषा प्राकृत है किन्तु यत्र-तत्र सस्कृत के श्लोक, गद्याश एव पक्तियाँ उद्धृत की गई है। भाषा मे प्रवाह है। शैली भी ओजपूर्ण है। कथानको की तो इसमें भरमार है और इस दृष्टि से इसका ऐतिहासिक मूल्य भी अन्य चूर्णियो से अधिक है। विषय-विवेचन का जितना विस्तार इस चूर्णि मे है उतना अन्य चूर्णियो मे दुर्लभ है। जिस प्रकार विशेषावश्यकभाष्य मे प्रत्येक विषय पर सुविस्तृत विवेचन उपलब्ध है उसी प्रकार इसमें भी प्रत्येक विषय का अति विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है। विशेषकर ऐतिहासिक आख्यानो के वर्णन मे तो अन्त तक दृष्टि की विशालता एव लेखनी की उदारता के दर्शन होते हैं। इसमे गोविन्दनियुक्ति, ओघनियुक्तिचूर्णि (एत्थतरे ओहनिज्जुत्तिचुन्नी भाणियव्वा जाव सम्मता), वसुदेवहिण्डि आदि अनेक ग्रथो का निर्देश किया गया है।[2]

उपोद्घातचूर्णि के प्रारम्भ मे मगलचर्चा की गई है और भावमगल के रूप मे ज्ञान का विस्तृत विवेचन किया गया है। श्रुतज्ञान के आविष्कार को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक का निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक के विशेष विवेचन के लिए अनुयोगद्वार सूत्र की ओर निर्देश कर दिया गया है।[3] श्रुतावतार की चर्चा करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि तीर्थंकर भगवान् के श्रुत का अवतार होता है। तीर्थंकर कौन होते है ? इस प्रश्न का उत्तर चूर्णिकार ने निम्न शब्दो मे दिया है जेहि एव दसणणाणादिसजुत्त तित्थ कय ते तित्थकरा भवति, अहवा तित्थ गणहरा त जेहि कय ते तित्थकरा, अहवा तित्थ चाउव्वन्नो सघो त जेहि कय ते तित्थकरा। भगवान् की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है : भगो जेसिं अत्थि ते

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, पूर्वभाग, सन् १९२८, उत्तरभाग, सन् १९२९.

२ पूर्वभाग, पृ० ३१, २४१, उत्तरभाग, पृ० ३२४.

३. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ० ७९

भगवतो। भग क्या है? इसका उत्तर देते हुए चूर्णिकार ने निम्न श्लोक उद्धृत किया है[1]

माहात्म्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशस श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णा भग इतीगना ॥ १ ॥

सामायिक नामक प्रथम आवश्यक का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने सामायिक का दो दृष्टियो से विवेचन किया है - द्रव्यपरम्परा से और भावपरम्परा से। द्रव्यपरम्परा की पुष्टि के लिए यासासासा ओर मृगावती के आख्यानक दिये है।[2] आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए निम्न श्लोक उद्धृत किया है -[3]

आचार्यस्यैव तज्जाड्य, यच्छिष्यो नाववुध्यते।
गावो गोपालकेनैव, अतीर्थेनावतारिता. ॥ १ ॥

सामायिक का उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि २६ द्वारो से विचार करना चाहिए,[4] इस ओर सकेत करने के बाद आचार्य ने निर्गमद्वार की चर्चा करते हुए भगवान् महावीर के (मिथ्यात्वादि से) निर्गम की ओर सकेत किया है तथा उनके भवो की चर्चा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के धनसार्थवाह आदि भवो का विवरण दिया है। ऋषभदेव के जन्म, विवाह, अपत्य आदि का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर भी समुचित प्रकाश डाला है। ऋषभदेव के पुत्र भरत की दिग्विजय का वर्णन करने मे तो चूर्णिकार ने सचमुच कमाल कर दिया है। युद्धकला के चित्रण मे आचार्य ने सामग्री एव शैली दोनो दृष्टियो से सफलता प्राप्त की है। चूर्णि के इसी एक अश से चूर्णिकार के प्रतिपादन-कौशल एव साहित्यिक अभिरुचि का पता लग सकता है। सैनिक प्रयाण का एक दृश्य देखिए

असिखेवणिखग्गचावणारायकणमकप्पणिसूललउडाभिंडिमालधणुतोण-सरपहरणेहि य कालणीलरुहिरपीतसुविकल्ललअणेगचिंधसयसणिविट्ठ अप्फोडितसीहणायच्छेलितहयहेसितहत्थिगुलुगुलाइतअणेगरहसयसहस्सघण-घणेतणिहम्ममाणसद्दसहितेण जमग समक भभाहोरभकिणितखरमुहिमुगद-सखीयपरिलिवव्वयपीरव्वायणिवसवेणुवीणाविययिचिमहतिकच्छभिरिगिसिगि-कलतालकसतालकर धाणुत्थिदेण मनिनादेण सकलमवि जीवलोगं पूरयते।[5]

---

१ वही, पृ० ८५ २ वही, पृ० ८७-९१. ३. वही, पृ० १२१
४ देखिए—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १४०-१.
५ आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ० १८७

भरत का राज्याभिषेक, भरत और बाहुबलि का युद्ध, बाहुबलि को केवलज्ञान की प्राप्ति आदि घटनाओं का वर्णन भी आचार्य ने कुशलतापूर्वक किया है। इस प्रकार ऋषभदेवसम्बन्धी वर्णन समाप्त करते हुए चक्रवर्ती, वासुदेव आदि का भी थोडा-सा परिचय दिया है तथा अन्य तीर्थंकरो की जीवनी पर भी किंचित् प्रकाश डाला गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि भगवान् महावीर के पूर्वभव के जीव मरीचि ने किस प्रकार भगवान् ऋषभदेव से दीक्षा ग्रहण की और किस प्रकार परीषहो से भयभीत होकर स्वतन्त्र सम्प्रदाय की स्थापना की। इस वर्णन में मूल बातें वही है जो आवश्यकनियुक्ति मे हैं।[1]

निर्गमद्वार के प्रसग से इतनी लम्बी चर्चा होने के बाद पुन भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र प्रारम्भ होता है। मरीचि का जीव किस प्रकार अनेक भवो में भ्रमण करता हुआ ब्राह्मणकुण्ड ग्राम मे देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि मे आता है, किस प्रकार गर्भापहरण होता है, किस प्रकार राजा सिद्धार्थ के पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है, किस प्रकार सिद्धार्थसुत वर्धमान का जन्माभिषेक किया जाता है आदि बातो का विस्तृत वर्णन करने के बाद आचार्य ने महावीर के कुटुम्ब का भी थोडा-सा परिचय दिया है। वह इस प्रकार है[2]

समणे भगव महावीरे कासवगोत्तेण, तस्स ण ततो णामधेज्जा एवमाहिज्जति, तजहा—अम्मापिउसतिए वद्धमाणे सहसमुदिते समणे अयले भयभेरवाण खता पडिमासतपारए अरतिरतिसहे दविए धितिविरिय सपन्ने परीसहोवसग्गसहेत्ति देवेहिं से कत णाम समणे भगव महावीरे। भगवतो माया चेडगस्स भगिणी, भोयी चेडगस्स धुआ, णाता णाम जे उसभसामिस्स सयाणिज्जगा ते णातवसा, पित्तिज्जए सुपासे, जेट्ठे भाता णदिवद्धणे, भगिणी सुदसणा, भारिया जसोया कोडिन्नागोत्तेण, धूया कासवीगोत्तेण तीसे दो नामधेज्जा, त०—अणोज्जगित्ति वा पियदसणाविति वा, णत्तुई कोसीगोत्तेण, तीसे दो नामधेज्जा (जसवतीति वा) सेसवतीति वा, एव (य) नामाहिगारे दरिसित।

भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित निम्न घटनाओ का विस्तृत वर्णन चूर्णिकार ने किया है - धर्मपरीक्षा, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध, लोकान्तिकागमन, इन्द्रागमन, दीक्षामहोत्सव, उपसर्ग, इन्द्र-प्रार्थना, अभिग्रहपचक, अच्छदकवृत्त, चण्डकौशिकवृत्त, गोशालकवृत्त, सगमककृत उपसर्ग, देवीकृत उपसर्ग, वैशाली आदि मे विहार, चन्दनबालावृत्त, गोपकृत, शलाकोपसर्ग, केवलोत्पाद, समवसरण, गणधरदीक्षा आदि। देवीकृत उपसर्ग का वर्णन करते समय आचार्य ने

---

१. देखिए—आवश्यकनियुक्ति, गा० ३३५-४४०
२. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), पृ० २४५.

देवियो के रूप-लावण्य, स्वभाव-चापल्य, शृंगार-सौन्दर्य आदि का सरस एव सफल चित्रण किया है। इसी प्रकार भगवान् के देह-वर्णन में भी आचार्य ने अपना साहित्य-कौशल दिखाया है।

क्षेत्र, काल आदि शेष द्वारो का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने नयाधिकार के अन्तर्गत वज्रस्वामी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है और यह बताया है कि आर्य वज्र के बाद होने वाले आर्य रक्षित ने कालिक का अनुयोग पृथक् कर दिया। इस प्रसग पर आर्य रक्षित का जीवन-चरित्र भी दे दिया गया है। आर्य रक्षित के मातुल गोष्ठामाहिल का वृत्त देते हुए यह बताया गया है कि वह भगवान् महावीर के शासन मे सप्तम निह्नव के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गगसूरि और षडुलूक– ये छ निह्नव गोष्ठामाहिल के पूर्व हो चुके थे। इन सातो निह्नवो के वर्णन मे चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार का अनुसरण किया है। साथ ही भाष्यकार का अनुसरण करते हुए चूर्णिकार ने अष्टम निह्नव के रूप मे बोटिक—दिगम्बर का वर्णन किया है और कथानक के रूप मे भाष्य की गाथा उद्धृत की है।[1]

इसके बाद आचार्य ने सामायिकसम्बन्धी अन्य आवश्यक बातों का विचार किया है, जैसे सामायिक के द्रव्य-पर्याय, नयदृष्टि से सामायिक, सामायिक के भेद, सामायिक का स्वामी, सामायिक-प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा आदि, सामायिक की प्राप्ति करने वाला, सामायिक की प्राप्ति के हेतु, एतद्विषयक आनन्द, कामदेव आदि के दृष्टान्त, अनुकम्पा आदि हेतु और मेठ, इन्द्रनाग, कृतपुण्य, पुण्यशाल, शिवराजर्षि, गगदत्त, दशार्णभद्र, इलापुत्र आदि के उदाहरण, सामायिक की स्थिति, सामायिकवालो की सख्या, सामायिक का अन्तर, सामायिक का आकर्ष, समभाव के लिए दमदन्त का दृष्टान्त, समता के लिए मेतार्य का उदाहरण, समास के लिए चिलातिपुत्र का दृष्टान्त, सक्षेप और अनवद्य के लिए तपस्वी और धर्मरुचि के उदाहरण, प्रत्याख्यान के लिए तेतलीपुत्र का दृष्टान्त। यहाँ तक उपोद्घातनिर्युक्ति की चूर्णि का अधिकार है।

सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति की चूर्णि में निम्न विषयो का प्रतिपादन किया गया है: नमस्कार की उत्पत्ति, निक्षेपादि, राग के निक्षेप, स्नेहराग के लिए अरहन्नक का दृष्टान्त, द्वेष के निक्षेप और धर्मरुचि का दृष्टान्त, कषाय के निक्षेप और जमदग्न्यादि के उदाहरण, अर्हन्नमस्कार का फल, सिद्धनमस्कार और कर्म सिद्धादि, औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि, कर्मक्षय और समुद्घात,

---

१ वही, पृ० ४२७, (निह्नववाद के लिए देखिए—विशेषावश्यकभाष्य, गा० २३०६-२६०९)

अयोगिगुणस्थान और योगनिरोध, सिद्धो का सुख, अवगाह आदि, आचार्य-नमस्कार, उपाध्यायनमस्कार, साधुनमस्कार, नमस्कार का प्रयोजन आदि। यहाँ तक नमस्कारनियुंक्ति की चूर्णि का अधिकार है।

सामायिकनियुंक्ति की चूर्णि मे 'करेमि' इत्यादि पदो की पदच्छेदपूर्वक व्याख्या की गई है तथा छः प्रकार के करण का विस्तृत निरूपण किया गया है। यहाँ तक सामायिकचूर्णि का अधिकार है।

सामायिक अध्ययन की चूर्णि समाप्त करने के बाद आचार्य ने द्वितीय अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव पर प्रकाश डाला है। इसमे नियुंक्ति का ही अनुसरण करते हुए स्तव, लोक, उद्योत, धर्म, तीर्थंकर आदि पदो का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं वृष उद्वहने, उव्वूढ तेन भगवता जगत्ससारभग्ग तेन ऋषभ इति, सर्व एव भगवन्तो जगदुद्वहन्ति अतुल नाणदमणचरित वा, एते सामण्ण वा, विसेसो ऊरुपु दोसुवि भगवतो उसभा ओपरामुहा तेण निव्वत्त वारसाहस्स नाम कत्त उसभो त्ति ।[1] इसी प्रकार अन्य तीर्थंकरो का स्वरूप भी बताया गया है।

तृतीय अध्ययन वन्दना का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने अनेक दृष्टान्त दिये हैं। वन्दनकर्म के साथ-ही-साथ चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनय-कर्म का भी सोदाहरण विवेचन किया है। वन्द्यावन्द्य का विचार करते हुए चूर्णिकार ने वन्द्य श्रमण का स्वरूप इस प्रकार बताया है श्रमु तपसि खेदे च, श्राम्यतीति श्रमण त वदेज्ज, केरिस ? 'मेधावि' मेरया धावतीति मेधावी, अहवा मेधावी—विज्ञानवान् त; पाठान्तर वा समण वदेज्जु मेधावी। तेण मेधाविणा मेधावी वंदितव्वो, चउभगी, चउत्थे भगे कितिकम्मफल भवतीति, सेसएसु भयणा। तथा 'सजत' सम पावोवरत, तहा 'सुसमा-हित' सुट्ठु समाहित सुसमाहित णाणदसणचरणेसु समुज्जतमिति यावत्, को य सो एवभूत ? पचसमितो तिगुत्तो अट्ठहि पवयणमाताहि ठितो ।[2] मेधावी, सयत और सुसमाहित श्रमण की वन्दना करनी चाहिए। निम्नलिखित पाँच प्रकार के श्रमण अवन्द्य है - १ आजीवक, २ तापस, ३. परिव्राजक, ४ तच्चणिय, ५. बोटिक। इसी प्रकार पार्श्वस्थ आदि भी अवद्य है। चूर्णिकार स्वय लिखते है किं च, इमेवि पच ण वदियव्वा समणसद्देवि सति, जहा आजीवगा तावसा परिव्वायगा तच्चणिया वोडिया समणा वा इम सासण पडिवन्ना, ण य ते अन्नतित्थे ण य सतित्थे जे वि सतित्थे-

१ आवश्यकचूर्णि (उत्तरभाग), पृ० ९ २. पृ० १९-२०

न प्रतिज्ञामणुपालयन्ति ते वि पच पासत्थादी ण वदितव्वा ।[1] आगे आचार्य ने कुशीलससर्गत्याग, लिंग, ज्ञान-दर्शन-चारित्रवाद, आलबनवाद, वद्यवदकसबध, वद्यावद्यकाल, वदनसख्या, वदनदोष, वदनफल आदि का दृष्टान्तपूर्वक विचार किया है ।

प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन का विवेचन करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है प्रतिनिवृत्ति । प्रमाद के वश अपने स्थान (प्रतिज्ञा) से हट कर अन्यत्र जाने के बाद पुन अपने स्थान पर लौटने की जो क्रिया है वही प्रतिक्रमण है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं :[2]

स्वस्थानाद्यत्पर स्थान, प्रमादस्य वशाद् गत ।
तत्रैव क्रमण भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ।। १ ।।
क्षायोपशमिकाद्वापि, भावादौदयिक गतः ।
तत्रापि हि स एवार्थं, प्रतिकूलगमात् स्मृत ।। २ ।।

इसी प्रकार चूर्णिकार ने प्रतिक्रमण का स्वरूप समझाते हुए एक प्राकृत गाथा भी उद्धृत की है जिसमे बताया गया है कि शुभ योग में पुन प्रवर्तन करना प्रतिक्रमण है । वह गाथा इस प्रकार है :[3]

पति पति पवत्तण वा सुभेसु जोगेसु मोक्खफलदेसु ।
निस्सल्लस्स जतिस्सा ज तेण त पडिक्कमण ।। १ ।।

चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार की ही भाँति प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रातव्य—इन तीनो दृष्टियो से प्रतिक्रमण का व्याख्यान किया है । इसी प्रकार प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना का विवेचन करते हुए आचार्य ने तत्तद्विषयक कथानक भी दिये हैं । प्रतिक्रमण-सम्बन्धी सूत्र के पदो का अर्थ करते हुए कायिक, वाचिक और मानसिक अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकामशय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले दोषो का स्वरूप समझाया गया है । इसी प्रसग पर चार प्रकार की विकथा, चार प्रकार का ध्यान, पाँच प्रकार की क्रिया, पाँच प्रकार के कामगुण, पाँच प्रकार के महाव्रत, पाँच प्रकार की समिति, परिष्ठापना, प्रतिलेखना आदि का अनेक आख्यानो एव उद्धरणो के साथ प्रतिपादन किया गया है । एकादश उपासकप्रतिमाओ का स्वरूप समझाते हुए चूर्णिकार ने 'एत्थ कहवि अण्णोवि पाढो दीसति'[4] इन शब्दो के साथ पाठातर भी दिया है । इसी प्रकार द्वादश भिक्षु प्रतिमाओ का भी वर्णन किया गया है . तेरह क्रियास्थान, चौदह भूतग्राम

१. पृ० २०.   २. पृ० ५२.   ३. वही   ४ पृ० १२०

एव गुणस्थान, पद्रह परमाधार्मिक, सोलह अध्ययन (सूत्रकृत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन), सत्रह प्रकार का असयम, अठारह प्रकार का अब्रह्म, उत्क्षिप्तता आदि उन्नीस अध्ययन, बीस असमाधि-स्थान; इक्कीस शबल (अविशुद्ध चारित्र), बाईस परीषह, तेईस सूत्रकृत के अध्ययन (पुडरीक आदि), चौबीस देव, पचीस भावनाएँ, छब्वीस उद्देश (दशाश्रुतस्कन्ध के दस, कल्प—बृहत्कल्प के छः और व्यवहार के दस),[1] सत्ताईस अनगार-गुण, अट्ठाईस प्रकार का आचारकल्प, उनतीस पापश्रुत, तीस मोहनीय-स्थान, इकतीस सिद्धादिगुण, बत्तीस प्रकार का योगसग्रह आदि विषयो का प्रतिपादन करने के बाद आचार्य ने ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा—इन दो प्रकार की शिक्षाओ का उल्लेख किया है और बताया है कि आसेवनशिक्षा का वर्णन उसी प्रकार करना चाहिए जैसा कि ओघसामाचारी और पदविभागसामाचारी मे किया गया है . आसेवणसिक्खा जथा ओह-सामायारीए पयविभाफसामाचारीए य वण्णित ।[2] शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए अभयकुमार का विस्तृत वृत्त भी दिया गया है। इसी प्रसग पर चूर्णिकार ने श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनद, शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि से सबधित अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक आख्यानो का सग्रह किया है। अज्ञातोपधानता, अलोभता, तितिक्षा, आर्जव, शुचि, सम्यग्दर्शनविशुद्धि, समाधान, आचारोपगत्व, विनयोपगत्व, धृतिमति, सवेग, प्रणिधि, सुविधि, सवर, आत्मदोषोपसहार, प्रत्याख्यान, व्युत्सर्ग, अप्रमाद, ध्यान, वेदना, सग, प्रायश्चित्त, आराधना, आशातना, अस्वाध्यायिक, प्रत्युपेक्षणा आदि प्रतिक्रमणसम्बन्धी अन्य आवश्यक विषयो का दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन करते हुए प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन का व्याख्यान समाप्त किया है। आत्म-दोषोपसहार का वर्णन करते हुए व्रत की महत्ता बताने के लिए आचार्य ने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है जिसे यहाँ देना अप्रासगिक न होगा। वह श्लोक इस प्रकार है :[3]

वर प्रविष्ट ज्वलित हुताशन, न चापि भग्न चिरसचित व्रतम् ।
वर हि मृत्युः परिशुद्धकर्मणो, न शीलवृत्तस्खलितस्य जीवितम् ।। १ ।।

अर्थात् जलती हुई अग्नि मे प्रवेश कर लेना अच्छा है किन्तु चिरसचित व्रत को भग करना ठीक नही। विशुद्धकर्मशील होकर मर जाना अच्छा है किन्तु शील से स्खलित होकर जीना ठीक नही।

---

१ दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होंति छच्चेव ।
दस चेव य ववहारस्स होंति सव्वेवि छव्वीस ॥—पृ० १४८

२ पृ० १५७-८ ३ पृ० २०२

पंचम अध्ययन कायोत्सर्ग की व्याख्या के प्रारंभ में व्रणचिकित्सा (वण-तिगिच्छा) का प्रतिपादन किया गया है और कहा गया है कि व्रण दो प्रकार का होता है : द्रव्यव्रण और भावव्रण। द्रव्यव्रण की औषधादि से चिकित्सा होती है। भावव्रण अतिचाररूप है जिसकी चिकित्सा प्रायश्चित्त से होती है। यह प्रायश्चित्त दस प्रकार का है : आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक। चूर्णि का मूल पाठ इस प्रकार है : सो य वणो दुविधो—दव्वे भावे य, दव्ववणो ओसहादीहिं तिगिच्छिज्जति, भाववणो सामाचारिअतियारो तस्स पायच्छित्तेण तिगिच्छणा, एतेणावसरेण पायच्छित्तं परूविज्जति। वणतिगिच्छा अणुगता य, तं पायच्छित्तं दसविहं।[1] इस प्रकार के प्रायश्चित्तों का विस्तृत वर्णन जीतकल्प सूत्र में देखना चाहिए। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग दो पद हैं। काय का निक्षेप नाम आदि बारह प्रकार का है। उत्सर्ग का निक्षेप नाम आदि छः प्रकार का है। कायोत्सर्ग के दो भेद हैं : चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग। अभिभवकायोत्सर्ग हार कर अथवा दबकर किया जाता है। चेष्टाकायोत्सर्ग चेष्टा अर्थात् गमनादि प्रवृत्ति के कारण किया जाता है। हूणादि से पराजित होकर कायोत्सर्ग करना अभिभवकायोत्सर्ग है। गमनागमनादि के कारण जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह चेष्टाकायोत्सर्ग है : सो पुण काउस्सग्गो दुविधो-चेट्ठाकाउस्सग्गो य अभिभवकाउस्सग्गो य, अभिभवो णाम अभिभूतो वा परेण परं वा अभिभूय कुणति, परेणाभिभूतो, जधा हूणादीहिं अभिभूतो सव्वं सरीरादि वोसिरामित्ति काउस्सग्गं करेति, परं वा अभिभूय काउस्सग्गं करेति, जधा तित्थगरो देवमणुयादिणा अणुलोमपडिलोमकारिणो भयादी पंच अभिभूय काउस्सग्गं कातुं पतिन्नं पूरेति, चेट्ठाकाउस्सग्गो चेट्ठातो निप्फण्णो जधा गमणागमणादिसु काउस्सग्गो कीरति ....।[2] कायोत्सर्ग के प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो अथवा उच्छ्रित आदि नौ भेद भी होते हैं।[3] इन भेदों का वर्णन करने के बाद श्रुत, सिद्ध आदि की स्तुति का विवेचन किया गया है तथा क्षामणा की विधि पर प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि का वर्णन करते हुए पंचम अध्ययन का व्याख्यान समाप्त किया गया है।

षष्ठ अध्ययन प्रत्याख्यान की चूर्णि में प्रत्याख्यान के भेद, श्रावक के भेद, सम्यक्त्व के अतिचार, स्थूलप्राणातिपातविरमण और उसके अतिचार, स्थूलमृषावादविरमण और उसके अतिचार, स्थूलअदत्तादानविरमण और उसके अतिचार, स्वदारसंतोष और परदारप्रत्याख्यान एवं तत्सम्बन्धी अतिचार, परिग्रहपरिमाण एवं तद्विषयक अतिचार, तीन गुणव्रत और उनके अतिचार, चार शिक्षाव्रत और

१. पृ. २४६ २. पृ. २४८ ३. पृ. २४९

उनके अतिचार, दस प्रकार के प्रत्याख्यान, छ' प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण और आगार आदि का विविध उदाहरणो के साथ व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच मे यत्र-तत्र अनेक गाथाएँ एवं श्लोक भी उदघृत किये गये हैं। अन्त में प्रस्तुत सस्करण की प्रति के विपय मे लिखा गया है कि स० १७७४ में पं० दीपविजयगणि ने प० न्यायसागरगणि को आवश्यकचूर्णि प्रदान की स० १७७४ वर्षे पं० दीपविजयगणिना आवश्यकचूर्णि: प० श्रीन्यायसागरगणिभ्य. प्रदत्ता ।[1]

आवश्यकचूर्णि के इस परिचय से स्पष्ट है कि चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर ने अपनी प्रस्तुत कृति मे आवश्यकनियुंक्ति मे निर्दिष्ट सभी विपयो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा विवेचन की सरलता, सरसता एव स्पष्टता की दृष्टि से अनेक प्राचीन ऐतिहासिक एव पौराणिक आख्यान उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार विवेचन मे यत्र-तत्र अनेक गाथाओ एव श्लोको का समावेश भी किया है। यह सामग्री भारतीय सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।



१. पृ ३२५

पंचम प्रकरण

दशवैकालिकचूर्णि (जिनदासगणिकृत)

यह चूर्णि[1] भी निर्युक्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई है तथा द्रुम-पुष्पिका आदि दस अध्ययन एव दो चूलिकाएँ—इस प्रकार बारह अध्ययनो में विभक्त है। इसकी भाषा मुख्यतया प्राकृत है। प्रथम अध्ययन मे एकक, काल, द्रुम, धर्म आदि पदो का निक्षेप-पद्धति से विचार किया गया है तथा शय्यभववृत्त, दस प्रकार के श्रमणधर्म, अनुमान के विविध अवयव आदि का प्रतिपादनकिया गया है। सक्षेप में प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशसा का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन का मुख्य विषय धर्म मे स्थित व्यक्ति को धृति कराना है। चूर्णिकार इस अध्ययन की व्याख्या के प्रारम्भ मे ही कहते हैं कि 'अध्ययन' के चार अनु-योगद्वारो का व्याख्यान उसी प्रकार समझ लेना चाहिए जिस प्रकार आवश्यक-चूर्णि मे किया गया है।[2] इसके बाद श्रमण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पूर्व, काम, पद, शीलागसहस्र आदि पदो का सोदाहरण विवेचन किया गया है। तृतीय अध्ययन मे दृढधृतिक के आचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए महत्, क्षुल्लक, आचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, मिश्रकथा, अनाचीर्ण, सयतस्वरूप आदि का विचार किया गया है। चतुर्थ अध्ययन की चूर्णि में जीव, अजीव, चारित्र-धर्म, यतना, उपदेश, धर्मफल आदि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। पंचम अध्ययन की चूर्णि में साधु के उत्तरगुणो का विचार किया गया है जिसमे पिण्डस्वरूप, भक्तपानैषणा गमनविधि, गोचरविधि, पानकविधि, परिष्ठाप-नविधि, भोजनविधि, आलोचनविधि आदि विषयो पर प्रकाश डाला गया है। बीच-बीच में कही-कही पर मासाहार, मद्यपान आदि की चर्चा भी की गई है।[3] षष्ठ अध्ययन में धर्म, अर्थ, काम, व्रतषट्क, कायषट्क आदि का प्रतिपादन किया गया है। इस अध्ययन की चूर्णि मे आचार्य ने अपने सस्कृत व्याकरण के पाण्डित्य का भी अच्छा परिचय दिया है। सप्तम अध्ययन की चूर्णि मे भाषासम्बन्धी विवेचन है। इसमे भाषा की शुद्धि, अशुद्धि, सत्य, मृषा, सत्यमृषा-

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताबर सस्था, रतलाम, सन् १९३३.
२. दशवैकालिकचूर्णि, पृ. ७१. ३ वही, पृ. १८४, १८७, २०२, २०३.

असत्यमृषा आदि का विचार किया गया है। अष्टम अध्ययन की चूर्णि मे इन्द्रियादि प्रणिधियो का विवेचन किया गया है। नवम अध्ययन की चूर्णि में लोकोपचारविनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय, मोक्षविनय आदि की व्याख्या की गयी है। दशम अध्ययन मे भिक्षुसम्बन्धी गुणो पर प्रकाश डाला गया है। चूलिकाओ की चूर्णि मे रति, अरति, विहारविधि, गृहिवैयावृत्यनिषेध, अनिकेतवास आदि विषयो से सम्बन्धित विवेचन है। चूर्णिकार ने स्थान-स्थान पर अनेक ग्रन्थों के नामों का निर्देश भी किया है।[1]



१. तरगवती—पृ. १०६, ओघनियुंक्ति—पृ १७५, पिण्डनियुंक्ति—पृ. १७८ आदि।

षष्ठ प्रकरण

उत्तराध्ययनचूर्णि

यह चूर्णि[1] भी निर्युक्त्यनुसारी है तथा संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गई है। इसमें संयोग, पुद्गलबन्ध, संस्थान, विनय, क्रोधवारण, अनुशासन, परीषह, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थपंचक, भयसप्तक, ज्ञानक्रियैकान्त आदि विषयों पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। स्त्रीपरीषह का विवेचन करते हुए आचार्य ने नारी-स्वभाव की कड़ी आलोचना की है और इस प्रसंग पर निम्नलिखित दो श्लोक भी उद्धृत किये हैं:

एता हसन्ति च रुदन्ति च अर्थहेतोर्विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ १ ॥
समुद्रवीचीचपलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालक्त (क) वत् त्यजन्ति ॥ २ ॥

—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ६५.

हरिकेशीय अध्ययन की चूर्णि में आचार्य ने अब्राह्मण के लिए निषिद्ध बातों की ओर निर्देश करते हुए शूद्र के लिए निम्न श्लोक उद्धृत किया है:

न शूद्राय बलिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविः कृतम्।
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥

—वही, पृ. २०५

चूर्णिकार ने चूर्णि के अन्त में अपना परिचय देते हुए स्वयं को वाणिज्य-कुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखी गोपालगणिमहत्तर का शिष्य बताया है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:

वाणिजकुलसंभूओ कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खाओ आसि लोगंमि ॥ १ ॥
ससमयपरसमयविऊ, ओयस्सी दित्तिमं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पिओ आसी ॥ २ ॥
तेसिं सीसेण इमं, उत्तरज्झयणाण चुण्णिखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं, सीसाणं मंदबुद्धीण ॥ ३ ॥

---

1. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९३३.

ज एत्थ उस्सुत्त, अयाणमाणेण विरतित होज्जा।
त अणुओगधरा मे, अणचितेउ समारेतु ॥ ४ ॥

—वही, पृ. २८३.

दशवैकालिकचूर्णि भी नि सन्देह उन्ही आचार्य की कृति है जिनकी उत्तरा-ध्ययनचूर्णि है इतना ही नही, दशवैकालिकचूर्णि उत्तराध्ययनचूर्णि से पहले लिखी गई है। इसका प्रमाण उत्तराध्ययनचूर्णि मे मिलता है जो इस प्रकार है: षष्ठोपि चित्तो नानाप्रकारो प्रकीर्णतपोभिधीयते, तदन्यत्राभिहित, शेषं दशवैकालिकचूर्णौ अभिहित ।[1] यहां आचार्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रकीर्णतप के विषय मे अन्यत्र कह दिया गया है और शेष दशवैकालिकचूर्णि मे कह दिया गया है। जिस स्वर मे आचार्य ने यह लिखा है कि इसके विषय में अन्यत्र कह दिया गया है उसी स्वर मे उन्होने यह भी लिखा है कि शेष दश-वैकालिकचूर्णि मे कह दिया गया है। इस स्वरसाम्य को देखते हुए यह कथन अनुपयुक्त नही कि उत्तराध्ययन और दशवैकालिक की चूर्णियाँ एक ही आचार्य की कृतियाँ है तथा दशवैकालिकचूर्णि की रचना उत्तराध्ययनचूर्णि से पूर्व की है।



१. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० २७४

सप्तम प्रकरण

आचारांगचूर्णि

इस चूर्णि में प्राय: उन्हीं विषयों का विवेचन है जो आचारांग-निर्युक्ति में है। निर्युक्ति की गाथाओं के आधार पर ही यह चूर्णि लिखी गई है अत ऐसा होना स्वाभाविक है। इसमें वर्णित विषयों में से कुछ के नामों का निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा। प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूर्णि में मुख्यरूप से निम्न विषयों का व्याख्यान किया गया है अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी आदि काय, लोक, विजय, गुणस्थान, परिताप, विहार, रति, अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, ज्ञाति, जातिस्मरण, एषणा, देशना, बन्ध-मोक्ष, शीतोष्णादि परीषह, तत्त्वार्थश्रद्धा, जीवरक्षा, अचेलत्व, मरण, संलेखना, समनोज्ञत्व, यामत्रय, त्रिवस्त्रता, वीरदीक्षा, देवदूष्य, सवस्त्रता। चूर्णिकार ने भी निक्षेपपद्धति का ही आधार लिया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने मुख्यरूप से निम्न विषयों का विवेचन किया है अग्र, प्राणसंसक्त, पिण्डैषणा, शय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्र, पात्र, अवग्रहसप्तक सप्तसप्तक, भावना, विमुक्ति। चूंकि आचारांगसूत्र का मूल प्रयोजन श्रमणों के आचार-विचार की प्रतिष्ठा करना है अत: प्रत्येक विषय का प्रतिपादन इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए किया गया है।

प्राकृतप्रधान प्रस्तुत चूर्णि में यत्र-तत्र संस्कृत के श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। इनके मूल स्थल की खोज न करते हुए उदाहरण के रूप में कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। आगम के प्रामाण्य की पुष्टि के लिए निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है:

> जिनेन्द्रवचनं सूक्ष्महेतुभिर्यदि गृह्यते।
> आज्ञया तद्ग्रहीतव्यं, नान्यथावादिनो जिना: ॥

—आचारांगचूर्णि, पृ० २०.

स्वजन से भी धन अधिक प्यारा होता है, इसका समर्थन करते हुए कहा गया है

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रतलाम, सन् १९४१.

प्राणैः प्रियतरा. पुत्रा, पुत्रैः प्रियतर धनम् ।
स तस्य हरते प्राणान्, यो यस्य हरते धनम् ॥

—वही, पृ० ५५.

अपरिग्रह की प्रशसा करते हुए कहा गया है :

तस्मै धर्मभृते देय, यस्य नास्ति परिग्रहः ।
परिग्रहे तु ये सक्ता, न ते तारयितु क्षमाः ॥

—वही, पृ० ५९

कामभोग से व्यक्ति कभी तृप्त नही होता, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है :

नाग्निस्तुष्यति काष्ठाना, नापगाना महोदधिः ।
नान्तकृत्सर्वभूताना, न पुसा वामलोचना ॥

—वही, पृ० ७५

साधु को किसी वस्तु की लाभ—प्राप्ति होने पर मद नही करना चाहिए तथा अलाभ—अप्राप्ति होने पर खेद नही करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है -

लभ्यते लभ्यते साधु, साधु एव न लभ्यते ।
अलब्धे तपसो वृद्धिर्लब्धे देहस्य धारणा ॥

—पृ० ८१

इसी प्रकार स्थान-स्थान पर प्राकृत गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। इन उद्धरणो से विषय विशेष-रूप से स्पष्ट होता है एव पाठक तथा श्रोता की रुचि में वृद्धि होती है।



अष्टम प्रकरण

सूत्रकृतांगचूर्णि

इस चूर्णि[1] की शैली भी वही है जो आचारागचूर्णि की है। इसमे निम्न विषयो पर प्रकाश डाला गया है : मगलचर्चा, तीर्थसिद्धि, सघात, विस्रसाकरण, बन्धनादिपरिणाम, भेदादिपरिणाम, क्षेत्रादिकरण, आलोचना, परिग्रह, ममता, पचमहाभूतिक, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकात्मवाद, स्कन्धवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, कर्तृवाद, त्रिराशिवाद, लोकविचार, प्रतिजुगुप्सा (गोमास, मद्य, लसुन, पलाडु आदि के प्रति अरुचि), वस्त्रादिप्रलोभन, शूरविचार, महावीर-गुण, महावीरगुणस्तुति, कुशीलता, सुशीलता, वीर्यनिरूपण, समाधि, दानविचार, समवसरणविचार, वैनयिकवाद, नास्तिकमतचर्चा, साख्यमतचर्चा, ईश्वरकर्तृत्वचर्चा, नियतिवादचर्चा, भिक्षुवर्णन, आहारचर्चा, वनस्पतिभेद, पृथ्वीकायादिभेद, स्याद्वाद, आजीविकमतनिरास, गोशालकमतनिरास, बौद्धमतनिरास, जातिवाद-निरास इत्यादि।

प्रस्तुत चूर्णि सस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गई है। इतना ही नही, चूर्णि को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे प्राकृत से भी सस्कृत का प्रयोग अधिक मात्रा में है। नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं जिन्हे देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसमे प्राकृत का कितना अश है व सस्कृत का कितना ?

'एतदि' ति यदुक्तमुच्यते वा सार विद्धीति वाक्यशेष', यत्कि ? उच्यते, जे ण हिंसति किंचण, किंचिदिति त्रस स्थावर वा, अहिंसा हि ज्ञानगतस्य फल, तथा चाह योऽधीत्य शास्त्रमखिल एव खु णाणिणो सार——।'

—सूत्रकृतागचूर्णि, पृ० ६२.

बिउट्ठितो णाम विच्युतो, यथा व्युत्थितोऽस्य विभव', सपत् व्युत्थिता:, सयमप्रतिपन्न इत्यर्थ:, पार्श्वस्थादीनामन्यतमेन वा क्वचिन्प्र-मादान्च कार्येण वा त्वरित गच्छन् जहा तुज्झ ण——?

—वही, पृ० २८८

लोगेवि भण्णइ—छिण्णसोता न दिंति, सुटठु सजुत्ते सुसजुत्ते, सुटठु समिए सुसमिए, समभाव: सामायिक सो भणई—सुट्ठु सामाइए सुसा-

---

१. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९४१.

माइए, आतवापत्तेविऊत्ति अप्पणो वादो अत्तए वादो २ यथा–अस्त्यात्मा नित्यः अमूर्त्तः कर्त्ता भोक्ता उपयोगलक्षणो य एवमादि आसप्पवादो—।'

—वही, पृ० ३०७

अहावरे चउत्थे (सू० ५) णितिया जाव जहा जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए, कयरे ते धम्मे ? णितियावादे, इह खलु दुवे पुरिसजाता एगे पुरिसे किरिया-मक्खति, किरिया कर्म परिस्पन्द इत्यर्थः, कस्यासौ किरिया ? पुरुषस्य, पुरुष एव गमनादिपु क्रियासु स्वतो अनुसन्धाय प्रवर्त्तते, एव भणित्तापि ते दोवि पुरिसा तुल्ला णियतिवसेण, तत्र नियतिवादी आत्मीय दर्शन समर्थ-यन्निदमाह—यः खलु मन्यते 'अह करोमि' इति असावपि नियत्या एव कार्यते अह करोमीति——?

—वही, पृ० ३२२-३.



नवम प्रकरण

जीतकल्प-बृहच्चूर्णि

प्रस्तुत चूर्णि[1] सिद्धसेनसूरि की कृति है। इस चूर्णि के अतिरिक्त जीतकल्प सूत्र पर एक और चूर्णि लिखी गई है, ऐसा प्रस्तुत चूर्णि के अध्ययन से ज्ञात होता[2] है। यह चूर्णि अथ से इति तक प्राकृत मे है। इसमे एक भी वाक्य ऐसा नही है जिसमे सस्कृत शब्द का प्रयोग हुआ हो। प्रारभ मे आचार्य ने ग्यारह गाथाओ द्वारा भगवान् महावीर, एकादश गणधर, अन्य विशिष्ट ज्ञानी तथा सूत्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण–इन सबको नमस्कार किया है। ग्रथ मे यत्र-तत्र अनेक गाथाए उद्धृत की गई हैं। इन गाथाओ को उद्धृत करते समय आचार्य ने किसी ग्रथ आदि का निर्देश न करके 'त जहा भणिय च', 'सो—इमो' इत्यादि वाक्यो का प्रयोग किया है।[3] इसी प्रकार अनेक गद्याश भी उद्धृत किये गये हैं।

जीतकल्पचूर्णि मे भी उन्ही विषयो का सक्षिप्त गद्यात्मक व्याख्यान है जिनका जीतकल्पभाष्य मे विस्तार से विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार का स्वरूप समझाया गया है। जीत का अर्थ इस प्रकार किया गया है - जीय ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्ज ति वा एयट्ठ। जीवेइ वा तिविहे वि काले तेण जीयं।[4] इसी प्रकार चूर्णिकार ने दस प्रकार के प्रायश्चित्त, नौ प्रकार के व्यवहार, मूलगुण, उत्तरगुण आदि का विवेचन किया है। अन्त मे पुनः सूत्रकार जिनभद्र को नमस्कार करते हुए निम्न गाथाओ के साथ चूर्णि समाप्त की है :[5]

इति जेण जीयदाण साहूणऽइयारपकपरिसुद्धिकर।
गाहाहि फुड रइय महुरपयत्थाहि पावण परमहिय॥
जिणभद्दखमासमण निच्छियसुत्तत्थदायगामलचरण।
तमहं वदे पयओ परम परमोवगारकारिणमहग्घ॥



१. विषमपदव्याख्यालकृत सिद्धसेनगणिसन्दृब्ध बृहच्चूर्णिसमन्वित जीतकल्पसूत्र–सपादक :—मुनि जिनविजय, प्रकाशक :—जैन साहित्य सशोधक समिति अहमदाबाद, सन् १९२६

२. अहवा बितियचुन्निकाराभिपाएण चत्तारि—जीतकल्पचूर्णि, पृ० २३.

३. वही, पृ० ३,४,२१ ४. वही, पृ० ४. ५. वही, पृ० ३०.

दशम प्रकरण

दशवैकालिकचूर्णि (अगस्त्यसिंहकृत)

यह चूर्णि[1] जिनदासगणि की कही जानेवाली दशवैकालिकचूर्णि से भिन्न है। इसके लेखक हैं वज्रस्वामी की शाखा—परंपरा के एक स्थविर श्री अगस्त्य सिंह। यह प्राकृत में है। भाषा सरल एवं शैली सुगम है। इसकी व्याख्यानशैली के कुछ नमूने यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। आदि, मध्य और अन्त्य मंगल की उपयोगिता बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं :

आदिमंगलेण आरम्भप्पभिति णिव्विसाया सत्थ पडिवज्जति, मज्झमंगलेण अव्वासगेण पारं गच्छति, अवसाणमंगलेण सिस्स-पसिस्स-सताणे पडिवाएति। इमं पुण सत्थं संसारविच्छेयकरं ति सव्वमेव मंगलं तहावि विसेसो दरिसिज्जति—आदि मंगलमिह 'धम्मो मंगलमुक्कट्ठं' (अध्य० १, गा० १) धारेति संसारे पडमाणमिति धम्मो, एतं च परमं समस्सासकारणं ति मंगलं। मज्झे धम्मत्थकामपढमसुत्तं 'णाणदसणसंपण्णं संजमे य तवे रयं' (अध्य० ६, गा० १), एवं सो चेव धम्मो विसेसिज्जति, यथा—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्त्वा० अ० १-१) इति। अवसाणे आदिमज्झदिट्ठविसेसियस्स फलं दरिसिज्जति 'छिंदित्तु जातीमरणस्स बधणं उवेति भिक्खू अपुणागमं गतिं' (अध्य० १०, गा० २१), एवं सफलं सकलं सत्थं ति।—[2]

दशकालिक, दशवैकालिक अथवा दशवैतालिक की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है :

'दशकं अज्झयणाणं कालियं निरुत्तेण विहिणा ककारलोपे कृते दसकालियं। अहवा वेकालियं, मंगलत्थं पुव्वण्हे सत्थारंभो भवति, भगवया पुण अज्जसेज्जवेण कहंमवि अवरण्हकाले उवयोगो कतो, काला-

---

१. प्रस्तुत चूर्णि की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई अतः लेखक मुनि श्री का अत्यन्त आभारी है। यह प्रति जैसलमेर ज्ञानभंडार से प्राप्त प्राचीन प्रति की प्रतिलिपि है।

२. पृ० २.

[क]तवायविग्घपरिहारिणा य निज्जूढमेव, अतो विगते काले विकाले [द]सकमज्झयणाण कतमिति दसवेकालियं। चउपोरिसितो सज्झायकाले [त]म्मि विगते वि पढिज्जतीति विगयकालियं दसवेकालियं। दसम वा [वे]तालियो पजाति वृत्तेहि णियमितमज्झयणमिति दसवेतालिय।[1]

षड्जीवनिका नामक चतुर्थ अध्ययन के अर्थाधिकार का विचार करते हुए [चू]र्णिकार कहते हैं :

जीवाजीवाहिगमो गाहा।[2] पढमो जीवाहिगमो, अहिगमो—परि[ण्णा]णाण १ ततो अजीवाधिगमो २ चरित्तधम्मो ३ जयणा ४ उवएसो ५ धम्मफल। तस्स चत्तारि अणुओगद्दारा जहा आवस्सए। नामनिप्फण्णो भण्णति—[3]

दशवैकालिक के अंत की दो चूलाओ—रतिवाक्यचूला और विविक्तचर्या-चूला की रचना का प्रयोजन बताते हुए आचार्य कहते हैं :

धम्मे धितिमतो खुड्डियायारोवत्थितस्स विदित्तछक्कायवित्थरस्स एसणीयादिधारितसरीरस्स समत्तायारावत्थितस्स वयणविभागकुसलस्स सुप्पणिहितजोगजुत्तस्स विणीयस्स दसमज्झयणोपवण्णितगुणस्स समत्त-सकलभिक्खुभावस्स विसेसेण थिरीकरणत्थ विवित्तचरियोवदेसत्थ च उत्तरत तमुपदिट्ठ चूलितादुत रतिवक्क विवित्तचरिया चूलिता य। तत्थ धम्मे थिरीकरणत्था रतिवक्कणामधेया पढमचूला भणिता। इदाणि विवित्त-चरियोवदेसत्था बितिया चूला भाणितव्वा।[4]

अन्त में चूर्णिकार ने अपनी शाखा का नाम, अपने गुरु का नाम तथा अपना खुद का नाम बताते हुए निम्न गाथाएँ लिखकर चूर्णि की पूर्णाहुति की है :

वीरवरस्स भगवतो तित्थे कोडीगणे सुविपुलम्मि।
गुणगणवइराभस्सा वेरसामिस्स साहाए॥ १॥
महरिसिसरिससभावा भावाऽभावाण मुणितपरमत्था।
रिसिगुत्तखमासमणो खमासमाण निधी आसि॥ २॥

---

१ पृ० ७–८.
२ निर्युक्तिगाथा—जीवाजीवाहिगमो चरित्तधम्मो तदेव जयणा य।
उवएसो धम्मफल छज्जीवणियाइ अहिगारा॥
३. पृ० १४६–७ ४ पृ० २९७

तेसिं सोसेण इमा कलसभवमइदणामधेज्जेण ।
दसकालियस्स चुण्णी पयाणरयणातो उवण्णत्था ॥ ३ ॥
रुयिरपदसंधिणियता छड्डियपुणरुत्तवित्थरपसगा ।
वक्खाणमंतरेणावि सिस्समतिबोधणसमत्था ॥ ४ ॥
ससमयपरसमयणयाण ज च ण समाधित पमादेण ।
तं खमह पसाहेह य इय विण्णत्ती पवयणीण ॥ ५ ॥

चूर्णिकार का नाम कलशभवमृगेन्द्र अर्थात् अगस्त्यसिंह है। कलश का अर्थ है कुंभ, भव का अर्थ है उत्पन्न और मृगेन्द्र का अर्थ है सिंह। कलशभव का अर्थ हुआ कुभ से उत्पन्न होनेवाला अगस्त्य। अगस्त्य के साथ सिंह जोड देने से अगस्त्यसिंह बन जाता है। अगस्त्यसिंह के गुरु का नाम ऋषिगुप्त है। ये कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के है।

प्रस्तुत प्रति के अन्त मे कुछ सस्कृत श्लोक है जिनमे मूल प्रति का लेखन कार्य सम्पन्न कराने वाले के रूप मे शान्तिमति के नाम का उल्लेख है:

सम्यक् शान्तिमतिर्व्यलेखयदिद मोक्षाय सत्पुस्तकम् ।

प्रस्तुत चूर्णि के मूल सूत्रपाठ, जिनदासगणिकृत चूर्णि के मूल सूत्रपाठ तथा हरिभद्रकृत टीका के मूल सूत्रपाठ इन तीनो मे कहीं-कहीं थोडा-सा अन्तर है। नीचे इनके कुछ नमूने दिये जाते है जिनसे यह अन्तर समझ में आ सकेगा। यही बात अन्य सूत्रों के व्याख्याग्रन्थो के विषय मे भी कही जा सकती है। दशवैकालिक-सूत्र की गाथाओ[1] के अन्तर के कुछ नमूने इस प्रकार है:

अध्ययन	गाथा	अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि	जिनदासकृत चूर्णि	हरिभद्रकृत चूर्णि
१	३	मुक्का	मुत्ता	मुत्ता
१	३	साहवो	साहुणो	साहुणो
१	४	अहागडेहिं	अहाकडेसु	अहागडेसु
		पुप्फेहिं	पुप्फेहिं	पुप्फेसु
२	१	कह णु कुज्जा	कतिहं कुज्जा	कह णु कुज्जा
		कतिह कुज्जा(पाठान्तर)	कयाह कुज्जा (पाठा.)	कतिह कुज्जा (पा.)
		कयाह कुज्जा (,,)	कह णु कुज्जा (,,)	कयाह कुज्जा (,,)
		कहं सकुज्जा (,,)		कथमह (कहह)

१. गाथा-संख्या का आधार मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा तैयार की गई दशवैकालिक की हस्तलिखित प्रति है।

२	५	छिंदाहि राग	छिंदाहि दोस	छिदाहि दोस
२	५	विणए हि दोसं	विणएज्ज राग	विणएज्ज राग
३	३	सपुच्छण सपुच्छगो (पाठा)	सपुच्छणा	सपुच्छण
३	१५	खवेत्तु	खवेत्ता	खवेत्ता
४	४	चित्तमतमक्खा (पाठा)	चित्तमत्ता अक्खा (पाठा)	चित्तमत्तमक्खा (पाठा)
४	१०	इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकायेहि	इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकायेहि	इच्चेसि छण्ह जीवनिकायाण
५ (प्र.उ)	५	पाण-भूते य	पाण-भूते य	पाणि-भूयाइ
५ (,)	१३	अणातिले	अणाउले	अणाउले
५ (,,)	१३	जहाभाग	जहाभाव	जहाभाग
५ (,,)	१५	पाणियकम्मत	दगभवणाणि य	दगभवणाणि य
५ (,,)	२७	इच्छेज्जा	इच्छेज्जा	गेण्हेज्जा
५ (द्वि.उ)	२४	धारए	धारए	धावए
७	१२	आयारभावदोसेण	गाया नही	आयारभावदोसन्न्
७	२२	गाथा नही	गाया है	गाया नही
७	२३	गाथा नही	गाया है	गाया नही
८	३	भवियव्व	होयव्वय	?
९ (प्र उ)	१	चिट्ठे	चिट्ठे	सिक्खे चिट्ठे(पाठा.)
९ (द्वि.उ)	१	साला	साला	साहा
९ (तृ उ)	१५	धुणिय	धुणिय	विहुय
९ (च उ)	११	आरुहतिएहिं	आरहतेहिं	आरहतेहिं
१०	४	दग	दग	तण
१०	१९	विवज्जयित्ता	विगिंच धोर ।	विवज्जयित्ता
१ चूलिका	१४	कुसील	सकुसील	कुसिला
१ ,,	१९	ण प्पचलेंति	णो पयलेंति	न प्पचलेंति
२ ,,	३	निप्फेडो	निग्घाडो	उत्तारो
२ ,,	४	एव	एव	तम्हा

निर्युक्तिगाथाओ की तो और भी विचित्र स्थिति है। निर्युक्ति की ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो हरिभद्र की टीका मे तो हैं किन्तु चूर्णियो मे नही मिलती । हा, इनमे कुछ गाथाएँ ऐसी अवश्य हैं जिनका चूर्णियो में अर्थ अथवा आशय दे दिया गया है किन्तु जिन्हें गाथाओ के रूप मे उद्धृत नही किया गया है ।

दूसरी बात यह है कि चूर्णियों मे अधिकाश गाथाए पूरी की पूरी नही दी जाती हैं अपितु प्रारम्भ के कुछ शब्द उद्धृत कर केवल उनका निर्देश कर दिया जाता है। कुछ ही गाथाए ऐसी होती हैं जो पूरी उद्धृत की जाती हैं। हम यहा हरिभद्र की टीका मे उपलब्ध कुछ निर्युक्ति-गाथाएँ[1] उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि उनमे से कौनसी दोनो चूर्णियो मे पूरी की पूरी हैं; कौन-सी अपूर्ण अर्थात् सक्षिप्तरूप में हैं, किनका अर्थ-रूप से निर्देश किया गया है और किनका बिलकुल उल्लेख नही है ?

सिद्धिगइमुवगयाण कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं।
नमिऊण दसकालियणिज्जुत्ति कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

यह गाथा न तो जिनदासगणि की चूर्णि मे है, न अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि में। इनमे इसका अर्थ अथवा सक्षिप्त उल्लेख भी नही है।

अपुहुत्तपुहुत्ताइ निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुजोगेण तस्स दारा इमे होंति ॥ ४ ॥

इस गाथा का अर्थ तो दोनो चूर्णियों मे है किन्तु पूरी अथवा अपूर्ण गाथा एक मे भी नही है।

णाम ठवणा दविए माउयपयसगहेक्कए चेव।
पज्जवभावे य तहा सत्तेए एक्कगा होंति ॥ ८ ॥

यह गाथा दोनो चूर्णियो मे पूरी की पूरी उद्धृत की गई है। यह इन चूर्णियो की प्रथम निर्युक्ति-गाथा है जो हारिभद्रीय टीका की आठवी निर्युक्ति-गाथा है।

दव्वे अद्ध अहाउअ उवक्कमे देसकालकाले य।
तह य पमाणे वण्णे भावे पगयं तु भावेणं ॥ ११ ॥

यह गाथा भी दोनो चूर्णियों मे इसी प्रकार उपलब्ध है।

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥ १६ ॥

यह गाथा दोनो चूर्णियो में संक्षिप्तरूप से निर्दिष्ट है, पूर्णरूप में उद्धृत नही।

दुविहो लोगुत्तरिओ सुअधम्मो खलु चरित्तधम्मो अ।
सुअधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥ ४३ ॥

---

१. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, ग्रंथाक ४७.

यह गाथा अर्थरूप से तो दोनो ही चूर्णियो में है किन्तु गाथारूप से अधूरी या पूरी एक में भी नही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनो चूर्णिकारो और टीकाकार हरिभद्र ने निर्युक्ति-गाथाएँ समानरूप से उद्धृत नही की हैं। दोनो चूर्णिकारो में एतद्विषयक काफी समानता है, जबकि हरिभद्रसूरि इन दोनो से इस विषय में बहुत भिन्न हैं। इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने के लिए विशेष अनुशीलन की आवश्यकता है।



एकादश प्रकरण

निशीथ-विशेषचूर्णि

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि[1] मूल सूत्र, नियुक्ति एव भाष्यगाथाओ के विवेचन के रूप मे है। इसकी भाषा अल्प सस्कृतमिश्रित प्राकृत है। प्रारभ मे पीठिका है जिसमें निशीथ को भूमिका के रूप मे तत्सम्बद्ध आवश्यक विषयो का व्याख्यान किया गया है। सर्वप्रथम चूर्णिकार ने अरिहतादि को नमस्कार किया है तथा निशीथचूला के व्याख्यान का सम्बन्ध बताया है :

नमिऊणऽरहताण, सिद्धाण य कम्मचक्कमुक्काण।
सयणसिनेहविमुक्काण, सव्वसाहूण भावेण ॥ १ ॥
सविसेसायरजुत्त, काउ पणाम च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स, चरण-करणाणुपालस्स ॥ २ ॥
एव कयप्पणामो, पकप्पणामस्स विवरणं वन्ने।
पुव्वायरियकय चिय, अह पि त चेव उ विसेसा ॥ ३ ॥
भणिया विमुत्तिचूला, अहुणावसरो णिसीहचूलाए।
को सबधो तस्सा, भण्णइ इणमा णिसामेहि ॥ ४ ॥

इन गाथाओ में अरिहत, सिद्ध और साधुओ को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है तथा प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को अर्थदाता के रूप में विशेष नमस्कार किया गया है। निशीथ का दूसरा नाम प्रकल्प भी बताया गया है।

पीठिका :

प्रारभ मे चूलाओं का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि चूला छ. प्रकार की होती है। उसका वर्णन जिस प्रकार दशवैकालिक मे किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी कर लेना चाहिए ?[2] इससे सिद्ध होता है कि निशीथचूर्णि दशवैकालिकचूर्णि के बाद लिखी गई है। इसके बाद आचार का स्वरूप बताते

---

१ सम्पादक—उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी व मुनि श्री कन्हैयालालजी, प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामडी, आगरा, सन् १९५७–१९६०. निशीथ : एक अध्ययन—प० दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५९.

२ सा य छव्विहा—जहा दसवेयालिए भणिया तहा भाणियव्वा।

—प्रथम भाग, पृ० ४

हुए आचार्य ने आचारादि पाँच वस्तुओं की ओर निर्देश किया है : आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका और निशीथ।[1] इन सब का निक्षेप-पद्धति से विचार करते हुए निशीथ का अर्थ इस प्रकार बताया है : निशीथ इति कोऽर्थं। निशीथ-सद्दपट्ठीकरणत्थ वा भण्णति—

ज होति अप्पगास त तु णिसीहति लोगससिद्ध।
ज अप्पगासधम्म, अण्ण पि तय निसीध ति ॥

जमिति अणिदिट्ठ। होति भवति। अप्पगासमिति अधकार। जकारणिद्देसे तगारो होइ। सद्दस्स अवहारणत्थे तुगारो। अप्पगासवयणस्स णिण्णयत्थे णिसीहति। लोगे वि सिद्ध णिसीह अप्पगास। जहा कोइ पावासिओ पओसे आगओ, परेण बितिए दिणे पुच्छिओ 'कल्ले क वेलमागओ सि? भणति 'णिसीहे त्ति रात्रावित्यर्थः'।[2] निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अधकार। अप्रकाशित वचनो के निर्णय के लिए निशीथसूत्र है। लोक में भी निशीथ का प्रयोग रात्रि—अधकार के लिए होता है इसी प्रकार निशीथ के कर्मपकनिपदन आदि अन्य अर्थ भी किये गये है। भावपक का निषदन तीन प्रकार का होता है : क्षय, उपशम और क्षयोपशम। जिसके द्वारा अष्टविध कर्मपक शान्त किया जाए वह निशीथ है।[3]

आचार का विशेष विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने नियुक्ति-गाथा को भद्रबाहुस्वामिकृत बताया है।[4] इस गाथा मे चार प्रकार के पुरुष-प्रतिसेवक बताये गये हैं जो उत्कृष्ट, मध्यम अथवा जघन्य कोटि के होते हैं। इन पुरुषो का विविध भगो के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार स्त्री और नपुसक-प्रतिसेवको का भी स्वरूप बताया गया है। यह सब निशीथ के व्याख्यान के बाद किये गये आचारविषयक प्रायश्चित्त के विवेचन के अन्तर्गत है। प्रतिसेवक का वर्णन समाप्त करने के बाद प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य का स्वरूप समझाया गया है। प्रतिसेवना के स्वरूपवर्णन मे अप्रमादप्रतिसेवना, सहसात्करण, प्रमादप्रतिसेवना, क्रोधादि कषाय, विराधनात्रिक, विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का प्रतिपादन किया गया है। निद्रा-सेवन की मर्यादा की ओर निर्देश करते हुए चूर्णिकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमे यह बताया गया है कि आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा और आक्रोश—ये पाँचो सेवन करते रहने से बराबर बढते जाते है।[5]

---

१. भाष्यगाथा ३ २. पृ ३४. ३ पृ. ३४–५.
४ एसा भद्दबाहुसामि-कता गाहा—पृ ३८. ५ पृ ५४

पञ्च वर्द्धन्ति कौन्तेय ! सेव्यमानानि नित्यशः ।
आलस्य मैथुन निद्रा, क्षुधाऽऽक्रोशश्च पञ्चमः ॥

स्त्यानर्द्धि निद्रा का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि जिसमें चित्त थीण अर्थात् स्त्यान हो जाए—कठिन हो जाए—जम जाए वह स्त्यानर्द्धि निद्रा है। इस निद्रा का कारण अत्यन्त दर्शनावरण कर्म का उदय है: इद्ध चित्तं तं थीण जस्स अच्चतदरिसणावरणावरणकम्मोदया सो थीणद्धी भण्णति। तेण य थीणेण ण सो किंचि उवलभति।[1] स्त्यानर्द्धि का स्वरूप विशेष स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने चार प्रकार के उदाहरण दिये हैं: पुद्गल, मोदक, कुम्भकार और हस्तिदत। तेजस्काय आदि की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने 'अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्या करोति, एतेषा सिद्धसेनाचार्यो व्याख्या करोति, इमा पुण सागणिय-णिक्खितदाराण दोण्ह वि भद्दबाहुसामिकता प्रायश्चित्तव्याख्यानगाथा, एयस्स इमा भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा' आदि शब्दो के साथ भद्रबाहु और सिद्धसेन के नामो का अनेक बार उल्लेख किया है।[2] पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-सम्बन्धी यतनाओ, दोषो, अपवादो और प्रायश्चित्तो का प्रस्तुत पीठिका में अति विस्तृत विवेचन किया गया है। खान, पान, वसति, वस्त्र, हलन, चलन, शयन, भ्रमण, भाषण, गमन, आगमन आदि सभी आवश्यक क्रियाओ के विषय मे आचारशास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म विचार किया गया है।

प्राणातिपात आदि का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने मृषावाद के लौकिक और लोकोत्तर—इन दो भेदो का वर्णन किया है तथा लौकिक मृषावाद के अन्तर्गत मायोपधि का स्वरूप बताते हुए चार धूर्तो की कथा दी है। इस धूर्ताख्यान के चार मुख्य पात्रो के नाम है शशक, एलाषाढ, मूलदेव और खडपाणा।[3] इस आख्यान का सार भाष्यकार ने निम्नलिखित तीन गाथाओ मे दिया है

सस-एलासाढ मूलदेव खडा य जुण्णउज्जाणे।
सामत्थणे को भत्त, अक्खात जो ण सद्दहति ॥२९४॥

चोरभया गावीओ, पोट्टलए बधिऊण आणेमि।
तिलअइरूढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा ॥२९५॥

वणगयपाटण कुडिय, छम्मासा हत्थिलग्गणं पुच्छे।
रायरयग मो वादे, जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था ॥२९६॥

---

१ पृ. ५५ २ पृ. ७५, ७६ आदि ३ पृ १०२

चूर्णिकार ने इन गाथाओ के आधार पर सक्षेप में धूर्तकथा देते हुए लिखा है कि शेष बातें धुत्तक्खाणग (धूर्ताख्यान) के अनुसार समझ लेनी चाहिए : सेस धुत्तक्खाणगानुसारेण णेयमिति ।[1] यहाँ तक लौकिक मृषावाद का अधिकार है । इसके बाद लोकोत्तर मृषावाद का वर्णन है । इसी प्रकार अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रिभोजन आदि का वर्णन किया गया है । यह वर्णन मुख्यरूप से दो भागो में विभाजित है । इनमे से प्रथम भाग दर्पिकासम्बन्धी है, दूसरा भाग कल्पिकासम्बन्धी । दर्पिकासम्बन्धी भाग में तत्तद्विषयक दोषो का निरूपण करते हुए उनके सेवन का निषेध किया गया है जबकि कल्पिकासम्बन्धी भाग मे तत्तद्विषयक अपवादो का वर्णन करते हुए उनके सेवन का विधान किया गया है । ये सब मूलगुणप्रतिसेवना से सम्बद्ध हैं । इसी प्रकार आचार्य ने उत्तरगुणप्रतिसेवना का भी विस्तार से व्याख्यान किया है । उत्तरगुण पिण्डविशुद्धि आदि अनेक प्रकार के है । इनका भी दर्पिका और कल्पिका के भेद से विचार किया गया है । जैसाकि चूर्णिकार कहते है गता या मूलगुण-पडिसेवणा इति । इदाणि उत्तरगुणपडिसेवणा भण्णति । ते उत्तरगुणा पिंडविसोहादओ अणेगविहा । तत्थ पिंडे ताव दप्पिय कप्पियं च पडिसेवण भण्णति ।[2] इस प्रकार पीठिका के अन्त तक दर्पिका और कल्पिका का अधिकार चलता है ।

पीठिका की समाप्ति करते हुए इस बात का विचार किया गया है कि निशीथ-पीठिका का यह सूत्रार्थ किसे देना चाहिए और किसे नही ? अबहुश्रुत आदि निषिद्ध पुरुषो को ही देने से प्रवचन-घात होता है अत बहुश्रुत आदि सुयोग्य पुरुषो को निशीथपीठिका का यह सूत्रार्थ देना चाहिए ।[3] यहांतक पीठिका का अधिकार है ।

प्रथम उद्देश :

प्रथमउद्देश के प्रथम सूत्र 'जे भिक्खू हत्थकम्म करेइ, करेंत वा साइज्जइ' का शब्दार्थ भाष्यकार ने इस प्रकार किया है :

जे त्ति य खलु णिद्देसे भिक्खू पुण भेदणे खुहस्स खलू ।
हत्थेण ज च करण, कीरति त हत्थकम्म ति ॥४९७॥

इस गाथा का चूर्णिकार ने पुन इस प्रकार शब्दार्थ किया है . 'जे इति निद्देसे, 'खलु' विसेसणे, किं विशिनष्टि ? भिक्षोर्नान्यस्य, 'भिदि' विदारणे, 'क्षुध' इति कर्मण आख्यान, ज्ञानावरणादिकर्म भिनत्तीति भिक्षु:, भावभिक्षोर्विशेषणे 'पुन' शब्द:, 'हत्थे' ति हन्यतेऽनेनेति हस्त:,-

---

१. पृ. १०५ आचार्य हरिभद्रकृत धूर्ताख्यान का आधार यह प्राचीन कथा है ।
२ पृ. १५४. ३. पृ. १६५–१६६.

हसति वा मुखमावृत्येति हस्त, आदाननिक्षेपादिसमर्थो शरीरैकदेशो हस्तोऽतस्तेन यत् करण—व्यापारइत्यर्थः, स च व्यापार. क्रिया भवति, अत· सा हस्तक्रिया क्रियमाणा कर्मभवतीत्यर्थ । 'साइज्जति' साइज्जणा दुविहा कारावणे अणुमोदणे ।[1] जो क्षुध अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म का भेद अर्थात् विनाश करता है वह भिक्षु है। जिससे हनन किया जाता है अथवा जो मुख को ढक कर हसता है वह हस्त है। आदान-निक्षेप आदि मे समर्थ हस्त की जो क्रिया अर्थात् व्यापार है वह हस्तक्रिया है। इस प्रकार की क्रियमाण हस्तक्रिया कर्मरूप होती है। साइज्जणा अर्थात् स्वादना दो प्रकार की है . कारण (निर्मापन) अर्थात् दूसरो से करवाना और अनुमोदन अर्थात् दूसरे का समर्थन करना। इस प्रकार क्रिया के तीन रूप हुए स्वय करना, दूसरो से करवाना और करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार प्रथम सूत्र का शब्दार्थ करने के बाद आचार्य ने भिक्षु, हस्त और कर्म का निक्षेप-पद्धति से विश्लेषण किया है। हस्त-कर्म दो प्रकार का है असक्लिष्ट और सक्लिष्ट। असक्लिष्ट हस्तकर्म आठ प्रकार का है - छेदन, भेदन, घर्षण, पेषण, अभिघात, स्नेह, काय और क्षार। सक्लिष्ट हस्तकर्म दो प्रकार का है : सनिमित्त और अनिमित्त। सनिमित्त हस्तकर्म तीन प्रकार के कारणो से होता है शब्द सुनकर, रूपादि देखकर और पूर्व अनुभूत विषय का स्मरण कर।[2] पुरुष और स्त्री के इस प्रकार के हस्तकर्मो का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने साधुओ और साध्वियो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तो का विधान किया है।

द्वितीय सूत्र 'जे भिक्खू अगादाण कट्ठेण वा कलिंचेण वा अगुलियाए वा सलागाए वा सचालेइ सचालेत वा सातिज्जति' का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि सिर आदि अग हैं, कान आदि उपाग है और नख आदि अगोपाग है। इस प्रकार शरीर के तीन भाग है : अग, उपाग और अगोपाग। अग आठ है · सिर, उर, उदर, पीठ, दो बाँह और दो ऊरु। कान, नाक, आँखें जघाएँ, हाथ और पैर उपाग है। नख, बाल, श्मश्रु, अगुलियाँ, हस्ततल और हस्तोपतल अगोपाग है। हथेली के चारो ओर का उठा हुआ भाग हस्तोपतल कहलाता है। इन सबका सचालन भी सनिमित्त अथवा अनिमित्त होता है।[3] प्रस्तुत सूत्र का विशेष व्याख्यान पूर्ववत् कर लेना चाहिए। इसी प्रकार आगे के सूत्रो का भी सक्षिप्त व्याख्यान किया गया है।

चौदहवें सूत्र 'जो भिक्खू सोत्तिय वा रज्जुय वा चिलिमिलिं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति,कारेत वा सातिज्जति' का व्याख्यान

---

१. द्वितीय भाग, पृ० २. २. पृ० ४–७. ३. पृ० २६–२७.

करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि वस्त्र—कम्बलादि को सौत्रिक (सूत का बना हुआ) कहते हैं, जबकि रस्सी आदि को रज्जुक कहते हैं। भाष्यकार ने चिलिमिली (परदा) के पांच प्रकार बताये हैं सुत्तमयी, रज्जुमयी, वागमयी, दंडमयी और कडमयी। इनका स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं सुत्तेण कता सुत्तमयी, त वत्थं कवली वा। रज्जुणा कता रज्जुमयी, सो पुण दोरो। वागेसु कता वागमयी, वागमय वत्थ दोरो वा वक्कल वा वत्थादि। दंडो वसाती। कडमती वसकडगादि। एसा पचविहा चिलिमिणी गच्छस्स उवग्गहकारिवया घेप्पति।[1] सूत्रनिर्मित चिलिमिली—परदा-यवनिका को सूत्रमती कहते हैं, जैसे वस्त्र, कम्बल आदि। रज्जु से बनी हुई को रज्जुमती कहते हैं, जैसे दोरिया आदि। इसी प्रकार वल्क अर्थात् छाल, दंड अर्थात् बांस आदि की लकडी और कट अर्थात् तृण आदि से चिलिमिलिका बनती है। गच्छ के उपकार के लिए इन पांच प्रकार की चिलिमिलिकाओं का ग्रहण किया जाता है। आगे आचार्य ने चिलिमिली के प्रमाण, उपयोग आदि पर प्रकाश डाला है तथा संक्षेप में आगे के सूत्रों का भी व्याख्यान किया है।

'जे भिक्खू लाउय-पाद वा दारु-पाद वा मिट्टिया पाद वा ...' (सूत्र ३९) की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने लिखा है कि सूत्रार्थ का कथन हो चुका, अब निर्युक्ति का विस्तार किया जाता है भणिओ सुत्तत्थो। इदाणि णिज्जुत्तिवित्थरा भण्णति।[2] यह लिखकर उन्होंने 'लाउयदारुयपाते, मट्टियपादे ' गाथा (भाष्य ६८५) दी है जो निर्युक्ति गाथा है।

'जे भिक्खू दंडय वा लट्ठिय वा अवलेहणिय वा ' (सूत्र ४०) का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने दण्ड लाठी आदि का भेद बताया है। दंड बाहुप्रमाण होता है दंडो बाहुप्पमाणो। लाठी आत्मप्रमाण अर्थात् स्वशरीर-प्रमाण होती है अवलेहणिया वासासु कद्दमफेडिणी क्षुरिकावत्।[3] भाष्यकार ने दंड आदि का नाम इस प्रकार बताया है दंड तीन हाथ का होता है, विदंड दो हाथ का होता है, लाठी आत्मप्रमाण होती है, विलट्ठी चार अंगुली कम होती है। भाष्यगाथा इस प्रकार है

तिण्णि उ हत्थे डंडो, दोण्णि उ हत्थे विदंडओ होति।
लट्ठी आत-पमाणा, विलट्ठि चतुरंगुलेणूणा ॥ ७०० ॥

आगे लाठी आदि की उपयोगिता का विचार किया गया है तथा उनके रखने की विधि, तत्सम्बन्धी दोष, गुरुमास प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है।

---

१. पृ० ३९-४०. २. पृ० ४६. ३. पृ० ४८

वस्त्र फाडने, सीने आदि से सम्बन्धित नियमो का उल्लेख करते हुए प्रथम उद्देश समाप्त किया गया है। अत में 'विसेस-णिसीहचुण्णिए पढमो उद्देसो सम्मत्तो'[1] लिखकर यह सूचित किया गया है कि प्रस्तुत चूर्णि विशेषनिशीथचूर्णि अथवा निशीथविशेषचूर्णि है।

द्वितीय उद्देश :

प्रथम उद्देश मे गुरुमासो (उपवास) का कथन किया गया। अब दूसरे उद्देश मे लघुमासो (एकाशन) का कथन किया जाता है। अथवा प्रथम उद्देश मे परकरण का निवारण किया गया। अब द्वितीय उद्देश मे स्वकरण का निवारण किया जाता है : पढमउद्देसए गुरुमासा भणिता। अह इदाणि बितिए लहु-मासा भण्णति। अहवा–पढमुद्देशे परकरण णिवारिय, इह बितिए सयकरण निवारिज्जति।[2] यह कह कर आचार्य द्वितीय उद्देश का व्याख्यान प्रारम्भ करते है।

प्रथम सूत्र 'जे भिक्खू दारुदडय पायपु छणय करेइ ' का व्याख्यान इस प्रकार किया गया है - जे त्ति णिद्देसे, भिक्खू पूर्वोक्त, दारुमओ दडओ जस्स त दारुदडयं, पादे पुंछति जेण तं पादपु छण—पट्टयदुनिसिज्ज-वज्जिय रओहरणमित्यर्थ : त जो करेति, करेत वा सातिज्जति तस्स मासलहुँ पच्छित्त। एस सुत्तत्थो। एयं पुण सुत्ता अववातिय। इदाणि णिज्जुत्ति-वित्थरो।[3] अर्थात् जो भिक्षु काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोछन स्वय करता है अथवा करनेवाले का अनुमोदन करता है उसके लिए मासलघु प्रायश्चित्त का नियम है। यह सूत्रार्थ है। इसके बाद पादप्रोछन के विविध प्रकारो का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोछन के ग्रहण, वितरण, परिभोग आदि के दोषो और प्रायश्चित्तो का सूत्रानुसार विवेचन किया गया है।

नवम सूत्र 'जे भिक्खू अचित्तपइट्ठिय गध जिघति जिघत वा साति-ज्जति' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते है कि निर्जीव चन्दनादि काष्ठ की गन्ध सूँघने वाले के लिए मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है - णिज्जीवे चदणादि कट्ठे गध जिघति मासलहुँ।[4]

'जे भिक्खू लहुसग फरुस वयति, वयत वा···' (सूत्र १८) की चूर्णि इस प्रकार है - लहुस ईषदल्प स्तोकमिति यावत् फरुस णेहवज्जिय अण्ण साहुँ वदति भाषते इत्यर्थः।[5] जो साधु थोडा-सा भी कठोर—स्नेहरहित

---

१. पृ० ६६ २ पृ० ६७. ३. पृ० ६८. ४. पृ० ७३. ५ पृ० ७४

होकर बोलता है उसके लिए मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है। परुष—कठोर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से चार प्रकार का होता है। चूर्णिकार ने इन चारो प्रकारो का विस्तार से वर्णन किया है। भावपरुष क्रोधादिरूप है क्योंकि क्रोधादि के बिना परुष कैसे हो सकता है अर्थात् नही हो सकता। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं ·

भावे पुण कोधादी, कोहादि विणा तु कह भवे फरुस।
उवयारो पुण कीरति, दव्वाति समुप्पति जेण॥ ८६२॥

जो भिक्षु अल्प झूठ बोलता है उसके लिए भी मासलघु प्रायश्चित्त है। जैसा कि चूर्णिकार स्वय कहते हैं · मुसं अलियं, लहुसं अल्प, त वदओ मासलहु।[1] इसी प्रकार लघु अदत्तादान, लघु शीतोदकोपयोग आदि के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। स्नान के दोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है : ण्हायतो छज्जीवणिकाए वहेति। ण्हाणे पडिबधो भवति—पुन पुन स्नायतोत्यर्थं। अस्नानसाधुशरीरेभ्यः निर्मलशरीरो अहमिति गारवं कुरुते स्नान एव विभूषा। अलकारेत्यर्थः अण्हाणपरीसहाओ वोहति त न जिनातीत्यर्थं·। लोकस्याविश्रम्भणीयो भवति।[2] अर्थात् स्नान करने से षट् जीवनिकाय की हिंसा होती है। एक बार स्नान करने से बार-बार स्नान करने की इच्छा होती है। स्नान न करने वाले साधु को स्नान करने वाला घृणा की दृष्टि से देखता है, अपने को उससे बडा समझता है तथा अस्नान-परीषह से डरता है। लोग भी ऐसे साधु का विश्वास नही करते। इन दोषों के साथ ही आचार्य ने अपवाद रूप से स्नान की अनुमति भी प्रदान की है।

कृत्स्न (अखण्ड) चर्म और कृत्स्न वस्त्र रखने का निषेध करते हुए स्वजनगवेषित, परजनगवेषित, वरजनगवेषित बलजनगवेषित आदि पदार्थों के ग्रहण का भी निषेध किया है। वर का अर्थ इस प्रकार है जो पुरिसो जत्थ गामणगरादिसु अच्चंते, अचिंतो वा गामणगरादि-कारणेसु पमाणीकतो, तेसु वा गामादिसु धणकुलादिणा पहाणो, एरिसे पुरिसे वरशब्दप्रयोग·। सो य इमो हवेज्ज गामिए त्ति गाममहत्तरः, रट्ठिए त्ति-राष्ट्रमहत्तर·।[3] ग्राम नगरादि का प्रामाणिक, प्रधान अथवा पूज्य पुरुष 'वर' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार का ग्राम-पुरुष ग्राममहत्तर और राष्ट्र-पुरुष राष्ट्रमहत्तर कहलाता है। बल का अर्थ बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं · य. पुरुषः यस्य पुरुषस्योपरि प्रभुत्व करोति सो बलव भण्णति।

१ पृ० ७९ २ पृ० ८६. ३ पृ० १०१.

अहवा अप्रभु वि जो बलव सो वि बलव भण्णति। सो पुण गृहपतिः गामसामिगो वा तेणगादि वा[1]। जो प्रभुत्व करता है वह बलवान् कहलाता है। अथवा अप्रभु भी बलशाली होने पर बलवान् कहलाता है। गृहपति, ग्रामस्वामी आदि प्रथम कोटि के पुरुष हैं। स्तेन अर्थात् चोर आदि द्वितीय कोटि के हैं।

नियत (निश्चित–ध्रुव–निरंतर) पिण्ड, वास आदि के दोषों का वर्णन करने के बाद आचार्य 'जे भिक्खू पुरे सथवं पच्छा सथवं वा करेइ ' (मू ३८) का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं : सथवो थुतो, अदत्ते दाणे पुव्वसथवो, दिण्णे पच्छासथवो। जो त करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।[2] सस्तव का अर्थ है स्तुति। साधु दाता की दो प्रकार से स्तुति कर सकता है. एक तो दान देने के पूर्व और दूसरी दान देने के पश्चात्। जो साधु इस प्रकार की स्तुति करता है अथवा उसका अनुमोदन करता है उसे मासलघु प्रायश्चित्त करना पडता है। सस्तव का विशेष विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने 'अत्र नियुक्तिमाह' ऐसा लिखकर निम्न निर्युक्ति-गाथा उद्धृत की है .

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य सथवो मुणेयव्वो।
आत-पर-तदुभए वा, एक्केक्के सो पुणो दुविधो ॥ १०२५ ॥

द्रव्यसस्तव का विस्तार करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह ६४ प्रकार का है। इसके लिए धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद, चतुष्पद आदि के ६४ प्रकार गिनाये गये हैं।[3] वे ये हैं : २४ प्रकार का धान्य, २४ प्रकार के रत्न, ३ प्रकार के स्थावर, २ प्रकार के द्विपद, १० प्रकार के चतुष्पद और ६४ वा कुप्य (उपकरण)।

धान्य—१. जव, २ गोधूम, ३. शालि, ४ व्रीहि, ५. षष्टिक, ६. कोद्रव, ७ अनया, ८. कगू, ९. रालक, १०. तिल, ११. मुद्ग, १२ माष, १३ अतसी, १४ हिरिमथा, १५ त्रिपुडा, १६ निष्पाव, १७. अलिसिंदा, १८ मासा, १९ इक्षु, २० मसूर, २१. तुवर, २२ कुलत्थ, २३ धानक, २४ कला।

भाष्य —धण्णाइ चउव्वीसं, जव-गोहुम-सालि-वीहि-साट्ठिया।
कोद्दव-अणया-कंगू, रालग-तिल-मुग्ग-मासा य ॥ १०२९ ॥

चूर्णि —बृहच्छिरा कंगू, अल्पतरशिरा रालकः।

भाष्य —अतसि हिरिमथ तिपुड, णिप्फाव अलसिंदरा य मासा य।
इक्खू मसूर तुवरी, कुलत्थ तह धाणग-कला य ॥ १०३० ॥

---

१. पृ० १०१. २. पृ० १०८. ३. पृ० १०९.

चूर्णि :—'अतसि' मालवे प्रसिद्धा, 'हिरिमंथा' वट्टचणगा, 'त्रिपुडा' लगवलगा, 'णिप्फाव' चावल्ला, 'अलिसिंदा', चवलगारा य, 'मासा', पडरचवलगा, 'घाणगा' कुथुभरी, 'कला' वट्टचणगा ।

रत्न—१ सुवर्ण, २. तवु, ३ तब, ४ रजत, ५ लोह, ६ शीशक, ७. हिरण्य, ८. पाषाण, ९. वेर, १० मणि, ११. मौक्तिक, १२. प्रवाल, १३ शख, १४ तिनिश, १५. अगरु, १६. चन्दन, १७ अमिलात वस्त्र, १८ काष्ठ, १९ दत, २०. चर्म, २१ वाल, २२ गध, २३ द्रव्य, २४ ओषघ ।

भाष्य :—रयणाइ चतुव्वीस, सुव्वण्ण-तवु-तब-रयत-लोहाइ ।
सीसग-हिरण्ण-पासाण-वेर-मणि-मोत्तिय-पवाले ॥ १०३१ ॥

चूर्णि :—'रयत' रुप्पं, 'हिरण्ण' रूपका, 'पाषाण' स्फटिकादय, 'मणी' सूरचन्द्रकान्तादयः ।

भाष्य :—सख-तिणिसागुलु चदणाइ वत्थामिलाइ कट्ठाइ ।
तह दत-चम्म-वाला, गधा दव्वोसहाइं च ॥ १०३२ ॥

चूर्णि —'तिणिस' रुक्खकट्ठा, 'अगलु' अगरु, यानि न म्लायन्ते शीघ्र तानि अम्लातानि वस्त्राणि, 'कट्ठा' शाकादिस्तभा, 'दता', हस्त्यादीना, 'चम्मा' वग्घादीण, 'वाला' चमरीण, गंधयुक्तिकृता गधा, एकाग औषध द्रव्य, वहुद्रव्यसमुदाया-दौपधम् ।

स्थावर—१ भूमि, २ घर, ३ वरु ।

द्विपद—१ चक्रारवद्ध—गकटादि और २ मनुष्य ।

चतुष्पद—१ गौ, २. उष्ट्री, ३ महिषी, ४ अज, ५. मेष, ६ अश्व, ७. अश्वतर, ८ घोटक, ९ गर्दभ, १० हस्ती ।

भाष्य —गावी उट्टी महिसी, अय एलग आस आसतरगा य ।
घोडग गद्दभ हत्थी, चतुप्पदा होंति दसधातु ॥ १०३४ ॥

चूर्णि .—'आसतरगा' वेसरा ।

'जे भिक्खू सागारिय पिंडं भुजति, भुजत वा सातिज्जति', 'जे भिक्खू सागारिय पिड गिण्हइ ' (सू० ४६-७) का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि सागारिक अर्थात् शय्यातर के पिण्ड का ग्रहण अथवा भोग नही करना चाहिए । जो वैसा करता है उसके लिए मासलघु प्रायश्चित्त है । इसका विवेचन करते हुए प्रस्तुत चूर्णि मे निम्न बातो का दृष्टान्तपूर्वक विचार किया गया है[1] (१) सागारिक कौन होता है, (२) वह शय्यातर कब होता है, (३)

१. पृ० १३०–१३१.

उसका पिण्ड कितनी तरह का होता है, (४) वह अशय्यातर कब होता है, (५) वह सागारिक किस संयत द्वारा परिहर्तव्य है, (६) उस सागारिक-पिण्ड के ग्रहण में क्या दोष है, (७) किस अवस्था में उसका पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है, (८) किस यतना से उसका ग्रहण करना चाहिए, (९) एक सागारिक से ही ग्रहण करना चाहिए अथवा अनेक सागरिकों से भी ग्रहण करना चाहिए। सागारिक के पाँच एकार्थक शब्द हैं : सागारिक, शय्यातर, दाता, धर और तर।[1] इन पांचों की व्युत्पत्ति एवं सार्थकता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। बृहत्कल्पभाष्य में भी इस विषय पर काफी विवेचन उपलब्ध है।

'जे भिक्खू उडुवद्धियं सेज्जा-संथारयं ' (सू० ५०) का विवेचन करते हुए आचार्य शय्या और संस्तारक का भेद बताते हैं। शय्या सर्वांगिका अर्थात् पूरे शरीर के बराबर होती है जबकि संस्तारक ढाई हस्तप्रमाण होता है : सव्वंगिया सेज्जा, अड्ढाइयहत्थो संथारो।[2] संस्तारक दो प्रकार का होता है : परिशाटी और अपरिशाटी। इनके स्वरूप, भेद-प्रभेद, ग्रहण, दोष, प्रायश्चित्त आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

विप्रनष्ट अर्थात् विधिपूर्वक रक्षा करते हुए भी खो जानेवाले प्रातिहारिक, शय्यासंस्तारक आदि को खोज करने की आवश्यकता, विधि आदि पर प्रकाश डालते हुए दूसरे उद्देश के अन्तिम सूत्र 'जे भिक्खू इत्तरियं उवहिं ण पडिलेहेति ' (सू० ५९) का विश्लेषण करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिनकल्पियों के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पियों के लिए चौदह प्रकार की और आर्याओं के लिए पचीस प्रकार की उपधि होती है।[3] जिनकल्पिक दो प्रकार के हैं : पाणिपात्रभोजी और प्रतिग्रहधारी। इन दोनों के पुनः दो-दो भेद हैं : सप्रावरण अर्थात् सवस्त्र और अप्रावरण अर्थात् निर्वस्त्र।[4] जिनकल्प में उपधि के आठ विभाग हैं : दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दस, ग्यारह और बारह। निर्वस्त्र पाणिपात्र की जघन्य उपधि दो प्रकार की है : रजोहरण और मुखवस्त्रिका। वही पाणिपात्र यदि सवस्त्र है और एक कपड़ा ग्रहण करता है तो उसकी उपधि तीन प्रकार की हो जाती है। इसी प्रकार आगे की उपधियाँ भी समझ लेनी चाहिए। स्थविरकल्पियों एवं आर्याओं के लिए भी इसी प्रकार विभिन्न उपधियों का वर्णन किया गया है।[5] यहाँ तक विशेषनिशीथचूर्णि के द्वितीय उद्देश का अधिकार है।

तृतीय उद्देश :

इस उद्देश के प्रारंभ में भिक्षाग्रहण के कुछ दोषों एवं प्रायश्चित्तों पर प्रकाश

---

१. सागारिय सेज्जायर दाता य घरे तरे वा वि।—पृ० १३०, गा० ११४०.

२ पृ० १४९ ३. पृ० १८८. ४ वही ५. पृ० १८८–१९३.

डाला गया है। तदनन्तर पाद आदि के आमर्जन, प्रमार्जन, परिमर्दन, अभ्यग आदि से लगने वाले दोषो का उल्लेख करते हुए तद्विपयक प्रायश्चित्तो का निर्देश किया गया है। एक बार साफ करना आमर्जन है, बार-बार साफ करना प्रमार्जन है। अथवा हाथ मे साफ करना आमर्जन है, रजोहरण से साफ करना प्रमार्जन है. आमज्जति एक्कसि, पमज्जति पुणो पुणो। अहवा हत्थेण आमज्जण, रयहरणेण पमज्जण।[1] गड, पिलक, अरतित, अर्शिका, भगदर आदि रोगो के छेदन, शोधन, लेपन आदि का निपेध करते हुए गड आदि का स्वरूप इस प्रकार बताया है: गच्छतीति गड, त च गडमाला, ज च अण्ण (पिलग) तु पादगत गड, अरतितो ज ण पच्चति, असी अरिसा ता य अहिट्ठाणे णासाते व्रणेसु वा भवति, पिलिगा (पिलगा) सियलिया, भगदर अप्पण्णतो अधिट्ठाणे क्षत किमियजालसपण्ण भवति। बहुसत्थसभवे अण्णतरेण तिक्ख स (अ) हिणाधार जातमिति प्रकारप्रदर्शनार्थम्। एक्कसि ईपद् वा आच्छिदण, वहुवार सुट्ठु वा छिदण विच्छिदण।[2] इसी प्रकार नखाग्र को घिस कर तेज करना, उससे रोम आदि तोडना, उसे चिबुक, जधा, गुह्यभाग आदि मे घुमाना इत्यादि वातो का निषेध किया गया है तथा अक्षिमल, कर्णमल, दतमल, नखमल आदि को खोद-खोद कर बाहर निकालने की मनाही की है। उच्चार-प्रस्रवण का घर मे, गृहमुख पर, गृहद्वार पर, गृहप्रतिद्वार पर, गृहैलुक (देहली) पर अथवा गृहागण मे परित्याग करना भी इसी प्रकार निपिद्ध है। अन्य निपिद्ध स्थानो पर भी उसका परित्याग नही करना चाहिए। परित्याग करने पर मासलघु प्रायश्चित्त करना पडता है। इसी प्रकार असमय पर उच्चार-प्रस्रवण का परित्याग करनेवाले के लिए भी यही प्रायश्चित्त है। रात्रि आदि के समय बाहर निकलने से लगने वाले अनेक दोषो का वर्णन चूर्णिकार ने प्रस्तुत उद्देश के अन्त मे किया है।

चतुर्थ उद्देश .

इस उद्देश मे सूत्रो का सामान्य व्याख्यान करते हुए निम्नलिखित विपयो पर विशेप प्रकाश डाला गया है अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग, कायोत्सर्ग के विविध भग, आयविल की परिसमाप्ति एव आहारग्रहण, स्थापनाकुल और उनके विविध प्रकार, स्थापनाकुलसम्बन्धी सामाचारी, निर्ग्रन्थी की वसति और उसमें निग्रन्थ द्वारा प्रवेश, राजा, अमात्य, सेठ, पुरोहित, सार्थवाह, ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर और गणधर के लक्षण, ग्लान साध्वी और उसकी सेवा, अधिकरण

---

१. पृ० २१०. २ पृ० २१५.

और उसके भेद, संरंभ, समारभ और आरंभ के भेद-प्रभेद, हास्य और उसकी उत्पत्ति के विविध कारण ।

पंचम उद्देश .

इस उद्देश के प्रारंभ मे आचार्य भद्रबाहुस्वामिकृत एक निर्युक्ति गाथा[1] दी गई है जिसमे चतुर्थ और पचम उद्देश के सम्बन्ध का निर्देश है । चूर्णिकार ने ' उद्देसकेन सह सबध वक्तुकामो आचार्य. भद्रबाहुस्वामी निर्युक्तिगाथामाह'[2] ऐसा कह कर उनकी गाथा उद्धृत की है । इस उद्देश की चूर्णि मे निम्न विषयो का विशेष विवेचन किया गया है प्राभृतिक शय्या और उसके छादन आदि भेद, सपरिकर्म शय्या और उसके चौदह भेद, सभोग का विविध दृष्टियों से वर्णन । सभोग का अर्थ इस प्रकार है 'स' एगीभावे 'भुज' पालनाभ्यवहारयो:, एकत्र भोजन सभोग:, अहवा सम भोगो सभोगो यथोक्तविधानेनेत्यर्थ । सभु जते वा सभोग , सभुज्जते वा, स्वस्य वा भोग सभोग. ।[3] सभोग का मुख्य अर्थ है यथोक्त विधि से एकत्र आहारोपभोग । जिन साधुओ मे परस्पर खान-पान आदि का व्यवहार होता है वे साभोगिक कहलाते है । साभोगिक साधुओ का स्वरूप समझाते हुए चूर्णिकार ने कुछ आख्यान दिये हैं । इनमे से एक आख्यान मे निम्नलिखित ऐतिहासिक पुरुषो का उल्लेख किया गया है .[4] वर्धमान-स्वामी के शिष्य सुधर्मा, सुधर्मा के शिष्य जबू, जंबू के शिष्य प्रभव, प्रभव के शिष्य शय्यभव, शय्यभव के शिष्य यशोभद्र, यशोभद्र के शिष्य सभूत, सभूत के शिष्य स्थूलभद्र, स्थूलभद्र के दो युगप्रधानशिष्य—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार, बिंदुसार का पुत्र अशोक, अशोक का पुत्र कुणाल ।

षष्ठ उद्देश

आदि के पाँच उद्देशो मे गुरु-लघुमास का वर्णन किया गया । प्रस्तुत उद्देश मे चातुर्मासिक गुरु का वर्णन है । इसका एकमात्र विषय है मैथुनसम्बन्धी दोषो और प्रायश्चित्तो का वर्णन । 'जे भिक्खू माउग्गाम मेहुणपडियाए विण्णवेति—' (सू० १) का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार लिखते है मातिसमाणो गामो मातुगामो, मरहट्ठविसयभासाऐ वा इत्थी माउग्गामो भण्णति । मितुणभावो मेहुण, मिथुनकर्म वा मेहुन–अब्रह्ममित्यर्थ । मिथुनभावप्रतिपत्ति: । अथवा पडिया मैथुनसेवनप्रतिज्ञेत्यर्थ. विज्ञापना प्रार्थना अथवा तद्भावसेवन विज्ञापना, इह तु प्रार्थना परिगृह्यते ।

---

१. पृ० ३०७ (गा० १८९५). २. वही. ३. पृ० ३४१.
४. पृ० ३६०–३६१.

सुत्तत्थो ।[1] मातृसमूह अर्थात् माताओं के समान नारियों के वृन्द को मातृग्राम—माउग्गाम कहते हैं। अथवा सामान्य स्त्री-वर्ग को माउग्गाम कहना चाहिए जैसा कि मराठी में स्त्री को माउगाम कहा जाता है। मिथुनभाव अथवा मिथुनकर्म को मैथुन——मेहुण कहते हैं। पडिया—प्रतिज्ञा का अर्थ है मैथुन-सेवन की प्रतिज्ञा। विण्णवणा—विज्ञापना का अर्थ है प्रार्थना। जो साधु मैथुन-सेवन की कामना से किसी स्त्री से प्रार्थना करता है उसके लिए चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

मातृग्राम तीन प्रकार का है : दिव्य, मानुष और तिर्यक्। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं : देहयुक्त और प्रतिमायुक्त। देहयुक्त के पुनः दो भेद हैं : सजीव और निर्जीव। प्रतिमायुक्त भी दो प्रकार का है : सन्निहित और असन्निहित। विज्ञापना दो प्रकार की होती है : अवभासनता—प्रार्थना और तद्भावासेवनता—मैथुनासेवन।[2] आचार्य ने इन भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन किया है।

'जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए लेहं लिहति ...' (सू. १३) की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने कामियों के प्रेम-पत्र लेखन का विश्लेषण किया है और बताया है कि लेख दो प्रकार का होता है : छन्न अर्थात् अप्रकाशित और प्रकट अर्थात् प्रकाशित। छन्न लेख तीन प्रकार का है : लिपिछन्न, भाषाछन्न और अर्थछन्न।[3] आचार्य ने इनका स्वरूप बताया है।

उद्देश के अन्त में यह बताया गया है कि जो बातें पुरुषों के लिए कही गई हैं उन्हीं का स्त्रियों के लिए भी उपयोग कर लेना चाहिए। भिक्षु के स्थान पर भिक्षुणी रख कर मातृग्राम की जगह पितृग्राम का प्रयोग कर लेना चाहिए। जैसा कि चूर्णिकार कहते हैं : पुरिसाण जो गमो इत्थीवग्गे भणितो जहा—'भिक्खू माउग्गामं मेहुणवडियाए। विण्णवेति' एस इत्थीण पुरिसवग्गे वत्तव्वो—'जा भिक्खुणी वि पिउग्गामं मेहुणवडियाए विण्णवेइ ..।'[4]

सप्तम उद्देश

षष्ठ उद्देश के अंतिम सूत्र में विकृत आहार का निषेध किया गया है। यह निषेध आभ्यंतर आहार की दृष्टि से है। सप्तम उद्देश के प्रथम सूत्र में कामी भिक्षु के लिए इस बात का निषेध किया गया है कि पत्र-पुष्पादि की मालाएं न तो स्वयं बनाए, न औरों से बनवाए इत्यादि। यह निषेध काम के बाह्य आहार की दृष्टि से है। इसी प्रकार कुंडल, मुक्तावली, कनकावली आदि के बनाने, धारण करने आदि का भी आगे के सूत्रों में निषेध किया गया है। चूर्णिकार ने कुंडल आदि का स्वरूप इस प्रकार बताया है : कुंडल कण्णाभरण,

१. पृ ३७१. २. पृ. ३७१–२. ३८५. ४. पृ. ३९४.

गुणं कडीसुत्तय, मणी सूर्यमणीमादय, तुडियं बाहुरक्खिया, तिण्णि सरातो तिसरियं, वालभा मउडादिसु ओचूला, आगारीण वा गलोलइया, नाभि जा गच्छइ सा पलबा, सा य उलंवा भण्णति। अट्ठारसलयाओ हारो, णवसु अड्ढहारो, विचित्तेहिं एगसरा एगावली, मुत्तएहिं मुत्तावली, सुवण्णमणिएहिं कणगावली, रयणहिं रयणावली, उरगुलो सुवण्णओ पट्टो, त्रिकुटो मुकुटः।[1] इसमे कुंडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, वालभा, पलबा, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट और मुकुट—इन आभूषणो का स्वरूप-वर्णन है।

'जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाऐ अण्णयरं पसु-जाय वा पक्खि-जाय वा.. आलिंगेज्ज. '(सू. ८४) का विवेचन करते हुए आचार्य ने पशु-पक्षी के आलिंगन आदि का निषेध किया है तथा आलिंगन, परिष्वजन, चुंबन, छेदन और विच्छेदनरूप काम-क्रीडाओं का स्वरूप बताया है। वह इस प्रकार है: आलिंगन स्पृशन, उपगूहन परिष्वजन, मुखेन चुंबन, दतादिभि सकृत् छेदन, अनेकशो विच्छेद, विविधप्रकारो वा च्छेद विच्छेद।[2] सामान्य रीति से स्पर्श करना आलिंगन है। गाढ आलिंगन का नाम परिष्वजन अथवा उपगूहन है। चुम्बन मुख से किया जाता है। दत आदि से एक बार काटना छेदन तथा अनेक बार काटना अथवा अनेक प्रकार से काटना विच्छेदन है।

अष्टम उद्देश

सप्तम उद्देश के अन्तिम सूत्र मे स्त्री और पुरुष के आकारों के विषय में कुछ आवश्यक बातें कही गई है। अष्टम उद्देश के प्रारभ के सूत्र मे यह बताया गया है कि अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय आदि न करे जिससे कामकथा आदि का अवसर प्राप्त न हो। कामकथा लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार की होती है। नरवाहनदतकथादि लौकिक कामकथाएं हैं। तरंगवती, मलयवती, मगधसेन आदि की कथाएं लोकोत्तर कामकथा के उदाहरण है।[3]

'जे भिक्खू उज्जाणसि जा उज्जाण-गिहसि वा '(सू० २-९) आदि सूत्रो की व्याख्या मे उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्राकार, द्वार, गोपुर, दक, दकमार्ग, दकपथ, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला, छुसगृह, छुसशाला, पर्याय-गृह, पर्यायशाला, कर्मान्तिगृह, कर्मान्तशाला, महागृह, महाकुल, गोगृह और

---

१. पृ ३९८. २. पृ ४११. ३ पृ ४१५

गोशाला का अर्थ स्पष्ट किया गया है[1] और बताया गया है कि साधु इन स्थानों में अकेली स्त्री के साथ विहार आदि न करे।

रात्रि के समय स्वजन आदि के साथ रहने का प्रतिषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो साधु स्वजन, अस्वजन, श्रावक, अश्रावक आदि के साथ अर्ध रात्रि अथवा चतुर्थांश रात्रि अथवा पूर्ण रात्रि पर्यन्त रहता है अथवा रहने वाले का समर्थन करता है उनके लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है।[2] इसी प्रकार रात्रि के समय भोजन के अन्वेषण, ग्रहण आदि के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया।

नवम उद्देश :

अष्टम उद्देश के अन्तिम सूत्र में भोजन अर्थात् पिण्ड का विचार किया गया है। नवम उद्देश के प्रारम्भ में भी इसी विषय पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है। 'जे भिक्खू रायपिंडं गेण्हइ'' 'जे भिक्खू रायपिंडं भुंजइ'' (सू० १-२) का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार इस बात का विचार करते हैं कि साधु को किस प्रकार के राजा के यहाँ से पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिए? जो मूर्धाभिषिक्त है अर्थात् जिसका प्रधानरूप से अभिषेक किया गया है तथा जो सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठि और सार्थवाह सहित राज्य का भोग करता है उसका पिण्ड साधु के लिए वर्जित है। शेष राजाओं के विषय में निषेध का एकान्त नियम नहीं है अर्थात् जहाँ दोष प्रतीत हो वहाँ का पिण्ड वर्जित है, जहाँ दोष न हो वहाँ का ग्रहणीय है। राजपिण्ड आठ प्रकार का है जिसमें भोजन के सिवाय अन्य वस्तुओं का भी समावेश है। वे आठ प्रकार ये हैं चार प्रकार का आहार—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोंछनक।[3]

साधु को राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने की मनाही करते हुए आचार्य ने तीन प्रकार के अन्तःपुरों का वर्णन किया है : जीर्णान्तःपुर, नवान्तःपुर और कन्यकान्तःपुर। जिनका यौवन नष्ट हो जाता है तथा जो भोग के अयोग्य हो जाती हैं वे स्त्रियाँ जीर्णान्तःपुर में रहती हैं। जिनमें यौवन विद्यमान है तथा जो भोग के काम में ली जाती हैं वे नवान्तःपुर में वास करती हैं। राजकन्यायें जब तक यौवन को प्राप्त नहीं होती हैं तब तक उनका संग्रह कन्यकान्तःपुर में किया जाता है। इनमें से प्रत्येक के क्षेत्र की दृष्टि से दो भेद किये जाते हैं : स्वस्थानस्थ और परस्थानस्थ। स्वस्थानस्थ का अर्थ है राजगृह में ही रहनेवाली। पर-

१ पृ. ४३३ २. पृ. ४४१. ३. पृ ४४९.

स्थानस्थ का अर्थ है वसंतादि में उद्यान में रहने वाली। एतद्विषयक भाष्यगाथा एव चूर्णि इस प्रकार है :

भाष्य :—अतेउर च तिविध, जुण्ण णव चेव कण्णगाण च।
एक्केक्क पि य दुविध सट्ठाणे चेव परठाणे ॥२५१३॥

चूर्णि :—रण्णो अतेपुर तिविध—ण्हसियजोवणाओ अपरिभुज्जमाणीओ अच्छति, एय जुण्णतेपुरं। जोव्वणयुत्ता परिभुज्जमाणीओ नवतेपुर। अप्पत्तजोव्वणाण रायदुहियाण सगहो कन्नतेपुर। तं पुण खेत्ततो एक्केक्क दुविध—सट्ठाणे परट्ठाणे य। सट्ठाणत्थ रायघरे चेव, परट्ठाणत्थ वसतादिसु उज्जाणियागय।

'जे भिक्खू रण्णो खत्तियाण ' (सू० ७) का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने कोष्ठागार आदि का स्वरूप इस प्रकार बताया है जिसमें ७७ प्रकार का धान्य हो वह कोष्ठागार है। जिसमें १६ प्रकार के रत्न हो वह भाडागार है। जहाँ सुरा, मधु आदि पानक सग्रहीत हो वह पानागार है। जहाँ दूध, दही आदि हो वह क्षीरगृह है। जहाँ ७७ प्रकार का धान्य कूटा जाता हो अथवा जहाँ गज अर्थात् यव पडे हो वह गजशाला है। जहाँ अशन, पान आदि विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार होते हों वह महानसशाला है जत्थ सणसत्तारसाणि धण्णाणि कोट्ठागारो। भडागारो जत्थ सोलसविहाइं रयणाइं। पाणागार जत्थ पाणियकम्म तो सुरा-मधु-सीधु-खडग-मच्छडिय-मुद्दियापभित्तीणि पाणगाणि। खीरघर जत्थ खीर-दधि-णवणीय-तक्कादीणि अच्छति। गजसाला व जत्थ सणसत्तारसाणि-धण्णाणि कोट्टिज्जति, अहवा गजा जवा ते जत्थ अच्छति सा गजसाला। महाणससाला जत्थ असणपाणखातिमादीणि णाणाविहभक्खे उवक्खडिज्जति।[1] इसी प्रकार नट, नट्ट, जल्ल, मल्ल, कथक, प्लवक, लासक आदि का अर्थ बताया गया है।[2]

दशम उद्देश

इस उद्देश की चूर्णि बहुत विस्तृत है। बीच-बीच मे दृष्टान्त के रूप मे कथानक भी दिये गये है। इसमे मुख्यरूप से निम्न विषयो का विवेचन है : भाषा की अगाढता, परुषता आदि तथ। तत्सम्बन्धी विविध प्रायश्चित्त, आधाकर्मिक आहार के दोष एव प्रायश्चित्त, ग्लान की वैयावृत्य सम्बन्धी यतना, उपेक्षा एव प्रायश्चित्त, वर्षावास, पर्युषणा, परिवसना, पर्युपशमना, प्रथम समवसरण, स्थापना और ज्येष्ठग्रह की एकार्थकता, सार्थकता, विधिवत्ता आदि।

१. पृ० ४५६ २ पृ० ४६८

इसी में आर्य कालक की कथा भी दी गई है। विद्यावल आदि की सिद्धि का वर्णन करते हुए चूर्णिकार कहते हैं . जहा—कालगऽज्जेण गद्दभिल्लो सासिओ ? को उ गद्दभिल्लो ? को वा कालगऽज्जो ? कम्मि वा कज्जे सासितो ? भण्णति ।[1] यह कह कर उन्होने सक्षेप मे आर्य कालक, उनकी भगिनी रूपवती और उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल का पूरा कथानक दिया है।

एकादश उद्देश :

दशम उद्देश के अतिम सूत्र मे वस्त्र-ग्रहण पर प्रकाश डाला गया है। एकादश उद्देश के प्रारभ मे पात्र-ग्रहण की चर्चा है। इस उद्देश का तृतीय एव षष्ठ सूत्र चूर्णि में नही है। इसी प्रकार अन्य उद्देशो मे भी कुछ सूत्रों की न्यूनाधिकता है। 'जे भिक्खू अप्पाण बीभावेति ...' 'जे भिक्खू पर बीभावेति . . ' (सू० ६४-५) की व्याख्या में चूर्णिकार ने भय के चार एव सात भेदो की चर्चा की है। भय के चार भेद ये हैं : १. पिशाचादि से उत्पन्न भय, २ मनुष्यादि से उत्पन्न भय, ३. वनस्पति आदि से उत्पन्न भय और ४ निर्हेतुक अर्थात् अकस्मात उत्पन्न होनेवाला भय। भय के सात भेद इस प्रकार हैं . १ इहलोकभय, २ परलोकभय, ३. आदानभय, ४. आजीवनाभय, ५ अकस्माद्भय ६ मरणभय और ७ अश्लोकभय।[2] इन भेदो का जैन साहित्य में साधारणतया उल्लेख पाया जाता है। चूर्णिकार ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि इन सात भेदो का चार भेदो में कैसे समावेश हो सकता है ? जो साधु खुद को अथवा दूसरे को अथवा दोनो को डराता है उसके लिए भय का कारण विद्यमान होने की दशा में चतुर्लघु तथा अविद्यमान होने की अवस्था में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

अयोग्य दीक्षा का निषेध करने वाले सूत्र 'जे भिक्खू णायग वा.... अणल वा पव्वावेइ, पव्वावेत वा सातिज्जति' (सू ८४) का विवेचन करते हुए आचार्य ने अडतालीस प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रज्या के लिए अयोग्य माना है। इनमें अठारह प्रकार के पुरुष हैं, वीस प्रकार की स्त्रिया हैं और दस प्रकार के नपुसक है। बालदीक्षा का निषेध करते हुए बाल के तीन भेद किये हैं उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य : सात-आठ वर्ष की आयु का बालक उत्कृष्ट बाल है। पाच-छ वर्ष की आयु का बालक मध्यम बाल है। चार वर्ष तक की आयु का बालक जघन्य बाल है।[3] इसी प्रकार वृद्ध, जड, रोगी, उन्मत्त, मूढ आदि अयोग्य पुरुषो का भी भेदोपभेदपूर्वक वर्णन किया गया है। पडक

---

१. तृतीय भाग, पृ० ५८-९ २ पृ० १८५–६ १. पृ. २२९-२३०.

आदि सोलह प्रकार के नपुंसकों[1] का वर्णन भी आचार्य ने विस्तार से किया है। व्याधित पुरुष का स्वरूप बताते हुए सोलह प्रकार के रोग एवं आठ प्रकार की व्याधि के नामों का उल्लेख किया है।[2] व्याधि का नाश शीघ्र हो सकता है जबकि रोग का नाश देर से होता है: आशुघातित्वाद् व्याधिः, चिरघातित्वाद् रोग ।[3]

बालमरण, पंडितमरण आदि के विस्तृत विवेचन के साथ प्रस्तुत उद्देश की चूर्णि समाप्त होती है।

द्वादश उद्देश :

इस उद्देश की चूर्णि में चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य दोषों का वर्णन किया गया है। इन दोषों में मुख्यत त्रस प्राणिविषयक बन्धन और मुक्ति, प्रत्याख्यान-भंग, सलोम चर्मोपयोग, तृणादिनिर्मित पीठक का अधिष्ठान, निर्ग्रन्थी के लिए निर्ग्रन्थ द्वारा संघाटी सिलाने की व्यवस्था, पुरःकर्मकृत हस्त से आहारादि का ग्रहण, शीतोदकयुक्त हस्तादि से आहारादि का ग्रहण, चक्षुरिन्द्रिय की तुष्टि के लिए निर्झर आदि का निरीक्षण, प्रथम प्रहर के समय आहारादि का ग्रहण, व्रण पर गोमय—गोबर का लेप आदि का समावेश है।

त्रयोदश उद्देश :

इस उद्देश में भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य दोषों का विचार किया गया है। स्निग्ध पृथ्वी, शिला आदि पर कायोत्सर्ग करना, गृहस्थ आदि को परुष वचन सुनाना, उन्हें मंत्र आदि बताना, लाभ की बात बता कर प्रसन्न करना, हानि की बात बताकर खिन्न करना, धातु आदि के स्थान बताना, वमन करना, विरेचन लेना, आरोग्य के लिए प्रतिकर्म करना, पार्श्वस्थ को वंदन करना, पार्श्वस्थ की प्रशंसा करना, कुशील को वंदन करना, कुशील की प्रशंसा करना धात्रीपिंड का भोग करना, दूतीपिंड का भोग करना, निमित्तिपिंड का भोग करना, चिकित्सापिंड का भोग करना, क्रोधादिपिंड का भोग करना आदि कार्य चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य हैं। प्रस्तुत उद्देश के अन्त में[4] निम्न गाथा में चूर्णिकार के पिता का नाम दिया हुआ है :

सकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स ।
तस्स सुतेणेस कता, विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥

चतुर्दश उद्देश :

इस उद्देश में भी उपर्युक्त प्रायश्चित्त के योग्य अन्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है। पात्र खरीदना, अतिरिक्त पात्रों का संग्रह करना, पात्र ठीक तरह

१ पृ. २४० २. पृ. २५८ ३ वही. ४. पृ० ४२६.

से न रखना, वर्णयुक्त पात्र को विवर्ण बनाना, विवर्ण पात्र को वर्णयुक्त करना, पुराने पात्र से छुटकारा पाने की अनुचित कोशिश करना, सचित्त आदि भूमि पर पात्र रखना इत्यादि पात्रविषयक अनेक दोषो का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य ने एतत्सम्बन्धी आवश्यक यातनाओ का यत्र-तत्र उल्लेख किया है।

पञ्चदश उद्देश :

साधु को सचित्त आम आदि खाने की मनाही करते हुए आचार्य ने आम्र का नामादि निक्षेपो से व्याख्यान किया है। द्रव्याम्र चार प्रकार का है. उस्सेतिम, ससेतिम, उवक्खड और पलिय। इन चारो प्रकार के आमो का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने पलिय आम के पुनः चार विभाग किये हैं इन्धनपलियाम, धूमपलियाम, गधपलियाम और वृक्षपलियाम। इनके स्वरूप पर भी प्रस्तुत उद्देश मे प्रकाश डाला गया है।[1] इसी प्रसग पर तालप्रलम्ब आदि के ग्रहण की विधि का साधु और साध्वी दोनो की दृष्टि से विचार किया गया है। इसी प्रकार अन्य सूत्रो का भी यथाविधि व्याख्यान किया गया है। अन्त मे[2] निम्नोक्त गाथा में चूर्णिकार की माता का नाम दिया हुआ है

रतिकरमभिधाणऽक्खरसत्तमवग्गतअक्खरजुएण।
णाम जस्सित्थीए, सुतेण तस्से कया चुण्णी॥

षोडश उद्देश :

पन्द्रहवें उद्देश में देहविभूषाकरण और उज्ज्वलोपधिधारण का निषेध किया गया है जिससे कि ब्रह्मव्रत की विराधना न हो। सोलहवें उद्देश में भी अगुप्ति अथवा ब्रह्मविराधना न हो इसी दृष्टि से सागारिकवसति का निषेध किया गया है। इस उद्देश के प्रथम सूत्र 'जे भिक्खू सागरियसेज्जं अणुपविसइ' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार कहते है कि जो सागारिकवसति ग्रहण करता है उसे आज्ञाभंग आदि दोप लगते हैं और उसके लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है : सह आगारीहिं सागारिया, जो त गेण्हति वसहिं तस्स आणादी दोसा, चउलहु च से पच्छित्त।[3] 'सागारिक' शब्द का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि जहाँ निवास करने से मैथुन का उद्भव होता है वह सागारिकवसति है। वहाँ के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है। अथवा जहाँ स्त्री-पुरुष रहते हैं वह सागारिकवसति है। वहाँ के लिए भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है : जत्थ वसहीये ठियाण मेहुणुब्भवो भवति सा सागारिका, तत्थ चउगुरुगा।

---

१. पृ० ४८४–५. २. पृ० ५९४. ३. चतुर्थ भाग, पृ० १

अथवा जत्थ इत्थिपुरिसा वसति सा सागारिका '।[1] पण्यशाला आदि मे ठहरने का निषेध करते हुए चूर्णिकार ने निम्न स्थानो का वर्णन किया है :

१. पण्यशाला—जहाँ व्यापारी अथवा कुम्भकार वर्तन वेचता है।
२. भडशाला—जहाँ वर्तनो का सग्रह रखा जाता है।
३. कर्मशाला—जहाँ कुम्भकार वर्तन बनाता है।
४. पचनशाला—जहाँ वर्तन पकाये जाते हैं।
५. इन्धनशाला—जहाँ घासफूस एकत्र किया जाता है।
६ व्यघारणशाला—जहाँ सारे गाँव के लिए दिन-रात अग्नि जलती रहती है।

एतद्विषयक चूर्णिपाठ इस प्रकार है - पणियशाला जत्थ भायणाणि विक्केति वाणियकुम्भकारो वा एसा पणियसाला। भडसाला जहिं भायणाणि संगोवियाणि अच्छति। कम्मसाला जत्थ कम्म करेति कुम्भकारो। पयणसाला जहिं पच्चति भायणाणि। इधणसाला जत्थ तण-करिसभारा अच्छति। वग्घारणसाला तोसलिविसए गाममज्झे साला कीरइ, तत्थ अगणिकुडं णिच्चमेव अच्छति सयंवरणिमित्त "।[2]

जुगुप्सित—घृणित कुलो से आहार आदि ग्रहण करने का निषेध करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जुगुप्सित दो प्रकार के होते हैं - इत्वरिक और यावत्कथिक। इत्वरिक थोडे समय के लिए होते हैं जबकि यावत्कथिक जीवनभर के लिए होते हैं। सूतक आदि वाले कुल इत्वरिक-जुगुप्सित कुल हैं। लोहकार, कलाल, चर्मकार आदि यावत्कथिक-जुगुप्सित कुल हैं।[3] इन कुलो से साधु को आहार आदि नही लेना चाहिए।

श्रमणो को आर्यदेश में ही विचरना चाहिए, अनार्यदेश में नही। प्रस्तुत चूर्णि में आर्यदेश की सीमा इस प्रकार बताई गई है : पुव्वेण मगहविसओ, दक्खिणेण कोसबी, अवरेण थूणाविसओ, उत्तरेण कुणालाविसओ। एतेसि मज्झ आरिय, परतो अणारिय।[4] पूर्व मे मगध से लेकर पश्चिम मे स्थूणापर्यन्त और दक्षिण में कौशाबी से लेकर उत्तर मे कुणालापर्यन्त आर्यदेश है। शेष अनार्यदेश है। यही मान्यता भाष्यकार आदि की भी है।

सप्तदश उद्देश :

इस उद्देश के प्रारम्भ में कुतूहल—कौतुक के कारण होनेवाली दोष-पूर्ण क्रियाओ का निषेध किया गया है। आगे दस प्रकार के स्थितकल्प और दो

---

१. चतुर्थ भाग, पृ० १. २. पृ० ६१ ३ पृ० १३२. ४. पृ० १२६.

प्रकार के स्थापनकल्प का स्वरूप बताया गया है। 'जे भिक्खू गाएज्ज'''''''
(सू १३४) का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने गीत, हसन, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का स्वरूप बताया है तथा इनका आचरण करने वाले श्रमण के लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान किया है।[3] इसी प्रकार शख, शृंग, वेणु आदि के विषय में भी समझना चाहिए।[4]

अष्टदश उद्देश :

इस उद्देश की चूर्णि मे मुख्यरूप से नावविषयक दोषों का विवेचन किया गया है इन दोषो में नाव पर आरुढ होना, नाव खरीदना, नाव को स्थल से जल मे और जल से स्थल पर पहुँचाना, भरी नाव का पानी खाली करना, खाली नाव में पानी भरना, नाव को खीचना, नाव को ढकेलना, नाव खेना, नाव को रस्सी आदि से बांधना, नाव में बैठे हुए किसी से आहारादि लेना इत्यादि का समावेश किया गया है।

एकोनविंशतितम उद्देश :

प्रस्तुत उद्देश की व्याख्या मे चूर्णिकार ने स्वाध्याय और अध्यापन सम्बन्धी नियमो पर विशेष प्रकाश डाला है स्वाध्याय का काल और अकाल, स्वाध्याय का विषय और अविषय, अस्वाध्यायिक का स्वाध्याय करने से लगने वाले दोष, अयोग्य व्यक्ति को पढाने से होनेवाली हानि, दो तुल्य व्यक्तियों मे से एक को पढाने और दूसरे को नही पढाने से लगने वाला दोष और उसका प्रायश्चित्त, पार्श्वस्थ आदि कुतीर्थियो को पढाने से लगने वाले दोष, गृहस्थ आदि को पढाने से लगने वाले दोष—इन सब बातो का आचार्य ने विस्तार से विचार किया है।

विंशतितम उद्देश :

यह अन्तिम उद्देश है। इसकी चूर्णि मे मासिकादि परिहारस्थान तथा उनके प्रतिसेवन, आलोचन, प्रायश्चित्त आदि का विवेचन किया गया है। साथ ही भिक्षु, मास, स्थान, प्रतिसेवना और आलोचना का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है।[1] अन्त में[2] चूर्णिकार के परिचय के रूप में निम्न गाथाएँ हैं :

ति चउ पण अट्ठमवग्गे, ति पणग ति तिग अक्खरा व ते तेंसि।
पढमततिएहि तिदुसरजुएहि णाम कय जस्स ॥ २ ॥
गुरुदिण्ण च गणित्त, महत्तरत्त च तस्स तुट्ठेहि।
तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स ॥ ३ ॥

---

१ पृ० १९९ २ पृ० २०१ ३ पृ० २७१–२८७ ४. पृ० ४११

अ, क, च, ट, त, प, य और श—इन वर्गों के अक्षरो का प्रथम गाथा के निर्देशानुसार सयोग करने से 'जिणदास' शब्द बन जाता है। दूसरी गाथा में 'गणि' और 'महत्तर' शब्दो का निर्देश है। इस प्रकार इन तीनो शब्दो का क्रमशः सयोग करने पर 'जिणदासगणिमहत्तर' शब्द बन जाता है। प्रस्तुत चूर्णि जिन-दासगणि महत्तर की कृति है। इसका नाम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, निशीथ-विशेषचूर्णि अथवा, विशेष-निशीथचूर्णि है।



द्वादश प्रकरण

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि

यह चूर्णि[1] मुख्यतया प्राकृत में है। कही-कही संस्कृत शब्दो अथवा वाक्यो के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। चूर्णि का आधार मूल सूत्र एव नियुक्ति है। प्रारम्भ में चूर्णिकार ने परम्परागत मगल की उपयोगिता का विचार किया है। तदनन्तर प्रथम नियुक्ति-गाथा का व्याख्यान किया है .

वदामि भद्दवाहु, पाईण चरमसयलसुअनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि, दसासु कप्पे अ ववहारे ॥१॥

भद्दवाहु नामेण, पाईणो गोत्तेण, चरिमो अपच्छिमो, सगला इचोद्दसपुव्वाइ। किं निमित्त नमोक्कारो तस्स कज्जति? उच्यते-जेण सुत्तस्स कारओ ण अत्थस्स, अत्थो तित्थगरातो पसूतो। जेण भण्णति-अत्थ भासति अरहा । इसके बाद श्रुत का वर्णन किया गया है। तदनन्तर दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनो के अधिकारो पर प्रकाश डालते हुए उनका क्रमश॰ व्याख्यान किया गया है। व्याख्यान-शैली सरल है। मूल सूत्रपाठ और चूर्णिसम्मत पाठ में कही-कही थोडा सा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के रूप मे कुछ शब्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं। ये शब्द आठवें अध्ययन कल्प के अन्तर्गत हैं[2]

---

१ इस चूर्णि की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से प्राप्त हुई अत उनका अति आभारी हूँ। इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र के नाम से अलग प्रकाशित हुआ है जिसमे मूल सूत्रपाठ, नियुक्ति, चूर्णि और पृथ्वीचन्द्राचार्यविरचित टिप्पनक सम्मिलित हैं' सपादक—मुनि श्री पुण्यविजयजी, गुजराती भाषान्तर—प॰ वेचरदास जीवराज दोशी, चित्रविवरण—साराभाई मणिलाल नवाब, प्राप्तिस्थान-साराभाई मणिलाल नवाब, छीपा मावजीनी पोल, अहमदावाद, सन् १९५२

२ मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा स्वीकृत पाठ के आवार पर इन शब्दो का सग्रह किया गया है।

सूत्रांक	सूत्रपाठ	चूर्णिपाठ
३	पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि	पुव्वरत्तावरत्तंसि
१४	मुइंग	मुरव
६१	पट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं जिय	पट्ठेहिं णिउणेहिं जिय
६२	उण्होदएहि य	—
१०७	पित्तिज्जे	पेत्तिज्जए
१२२	अतरावास	अतरवास
१२३	अतगडे	—
२१२	पज्जोसवियाण	पज्जोसविए
२८१	अणट्ठावघिस्स	अट्ठावघिस्स

इस प्रकार के पाठभेदों के अतिरिक्त सूत्र-विपर्यास भी देखने में आते हैं। उदाहरण के लिए इसी अध्ययन के सूत्र १२६ और १२७ चूर्णि में विपरीत रूप मे मिलते है। इसी प्रकार आचार्य पृथ्वीचन्द्रविरचित कल्प-टिप्पनक मे भी अनेक जगह पाठभेद दिखाई देता है।



त्रयोदश प्रकरण

बृहत्कल्पचूर्णि

यह चूर्णि[1] मूल सूत्र एव लघु भाष्य पर है। इसकी भाषा सस्कृतमिश्रित प्राकृत है। प्रारम्भ में मगल की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत चूर्णि का प्रारम्भ का यह अश दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के प्रारम्भ के अश से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इन दोनों अशो को यहाँ उद्धृत करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनमे कितना साम्य है :

मंगलादीणि सत्थाणि मंगलमज्झाणि मगलावसाणाणि। मगलपरिग्गहिया य सिस्सा सुत्तत्थाण अवग्गहेहापायधारणासमत्था भवति। तानि चाऽऽदि-मध्याऽवसानमगलात्मकानि सर्वाणि लोके विराजन्ति विस्तार च गच्छन्ति। अनेन कारणेनादौ मगल मध्ये मगलमवसाने मगलमिती। आदि मगलग्गहणेण तस्स स सत्थस्स अविग्घेण लहु पारं गच्छन्ति। मज्झमगलगहणेण त सत्थ थिरपरिजियं भवइ। अवसाणमंगलग्गहणेण त सत्थ सिस्स-पसिस्सेसु अव्वोच्छित्तिकर भवइ। तत्रादौ मगल पापप्रतिषेधकत्वादिद सूत्रम् ' —बृहत्कल्पचूर्णि, पृ० १.

मगलादीणि सत्थाणि मगलमज्झाणि मगलावसाणाणि मगलपरिग्गहिता य सिस्सा अवग्गहेहापायधारणासमत्था अविग्घेण सत्थाण पारगा भवति। ताणि य सत्थाणि लोगे वियरति वित्थार च गच्छति। तत्थादिमगलेण निव्विग्घेण सिस्सा सत्थस्स पार गच्छन्ति। मज्झमगलेण सत्थ थिरपरिचिअ भवइ। अवसाणमगलेण सत्थ सिस्स-पसिस्सेसु परिच्चय गच्छति। तत्थादिमगल ' —दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पृ० १.

इन दोनों पाठो मे बहुत समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के पाठ के आधार पर बृहत्कल्पचूर्णि का पाठ लिखा गया। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का उपर्युक्त पाठ सक्षिप्त एव सकोचशील है, जबकि बृहत्कल्पचूर्णि का पाठ विशेष स्पष्ट एव विकसित प्रतीत होता है। भाषा की दृष्टि से भी दशाश्रुत स्कन्धचूर्णि बृहत्कल्पचूर्णि से प्राचीन मालूम होती है। जितना बृहत्कल्पचूर्णि पर सस्कृत का प्रभाव है उतना दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि पर नही है। इन तथ्यो को देखते

---

१ इस चूर्णि की हस्तलिखित प्रति के लिए मुनि श्री पुण्यविजयजी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपनी निजी सशोधित प्रति मुझे देने की कृपा की।

हुए ऐसा प्रतीत होता है कि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि बृहत्कल्पचूर्णि से पूर्व लिखी गई है और सम्भवत. दोनो एक ही आचार्य की कृतियाँ हैं।

प्रस्तुत चूर्णि मे भी भाष्य के ही अनुसार पीठिका तथा छ. उद्देश हैं। पीठिका के प्रारम्भ में ज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हुए चूर्णिकार ने तत्वार्थाधिगम का एक सूत्र उद्धृत किया है। अवधिज्ञान के जघन्य और उत्कृष्ट विषय की चर्चा करते हुए चूर्णिकार कहते हैं :

जावतिए त्ति जहण्णेण तिसमयाहारगसुहुमपणगजीवावगाहणामेत्ते उक्कोसेण सव्वबहुअगणिजीवपरिच्छित्ते पासइ दव्वादि आदिग्गहणेण वण्णादि तमिति खेत्त ण पेच्छति यस्मादुक्तम्—"रूपिष्ववधे" (तत्त्वार्थ० १–२८) तच्चारूपि खेत्त अतो ण पेच्छति।[1]

अभिधान अर्थात् वचन और अभिधेय अर्थात् वस्तु इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए चूर्णिकार ने भाष्याभिमत अथवा यो कहिये कि जैनाभिमत भेदाभेदभाव का प्रतिपादन किया है। अभिधान और अभिधेय को कथञ्चित भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न बताते हुए आचार्य ने 'वृक्ष' शब्द के छः भाषाओ मे पर्याय दिये हैं. सक्कय जहा वृक्ष इत्यादि, पागत जहा रुक्खो इत्यादि। देशाभिधान च प्रतीत्य अनेकाभिधान भवति जधा ओदणो मागधाण कूरो लाडाण चोरो दमिलाण इडाकु अधाण।[2] सस्कृत मे जिसे वृक्ष कहते हैं वही प्राकृत में रुक्ख, मगध देश मे ओदण, लाट मे कूर, दमिल—तमिल मे चोर और अध—आन्ध्र में इडाकु कहा जाता है।

कर्म-बन्ध की चर्चा करते हुए एक जगह चूर्णिकार ने विशेषावश्यकभाष्य तथा कर्मप्रकृति का उल्लेख किया है : वित्थरेण जहा विसेसावस्सगभासे सामित्त चेव सव्वपगडीण को केवतिय बधइ खवेइ वा, कत्तिय को उ त्ति जहा कम्मपगडीये।[3] इसी प्रकार प्रस्तुत चूर्णि में महाकल्प और गोविन्द निर्युक्ति का भी उल्लेख है तत्थ नाणे महाकप्पसुयादीण अट्ठाए। दसणे गोविन्दनिज्जुत्तादीण।[4]

चूर्णि के प्रारम्भ की भाँति अन्त में भी चूर्णिकार के नाम का कोई उल्लेख अथवा निर्देश नही है। अन्त मे केवल इतना ही उल्लेख है : कल्पचूर्णि समाप्ता। ग्रन्थाग्र ५३०० प्रत्यक्षरगणनयानिर्णीतम्।[5] ऐसी दशा में किसी अन्य निश्चित प्रमाण के अभाव में चूर्णिकार के नाम का असदिग्ध निर्णय करना अशक्य प्रतीत होता है।



१ पृ० १७ २. पृ० २५ ३ पृ० ३७ ४ पृ० १३८३ ५ पृ० १६२०.

टीकाएँ

प्रथम प्रकरण

टीकाएँ और टीकाकार

टीकाओ से हमारा अभिप्राय सस्कृत टीकाओ से है। निर्युक्तियो, भाष्यो और चूर्णियो की रचना के बाद जैन आचार्यों ने सस्कृत मे भी अनेक टीकाएँ लिखी। इन टीकाओ के कारण जैन साहित्य के क्षेत्र मे काफी विस्तार हुआ। प्रत्येक आगम-ग्रन्थ पर कम-से-कम एक टीका तो लिखी ही गई। टीकाकारो ने प्राचीन भाष्य आदि के विषयो का विस्तृत विवेचन किया तथा नये-नये हेतुओ द्वारा उन्हें पुष्ट किया। टीकाकारो में हरिभद्रसूरि, शीलाकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक टीकाकारो के नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ की टीकाएँ उपलब्ध हैं और कुछ की अनुपलब्ध। कुछ ऐसी टीकाओं को प्रतियाँ अथवा उल्लेख भी मिलते है जिनके लेखको के नाम नही मिलते। जिनरत्नकोश आदि में निम्नलिखित ऐसे आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिन्होंने आगम-साहित्य पर टीकाएँ लिखी है —

जिनभद्रगणि, हरिभद्रसूरि, कोट्याचार्य, कोट्यार्य (कोट्टार्य), जिनभट, शीलाकसूरि, गधहस्ती, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, द्रोणसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, देवेन्द्रगणि, नेमिचन्द्रसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, श्रीतिलकसूरि, क्षेमकीर्ति, भुवनतुगसूरि, गुणरत्न, विजयविमल, वानरर्षि, हीरविजयसूरि, शान्तिचन्द्रगणि, जिनहंस, हर्षकुल, लक्ष्मीकल्लोलगणि, दानशेखरसूरि, विनयहस, नमिसाधु, ज्ञानसागर, सोमसुन्दर, माणिक्यशेखर, शुभवर्धनगणि, धीरसुन्दर, कुलप्रभ, राजवल्लभ, हितरुचि, अजितदेवसूरि, साधुरग उपाध्याय, नगर्षिगणि, सुमतिकल्लोल, हर्षनन्दन, मेघराज वाचक, भावसागर, पद्मसुन्दरगणि, कस्तूरचन्द्र, हर्षवल्लभ उपाध्याय, विवेकहस उपाध्याय, ज्ञानविमलसूरि, रामचन्द्र, रत्नप्रभसूरि, समरचन्द्रसूरि, पद्मसागर, जीवविजय, पुण्यसागर, विनयराजगणि, विजयसेनसूरि, हेमचन्द्रगणि, विशालसुन्दर, सौभाग्यसागर, कीर्तिवल्लभ, कमलसयम उपाध्याय, तपोरत्न वाचक, गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय, धर्ममदिर उपाध्याय, उदयसागर, मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशीलगणि, ब्रह्मर्षि, अजितचन्द्र-

सूरि, राजशील, उदयविजय, सुमतिसूरि, समयसुन्दर, शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, क्षमारत्न, जयदयाल।

इन आचार्यों में अनेक ऐसे हैं जिनके ठीक-ठीक व्यक्तित्व का निश्चय नहीं हो पाया है। संभवत एक ही आचार्य के एक से अधिक नाम हों अथवा एक ही नाम के एक से अधिक आचार्य हों। इसके लिए विशेष शोध-खोज की आवश्यकता है। टीकाओं के लिए आचार्यों ने विभिन्न नामों का प्रयोग किया है। वे नाम हैं : टीका, वृत्ति, विवृति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पन, टिप्पनक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्थ इत्यादि।

उपर्युक्त आचार्यों में से जिनके विषय में थोड़ी-बहुत प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है उनका विशेष परिचय देते हुए उनकी रचनाओं पर कुछ प्रकाश डाला जायेगा। इन रचनाओं में प्रकाशित टीकाओं की ही मुख्यता होगी।



द्वितीय प्रकरण

जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य-स्वोपज्ञवृत्ति

विशेषावश्यकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र द्वारा प्रारम्भ की गई प्राचीनतम प्रस्तुत टीका[1] कोट्याचार्य वादिगणि ने पूर्ण की है। आचार्य जिनभद्र ने अपने प्रियतम प्राकृत ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य का स्वकृत संस्कृतरूप जीवित रखने तथा उसे पाठको के समक्ष गद्य मे प्रस्तुत करने की पवित्र भावना से ही प्रस्तुत प्रयास प्रारम्भ किया था। दुर्भाग्य से वे अपनी यह इच्छा अपने जीवनकाल मे पूर्ण न कर सके। परिणामत वे षष्ठ गणधरवक्तव्य तक की टीका लिखकर ही दिवगत हो गये। टीका का अवशिष्ट भाग कोट्याचार्य ने पूर्ण किया।

जिनभद्र ने प्रस्तुत टीका के लिए अलग मगल-गाथा आदि न लिखते हुए सीधा भाष्य गाथा का व्याख्यान प्रारम्भ किया है। व्याख्या की शैली बहुत ही सरल, स्पष्ट एव प्रसादगुणसम्पन्न है। विषय का विशेष विस्तार न करते हुए सक्षेप में ही विषयप्रतिपादन का सफल प्रयास किया है।

व्याख्यानशैली के कुछ नमूने नीचे दिये जाते है जिनसे उपर्युक्त कथन की यथार्थता की पुष्टि हो सकेगी। भाष्य की प्रथम गाथा है

कयपवयणप्पणामो, वुच्छं चरणगुणसगह सयल।
आवस्सयाणुओग, गुरूवएसाणुसारेण ॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य लिखते है :

'प्रोच्यन्ते ह्यनेन जीवादयोऽस्मिन्निति वा प्रवचनम्, अथवा प्रगतं प्रधानं (प्र) शस्तमादौ वा वचन द्वादशाङ्गम्, अथवा प्रवक्तीति प्रवचनम्, तदुपयोगानन्यत्वाद्वा सङ्घ प्रवचनम्। प्रणमन प्रणाम:, पूजेत्यर्थ.। कृत: प्रवचनप्रणामोऽनेन कृतप्रवचनप्रणाम:। 'वुच्छ' वक्ष्ये। चर्यते तदिति चरण—चारित्र, गुणा:—मूलोत्तरगुणा चरणगुणा., अथवा चरण—चारित्र गुणग्रहणात् सम्यग्दर्शनज्ञाने, तेषा सग्रहण सग्रह। सह

---

१ इसकी हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी के प्रसाद से प्राप्त हुई है। इसका प्रथम भाग प० दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित होकर लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से सन् १९६६ मे प्रकाशित हुआ है।

तानेव प्रणिपत्यात परमविशिष्टविवरण क्रियते ।
कोट्यार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥ १ ॥
सघटनमात्रमेतत् स्थूलकमतिसूक्ष्मविवरणपटस्य ।
शिवभक्त्युपहृतलुब्धकनेत्रवदिदमननुरूपमपि ॥ २ ।
सुमतिस्वमतिस्मरणादर्शपरानुवचनोपयोगवेलायाम् ।
मद्वदुपयुज्यते चेत् गृह्णन्त्वलसास्ततोऽन्येऽपि ॥ ३ ॥

भगवान् महावीर के सातवें गणधर की वक्तव्यता के निरूपण का उद्घाटन करते हुए टीकाकार कोट्यार्यवादिगणि कहते हैं

अथ सप्तमस्य भगवतो गणधरस्य वक्तव्यतानिरूपणसम्बन्धनाय गाथाप्रपञ्च. ।[1]

आचार्य कोटयार्यवादिगणि की निरूपणशैली भी आचार्य जिनभद्र की शैली की तरह ही प्रसन्न एव सुबोध है । विषय-विस्तार कुछ अधिक है पर कही-कही । कोट्यार्यकृत विवरण के कुछ नमूने नीचे उद्धृत किये जाते हैं ।

'ते पव्वइए सोउ ' इत्यादि सप्तम गणधरवादसम्बन्धी गाथाओ का व्याख्यान करते हुए आचार्य लिखते हैं ·

'हे मौर्यपुत्र ! आयुष्मन् ! काश्यप ! त्व मन्यसे नारका सक्लिष्टाः · कर्मवशतया परतन्त्रत्वात् स्वय च दु खसतप्तत्वात्, इहागन्तुमशक्ता अस्माकमप्यनेन शरीरेण तत्र गन्तु कर्मवशतयैवाशक्तत्वात् प्रत्यक्षीकरणोपायासम्भवाद् आगमगम्या एव श्रुतिस्मृतिग्रन्थेषु श्रूयमाणा श्रद्धेया भवन्तु । ये पुनरमी देवास्ते स्वच्छन्दचारिण कामरूपा दिव्यप्रभावाश्च किमिति दर्शनविषय नोपयान्ति किमिह नागच्छन्तीत्यभिप्राय अवश्य न सन्ति येनास्मादृशाना प्रत्यक्षा न भवन्ति अतो न सन्ति देवा ; '[2]

'तम्हा ज मुत्त सुह ' की व्याख्या मे आचार्य मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :

'मुक्तसुख तत्त्व परमार्थं', निष्प्रतीकारप्रसूतित्वात्, परित्यक्तसर्वलोकयात्रावृत्तान्तनि सङ्गयतिसुखवत्, उक्त च—

निर्जितमदमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम् ॥

अथवान्यथा परमार्थसुखस्वरूपत्वमात्मन आख्यायते ।[3]

गुरु को सुखरूप मानते हुए आचार्य 'सुयसस्सत्थो ' का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं

१. पृ० ४१३ २ पृ० ४१४ ३ पृ० ४५४.

'सु प्रशसाया निपात, खानीन्द्रियाणि, शोभनानि खानि यस्य स सुख शुद्धेन्द्रिय इत्यर्थ । शुद्धानि प्रशस्तानि वश्यानीन्द्रियाणि यस्य एतद्विपरीत· असुख अजितेन्द्रिय इत्यर्थं.'[1]

प्रस्तुत विवरण की समाप्ति करते हुए वृत्तिकार कहते है .

' ' चेति परमपूज्यजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृतविशेषावश्यकप्रथमाध्ययनसामायिकभाष्यस्य विवरणमिद समाप्तम् ।'[2]

इसके बाद प्रस्तुत प्रति के लेखक ने अपनी ओर से निम्न वाक्य जोडा है·

'सूत्रकारपरमपूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रारब्धा समर्थिता श्रीकोट्याचार्यवादिगणिमहत्तरेण श्रीविशेषावश्यकलघुवृत्तिः ।'

तदनन्तर लेखन के समय तथा स्थान का उल्लेख किया है :

'सवत् १४९१ वर्षे द्वितीयज्येष्ठवदि ४ भूमे श्रीस्तम्भतीर्थे लिखितमस्ति ।'

उपर्युक्त प्रथम वाक्य से स्पष्ट है कि प्रति-लेखक ने वृत्तिकार जिनभद्र का नाम तो ज्यो का त्यो रखा किन्तु कोट्यार्य का नाम बदलकर कोट्याचार्य कर दिया । इतना ही नही, उनके नाम के साथ महत्तर की उपाधि और लगा दी । परिणामत कोट्यार्यवादिगणि कोट्यार्यवादिगणिमहत्तर हो गये । इसी के साथ लेखक ने विशेषावश्यकभाष्यविवरण का नाम भी अपनी ओर से विशेषावश्यकलघुवृत्ति रख दिया है ।



१. पृ० ९४२ (हस्तलिखित). २. पृ० ९८७ (हस्तलिखित).

तृतीय प्रकरण

हरिभद्रकृत वृत्तियाँ

हरिभद्रसूरि जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार हैं। इन्होने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार और पिण्डनिर्युक्ति पर टीकाएँ लिखी है। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूरी की है।

जैन परम्परा के अनुसार विक्रम सवत् ५८५ अथवा वीर सवत् १०५५ अथवा ई० स० ५२९ मे हरिभद्रसूरि का देहावसान हो गया था। इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करते हुए हर्मन जेकोबी लिखते हैं कि ई० स० ६५० मे होने वाले धर्मकीर्ति के तात्त्विक विचारो से हरिभद्र परिचित थे अत यह सभव नहीं कि हरिभद्र ई० स० ५२९ के बाद न रहे हो। हरिभद्र के समय-निर्णय का एक प्रबल प्रमाण उद्योतन सूरि का कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ है। यह ग्रथ शक सवत् ७०० की अन्तिम तिथि अर्थात् ई० स० ७७९ के मार्च की २१वी तारीख को पूर्ण हुआ था। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे उद्योतन ने हरिभद्र का अपने दर्शन-शास्त्र के गुरु के रूप में उल्लेख किया है तथा उनका अनेक ग्रन्थो के रचयिता के रूप मे वर्णन किया हैं।[1] इस प्रमाण के आधार पर मुनि श्री जिनविजयजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महान् तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्र और 'कुवलयमाला' कथा के कर्ता उद्योतनसूरि अपरनाम दाक्षिण्यचिह्न दोनो (कुछ समय तक तो अवश्य ही) समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रन्थराशि लिखने वाले महापुरुष की आयु कम-से-कम ६०-७० वर्ष की तो अवश्य हुई होगी। अत लगभग ईसा की आठवी शताब्दी प्रथम दशक मे हरिभद्र का जन्म और अष्टम दशक में मृत्यु मान ली जाए तो कोई असगति प्रतीत नही होती। अत हम ई० स० ७०० से ७७० अर्थात् वि० स० ७५७ से ८२७ तक हरिभद्रसूरि का सत्ता-समय निश्चित करते हैं।[2]

हरिभद्र का जन्म वीरभूमि मेवाड के चित्रकूट (चित्तौड) नगर में हुआ था। आज से लगभग साढे बारह सौ वर्ष पूर्व इस नगर मे जितारि नामक राजा

---

१ जैन साहित्य सशोधक, ख० ३, अ० ३, पृ० २८३

२. वही, ख० १, अं० १, पृ० ५८ और आगे

राज्य करता था। हरिभद्र इसी राजा के राज-पुरोहित थे। पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित होने तथा अनेक विद्याओं में पारगत होने के कारण इनका सर्वत्र समादर होता था। इस समादर तथा प्रतिष्ठा के कारण हरिभद्र को कुछ अभिमान हो गया था। वे समझने लगे कि इस समस्त भूखण्ड पर कोई ऐसा पंडित नहीं जो मेरी—अरे मेरी क्या, मेरे शिष्य की भी बराबरी कर सके। हरिभद्र अपने हाथ में जम्बू वृक्ष की एक शाखा रखते थे जिससे यह प्रकट हो सके कि समस्त जम्बूद्वीप में उनके जैसा कोई नहीं है। इतना ही नहीं, वे अपने पेट पर एक स्वर्णपट्ट भी बाँधे रहते थे जिससे लोगों को यह मालूम हो जाता कि उनमें इतना ज्ञान भरा हुआ है कि पेट फटा जा रहा है। हरिभद्र ने एक प्रतिज्ञा भी कर रखी थी कि 'जिसके कथन का अर्थ मैं न समझ सकूँगा उसका शिष्य बन जाऊँगा।'

एक दिन पुरोहितप्रवर हरिभद्र भट्ट पालकी पर चढ कर बाजार में घूमने लगे। पालकी के आगे-पीछे 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'वैयाकरणप्रवण', 'न्यायविद्या-विचक्षण', 'वादिमतगजकेसरी', 'विप्रजननरकेसरी' इत्यादि विरुदावली गूँज रही थी। मार्ग में सर्वत्र शान्ति थी। अकस्मात् लोगों में भगदड चालू हो गई। चारों ओर से 'भागो, दौडो, पकडो' की आवाज आने लगी। हरिभद्र ने पालकी से मुँह निकाल कर देखा तो मालूम हुआ कि एक प्रचण्ड कृष्णकाय हाथी पागल हो गया है और लोगों को रौंदता हुआ बढता चला आ रहा है। यह देखकर पालकी उठाने वाले लोग भी भाग खडे हुए। हरिभद्र और कोई उपाय न देखकर पालकी से निकलते ही पास ही के एक जिनमंदिर में घुस गये। इसी समय उन्हें 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमन्दिरम्' की निरर्थकता का अनुभव हुआ। मंदिर में स्थित जिनप्रतिमा को देखकर उसका उपहास करते हुए कहने लगे—"वपुरेव तवाऽऽचष्टे स्पष्ट मिष्ठान्नभोजनम्।"

एक दिन भट्ट हरिभद्र राजमहल से अपने घर की ओर लौट रहे थे। मार्ग में एक जैन उपाश्रय था। उपाश्रय पर बैठ कर साध्वियाँ स्वाध्याय कर रही थी। संयोग से आज भट्टजी के कानों में एक गाथा—आर्या की ध्वनि पहुँची।[1] उन्होंने उसका अर्थ समझने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता न मिली। भट्टजी बोले—"माताजी! आपने तो इस गाथा में खूब चकचकाट किया।" साध्वी ने बडी नम्रता एवं कुशलता के साथ उत्तर दिया 'श्रीमन्! नया-नया तो ऐसा ही लगता है। यह सुनकर भट्टजी का मिथ्या अभिमान मिट गया। उन्हें अपनी

१ चक्कीदुग हरिपणग पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य॥

प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। वे कहने लगे—"माता जी! आप मुझे अपना शिष्य बनाइए और उस गाथा का अर्थ समझाने की कृपा कीजिए।" यह सुनकर जैन आर्या महत्तरा ने नम्रतापूर्वक कहा कि पुरुषों को शिष्य बनाना तथा अर्थ समझाना हमारा कार्य नहीं है। यदि तुम्हारी शिष्य बनने तथा गाथा का अर्थ समझने की इच्छा ही है तो सुनो। इसी नगर में हमारे धर्माचार्य जिनभट हैं। वे तुम्हारी इच्छा पूरी करेंगे। हरिभद्र तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसी आर्या के शिष्य बनना चाहते थे किन्तु महत्तरा के अत्यन्त आग्रह के कारण वे इस आज्ञा को गुरु की आज्ञा के समान ही समझकर उसी समय आचार्य जिनभट के पास पहुँचे। साथ में आर्या महत्तरा भी थी। मार्ग में वही जिनमंदिर आया जिसने हरिभद्र को मृत्यु के मुख से बचाया था। इस समय हरिभद्र की मन स्थिति बदल चुकी थी। जिन प्रतिमा को देख कर वे कहने लगे—"वपुरेव तवाऽऽचष्टे भगवन्! वीतरागताम्।" पहले जहाँ 'स्पष्ट मिष्टान्नभोजनम्' याद आया था वहाँ अब 'भगवन्! वीरागताम्' याद आ रहा था। आर्या महत्तरा और हरिभद्र आचार्य जिनभट के पास पहुचे। आचार्य ने हरिभद्र को दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। अब वे धर्मपुरोहित होकर स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए जैनधर्म का प्रचार करने लगे।

प्रभावकचरित में वर्णित उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार हरिभद्र के दीक्षागुरु आचार्य जिनभट सिद्ध होते हैं किन्तु हरिभद्र के खुद के उल्ललेखों से ऐसा फलित होता है कि जिनभट उनके गच्छपति गुरु थे, जिनदत्त दीक्षाकारी गुरु थे, याकिनी महत्तरा धर्मजननी अर्थात् धर्ममाता थी, उनका कुल विद्याधर एव सम्प्रदाय सिताम्बर-श्वेताम्बर था।[1]

आचार्य हरिभद्रकृत ग्रंथ-सूची में निम्न ग्रंथ समाविष्ट हैं —

१ अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति, २. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ टीका सहित), ३ अनेकान्तप्रघट्ट, ४ अनेकान्तवादप्रवेश, ५ अष्टक, ६ आवश्यकनिर्युक्ति लघुटीका, ७ आवश्यकनिर्युक्तिवृहट्टीका, ८ उपदेशपद, ९ कथाकोष, १० कर्मस्तववृत्ति, ११ कुलक, १२ क्षेत्रसमासवृत्ति, १३ चतुर्विंशतिस्तुतिसटीक, १४ चैत्यवदनभाष्य, १५ चैत्यवदनवृत्ति—ललितविस्तरा, १६ जीवाभिगम-

---

१ आवश्यक-निर्युक्ति-टीका के अन्त मे देखिए

'समाप्ता चेय शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका। कृति सिताम्बराचार्य-जिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनो. अल्पमते आचार्यहरिभद्रस्य।'

लघुवृत्ति, १७ ज्ञानपञ्चकविवरण, १८. ज्ञानादित्यप्रकरण, १९ दशवैकालिक-अवचूरि, दशवैकालिकबृहट्टीका, २१ देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण, २२ द्विजवदन-चपेटा (वेदाकुश), २३. धर्मबिन्दु, २४ धर्मलाभसिद्धि, २५ धर्मसग्रहणी, २६ धर्मसारमूलटीका, २७ धूर्ताख्यान, २८ नदीवृत्ति, २९ न्यायप्रवेशसूत्र-वृत्ति, ३० न्यायविनिश्चय, ३१. न्यायमृततरगिणी, ३२ न्यायावतारवृत्ति, ३३ पचनिर्ग्रन्थि, ३४. पचलिंगी, ३५ पचवस्तु सटीक, ३६ पचसग्रह, ३७ पचसूत्रवृत्ति, ३८, पचस्थानक, ३९. पचाशक, ४० परलोकसिद्धि, ४१ पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति (अपूर्ण), ४२ प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, ४३. प्रतिष्ठा-कल्प, ४४. बृहन्मिथ्यात्वमथन, ४५ मुनिपतिचरित्र, ४६. यतिदिनकृत्य, ४७. यशोधरचरित्र, ४८ योगदृष्टिसमुच्चय, ४९ योगबिन्दु, ५० योगशतक, ५१. लग्नशुद्धि (लग्नकुण्डलि), ५२. लोकतत्त्वनिर्णय, ५३ लोकबिन्दु, ५४ विंशति (विंशतिविंशिका), ५५ वीरस्तव, ५६ वीरागदकथा, ५७ वेद-बाह्यतानिराकरण, ५८ व्यवहारकल्प, ५९. शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक, ६०. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति, ६१ श्रावकधर्मतन्त्र, ६२. षड्दर्शनसमुच्चय, ६३ षोडशक, ६४ सकितपचासी, ६५ संग्रहणीवृत्ति, ६६ सपचासित्तरी, ६७ सबोधसित्तरी, ६८ सबोधप्रकरण, ६९ ससारदावास्तुति, ७० आत्मानुशासन, ७१ समराइच्च-कहा, ७२ सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण सटीक, ७३ स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।[1]

कहा जाता है कि आचार्य हरिभद्र ने १४४४ ग्रथो की रचना की थी। इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि १४४४ बौद्धो का सहार करने के सकल्प के प्रायश्चित्त के रूप मे उनके गुरु ने उन्हे १४४४ ग्रथ लिखने की आज्ञा दी थी।

समराइच्चकहा के अन्त मे कहा गया है

एय जिणदत्तायरियस्स उ अवयवभूएण चरियमिण।
ज विरइऊण पुन्न महाणुभावचरिय मए पत्त।
तेण गुणाणुराओ होइ इहं सव्वलोयस्स॥

इस घटना का उल्लेख राजशेखरसूरि ने अपने चतुर्विंशतिप्रबन्ध और मुनि क्षमाकल्याण ने अपनी खरतरगच्छपट्टावली मे भी किया है। इन ग्रथो में से कुछ ग्रथ पचास श्लोकप्रमाण भी है। इस प्रकार के 'पचाशक' नाम के १९ ग्रथ आचार्य हरिभद्र ने लिखे हैं जो आज पचाशक नामक एक ही ग्रथ में समाविष्ट है। इसी प्रकार सोलह श्लोको के षोडशक, बीस श्लोकों की विंशिकाएँ भी हैं। इनकी एक स्तुति 'ससारदावा' तो केवल चार श्लोकप्रमाण ही है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र की ग्रथ-सख्या मे और भी वृद्धि की जा सकती है।

---

१. जैनदर्शन (अनुवादक—पं० बेचरदास) : प्रस्तावना, पृ० ४५-५१.

आचार्य हरिभद्र ने अपने प्रत्येक ग्रथ के अन्त में प्राय· 'विरह' शब्द का प्रयोग किया है। प्रभावकचरित्र मे इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है ·

अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेह ।
निजकृतिमिह सव्यधात् समस्ता विरहपदेन युता मता स मुख्यः ॥
श्रीहरिभद्रप्रबन्ध, का० २०६.

अपने अति प्रिय दो शिष्यो के विरह से दु खित हृदय होकर आचार्य ने अपने प्रत्येक ग्रथ को 'विरह' शब्द से अकित किया है।

आचार्य हरिभद्रकृत प्रकाशित टीकाओ का परिचय आगे दिया जाता है।

नन्दीवृत्ति :

यह वृत्ति[1] नन्दीचूर्णि का ही रूपातर है। इसमे प्रायः उन्ही विषयों का व्याख्यान किया गया है जो नन्दीचूर्णि मे हैं। व्याख्यान-शैली भी वही है जो चूर्णिकार की है।[2] प्रारम्भ मे मगलाचरण करने के बाद नन्दी के शब्दार्थ, निक्षेप आदि का विचार किया गया है। तदनन्तर जिन, वीर और सघ की स्तुति की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है तथा तीर्थंकरावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है। नन्दी-ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता का विचार करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि अयोग्यदान से वस्तुत· अकल्याण ही होता है और निर्देश किया है कि इसकी विस्तृत व्याख्या मैं आवश्यकानुयोग मे करूँगा। यहाँ स्थानपूर्ति के लिए भाष्य की गाथाओ से ही व्याख्यान किया जाता है अतोऽयोग्यदाने दातृकृतमेव वस्तुतस्तस्य तदकल्याणमिति, अल प्रसगेन, प्रकृत प्रस्तुम·, तत्राधिकृतगाथा प्रपञ्चत· आवश्यकानुयोगे व्याख्यास्याम·, इह स्थानाशून्यार्थं भाष्यगाथाभिर्व्याख्यायत इति।[3] इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् का व्याख्यान किया गया है। तदनन्तर आचार्य ने ज्ञान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, विषय आदि का विस्तृत विवेचन किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमिकादि उपयोग का प्रतिपादन करते हुए यौगपद्य के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्रगणि आदि

---

१ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताबर सस्था, रतलाम, सन् १९२८; प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, सन् १९६६.

२ चूर्णि और वृत्ति के मूल सूत्र-पाठ मे कही-कही थोडा-सा अन्तर है : पढमेत्थ इदभूती, बीए पुण होति अग्गिभूतित्ति (चूर्णि), पढमेत्थ इदभूई बीओ पुण होइ अग्गिभूइत्ति (वृत्ति)। देखिए—क्रमश पृ० ६ और १३

३ पृ० २१

का तथा अभेद के समर्थक वृद्धाचार्यों का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है : केचन सिद्धसेनाचार्यादय भणंति, किं? युगपद्—एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च, क? केवली, न त्वन्य, नियमात्–नियमेन। अन्ये जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतय एकान्तरित जानाति पश्यति चेत्येव-मिच्छन्ति, श्रुतोपदेशेन—यथाश्रुतागमानुसारेणेत्यर्थं, अन्ये तु वृद्धाचार्या न–नैव विष्वक पृथक् तद्दर्शनमिच्छन्ति जिनवरेन्द्रस्य-केवलिन इत्यर्थं, किं तर्हि? यदेव केवलज्ञान तदेव 'से' तस्य केवलिनो दर्शन ब्रुवते, क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभाववत् केवलदर्शनाभावादिति भावना।[1] प्रस्तुत सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तृतीय मत—अभेदवाद के प्रवर्तक हैं। वृत्तिकार ने सभवत वृद्धाचार्य के रूप में इन्हीं का निर्देश किया है। द्वितीय मत—क्रमिकत्व के समथक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी[2] कहा गया है। श्रुत के श्रवण और व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य ने नन्द्यध्ययन-विवरण समाप्त किया है। अन्त मे लिखा है[3]

यदिहोत्सूत्रमज्ञानाद्, व्याख्यात तद् बहुश्रुतैं।
क्षन्तव्य कस्य सम्मोहश्छद्मस्थस्य न जायते ॥ १ ॥
नन्द्यध्ययनविवरण कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम्।
तेन खलु जीवलोको लभता जिनशासने नन्दीम् ॥ २ ॥

कृति सिताम्बराचार्यजिनभट्टपादसेवकस्याचार्यश्रीहरिभद्रस्येति। नम श्रुतदेवतायै भगवत्यै। समाप्ता नन्दोटीका। ग्रन्थाग्र २३३६

अनुयोगद्वारटीका :

यह टीका[4] अनुयोगद्वारचूर्णि की शैली पर लिखी गयी है। प्रारम्भ मे आचार्य ने महावीर को नमस्कार करके अनुयोगद्वार की विवृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है :

प्रणिपत्य जिनवरेन्द्र त्रिदशेन्द्रनरेन्द्रपूजित वीरम्।
अनुयोगद्वाराणा प्रकटार्थां विवृतिमभिधास्ये ॥ १ ॥

टीकाकार ने यह बताया है कि नन्दी की व्याख्या के अनन्तर ही अनुयोगद्वार के व्याख्यान का अवकाश है नन्द्यध्ययनव्याख्यानसमनन्तरमेवानुयोग-द्वाराध्ययनावकाश '।[5] मगल का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने लिखा है कि इसका विशेष विवेचन नन्दी की टीका मे किया जा चुका है। अत' यहाँ इतना ही पर्याप्त है अस्य सूत्रस्य समुदायार्थोऽवयवार्थश्च नन्द्यध्ययन-

१ पृ० ५२. २ पृ० ५५ ३ पृ० ११८.
४. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन् १९२८.
५ पृ० १.

टीकाया प्रपञ्चत प्रतिपादित एवेति नेह प्रतिपाद्यत इति ।[1] इन वक्तव्यो से स्पष्ट है कि प्रस्तुत टीका नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है। 'तम्हा आवस्सय' इत्यादि का विवेचन करते हुए आचार्य ने 'आवश्यक' शब्द का निपेक्ष-पद्धति से विचार किया है। नामादि आवश्यको का स्वरूप बताते हुए नाम, स्थापना और द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। वे इस प्रकार है [2]

नाम :

यद्वस्तुनोऽभिधान स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेय च नाम यादृच्छिक च तथा ॥

स्थापना :

यत्त् तदर्थवियुक्त तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि ।
लेप्यादिकर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकाल च ॥

द्रव्य :

भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारण तु यल्लोके ।
तद्द्रव्य तत्त्वज्ञै सचेतनाचेतन कथितम् ॥

श्रुत का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि चतुर्विध श्रुत का स्वरूप आवश्यकविवरण के अनुसार समझ लेना चाहिए ।[3] इसी प्रकार आगे भी आवश्यकविवरण और नन्दीविशेषविवरण का उल्लेख किया गया है ।[4] स्कन्ध, उपक्रम आदि का निक्षेप-पद्धति से विवेचन करने के बाद आचार्य ने आनुपूर्वी का बहुत विस्तार से प्रतिपादन किया है। आनुपूर्वी, अनुक्रम और अनुपरिपाटी पर्यायवाची है ।[5] आनुपूर्वी की व्याख्या की समाप्ति के अनन्तर द्विनाम, त्रिनाम, चतुर्नाम, पंचनाम, षट्नाम, सप्तनाम, अष्टनाम, नवनाम और दशनाम का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने विविध अगुलो के स्वरूप का वर्णन किया है तथा समय का विवेचन करते हुए पल्योपम का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है। इसी प्रकार शरीरपञ्चक का निरूपण करने के बाद भावप्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और सख्या का व्याख्यान किया है। 'से किं त वत्तव्वया' इत्यादि का प्रतिपादन करते हुए वक्तव्यता की दृष्टि से पुन नय का विचार किया गया है। ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने ज्ञान और क्रिया दोनो की सयुक्त उपयोगिता सिद्ध की है। ज्ञानपक्ष का समर्थन करते हुए वे कहते है :[6]

---

१. पृ० २ २. पृ० ६, ७, ८ ३. पृ० २१. ४. पृ० २२
५. पृ० ३०–५९. ६. पृ० १२६.

विज्ञप्ति फलदा पुसा, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासवाददर्शनात् ॥

इसी प्रकार क्रिया के समर्थन मे उन्होने लिखा है[1]

क्रियैव फलदा पुसा, न ज्ञान फलद मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥

टीका के अन्त मे कहा गया है समाप्तेयं शिष्यहितानामानुयोगद्वार-टीका, कृति. सिताम्बराऽऽचार्यजिनभट्टपादसेवकस्याऽऽचार्यहरिभद्रस्य। कृत्वा विवरणमेतत्प्राप्त——।[2]

दशवैकालिकवृत्ति :

इस वृत्ति[3] का नाम शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे बृहद्वृत्ति भी कहते है। यह टीका शय्यम्भवसूरिविहित दशवैकालिकसूत्र की भद्रबाहुविरचित निर्युक्ति पर है। प्रारभ में आचार्य हरिभद्र ने वीर प्रभु को नमस्कार किया है :

जयति विजितान्यतेजाः सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान्।
विमलस्त्रासविरहितस्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीर ॥ १ ॥

दशवैकालिक का दूसरा नाम दशकालिक भी है। 'दशकालिक' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वृत्तिकार कहते हैं 'कालेन निर्वृत्त कालिक, प्रमाणकालेनेति भावः, दशाध्ययनभेदात्मकत्वाद्दशप्रकारं कालिक प्रकारशब्दलोपाद्दशकालिक '[4] अर्थात् जो काल से अर्थात् प्रमाणकाल से निर्वृत्त है वह कालिक है। चूकि इस सूत्र मे दस अध्याय हैं इसलिए इसका नाम दशकालिक है।

मगल की आवश्यकता बताते हुए आचार्य ने 'मगल' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है 'मङ्गयते हितमनेनेति मङ्गल, मङ्गयतेऽधिगम्यते साध्यत इति यावत् अथवा मङ्ग इति धर्माभिधान, 'ला आदाने' अस्य धातोर्मङ्गे उपपदे "आतोऽनुपसर्गे क" (पा० ३-२-३) इति कप्रत्ययान्तस्यानुबन्धलोपे कृते "आतो लोप इटि च" (पा० ६-४-६४) इत्यनेन सूत्रेणाकारलोपे च कृते प्रथमैकवचनान्तस्यैव मङ्गलमिति भवति, मङ्गलातीति मङ्गलं धर्मोपादनहेतुरित्यर्थं, अथवा मा गालयति भवादिति मङ्गल, ससा-

१ पृ १२७ २ पृ १२८.
३. (अ) देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८.
(आ) समयसुन्दरकृत टीकासहित—भीमसी माणेक, बम्बई, सन् १९००.
४ पृ. २ (अ)

रादपनयतीत्यर्थ ।'[1] यह व्युत्पत्ति तीन प्रकार की है : (१) जिससे हित सिद्ध किया जाए, (२) जो धर्म लावे अथवा (३) जो भव से छुडावे वह मगल है। द्वितीय प्रकार की व्युत्पत्ति मे पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का भी प्रयोग किया गया है ।

दशवैकालिक सूत्र की रचना कैसे हुई ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार ने निर्युक्ति की गाथा का अक्षरार्थ करते हुए भावार्थ स्पष्ट करने के लिए शय्यम्भवाचार्य का पूरा कथानक उद्धृत किया है ।[2] यह और इसी प्रकार के अन्य अनेक कथानक प्रस्तुत वृत्ति मे उद्धृत किये गये है । ये सभी कथानक प्राकृत में है ।

तप का व्याख्यान करते हुए आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत चार प्रकार के ध्यान का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने चार श्लोको मे ध्यान का पूरा चित्र उपस्थित कर दिया है :[3]

आर्तध्यान - राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु,
स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु ।
इच्छाभिलापमतिमात्रमुपैति मोहाद्,
ध्यान तदार्त्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञा· ॥ १ ॥

रौद्रध्यान सच्छेदनैर्दहनभञ्जनमारणैश्च,
वन्धप्रहारदमनैर्विनिकृन्तनैश्च ।
यो याति रागमुपयाति च नानुकम्पा,
ध्यान तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञा ॥ २ ॥

धर्मध्यान सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
बन्धप्रमोक्षगमनागमहेतुचिन्ता ।
पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
ध्यान तु धर्ममिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञा· ॥ ३ ॥

शुक्लध्यान यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि,
सङ्कल्पकल्पनविकल्पविकारदोषै· ।
योगै सदा त्रिभिरहो निभृतान्तरात्मा,
ध्यानोत्तम प्रवरशुक्लमिद वदन्ति ॥ ४ ॥

---

१ पृ. २ (ब), ३ (अ). २. पृ. १०-११.

३ पृ ३१ (ब). विस्तार के लिए ध्यानशतक देखिए जिसका आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत टीका मे उल्लेख किया है—पृ ३१ (ब), ३२ (अ).

विविध प्रकार के श्रोताओ की दृष्टि से कथन के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि विभिन्न अवयवो की उपयोगिता का सोदाहरण विचार करते हुए आचार्य ने तद्विपयक दोषो की शुद्धि का भी प्रतिपादन किया है। निर्युक्तिसम्मत विहगम के विविध निक्षेपो का विस्तृत व्याख्यान करते हुए द्रुमपुष्पिका नामक प्रथम अध्ययन का विवरण समाप्त किया है।

द्वितीय अध्ययन की वृत्ति मे श्रमण, पूर्व, काम, पद आदि शब्दो का विवेचन करते हुए तीन प्रकार के योग, तीन प्रकार के करण, चार प्रकार की सज्ञा, पाँच प्रकार की इन्द्रिय, पाँच प्रकार के स्थावरकाय, दस प्रकार के श्रमणधर्म और अठारह शीलागसहस्त्र का प्रतिपादन किया गया है। भोगनिवृत्ति का स्वरूप समझाने के लिए रथनेमि और राजीमती का कथानक उद्धृत किया है।

तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत्, क्षुल्लक आदि पदो का व्याख्यान करते हुए दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सोदाहरण विवेचन किया गया है। इसी प्रकार अर्थादि चार प्रकार की कथाओ का उदाहरणपूर्वक स्वरूप समझाया गया है। श्रमणसम्बन्धी अनाचीर्ण का स्वरुप बताते हुए वृत्तिकार ने तृतीय अध्ययन की व्याख्या समाप्त की है।

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या में निम्न विषयो पर प्रकाश डाला गया है: जीव का स्वरूप व उसकी स्वतन्त्र सत्ता, चारित्रधर्म के पाँच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत, श्रमणधर्म की दुर्लभता। जीव के स्वरूप का विचार करते समय वृत्तिकार ने अनेक भाष्यगाथाएँ उद्धृत की है और साथ ही साथ अपने दार्शनिक दृष्टिकोण का पूरा उपयोग किया है।

पचम अध्ययन की वृत्ति में आहारविपयक मूल गाथाओ का व्याख्यान किया गया है। 'बहुअट्ठियं पुग्गल' की व्याख्या इस प्रकार है: किञ्च 'बहुअट्ठिय' इति सूत्र वह्वस्थि 'पुद्गल' मास 'अनिमिप' वा मत्स्य वा वहुकण्टकम्, अय किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेध., अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति, तथा चाह–'अत्थिक' अस्थिकवृक्षफलम्, 'तेदुक' तेदुरुकोफलम्, 'विल्व' इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, 'शाल्मलि वा' वल्लादिफलि वा, वाशव्दस्य व्यवहित सम्वन्ध इति सूत्रार्थ ।[1]

षष्ठ अध्ययन की वृत्ति मे अष्टादश स्थानो का विवरण किया गया है जिनका सम्यक् ज्ञान होने पर ही साधु अपने आचार मे निर्दोप एव दृढ रह सकता है। ये अठारह स्थान व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभावर्जनरूप है।

---

१ पृ. १७६ (अ).

सप्तम अध्ययन की व्याख्या में भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का विचार किया गया है एव श्रमण के लिए उपयुक्त भापा का विधान स्पष्ट किया गया है।

अष्टम अध्ययन की व्याख्या मे आचारप्रणिधि की प्रक्रिया एव फल का प्रतिपादन किया गया है।

नवम अध्ययन की वृत्ति मे विनय के विविध रूप, विनय का फल, आचार-समाधि आदि का स्वरूप वताया गया है।

दशम अध्ययन की वृत्ति मे सुभिक्षु के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

चूलिकाओ की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने धर्म के रतिजनक और अरतिजनक कारण, विविध चर्या आदि उन्ही विपयो का साधारण स्पष्टीकरण किया है जिनका उल्लेख सूत्रकार और निर्युक्तिकार ने किया है। वृत्ति के अन्त मे निम्न श्लोक है [1]

महत्तराया याकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता ।
आचार्यहरिभद्रेण टीकेय शिष्यवोधिनी ॥ १ ॥
दशवैकालिके टीका विधाय यत्पुण्यमर्जित्त तेन ।
मात्सर्यदु खविरहादगुणानुरागी भवतु लोक ॥ २ ॥

प्रज्ञापना-प्रदेशव्याख्या

इस टीका[2] के प्रारम्भ में जैन प्रवचन की महिमा वताते हुए कहा गया है :

रागादिवध्यपटह सुरलोकसेतुरानन्ददुदुभिरसत्कृतिवञ्चितानाम् ।
संसारचारकपलायनफालघटा, जैनवचस्तदिह को न भजेत विद्वान् ॥ १ ॥

इसके वाद मगल की महिमा वताई गई है और मंगल के विशेप विवेचन के लिए आवश्यक-टीका का नामोल्लेख किया गया है।[3] इसी प्रसग पर भव्य और अभव्य का विवेचन करते हुए आचार्य ने वादिमुख्यकृत अभव्यस्वभावसचक निम्न श्लोक उद्धृत किया है :[4]

सद्धर्मबीजवपनानधकौशलस्य, यल्लोकवान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुत खगकुलेष्विह तामसेपु सूर्याशवो मधुकरीचरणावदाता. ॥ १॥

१ पृ० २८६

२ पूर्वभाग—ऋपभदेवजो केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन् १९४७

उत्तरभाग—जैन पुस्तक प्रचारक सस्था, सूर्यपुर, सन् १९४९.

३ पृ २ ४ पृ. ४

तदनन्तर प्रज्ञापना के विषय, कर्तृत्व आदि का वर्णन किया गया है। जीव-प्रज्ञापना और अजीवप्रज्ञापना का वर्णन करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तार-पूर्वक व्याख्यान किया गया है। यहाँ तक प्रथम पद की व्याख्या का अधिकार है।

द्वितीय पद की व्याख्या मे पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रियादि के स्थानो का वर्णन किया गया है।

तृतीय पद की व्याख्या मे कायाद्यल्पबहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियो से जीवविचार, लोकसम्बन्धी अल्प-बहुत्व, आयुर्बन्ध का अल्पबहुत्व, पुद्गलाल्पबहुत्व, द्रव्याल्पबहुत्व, अवगाढाल्पबहुत्व आदि का विचार किया गया है।

चतुर्थ पद की व्याख्या मे नारको की स्थिति का विवेचन है।

पचम पद की व्याख्या में नारकपर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ और सप्तम पद के व्याख्यान मे आचार्य ने नारकसम्बन्धी विरहकाल का वर्णन किया है।

अष्टम पद की व्याख्या में आचार्य ने सज्ञा का स्वरूप बताया है। सज्ञा का अर्थ है अभोग अथवा मनोविज्ञान। सज्ञा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य कहते है, 'तत्र सज्ञा आभोग इत्यर्थः, मनोविज्ञान इत्यन्ये, सज्ञायते वा अनयेति सज्ञा—वेदनीयमोहनीयोदयाश्रया ज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमाश्रया च विचित्रा आहारादिप्राप्तये क्रियेत्यर्थः, सा चोपाधिभेदाद् भिद्यमाना दश प्रकारा भवति, तद्यथा—आहारसज्ञेत्यादि .'[1]। इसके बाद आहारादि दस प्रकार की सज्ञा का स्वरूप बताते हुए ग्रथकार कहते है : 'तत्र क्षुद्वेदनीयोदयाद् कवलाद्याहारार्थं पुद्गलोपादानक्रियैव सज्ञायते अनयेत्याहारसज्ञा तथा भयवेदनीयोदयाद् भयोद्भ्रातस्य दृष्टिवदनविकार-रोमाचोद्भेदार्था विक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति भयसज्ञा, तथा पु वेदोदयान्मैथुनाय स्त्र्यालोकनप्रसन्नवदनमन.स्तम्भितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणा विक्रियैव संज्ञायते अनयेति (मैथुनसज्ञा, चारित्रमोहविशेषोदयात् धर्मोपकरणातिरिक्ततदतिरेकस्य वा आदित्साक्रियैव) परिग्रहसज्ञा, तथा क्रोधोदयात् तदाशयगर्भा पुरुषमुखनयनदतच्छदस्फुरणचेष्टैव सज्ञायतेऽनयेति क्रोधसज्ञा, तथा मनोदयादहकारात्मिकोत्सेकादिपरिणतिरेव संज्ञायतेऽनयेति मानसज्ञा, तथा मायोदयेनाशुभसक्लेशादनृतभाषणादिक्रियैव सज्ञायतेऽनयेति मायासज्ञा, तथा लोभोदयाल्लालसान्विता-सचित्तेतरद्रव्यप्रार्थनैव सज्ञायतेऽनयेति लोभसज्ञा, तथा लोभोदयोपशमा-

१. पृ० ६१

च्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव सञ्ज्ञायते अनयेति ओघसञ्ज्ञा, तथा तद्विशेषावबोधक्रियैव सञ्ज्ञायते अनयेति लोकसञ्ज्ञा, ततश्चोघसञ्ज्ञा दर्शनोपयोग· लोकसञ्ज्ञातु ज्ञानोपयोग इति, व्यत्ययमन्ये, अन्ये पुनरित्थमभिदधते—सामान्यप्रवृत्तिरोघसञ्ज्ञा, लोकदृष्टिर्लोकसञ्ज्ञा '[1]
इन सज्ञाओ का मनोविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व है । आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सज्ञा का ज्ञान और सवेदन मे और क्रिया का अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति में समावेश कर सकते है । ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से आचार्य ने ओघसज्ञा को दर्शनोपयोग और लोकसज्ञा को ज्ञानोपयोग कहा है तथा तद्विपरीत मत का भी उल्लेख किया है ।

नवम पद की व्याख्या मे विविध योनियो का विचार किया गया है ।

दशम पद की व्याख्या में रत्नप्रभा आदि पृथ्वियो का चरम और अचरम की दृष्टि से विवेचन किया गया है । चरम का अर्थ है प्रान्तपर्यन्तवर्ती और अचरम का अर्थ है प्रातमध्यवर्ती । ये दोनो अर्थ आपेक्षिक हैं । प्रस्तुत विवेचन मे आचार्य ने अनेक प्राकृत गद्याश उद्धृत किये हैं ।

ग्यारहवें पद की व्याख्या में भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य ने स्त्री, पुरुष और नपुसक-लक्षणनिर्देशक कुछ श्लोक उद्धृत किये है :[2]

स्त्री— योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धता क्लीबता स्तनौ ।
पुस्कामितेति लिगानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥
पुरुष— मेहन खरता दार्ढ्यं, शौडीर्यं श्मश्रु तृप्तता ।
स्त्रीकामितेति लिंगानि, सप्त पुस्त्वे प्रचक्षते ॥ २ ॥
नपुसक—स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावाभावसमन्वितम् ।
नपुसक बुधा प्राहुर्मोहानलसुदीपितम् ॥ ३ ॥

स्त्री के सात लक्षण हैं · योनि, मृदुत्व, अस्थिरता, मुग्धता, दुर्बलता, स्तन और पुरुषेच्छा । पुरुष के भी सात लक्षण हैं : मेहन, कठोरता, दृढता, शूरता, मूछें, तृप्ति और स्त्रीकामिता । नपुसक के लक्षण स्त्री और पुरुष के लक्षणो से मिले-जुले बीच के होते हैं जो न पूरी तरह स्त्री के अनुरूप होते है न पुरुष के । उसमें मोह की मात्रा अत्यधिक होती है ।

बारहवें पद के व्याख्यान में आचार्य ने औदारिकादि शरोर के सामान्य स्वरूप का विवेचन किया है ।

तेरहवें पद के व्याख्यान मे जीव और अजीव के विविध परिणामो का प्रतिपादन किया गया है । जीवपरिणाम इस प्रकार होता है गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेद । अजीवपरिणाम का

---

१. पृ० ६१-२. २. पृ० ७७

विवेचन करते हुए आचार्य ने बन्धनपरिणाम के निम्नांकित लक्षण का समर्थन किया है ।[1]

समणिद्धयाए बंधो ण होति समलुक्खयाए वि ण होति ।
बेमाइयणिद्धलुक्खत्तणेण बधो उ खधाण ॥

तथा च—

णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेति बधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥

आगे के पदो की व्याख्या मे कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, अन्तक्रिया, अवगाहना—सस्थानादि, क्रिया (कायिकी, आधिकरणकी, प्राद्वेषिकी पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी), कर्मप्रकृति, कर्मबन्ध, आहारपरिणाम, उपयोग, पश्यत्ता, सज्ञा, सयम, अवधि, प्रवीचार, वेदना और समुद्घात का विशेष विवेचन किया गया है । तीसवे पद की व्याख्या मे आचार्य ने उपयोग और पश्यत्ता की भेदरेखा खीचते हुए लिखा है कि पश्यत्ता में त्रैकालिक अवबोध होता है जबकि उपयोग मे वर्तमान और त्रिकाल दोनो का अवबोध समाविष्ट है अतो यत्र त्रैकालिकोऽवबोधोऽस्ति तत्र पासणया भवति, यत्र पुनर्वर्तमानकालस्त्रैकालिकश्च बोध स उपयोग इत्यय विशेष ।[2] यही कारण है कि साकार उपयोग आठ प्रकार का है जबकि साकार पश्यत्ता छ प्रकार की है । साकार पश्यत्ता मे साम्प्रतकालविषयक मतिज्ञान और मत्यज्ञानरूप साकार उपयोग के दो भेदो का समावेश नही किया जाता ।

आवश्यकवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[3] आवश्यक निर्युक्ति पर है । कही-कही भाष्य की गाथाओ का भी उपयोग किया गया है । वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने इस वृत्ति में आवश्यकचूर्णि का पदानुसरण न करते हुए स्वतन्त्र रीति से निर्युक्ति-गाथाओ का विवेचन किया है । प्रारम्भ मे मगल के रूप मे श्लोक है :

प्रणिपत्य जिनवरेन्द्र, वीर श्रुतदेवता गुरून् साधून् ।
आवश्यकस्य विवृतिं, गुरूपदेशादह वक्ष्ये ॥ १ ॥

इसके बाद प्रस्तुत वृत्ति का प्रयोजन दृष्टि मे रखते हुए वृत्तिकार कहते हैं :

यद्यपि मया तथाऽन्यै, कृताऽस्य विवृतिस्तथापि सक्षेपात् ।
तद्रुचिसत्त्वानुग्रहहेतोः क्रियते प्रयासोऽयम् ॥ २ ॥

---

१ पृ०९८ २. पृ० १४९
३ आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१६-७

अर्थात् यद्यपि मैंने तथा अन्य आचार्यों ने इस सूत्र का विवरण लिखा है तथापि सक्षेप मे वैसी रुचि वाले लोगो के लिए पुन प्रस्तुत प्रयास किया जा रहा है। इस कथन से आचार्य हरिभद्रकृत एक और टीका—वृहट्टीका का होना फलित होता है। यह टीका अभी तक अनुपलब्ध है।

इन दोनो श्लोको का विवेचन करने के बाद नियुक्ति की प्रथम गाथा 'आभिणिबोहियनाण ' की व्याख्या करते हुए आचार्य ने पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप-प्रतिपादन किया है। आभिनिबोधिक आदि ज्ञानो की व्याख्या में वैविध्य का पूरा उपयोग किया है। यह व्याख्यानवैविध्य चूर्णि मे दृष्टिगोचर नही होता। उदाहरण के लिए 'आभिनिबोधिक' शब्द के व्याख्यान मे कितनी विविधता है, इसकी ओर जरा ध्यान दीजिए

'अर्थाभिमुखो नियतो बोध अभिनिबोध, अभिनिबोध एव आभिनिबोधिक, विनयादिपाठात् अभिनिबोधशब्दस्य "विनयादिभ्यष्ठक्" (पा० ५, ४, ३४) इत्यनेन स्वार्थं एव ठक् प्रत्ययो, यथा विनय एव वैनयिकमिति, अभिनिबोधे वा भव तेन वा निवृत्त तन्मय तत्प्रयोजन वा, अथवा अभिनिबुध्यते तद् इत्याभिनिबोधिक, अवग्रहादिरूप मतिज्ञानमेव तस्य स्वसविदितरूपत्वात्, भेदोपचारादित्यर्थं, अभिनिबुध्यते वाऽनेनेत्याभिनिबोधिक, तदावरणकर्मक्षयोपशम इति भावार्थं, अभिनिबुध्यते अस्मादिति वा आभिनिबोधिक, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव, अभिनिबुध्यतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशम इत्याभिनिबोधिक, आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वाद् अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिक, अभिनिबोधिकं च तज्ज्ञान चेति समास।'[1]

उपर्युक्त गद्यांश में वृत्तिकार ने छ दृष्टियो से आभिनिबोधिक ज्ञान का व्याख्यान किया है। (१) अर्थाभिमुख जो नियत बोध है, (२) जो अभिनिबुद्ध होता है, (३) जिसके द्वारा, अभिनिबुद्ध होना है, (४) जिससे अभिनिबुद्ध होता है, (५) जिसमें अभिनिबुद्ध होता है अथवा (६) जो अभिनिबोधोपयोग परिणाम से अभिन्नतया अभिनिबुद्ध होता है वह आभिनिबोधिक है। इसी प्रकार श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल का भी भेद-प्रभेदपूर्वक व्याख्यान किया गया है।

सामायिक नियुक्ति का व्याख्यान करते हुए प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसग पर वृत्तिकार ने वादिमुख्यकृत दो श्लोक उद्धृत किये है जिनमें यह बताया गया है कि कुछ पुरुष स्वभाव से ही ऐसे होते हैं जिन्हे वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती

---

१ पूर्वार्धं, पृ० ७ (१)

है। इसमें वीतराग के प्रवचनों का कोई दोष नहीं है। दोष सुनने वाले उन पुरुष-उलूकों का है जिनका स्वभाव ही वीतराग-प्रवचनरूपी प्रकाश मे अन्धे हो जाना है। जैसाकि आचार्य कहते हैं[1]: त्रैलोक्यगुरोधर्मदेशनक्रिया विभिन्नस्वभावेषु प्राणिषु तत्स्वाभाव्यात् विबोधाविबोधकारिणी पुरुषोलूककमलकुमुदादिषु आदित्यप्रकाशनक्रियावत्, उक्त च वादिमुख्येन—

त्वद्वाक्यतोऽपि केषाञ्चिदबोध इति मेऽद्भुतम्।
भानोर्मरीचयः कस्य, नाम नालोकहेतवः ॥ १ ॥
न चाद्भुतमुलूकस्य, प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः।
स्वच्छा अपि तमस्त्वेन, भासन्ते भास्वतः कराः ॥ २ ॥

सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि २३ द्वारों का विवेचन करते हुए वृत्तिकार ने एक जगह (आवश्यक के) विशेषविवरण का उल्लेख किया है। निर्देश-द्वार के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद वे लिखते हैं: व्यासार्थस्तु विशेषविवरणादवगन्तव्य इति।[2]

सामायिक के निर्गम-द्वार के प्रसंग से कुलकरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए आचार्य ने सात कुलकरों की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक प्राकृत कथानक दिया है और उनके पूर्वभवों के विषय में सूचित किया है कि एतद्विषयक वर्णन प्रथमानुयोग में देख लेना चाहिए: पूर्वभवाः खल्वमीषां प्रथमानुयोगतोऽवसेयाः।[3] उनकी आयु आदि का वर्णन करते हुए वृत्तिकार ने 'अन्ये तु व्याचक्षते'[4] ऐसा लिख कर तद्विषयक मतभेदों का भी उल्लेख किया है। आगे नाभि कुलकर के यहाँ भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, यह बताया गया है तथा उनके तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्म बँधने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए धन नामक सार्थवाह का आख्यान दिया गया है। यह आख्यान भी अन्य आख्यानों की भाँति प्राकृत में ही है। इस प्रसंग से सम्बन्धित गाथाओं में से एक गाथा का अन्यकर्तृकी गाथा के रूप में उल्लेख किया गया है। 'उत्तरकुरु सोहम्मे महाविदेहे महब्बलो ' गाथा का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं: इयमन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च।[5] भगवान् ऋषभदेव के अभिषेक का वर्णन करते हुए आचार्य ने निर्युक्ति के कुछ पाठान्तर भी दिये हैं: पाठान्तरं वा 'आभोएउ सक्को आगतु तस्स कासि ',[6] 'चउव्विह सगह कासी'[7] इत्यादि। प्रस्तुत वृत्ति में इस प्रकार के अनेक पाठान्तर दिये गये हैं। आदितीर्थंकर

१ पृ० ६७ (२) २ पृ० १०७ (१) ३. पृ० ११० (२), १११ (१).
४ पृ० ११२ (१) ५ पृ० ११४ (२)
६. पृ० १२७ (२) ७ पृ० १२८ (१).

ऋषभ के पारणक के वर्णन के प्रसंग पर एक कथानक दिया गया है और विस्तृत वर्णन के लिए वसुदेवहिंडि[1] का नामोल्लेख किया गया है।

अर्हत् प्रत्यक्षरूप से सामायिक के अर्थ का अनुभव करके ही सामायिक का कथन करते हैं जिसे सुनकर गणधर आदि श्रोताओ के हृदयगत अशेप सशय का निवारण हो जाता है और उन्हें अर्हत् की सर्वज्ञता मे पूर्ण विश्वास हो जाता है।[2]

सामायिकार्थ का प्रतिपादन करनेवाले चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करनेवाले आर्यरक्षित की प्रसूति से सम्बद्ध 'माया य रुद्दसोमा ' आदि गाथाओ का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने एतद्विषयक कथानक का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है।[3] यह कथानक प्रस्तुत सस्करण के पचीस पृष्ठो में समाप्त हुआ है।

चतुर्विंशतिस्तव और वंदना नामक द्वितीय और तृतीय आवश्यक का निर्युक्ति के अनुसार व्याख्यान करने के बाद प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या करते हुए आचार्य ने ध्यान पर विशेप प्रकाश डाला है। 'प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानै करणभूतैरश्रद्धेयादिना प्रकारेण योऽतिचार. कृत, तद्यथा—आर्तध्यानेन, तत्र ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधन ' अथ ध्यानसमासार्थं। व्यासार्थस्तु ध्यानशतकादवसेय, तच्चेदम्— '[4] ऐसा कह कर ध्यानशतक की समस्त गाथाओ का व्याख्यान किया है। इसी प्रकार परिस्थापना की विधि का वर्णन करते हुए पूरी परिस्थापनानिर्युक्ति उद्धृत कर दी है। सात प्रकार के भयस्थानसबधी अतिचारो की आलोचना का व्याख्यान करते हुए सग्रहणिकारकृत एक गाथा उद्धृत की है।[6] आगे की वृत्ति में सग्रहणिकार की और भी अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी आवश्यक के अन्तर्गत अस्वाध्यायसम्बन्धी निर्युक्ति की व्याख्या में सिद्धसेन क्षमाश्रमण की दो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं।[7]

पचम आवश्यक कायोत्सर्ग के अत में 'शिष्यहिताया कायोत्सर्गाध्ययन समासम्।' ऐसा पाठ है। आगे भी ऐसा ही पाठ है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इस अध्ययन के विवरण से प्राप्त पुण्य का फल क्या हो ? इसका उल्लेख करते हुए वृत्तिकार कहते है

कायोत्सर्गविवरणं कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम्।
तेन खलु सर्वसत्त्वा पञ्चविध कायमुज्झन्तु ॥१॥

---

१ पृ० १४५ (२) २ पृ० २८० (२) ३ पृ० २९६ (१)-३०८ (१).
४. उत्तरार्ध (पूर्वभाग), पृ० ५८१. ५ पृ० ६१८ (१)-६४४ (१).
६. पृ० ६४५ ७. पृ० ७४९ (२)-७५० (१)

कायोत्सर्गविवरण से प्राप्त पुण्य के फलस्वरूप सभी प्राणी पचविध काय का उत्सर्ग करें। षष्ठ आवश्यक प्रत्याख्यान के विवरण में श्रावकधर्म का भी विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान की विधि, माहात्म्य आदि आवश्यक बातो की चर्चा करते हुए वृत्तिकार ने शिष्यहिता नामक आवश्यकटीका समाप्त की है समाप्ता चेयं शिष्यहितानामावश्यकटीका। अन्त मे वे लिखते हैं: कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्य-जिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो जाइणीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य। प्रस्तुत टीका श्वेताम्बराचार्य जिनभट के आज्ञाकारी विद्यार्थी विद्याधर कुल के तिलकभूत आचार्य जिनदत्त के शिष्य और याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र अल्पमति आचार्य हरिभद्र की कृति है। यह २२००० श्लोकप्रमाण है.[1]

द्वाविशति सहस्राणि, प्रत्येकाक्षरगणनया (सख्यया)।
अनुष्टुप्छन्दसा मानमस्या उद्देशत कृतम् ॥१॥



१. उत्तरार्ध (उत्तरभाग), पृ० ८६५ (२).

चतुर्थ प्रकरण

कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यकभाष्य-विवरण

कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य पर टीका लिखी है। यह टीका स्वय आचार्य जिनभद्र द्वारा प्रारम्भ की गई एव आचार्य कोट्टार्य द्वारा पूर्ण की गई विशेषावश्यकभाष्य को सर्वप्रथम टीका से भिन्न है। कोट्याचार्य ने अपनी टीका मे आचार्य हरिभद्र का अथवा उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही किया है। इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए कुछ विद्वान् यह अनुमान करते है कि कोट्याचार्य या तो हरिभद्र के पूर्ववर्ती है या समकालीन। कोट्याचार्य ने अपनी टीका में अनेक स्थानो पर आवश्यक की मूल टीका एव विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञटीका का उल्लेख किया है। मूल टीका जिनभद्र की है जिनके नाम का आचार्य ने उल्लेख भी किया है। कोट्याचार्य ने अपनी कृति में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का सम्मानपूर्ण शब्दो द्वारा स्मरण किया है। मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने अपनी विशेषावश्यकभाष्य की टीका मे आचार्य जिनभद्र के साथ कोट्याचार्य का भी प्राचीन टीकाकार के रूप मे उल्लेख किया है। इन सब तथ्यो को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि कोट्याचार्य एक प्राचीन टीकाकार हैं और सम्भवतः वे आचार्य हरिभद्र से भी प्राचीन हो। ऐसी स्थिति में आचार्य शीलाक और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानना युक्तिसगत प्रतीत नही होता, जैसा कि प्रभावकचरित्रकार की मान्यता है।[1] आचार्य शीलाक का समय विक्रम की नवी-दसवी शताब्दी है जबकि कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवी शताब्दी ही सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि शीलाकसूरि और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानने के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नही है।

प्रस्तुत विवरण[2] में कोट्याचार्य ने विशेषावश्यक का व्याख्यान किया है जो न अति सक्षिप्त है और न अति विस्तृत। विवरण मे जो कथानक उद्धृत किये गये हैं वे प्राकृत मे हैं कही-कही पद्यात्मक कथानक भी हैं। विवरणकार ने आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति[4] और जिनभटकृत

---

१ प्रभावकचरित्र (भाषातर) - प्रस्तावना, पृ० ८७ २ ऋषभदेवजी केशरी-मलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन् १९३६-७. ३ पृ० २७५
४. पृ० २४५

आवश्यकविवृति (मूलटीका?)[1] का भी उल्लेख किया है। विवरण मे कहीं-कहीं पाठान्तर दिये गये हैं।[2]

प्रारम्भ में आचार्य ने वीर जिनेश्वर, श्रुतदेवता तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का सादर स्मरण किया है :

नतविबुधवधूना कन्दमाणिक्यभास-
श्चरणनखमयूखैरुल्लसद्भिः किरन् यः।
अकृत कृतजगच्छ्रीर्देशना मानवेभ्यो,
जनयतु जिनवीरः स्थेयसी वः स लक्ष्मीम् ॥१॥
विकचकेतकपत्रसमप्रभा, मुनिपवाक्यमहोदधिपालिनी।
प्रतिदिनं भवताममरार्चिता, प्रविदधातु सुखं श्रुतदेवता ॥२॥
यैर्भव्याम्बुरुहाणि ज्ञानकरैर्बोधितानि वः सन्तु।
अज्ञानध्वान्तभिदे जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यार्काः ॥३॥

अन्त में विवरणकार ने विशेषावश्यकभाष्यकार—सामायिकभाष्यकार आचार्य जिनभद्र (पूज्य) का पुनः स्मरण किया है

भाष्यं सामायिकस्य स्फुटविकटपदार्थोपगूढं यदेतत्,
श्रीमत्पूज्यैरकारि क्षतकलुषधिया भूरिसंस्कारकारि।
तस्य व्याख्यानमात्रं किमपि विदधता यन्मया पुण्यमाप्तं,
प्रेत्याहं द्राग्लभेय परमपरिमितां प्रीतिमत्रैव तेन ॥

प्रस्तुत विवरण का ग्रन्थमान १३७०० श्लोकप्रमाण है : ग्रन्थाग्रमस्या त्रयोदश सहस्राणि सप्तशताधिकानि।[3]



---

१. पुनर्लभन्नित्थमेव मिथ्यात्वं करिष्यति, तत्राप्यपूर्वमिवापूर्वमिति जिनभटाचार्यपादाः।
उत्तरभाग का उपक्रम, पृ० ४
२. पृ० ३३८. ३. पृ० ९८१.

पंचम प्रकरण

गन्धहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा-विवरण

आचार्य गन्धहस्ती ने आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा पर टोका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। शीलाकाचार्य ने अपनी आचाराग-टीका के आरम्भ में इसका उल्लेख किया है। प्रस्तुत गन्धहस्ती और तत्त्वार्थभाष्य पर बृहद्वृत्ति लिखने वाले सिद्धसेन दोनो एक ही व्यक्ति है।[1] ये सिद्धसेन भास्वामी के शिष्य है। अभी तक इनकी उपर्युक्त दो कृतियो के विषय में ही प्रमाण उपलब्ध हैं। सिद्धसेन का नाम गन्धहस्ती किसने व क्यो रखा? इन्होने स्वय अपनी प्रशस्ति में गन्धहस्ती पद नही जोडा। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके शिष्य अथवा भक्त अनुगामियो ने इन्हें गन्धहस्ती के रूप मे प्रसिद्ध किया है। ऐसा करने का कारण यह जान पडता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन एक सैद्धान्तिक विद्वान् थे। उनका आगमो का ज्ञान अति समृद्ध था। वे आगम-विरुद्ध मान्यताओ का खण्डन करने में बहुत प्रसिद्ध थे। सिद्धान्तपक्ष का स्थापन करना उनकी एक बहुत बडी विशेषता थी। उनकी अठारह हजार श्लोकप्रमाण तत्वार्थभाष्य की वृत्ति सम्भवत उस समय तक लिखी गई तत्त्वार्थभाष्य की सभी व्याख्याओ में बडो रही होगी। इस वृहद्वृत्ति तथा उसमे किये गये आगमिक मान्यताओ के समर्थन को देखकर उनके बाद के शिष्यो अथवा भक्तो ने उनका नाम गन्धहस्ती रख दिया होगा। यह 'गन्धहस्ती' शब्द इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि तीर्थंकरो के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। 'शक्रस्तव' नाम से प्रसिद्ध 'नमोत्थुण' के प्राचीन स्तोत्र में पुरिसवरगन्धहत्थीण' का प्रयोग कर तीर्थं-कर को गन्धहस्ती विशेषण से विशिष्ट बताया गया है। सिद्धसेन अर्थात् गन्धहस्ती के समय के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। हाँ, इतना निश्चित है कि ये विक्रम की सातवी और नवी शताब्दी के बीच मे कभी हुए हैं। इन्होने अपनी तत्वार्थभाष्य-वृत्ति मे वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानो का उल्लेख किया है[2] जिससे यह सिद्ध होता है कि ये सातवी शताब्दी (विक्रम) के पहले तो नही हुए। दूसरी ओर नवी शताब्दी मे होने वाले आचार्य शीलाक ने इनका उल्लेख किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि ये नवी शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं।



---

१ इस मत की पुष्टि के लिए देखिये—तत्वार्थसूत्र परिचय, पृ० ३४-४२ (प० सुखलालजीकृत विवेचन).

२ तत्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ६८, ३९७

षष्ठ प्रकरण

शीलांककृत विवरण

आचार्य शीलाक शीलाचार्य एव तत्त्वादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।[1] कहा जाता है कि इन्होने प्रथम नौ अगो पर टीकाएँ लिखी थी,[2] किन्तु वर्तमान में केवल आचाराग और सूत्रकृताग की टीकाएँ ही उपलब्ध हैं। आचाराग-टीका की विभिन्न प्रतियो में भिन्न-भिन्न समय का उल्लेख है। तो किसी में शक स० ७७२ का उल्लेख है तो किसी में शक स० ७८४ का, किसी मे शक स० ७९८ का उल्लेख है तो किसी मे गुप्त स० ७७२ का।[3] इससे यही सिद्ध होता है कि आचार्य शीलाक शक की आठवी अर्थात् विक्रम की नवी-दसवी शताब्दी मे विद्यमान थे।

आचारागविवरण

प्रस्तुत विवरण[4] मूल सूत्र एव निर्युक्ति पर है। विवरणकार ने अपना विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नही रखा है अपितु प्रत्येक विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए बीच-बीच मे अनेक प्राकृत एवं सस्कृत उद्धरण भी दिये हैं। भाषा, शैली, सामग्री आदि सभी दृष्टियो से विवरण को सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व आचार्य ने स्वय इस बात की ओर सकेत किया है। प्रारम्भ मे विवरणकार ने जिनतीर्थ की महिमा बताते हुए उसकी जय बोली है तथा गन्धहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञाविवरण को अति कठिन बताते हुए आचाराग पर सुबोध विवरण लिखने का सकल्प किया है

---

१ निर्वृतिकुलीनश्रीशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति।

—आचाराग-टीका, प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्त

२ प्रभावकचरित्र श्रीअभयदेवसूरिप्रबन्ध, का १०४-५

३ A History of the canonical Literature of the Jainas, पृ० १९७

४ (अ) जिनहस व पार्श्वचन्द्र की टीकाओ सहित—रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० स० १९३६

(आ) आगमोदय समिति, सूरत, वि० स० १९७२-३.

(इ) जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९३५

जयति समस्तवस्तुपर्यायविचारापास्ततीर्थिक,
विहितैकैकतीर्थनयवादसमूहवशात्प्रतिष्ठितम् ।
बहुविधिभंगिसिद्धसिद्धान्तविधूनितमलमलीमस,
तीर्थमनादिनिधनगतमनुपममादिनत जिनेश्वरैः ॥ १ ॥

आचारशास्त्र सुविनिश्चित यथा,
जगाद वीरो जगते हिताय यः ।
तथैव किंचिद् गदतः स एव मे,
पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥ २ ॥
शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहन च गन्धहस्तिकृतम् ।
तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥ ३ ॥

आचार्य सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद करते हैं। पदच्छेद के बाद 'साम्प्रत सूत्रपदार्थः' ऐसा कहते हुए पदों का स्पष्ट अर्थ करते हैं। तदनन्तर तद्विषयक विशेष शंका-समाधान की ओर ध्यान देते हैं। इस प्रसंग पर अपने वक्तव्य की विशेष पुष्टि के लिए कहीं-कहीं उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं। 'सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—इहमेगेसिं णो सण्णा भवति' (सू० १) का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं तच्चेद सूत्रम्—'सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—इहमेगेसिं णो सण्णा भवति' अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या—संहितोच्चरितैव, पदच्छेदस्त्वयम्-श्रुत मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह एकेषां नो संज्ञा भवति। एक तिङन्तं शेषाणि सुबन्तानि, गतः सपदच्छेदः सूत्रानुगमः, साम्प्रत सूत्रपदार्थः समुन्नीयते—भगवान् सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्न इदमाचष्टे यथा—'श्रुतम्' आकर्णितमवगतमवधारितमिति यावद्, अनेन स्वमनोषिकाव्युदासो 'मये' ति साक्षान्न पुनः पारम्पर्येण, 'आयुष्मन्निति' जात्यादिगुणसंभवेऽपि दीर्घायुष्कत्वगुणोपादान दीर्घायुरविच्छेदेन शिष्योपदेशप्रदायको यथा स्यात् 'इहे' ति क्षेत्रे प्रवचने आचारे शस्त्रपरिज्ञाया वा आख्यातमिति सम्बन्धो, यदि वा—'इहे' ति संसारे 'एकेषां' ज्ञानावरणीयावृताना प्राणिना 'नो सज्ञा भवति', सज्ञान सज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तर, सा नो जायते इत्यर्थः, उक्तः पदार्थः, पदविग्रहस्य तु सामासिकपदाभावादप्रकटनम्। इदानी चालना—ननु चाकारादिकप्रतिषेधकलघुशब्दसम्भवे सति किमर्थं नोशब्देन प्रतिषेध इति ? अत्र प्रत्यवस्था—सत्यमेव, किन्तु प्रेक्षापूर्वकारितया नोशब्दोपादान, सा चेयम्—अन्येन प्रतिषेधेन सर्वनिषेधः स्याद्, यथा न घटोऽघट इति चोक्ते सर्वात्मना घटनिषेधः, स

च नेष्यते, यतः प्रज्ञापनाया दश सज्ञाः सर्वप्राणिनामभिहितास्तासा सर्वासा प्रतिपेध. प्राप्नोतीति कृत्वा, ताश्चेमाः ' 'एवमिहापि न सर्वसज्ञानिपेध', अपितु विशिष्टसंज्ञानिषेधो, यथाऽऽत्मादिपदार्थस्वरूप गत्यागत्यादिक ज्ञायते तस्या निपेध इति ।[1]

इसी प्रकार निर्युक्ति-गाथाओ की व्याख्या मे भी प्रत्येक पद का अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है । प्रथम अध्ययन की व्याख्या के अन्त में विवरणकार ने पुन इस बात का निर्देश किया है कि आचार्य गन्धहस्ती ने आचाराग के शस्त्र-परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन का विवरण लिखा है, जो अति कठिन है । मैं अव अवशिष्ट अध्ययनो का विवरण प्रारम्भ करता हूँ :[2]

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृत पूज्यै ।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम् ॥ २ ॥

षष्ठ अध्ययन की व्याख्या के वाद अष्टम अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते है कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उमका अतिलघन करके अष्टम अध्ययन का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है . अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसर, तच्च व्यवच्छिन्नमितिकृत्वाऽतिलघ्याष्टमस्य सम्बधो वाच्य ।[3] विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन के षष्ट उद्देशक की वृत्ति मे नागरिक-शास्त्रसम्मत ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, नैगम और राजधानी का स्वरूप इस प्रकार वताया गया है —[4]

'ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति गम्यो वाऽष्टादशाना कराणामिति ग्राम ,' नात्र करो विद्यत इति नकर, पाशुप्राकारबद्ध खेट, क्षुल्लकप्राकारवेष्टित कर्बट, अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहित मडम्बं, पत्तन तु द्विधा— जलपत्तन स्थलपत्तन च, जलपत्तन यथा काननद्वीप., स्थलपत्तन यथा मथुरा, द्रोणमुख जलस्थलनिर्गमप्रवेश यथा भरुकच्छ तामलिप्ती वा, आकरो हिरण्याकरादि , आश्रम. तापसावसथोपलक्षित आश्रय. सन्निवेश यात्रासमागतजनावासो जनसमागमो वा, नैगम प्रभूततरवणिग्वर्गावास , राजधानी राजाधिष्ठान राज्ञ., पीठिकास्थानमित्यर्थ. ।'

जो बुद्धि आदि गुणो का नाश करता है अथवा अठारह प्रकार के करो का स्थान है वह ग्राम है । जहाँ पर किसी प्रकार का कर नही होता वह नकर

१ आगमोदय-सस्करण, पृ० ११.
२ पृ० ८१ (२)
३ पृ० २५९ (१)
४. पृ० २८४ (२)-२८५ (१).

(नगर) है। मिट्टी की चहारदीवारी से घिरा हुआ क्षेत्र खेट कहलाता है। छोटी चहारदीवारी से वेष्टित क्षेत्र कर्बट कहलाता है। जिसके आसपास ढाई कोस की दूरी तक अन्य ग्राम न हो वह मडम्ब कहलाता है। पत्तन दो प्रकार का है: जलपत्तन और स्थलपत्तन। काननद्वीप आदि जलपत्तन हैं। मथुरा आदि स्थलपत्तन हैं। जल और स्थल के आवागमन के केन्द्रों को द्रोणमुख (बंदर) कहते हैं। भरुकच्छ, ताम्रलिप्ति आदि इसी प्रकार के स्थान हैं। सुवर्ण आदि के कोष को आकर कहते हैं। तपस्वियों का वास-स्थान आश्रम कहलाता है। यात्रियों के समुदाय अथवा सामान्य जनसमूह को सन्निवेश कहते हैं। व्यापारी वर्ग की वसति नैगम कहलाती है। राजा के मुख्य स्थान—पीठिका-स्थान को राजधानी कहते हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के व्याख्यान के प्रारंभ में विवरणकार ने पुनः मध्य मंगल करते हुए तीन श्लोक लिखे हैं तथा चतुर्चूडात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्ध की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है। इस श्रुतस्कन्ध का नाम अग्रश्रुतस्कन्ध क्यों रखा गया, इसका भी निर्युक्ति की सहायता से विचार किया गया है।[1] प्रथम और द्वितीय दोनों श्रुतस्कन्धों के विवरण के अन्त में समाप्तिसूचक श्लोक हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्त में केवल एक श्लोक है जिसमें आचार्य ने आचारांग की टीका लिखने में प्राप्त स्वपुण्य को लोक की आचारशुद्धि के लिए प्रदान किया है[2]

आचारटीकाकरणे यदाप्तं, पुण्यं मया मोक्षगमैकहेतुः।
तेनापनीयाशुभराशिमुच्चैराचारमार्गप्रवणोऽस्तु लोकः॥

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्त में चार श्लोक हैं जिनमें यह बताया गया है कि शीलाचार्य ने गुप्त संवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन गंभूता में प्रस्तुत टीका पूर्ण की। आचार्य ने टीका में रही त्रुटियों का संशोधन कर लेने की भी नम्रतापूर्वक सूचना दी है और इस टीका की रचना से प्राप्त पुण्य से जगत् की सदाचार-वृद्धि की कामना की है[3]

द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
संवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम्॥ १॥
शीलाचार्येण कृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः॥ २॥
कृत्वाऽऽचारस्य मया टीकां यत्किमपि सञ्चितं पुण्यम्।
तेनाप्नुयाज्जगदिदं निर्वृतिमतुलां सदाचारम्॥ ३॥

---

१ पृ. ३१८   २ पृ. ४३१ (२)   ३ पृ. ३१७.

वर्णः पदमथ वाक्य पद्यादि च यन्मया परित्यक्तम् ।
तच्छोधनीयमत्र च व्यामोह· कस्य नो भवति ॥ ४ ॥

इसी श्रुतस्कन्ध के अन्त मे यह भी उल्लेख है कि आचार्य शीलाक निर्वृति कुल के थे, उनका दूसरा नाम तत्त्वादित्य था तथा उन्हें प्रस्तुत टीका बनाने में वाहरिसाधु ने सहायता दी थी : तदात्मकस्य ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीनश्रीशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति ।[1] पूरी टीका का ग्रंथमान १२००० श्लोक-प्रमाण है ।[2]

सूत्रकृतागविवरण ·

शीलाकाचार्यविहित प्रस्तुत विवरण[3] सूत्रकृताग मूल एव उसकी निर्युक्ति पर है। प्रारभ में आचार्य ने जिनो को नमस्कार किया है एव प्रस्तुत विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है :

स्वपरसमयार्थसूचकमनन्तगमपर्ययार्थगुणकलितम् ।
सूत्रकृतमङ्गमतुल विवृणोमि जिनान्नमस्कृत्य ॥ १ ॥
व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्यैर्भक्त्या
तथापि विवरीतुमह यतिष्ये ।
किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्यक्,
तेनैव वाञ्छति पथा शलभो न गन्तुम् ॥ २ ॥
ये मय्यवज्ञां व्यधुरिद्धबोधा,
जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य ।
मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथार्थी,
तस्योपकाराय ममैष यत्न· ॥ ३ ॥

आचार्य ने विवरण को सब दृष्टियो से सफल बनाने का प्रयत्न किया है और इसके लिए दार्शनिक दृष्टि से वस्तु का विवेचन, प्राचीन प्राकृत एव संस्कृत

१. पृ. ३१६ (२). २. पृ ४३२
३. (अ) आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१७
(आ) हर्षकुलकृत विवरणसहित—भीमसी माणेक, बम्बई, वि. स १९३६.
(इ) हिन्दी अर्थसहित (प्रथम श्रुतस्कन्ध)—महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, वि. स १९९३-५
(ई) साधुरंगरचितदीपिकासहित—गौडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९५० (प्रथम श्रुतस्कन्ध).

सप्तम प्रकरण

शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनटीका

वादिवेताल शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर टीका लिखी है। इनका जन्म राधनपुर के पास उण—उन्नतायु नामक गाँव मे हुआ था। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम धनश्री था। शान्तिसूरि का बाल्यावस्था का नाम भीम था। प्रभावक-चरित्र मे इनका चरित्र-वर्णन इस प्रकार है[1]

उस समय पाटन मे 'सपक विहार' नामक एक प्रसिद्ध जिनमदिर था। उसी के पास थारापद गच्छ का उपाश्रय था। उस उपाश्रय मे थारापद-गच्छीय विजयसिंहसूरि नामक आचार्य रहते थे। वे विचरते हुए उन्नायु पहुँचे और धनदेव को समझा-बुझा कर प्रतिभाशाली बालक भीम को दीक्षा दी। दीक्षा के बाद भीम का नाम शान्ति हो गया। कालक्रम से शान्ति आचार्यपद प्राप्त कर विजयसिंहसूरि के पट्टधर शिष्य शातिसूरि हुए।

पाटन के भीमराज की सभा मे शान्तिसूरि 'कवीन्द्र' तथा 'वादिचक्रवर्ती' के रूप मे प्रसिद्ध थे। कवि धनपाल के प्रार्थना करने पर शान्तिसूरि ने मालव-प्रदेश मे बिहार किया तथा भोजराज की सभा के ८४ वादियो को पराजित कर ८४ लाख रुपये प्राप्त किये। मालवे के एक लाख रुपये गुजरात के १५ हजार रुपये के बराबर होते थे। इस हिसाब से भोज ने १२ लाख ६० हजार गुजराती रुपये शान्तिसूरि को भेट किये। इनमे से १२ लाख रुपये तो उन्होंने वही जैन मदिर बनवाने मे खर्च कर दिये। शेष ६० हजार रुपये थरादनगर में भिजवाये जो वही के आदिनाथ के मदिर मे रथ आदि बनवाने में खर्च किये गये।

अपनी सभा के पडितो के लिए शान्तिसूरि वेताल के समान थे अत-राजा भोज ने उन्हे 'वादिवेताल' पद से विभूषित किया। धारानगरी मे कुछ समय तक ठहर कर शान्तिसूरि ने महाकवि धनपाल की 'तिलकमजरी' का सशोधन किया और बाद मे धनपाल के साथ वे भी पाटन आये। उस समय वहाँ के सेठ जिनदेव के पुत्र पद्मदेव को साँप ने काट लिया था। उसे मृत समझ कर भूमि में गाड दिया गया था। शान्तिसूरि ने उसे निर्विष कर जीवन-प्रदान किया।

---

१ श्रीशान्तिसूरि-प्रबन्ध (मुनि कल्याणविजयजी का भाषातर).

शान्तिसूरि के बत्तीस शिष्य थे। वे उन सब को प्रमाणशास्त्र का अभ्यास कराते थे। उस समय नाडोल से विहार कर आये हुए मुनिचन्द्रसूरि पाटन की चैत्यपरिपाटी यात्रा में घूमते हुए वहाँ पहुँचे और खड़े-खड़े ही पाठ सुनकर चले गये। इस प्रकार वे पन्द्रह दिन तक इसी प्रकार पाठ सुनते रहे। सोलहवें दिन सब शिष्यों की परीक्षा के साथ उनकी भी परीक्षा ली गयी। मुनिचन्द्र का बुद्धि-चमत्कार देखकर शान्तिसूरि अति प्रसन्न हुए तथा उन्हें अपने पास रखकर प्रमाणशास्त्र का विशेष अभ्यास कराया।

शान्तिसूरि अपने अन्तिम दिनों में गिरनार में रहे। वहाँ उन्होंने २५ दिन तक अनशन-संथारा किया जो वि० सं० १०९६ के ज्येष्ठ शुक्ला ९, मंगलवार को पूर्ण हुआ और वे स्वर्गवासी हुए।

शान्तिसूरि के समय के विषय में इतना कहा जा सकता है कि पाटन में भीमदेव का शासन वि० सं० १०७८ से ११२० तक था तथा शान्तिसूरि ने भीमदेव की सभा में 'कवीन्द्र' और 'वादिचक्रवर्ती' की पदवियाँ प्राप्त की थीं। राजा भोज जिसकी सभा में शान्तिसूरि ने ८४ वादियों को पराजित किया था, वि० सं० १०६७ से ११११ तक शासक के रूप में विद्यमान था। कवि धन-पाल ने वि० सं० १०२९ में अपनी बहिन के लिए 'पाइयलच्छीनाममाला' की रचना की थी। शान्तिसूरि और धनपाल लगभग समवयस्क थे। इन तीनों प्रमाणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शान्तिसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती है।

शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन-टीका के अतिरिक्त धनपाल की 'तिलकमंजरी' पर भी एक टिप्पण लिखा है जो पाटन के भण्डारों में आज भी विद्यमान है। जीवविचारप्रकरण और चैत्यवन्दन-महाभाष्य भी इन्हीं के माने जाते हैं।

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत प्रस्तुत टीका[1] का नाम शिष्यहितावृत्ति है। यह पाइअ-टीका के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की बहुलता है। टीका भाषा, शैली, सामग्री आदि सभी दृष्टियों से सफल है। इसमें मूल सूत्र एवं निर्युक्ति दोनों का व्याख्यान है। बीच में कहीं-कहीं भाष्यगाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। अनेक स्थानों पर पाठान्तर भी दिये गये हैं। प्रारम्भ में निम्नलिखित मंगलश्लोक है :

शिवदा सन्तु तीर्थेशा, विघ्नसंघातघातिनः ।
भवकूपोद्धृतौ येषां वाग्, वरत्रायते नृणाम् ॥ १ ॥

---

१ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१६-७।

समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासर्पत्तैलवज्जले।
जीयात् श्रीशासन जैन, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम् ॥२॥
यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना।
सा देवी सविदे न. स्तादस्तकल्पलतोपमा ॥ ३ ॥
व्याख्याकृतामखिलशास्त्रविशारदाना
सूच्यग्रवेधकधिया शिवमस्तु तेषाम्।
यैरत्र गाढतरगूढविचित्रसूत्र-
ग्रथिर्विभिद्य विहितोऽद्य ममापि गम्यः ॥ ४ ॥
अध्ययनानामेषा यदपि कृताश्चूर्णिवृत्तियः कृतिभिः।
तदपि प्रवचनभक्तिस्त्वरयति मामत्र वृत्तिविधौ ॥ ५ ॥

मगलविषयक परम्परागत चर्चा करने के बाद आचार्य ने क्रमश प्रत्येक अध्ययन और उसकी नियुक्ति का विवेचन किया है। प्रथम अध्ययन की व्याख्या मे नय का स्वरूप बताते हुए महामति (सिद्धसेन) की निम्न गाथा उद्धृत की है.[1]

तित्थयरवयणसगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ वि पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥

अर्थात् तीर्थंकर के वचनों का विचार करने के लिए मूल दो नय है: द्रव्यर्थिक और पर्यायार्थिक। शेष नय इन्ही के विकल्प है।

वस्तु की नामरूपता सिद्ध करते हुए आचार्य ने भर्तृहरि का एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] 'तथा च पूज्या', 'उक्त च पूज्यै' आदि शब्दो के साथ विविध प्रसगो पर विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई हैं।[3] 'समरेसु अगारेसुं.. .' (अ० १, सू० २६) को वृत्ति में 'तथा च चूर्णिकृति' ऐसा कहते हुए वृत्तिकार ने चूर्णि का एक वाक्य उद्धृत किया है।[4] आगे 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' ऐसा लिखते हुए नागार्जुनीय वाचनासम्मत गाथा भी उद्धृत की है।[5] नय की संख्या का विशेष विवेचन करते हुए आचार्य ने बताया है कि पूर्वविदो ने सकलनयसग्राही सात सौ नयो का विधान किया है। उस समय एतद्विषयक 'सप्तशतारनयचक्र' नामक अध्ययन भी विद्यमान था। तत्सग्राहो विध्यादि बारह प्रकार के नयो का नयचक्र (द्वादशारनयचक्र) में प्रतिपादन किया गया है जो आज भी विद्यमान है: तथाहि—पूर्वविद्भिः

१. प्रथम विभाग. पृ० २१ (१). २. वही ३. पृ० २१ (२).
४. पृ० ५६ (२). ५ पृ० ६६ (१).

सकलनयसंग्राहीणि सप्त नयशतानि विहितानि, यत्प्रतिबद्धं सप्तशतारं नयचक्राध्ययनमासीत्, तत्संग्राहिण: पुनर्द्वादश विध्यादयो, यत्प्रतिपादकमिदानीमपि नयचक्रमास्ते'' ।[1]

द्वितीय अध्ययन की व्याख्या में परीषहों के स्वरूप का विवेचन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि भगवान् महावीर ने इन परीषहों का उपदेश दिया है। इस प्रसंग पर न्यायवैशेषिककल्पित ईश्वरविशेष और अपौरुषेय आगम—इन दोनों का निराकरण किया गया है। देहादि के अभाव में आगमनिर्माण की कल्पना असंगत है: देहादिविरहात् तथाविधप्रयत्नाभावेनाऽक्षरानायोगात्।[2] अचेलपरीषह की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं कि चीवर धर्मसाधना में एकान्तरूप से बाधक नहीं है। धर्म का वास्तविक बाधक-कारण तो कषाय है। अतः कषाययुक्त चीवर ही धर्मसाधना में बाधक है। जिस प्रकार धर्मसिद्धि के लिए शरीर धारण किया जाता है और उसका भिक्षा आदि से पोषण किया जाता है उसी प्रकार पात्र और चीवर भी धर्मसिद्धि के लिए ही हैं। जैसा कि वाचक सिद्धसेन कहते हैं :[3]

मोक्षाय धर्मसिद्ध्यर्थं, शरीरं धार्यते यथा।
शरीरधारणार्थं च, भैक्षग्रहणमिष्यते ॥ १ ॥
तथैवोपग्रहार्थाय, पात्रं चीवरमिष्यते।
जिनैरुपग्रहः साधोरिष्यते न परिग्रहः ॥ २ ॥

आगे इसी अध्ययन की वृत्ति में अक्षपाद और वात्स्यायन का भी नामोल्लेख किया गया है।[4]

चतुरंगीय नामक तृतीय अध्ययन की वृत्ति में आवश्यकचूर्णि, वाचक (सिद्धसेन) और शिवशर्म का नामोल्लेख है।[5] शिवशर्म की 'जोगा पयडिपएसं ठितिअणुभाग ...' गाथा की प्रथम पंक्ति भी उद्धृत की गई है।

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या में जीवकरण का स्वरूप बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जीवभावकरण दो प्रकार का है: श्रुतकरण और नोश्रुतकरण। श्रुतकरण पुनः दो प्रकार का है: बद्ध और अबद्ध। बद्ध के दो भेद हैं: निशीथ और अनिशीथ। ये पुनः लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार के हैं। निशीथादि सूत्र लोकोत्तर निशीथश्रुत के अन्तर्गत हैं जबकि बृहदारण्यकादि लौकिक निशीथश्रुत में समाविष्ट हैं। आचारादि लोकोत्तर अनिशीथश्रुत के

१ पृ० ६७ (२). २ पृ० ८० (२) ३ पृ० ९५ (२)
४. पृ० १३१ (१) ५ पृ० १७२ (१), १८५ (२), १९० (१)

अन्तर्गत हैं जबकि पुराणादि का लौकिक अनिशीथश्रुत में समावेश है। इसी प्रकार अबद्ध श्रुत भी लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है।[१] आचार्य-परम्परा से चले आने वाले अनेक प्रकार के कथानक आदि अबद्ध श्रुत के अन्तर्गत हैं।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय नामक छठे अध्ययन की व्याख्या में निर्ग्रन्थ के भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए 'आह च भाष्यकृत्' ऐसा कहते हुए टीकाकार ने चौदह भाष्य-गाथाएँ उद्धृत की हैं[२] जो उत्तराध्ययनभाष्य की ही प्रतीत होती है।[२]

आठवें अध्ययन—कापिलीयाध्ययन के विवेचन मे ससार की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए 'तथा च हारिलवाचक' इन शब्दो के साथ हारिलवाचक का निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है[३]

चल राज्यैश्वर्यं धनकनकसार परिजनो,
नृपाद्वाल्लभ्य च चलममरसौख्य च विपुलम्।
चल रूपाऽऽरोग्य चलमिह चर जीवितमिद,
जनो दृष्टो यो वै जनयति सुख सोऽपि हि चल ॥

नमिप्रव्रज्या नामक नववे अध्ययन के विवरण मे 'यत आह आससेन' ऐसा निर्देश करते हुए अष्टमी और पूर्णिमा के दिन नियत रूप से पौषध का विधान करने वाली निम्नलिखित आससेनीय (अश्वसेनीय) कारिका उद्धृत की गई है -[४]

सर्वेष्वपि तपोयोग, प्रशस्तः कालपर्वसु।
अष्टम्या पचदश्या च, नियत पोषध वसेद् ॥

प्रवचनमात्राख्य चौबीसवें अध्ययन की वृत्ति के अन्त मे गुप्ति का स्वरूप बताते हुए टीकाकार ने 'उक्त हि गन्धहस्तिना' ऐसा लिखते हुए आचार्य गन्धहस्ती का एक वाक्य उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है सम्यगागमानुसारेणारक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापार. कायव्यापारो वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्काययोगुप्तिरिति।[५]

जीवाजीवविभक्ति नामक छत्तीसवें अध्ययन की व्याख्या मे जिनेन्द्रबुद्धि का नामोल्लेख किया है एव धर्माधर्मास्तिकाय के वर्णन के प्रसग पर उनका एक वाक्य भी उद्धृत किया गया है।[६] स्त्रीशब्द का विवेचन करते हुए आगे टीकाकार ने

---

१ पृ० २०४ २ द्वितीय विभाग, पृ० २५७ ३. २८९ (१)
४ पृ० ३१५ (१). ५. तृतीय विभाग, पृ० ५१९. ६ पृ० ६७२ (२).

स्त्रीनिर्वाणसूत्र का उल्लेख किया है तथा एतद्विषयक उनकी मान्यता उद्धृत की है।[1]

अन्त में टीकाकार ने अपना संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया है[2] :

अस्ति विस्तारवानुर्व्यां, गुरुशाखासमन्वितः ।
आसेव्यो भव्यसार्थानां, श्रीकोटिकगणद्रुमः ॥१॥
तदुत्थवैरशाखायामभूदागमशालिनी ।
विशाला प्रतिशाखेव, श्रीचन्द्रकुलसन्ततिः ॥२॥
तस्याश्चोत्पद्यमानच्छदनिचयगतस्तस्य कर्णान्वितोऽस्य ,
श्रीथारापद्रगच्छप्रसवभरसमुद्भूतकिञ्जल्कपानात् ।
श्रीशान्त्याचार्यभृङ्गो यदिदमुदगिरत्स्वादु नघ श्रीअर्थं,
तद् भो भव्याः ! त्रिदोषप्रशमनरसतां गृह्णता निपुना न ॥ ३ ॥

●

---

१. पृ० ६८१ (२). २ पृ० ७१३ (२).

अष्टम प्रकरण

द्रोणसूरिकृत ओघनिर्युक्ति-वृत्ति

द्रोणसूरि ने ओघनिर्युक्ति पर टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इनकी कोई टीका नही है। इन्होने अभयदेवसूरिकृत टीकाओं का सशोधन किया था। ये पाटनसघ के प्रमुख पदाधिकारी थे एव विक्रम की ग्यारहवी-बारहवी शती में विद्यमान थे।

प्रस्तुत वृत्ति[1] ओघनिर्युक्ति एव इसके लघुभाष्य पर है। वृत्ति की भाषा सरल एव शैली सुगम है। मूल पदो के शब्दार्थ के साथ ही साथ तद्-तद् विषय का भी शका-समाधान पूर्वक सक्षिप्त विवेचन किया गया है। कही-कही प्राकृत और सस्कृत उद्धरण भी दिये गये है। प्रारम्भ मे आचार्य ने पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया है :

अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्य,
सिद्धेभ्य सितघनकर्मबन्धनेभ्यः।
आचार्यश्रुतधरसर्वसयतेभ्य,
सिद्ध्यर्थी सततमहं नमस्करोमि॥

तदनन्तर प्रस्तुत निर्युक्ति का सदर्भ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि यह आवश्यकानुयोगसम्बन्धी व्याख्यान है। उसमे सामायिक नामक प्रथम अध्ययन का निरूपण चल रहा है। उसके चार अनुयोगद्वार है उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। इनमें से अनुगम के दो भेद हैं - निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम। निर्युक्त्यनुगम तीन प्रकार का है निक्षेप, उपोद्‌घात और सूत्रस्पर्श। इनमें से उपोद्‌घात-निर्युक्त्यनुगम के उद्‌देश, निर्देश आदि २६ भेद है। उनमे से काल के नाम, स्थापना, द्रव्य, अद्धा, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण, भाव आदि भेद है। इनमे से उपक्रमकाल दो प्रकार का है - सामाचारी और यथायुष्क। सामाचारी-उपक्रमकाल तीन प्रकार का है ओघ, दशधा और पदविभाग। इनमें जो ओघसामाचारी है वही ओघनिर्युक्ति है। प्रस्तुत ग्रथ में इसी का व्याख्यान है। द्रोणाचार्य ने अपनी टीका के प्रारम्भ में इस सदर्भ को निम्न शब्दो में व्यक्त किया है :[2]

---

१ आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९ २ पृ० १.

'प्रकान्तोऽयमावश्यकानुयोग' तत्र च सामायिकाध्ययनमनुवर्तते, तस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति महापुरस्येव, तद्यथा-उपक्रम निक्षेपः अनुगम. नय इति, एतेषा चाध्ययनादौ उपन्यासे इत्य च क्रमोपन्यासे प्रयोजनमभिहितम्। तत्रोपक्रमनिक्षेपावुक्तौ, अधुनाऽनुगमावसर, सच द्विधा-निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रेधा निक्षेपोपोद्घातसूत्रस्पर्शनिर्युक्त्यनुगमभेदात्, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यमाणश्च, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्त्वाभ्या द्वाभ्या द्वारगाथाभ्यामनुगन्तव्य.—'उद्देसे निद्देसे य'[२] इत्यादि। अस्य च द्वारगाथाद्वयस्य समुदायार्थोऽभिहित., अधुनाऽवयवार्थोऽनुवर्तते, तत्रापि कालद्वारावयवार्थः, तत्प्रतिपादनार्थं चेद प्रतिद्वारगाथासूत्रमुपन्यस्तम्—'दव्वे अद्ध अहाउय उवक्कम'[३] इत्यादि। अस्यापि समुदायार्थो व्याख्यातः साम्प्रतमवयवार्थ. तत्राप्युपक्रमकालाभिधानार्थमिद गाथासूत्रमाह—'दुविहोवक्कमकालो सामायारो अहाउय चेव। सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे ॥१॥ तत्रोपक्रम इति क' शब्दार्थ ? उपक्रमणं उपक्रम, उपशब्दः सामीप्ये 'क्रमु पादविक्षेपे उपेति सामीप्येन क्रमण उपक्रम —दूरस्थस्य समीपापादनमित्यर्थः', तत्रोपक्रमो द्विधा-सामाचार्युपक्रमकालः यथायुष्कोपक्रमकालश्च, तत्र सामाचार्युपक्रमकालस्त्रिविध ओघसामाचार्युपक्रमकाल दशधासामाचार्युपक्रमकाल पदविभागसामाचार्युपक्रमकालश्च। तत्रोघसामाचारी—ओघनिर्युक्तिः . ...। तत्रोघसामाचारी तावदभिधीयते. .. ।'

वृत्ति में अनेक स्थानों पर आचार्य ने इदानीमेनामेव गाथा भाष्यकृद् व्याख्यानयति', 'इदानी भाष्यकारो गाथाद्वय व्याख्यानयन्नाह'[४] इदानीमेतदेव भाष्यकारो गाथाद्वय व्याख्यानयन्नाह'[५] इत्यादि शब्दों के साथ भाष्य-गाथाओं का व्याख्यान किया है। प्रस्तुत संस्करण में भाष्य की गाथा-सख्या ३२२ है तथा निर्युक्ति की गाथा सख्या ८११ है। इस प्रकार निर्युक्ति और भाष्य दोनों को मिलाकर ११३३ गाथाएँ हैं।

●

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १४०-१. २. वही, गा० ६६१
३ पृ० २०५. ४. पृ० २०८ ५. पृ० २१०

नवम प्रकरण

अभयदेवविहित वृत्तियां

विक्रम की बारहवी और तेरहवी शताब्दी के बीच के समय में निम्न— लिखित सात टीकाकारो ने आगम-ग्रथो पर टीकाएँ लिखी है: १ द्रोणसूरि, २. अभयदेवसूरि, ३ मलयगिरिसूरि, ४ मलधारी हेमचन्द्रसूरि, ५ नेमिचन्द्रसूरि (देवेन्द्रगणि), ६ श्रीचन्द्रसूरि और ७. श्रीतिलकसूरि। इनमें से अभयदेवसूरि ने निम्न आगम-ग्रथो पर टीकाएँ लिखी है : अग ३—११ और औपपातिक। अग ३, ४ और ६ की टीकाएँ वि स ११२० मे लिखी गई। पचम अग की टीका वि स ११२८ में पूर्ण हुई। अन्य टीकाओ की रचना का ठीक-ठीक समय अज्ञात है। उपर्युक्त टीकाओ के अतिरिक्त प्रज्ञापनातृतीय-पदसग्रहणी, पंचाशकवृत्ति, जयतिहुणस्तोत्र, पचनिर्ग्रन्थी और सप्ततिकाभाष्य भी अभयदेव की ही कृतिया हैं।

प्रभावकचरित्र मे अभयदेवसूरि का जीवन-चरित्र इस प्रकार अकित किया गया है

भोज के शासनकाल मे धारा नगरी मे एक धनाढ्य सेठ रहता था जिसका नाम लक्ष्मीपति था। उसके पास रहने वाले मध्यप्रदेश के एक ब्राह्मण के श्रीधर और श्रीपति नामक दो पुत्र थे। उन ब्राह्मण युवको ने आचार्य वर्धमानसूरि से दीक्षा अगीकार की। आगे जाकर वे जिनेश्वर और बुद्धिसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वर्धमानसूरि पहले-कूर्चपुर (कूचेरा) के चैत्यवासी आचार्य थे और ८४ जिनमदिर उनके अधिकार मे थे। बाद मे उन्होंने चैत्यवास का त्याग कर सुविहित मार्ग अगीकार किया था। उस समय पाटन मे चैत्यवासियो का प्रभुत्व था और वह यहा तक कि उनकी सम्मति के बिना सुविहित साधु पाटन मे नही रह सकते थे। वर्धमानसूरि ने अपने विद्वान् शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को वहाँ भेज कर पाटन मे सुविहित साधुओ का विहार एव निवास प्रारम्भ कराने का विचार किया। इसी विचार से उन्होने अपने दोनो शिष्यो को पाटन की ओर विहार करने की आज्ञा दी। जिनेश्वर और बुद्धिसागर पाटन पहुँचे किन्तु वहाँ उन्हें ठहरने के लिए उपाश्रय नही मिला। अन्त मे वे वही के पुरोहित सोमेश्वर के पास पहुँचे और उसे अपनी विद्वत्ता से

प्रभावित कर उसी के मकान मे ठहर गए । जब यह बात चैत्यवासियों को मालूम हुई तो वे तुरन्त पुरोहित के पास पहुँचे और उसे उन्हें निकालने के लिए वाध्य किया । पुरोहित सोमेश्वर ने उनकी बात मानने से इनकार करते हुए कहा कि इसका निर्णय राजसभा ही कर सकती है । चैत्यवासी राजा से मिले और उसे वनराज के समय से पाटन मे स्थापित चैत्यवासियो को सार्वभौम सत्ता का इतिहास बताया जिसे सुनकर दुर्लभराज को भी लाचार होना पडा । अन्त मे उसने अपने व्यक्तिगत प्रभाव का उपयोग कर उन साधुओ को वहाँ रहने देने का आग्रह किया जिसे चैत्यवासियो ने स्वीकार किया ।

इस घटना को देख कर पुरोहित सोमेश्वर ने राजा से प्रार्थना की कि सुविहित साधुओ के लिए एक स्वतन्त्र उपाश्रय का निर्माण कराया जाए । राजा ने इस कार्य का भार अपने गुरु शैवाचार्य ज्ञानदेव पर डाला । परिणाम-स्वरूप पाटन में उपाश्रय बना ।

कुछ समय बाद जिनेश्वरसूरि ने धारानगरी की ओर विहार किया । धारानिवासी सेठ धनदेव के पुत्र अभयकुमार को दीक्षित कर अभयदेव के नाम से अपना शिष्य बनाया । योग्यता प्राप्त होने पर वर्धमानसूरि के आदेश से अभयदेव को आचार्य-पद प्रदान कर अभयदेवसूरि बना दिया गया ।

वर्धमानसूरि का स्वर्गवास होने के बाद अभयदेवसूरि पल्यपद्र नगर मे रहे । वहाँ उन्होने स्थानाग आदि नव अगो पर टीकाए लिखी । टीकाए समाप्त कर अभयदेव धवलक—धोलका नगर में पहुँचे । वहाँ उन्हें रक्तविकार की बीमारी हो गई जो थोडे समय बाद ठीक हो गई । प्रभावक-चरित्र में इसका श्रेय धरणेन्द्र को दिया गया है । अभयदेवसूरि शासन की प्रभावना करते हुए राजा कर्ण की राजधानी पाटन मे योगनिरोध द्वारा वासना को परास्त कर स्वर्गवासी हुए ।

प्रभावकचरित्रकार के मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अभयदेव ने पल्यपद्र नगर में जाने के बाद अग-साहित्य की टीकाए लिखी थी । यह मान्यता स्वय अभयदेव के उल्लेखो से खण्डित होती है । इन्होने अनेक स्थानो पर इन टीकाओ की रचना पाटन में होने का उल्लेख किया है और लिखा है कि पाटन के सघ-प्रमुख द्रोणाचार्य प्रभृति ने इनका आवश्यक सशोधन किया है ।

प्रभावकचरित्र मे अभयदेव के स्वर्गवास का समय नही दिया गया है । इसमे केवल इतना ही लिखा है कि 'वे पाटन मे कर्णराज के राज्य मे स्वर्गवासी हुए ।' पट्टावलियो में अभयदेवसूरि का स्वर्गवास वि स ११३५ में तथा दूसरे मत के अनुसार वि. स ११३९ में होने का उल्लेख है । उनमें पाटन के बजाय कपडवज ग्राम में स्वर्गवास होना बताया गया है ।

स्थानागवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[1] स्थानाग के मूल सूत्रो पर है। यह वृत्ति शब्दार्थ तक ही सीमित नही है। इसमे सूत्रसम्बद्ध प्रत्येक विषय का आवश्यक विवेचन एव विश्लेषण भी है। विश्लेषण मे दार्शनिक दृष्टि की स्पष्ट झलक है। प्रारम्भ में आचार्य ने भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा स्थानाग का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है·

श्रीवीर जिननाथ नत्वा स्थानाङ्गकतिपयपदानाम्।
प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्ट करोम्यह विवरण किञ्चित्॥

मगल का आवश्यक विवेचन करने के बाद सूत्रस्पर्शिक विवरण प्रारम्भ किया है। 'एगे आया' (अ १ सू २) का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने अनेक दृष्टियो से आत्मा की एकता-अनेकता की सिद्धि की है। अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए जगह-जगह 'तथाहि, 'यदुक्तम्, 'तथा, 'उक्तञ्च, 'आह च, 'तदुक्तम्, 'यदाह' आदि शब्दो के साथ अनेक उद्धरण दिये है। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि करते हुए विशेषावश्यकभाष्य को एतद्विषयक अनेक गाथाएँ उद्धृत की है। आत्मा को अनुमानगम्य बताते हुए टीकाकार कहते हैं· तथाऽनुमानगम्योऽप्यात्मा तथाहि—विद्यमानकर्तृकमिद शरीर भोग्यत्वाद्, ओदनादिवत्, व्योमकुसुम विपक्ष:, स च कर्ता जीव इति, नन्वोदन-कर्तृवन्मूर्त्त आत्मा सिद्ध्यतीति साध्यविरुद्धो हेतुरिति, नैवं, ससारिणो मूर्त्तत्वेनाप्यभ्युपगमाद्, आह च–[2] अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती है वह अनुमान इस प्रकार है इस शरीर का कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए क्योंकि यह भोग्य है। जो भोग्य होता है उसका कोई कर्ता अवश्य होता है जैसे ओदन-भात का कर्ता रसोइया। जिसका कोई कर्ता नही होता वह भोग्य भी नही होता जैसे आकाश-कुसुम। इस शरीर का जो कर्ता है वही आत्मा है। यदि कोई यह कहे कि रसोइये की तरह आत्मा की भी मूर्तता सिद्ध होती है और ऐसी दशा मे प्रस्तुत हेतु साध्यविरुद्ध हो जाता है तो ठीक नही क्योंकि ससारी आत्मा कथ-

---

१. (अ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८–२०.
(आ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०.
(इ) माणेकलाल चुनीलाल व कान्तिलाल चुनीलाल, अहमदाबाद, सन् १९३७ (द्वितीय संस्करण).

२. अहमदाबाद-सस्करण, पृ० १० (२).

त्रित् मूर्त भी है। इस प्रकार की दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत वृत्ति में अनेक स्थानों पर देखने को मिलती है। दार्शनिक दृष्टि के साथ ही साथ वृत्तिकार ने निक्षेप-पद्धति का भी उपयोग किया है जिसमें निर्युक्तियों और भाष्यों की शैली स्पष्ट-रूप से झलकती है।[1] वृत्ति में यत्र-तत्र कुछ संक्षिप्त कथानक भी हैं जो मुख्यतः दृष्टान्तों के रूप में हैं।[2]

वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपना आनुग्राहिक परिचय देते हुए बताया है कि मैंने यह टीका यशोदेवगणि की सहायता से पूर्ण की है :

'तत्समाप्तौ च समाप्तं स्थानाङ्गविवरणं, तथा च यदादावभिहितं स्थानाङ्गस्य महानिधानस्येवोन्मुद्रणमिवानुयोगः प्रारभ्यत इति तच्चन्द्र-कुलीनप्रवचनप्रणीताप्रतिबद्धविहारहारिचरितश्रीवर्धमानाभिधानमुनिपति-पादोपसेविनः प्रमाणादिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणप्रबन्धप्रणयिनः प्रबुद्धप्रति-बन्धप्रवक्तृप्रवीणाप्रतिहतप्रवचनार्थप्रधानवाक्प्रसरस्य सुविहितमुनिजन-मुख्यस्य श्रीजिनेश्वराचार्यस्य तदनुजस्य च व्याकरणादिशास्त्रकर्तुः श्रीबुद्धिसागराचार्यस्य चरणकमलचञ्चरीककल्पेन श्रीमदभयदेवसूरिनाम्ना कया महावीरजिनराजसन्तानवर्तिना महाराजवंशजन्मनेव संविग्नमुनि-वर्गश्रीमदजितसिंहाचार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्।'[3]

प्रस्तुत कार्य-विषयक अनेक प्रकार की कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए विवरणकार ने अति विनम्र शब्दों में अपनी त्रुटियाँ स्वीकार की हैं। साथ ही अपनी कृतियों को आद्योपान्त पढ़कर आवश्यक संशोधन करने वाले द्रोणाचार्य का भी सादर नामोल्लेख किया है। टीका के रचना-काल का निर्देश करते हुए बताया है कि प्रस्तुत टीका विक्रम संवत् ११२० में लिखी गई :[4]

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे॥ १॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित्॥ २॥
क्षूणानि सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः॥ ३॥

१. पृ० १२, २३, ९६, ९७, २४२, २ पृ० २४२, २६२, २६६, ३८९.
३. पृ० ४९९ (२). ४. पृ० ४९९ (२)–५००.

शोध्य चैतज्जिने भक्तैर्मामवद्भिर्दयापरैः ।
ससारकारणाद् घोरादपसिद्धान्तदेशनात् ॥ ४ ॥

कार्या न चाक्षमाऽस्मासु, यतोऽस्माभिरनाग्रहैः ।
एतद् गमनिकामात्रमुपकारीति चर्चितम् ॥ ५ ॥

तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्य मध्यस्थया धिया ।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृत यतः ॥ ६ ॥

जैनग्रन्थविशालदुर्गभवनादुच्चित्य गाढश्रमं,
सद्व्याख्यानफलान्यमूनि मयका स्थानाङ्गसद्भाजने ।
सस्थाप्योपहितानि दुर्गतनरप्रायेण लब्ध्यर्थिना,
श्रीमत्सङ्घविभोरतः परमसावेव प्रमाण कृती ॥ ७ ॥

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालाच्छतेन विंशत्यधिकेन युक्ते ।
समासहस्रेऽतिगते विदृब्धा, स्थानागटीकाऽल्पधियोऽपि गम्या ॥८॥

टीका का ग्रन्थमान १४२५० श्लोक-प्रमाण है[1]

प्रत्यक्षर निरूप्यास्या, ग्रथमान विनिश्चितम् ।
अनुष्टुभा सपादानि, सहस्राणि चतुर्दश ॥

समवायागवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति[2] चतुर्थ अग समवायाग के मूल सूत्रो पर है । यह न तो अति सक्षिप्त है और न अति विस्तृत । प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान महावीर को नमस्कार किया है तथा विद्वज्जनो से प्रार्थना की है कि वे परम्परागत अर्थ के अभाव अथवा अज्ञान के कारण वृत्ति में सम्भावित विपरीत प्ररूपण को शोधने की कृपा करें :

श्रीवर्धमानमानम्य, समवायागवृत्तिका ।
विधीयतेऽन्यशास्त्राणा, प्रायः समुपजीवनात् ॥ १ ॥

---

१ पृ० ५००
२ (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८०.
(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन १९१९
(इ) मफतलाल झवेरचन्द्र, अहमदाबाद सन् १९३८
(ई) गुजराती अनुवादसहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९९५.

दु सम्प्रदायादसदूहनाद्वा, भणिष्यते यद्वितथं मयेह।
तद्धीधनैर्मामनुकम्पयद्भिः, शोध्य मतार्थक्षतिरस्तु मेव ।। २ ।।

समवायाग का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं :[1]

'समिति—सम्यक्, अवेत्याधिक्येन, अयनमय.—परिच्छेदो जीवाजीवादिविविधपदार्थसार्थस्य यस्मिन्नसौ समवायः, समवयन्ति वा—समवतरन्ति समिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति। स च प्रवचनपुरुषस्याङ्गमिति समवायाङ्गम्।'

'समवाय' में तीन पद हैं : 'सम्', 'अव' और 'अय'। 'सम्' का अर्थ है सम्यक, 'अव' का अर्थ है आधिक्य और 'अय' का अर्थ है परिच्छेद। जिसमें जीवाजीवादि विविध पदार्थों का सविस्तर सम्यक् विवेचन है वह समवाय है। अथवा जिसमे आत्मादि नाना प्रकार के भावों का अभिधेयरूप से समवाय—समवतार—सम्मिलन है वह समवाय है। वह प्रवचनपुरुष का अगरूप होने से समवायाग है।

प्रथम सूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने एक जगह पाठान्तर भी दिया है। 'जवुद्दीवे दीवे एग जोयणसयसहस्स आयामविक्खभेण' के स्थान पर 'जवुद्दीवे दीवे एग जोयणसयसहस्स चक्कवालविक्खभेण' ऐसा पाठ भी मिलता है. नवर जवुद्दीवे' इह सूत्रे 'आयामविक्खभेण'ति क्वचित् पाठो दृश्यते। क्वचित्तु 'चक्कवालविक्खभेण'ति[2]। इन पाठो का अर्थ करते हुए आचार्य कहते हैं : तत्र प्रथम. सम्भवति, अन्यत्रापि तथा श्रवणात्, सुगमश्च, द्वितीयस्त्वेव व्याख्येय—चक्रवालविष्कम्भेन वृत्तव्यासेन।[3] प्रथम पाठ सम्भव है क्योंकि यह अन्यत्र भी उपलब्ध है। अर्थ सुगम है। द्वितीय पाठ का अर्थ है वृत्तव्यास।

वृत्ति में अनेक स्थानो पर प्रज्ञापना सूत्र का उल्लेख है तथा एक जगह गन्धहस्ती (भाष्य) का भी उल्लेख है. गन्धहस्त्यादिष्वपि तथैव दृश्यते, प्रज्ञापनाया त्वेकत्रिंशदुक्तेति मतान्तरमिद।[3] यह वृत्ति वि० स० ११२० में अणहिलपाटक (पाटन) मे लिखी गई। इसका ग्रथमान ३५७५ श्लोकप्रमाण है[4]

शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणा विवृति कृता।
श्रीमत समवायाख्यतुर्याङ्गस्य समासतः ।। ७ ।।

---

१ अहमदाबाद-सस्करण, पृ० १, २ पृ० ५ (२) ३ वही.
३. पृ. १३० (१) ४. पृ. १४८

एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिलपाटकनगरे रचिता समवायटीकेयम्॥ ८॥
प्रत्यक्षरं निरूप्यास्या ग्रन्थमान विनिश्चितम्।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि, पादन्यूना च षट्शती॥ ९॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति[1] व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) के मूल सूत्रो पर है। यह सक्षिप्त एव शब्दार्थप्रधान है। इसमे यत्र-तत्र अनेक उद्धरण अवश्य हैं जिनसे अर्थ समझने मे विशेष सहायता मिलती है। उद्धरणो के अतिरिक्त आचार्य ने अनेक पाठान्तर और व्याख्याभेद भी दिये हैं जो विशेष महत्त्व के है। सर्वप्रथम आचार्य सामान्यरूप से जिन को नमस्कार करते हैं। तदनन्तर वर्धमान, सुधर्मा, अनुयोगवृद्धजन तथा सर्वज्ञप्रवचन को प्रणाम करते हैं। इसके बाद इसी सूत्र की प्राचीन टीका और चूर्णि तथा जीवाभिगमादि की वृत्तियो की सहायता से पचम अग व्याख्याप्रज्ञप्ति का विवेचन करने का सकल्प करते है। एतदथगर्भित श्लोक ये है -

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसङ्गमग्र्य, सर्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम्।
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेत, श्रीमज्जिन जितरिपु प्रयत- प्रणौमि॥१॥

नत्वा श्रीवर्धमानाय, श्रीमते च सुधर्म्मणे।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा॥ २॥
एतट्टीका-चूर्णी-जीवाभिगमादिवृत्तिलेशाश्च।
संयोज्य पञ्चमाङ्ग विवृणोमि विशेषत· किञ्चित्॥ ३॥

व्याख्याप्रज्ञप्ति का शब्दार्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं ·

'अथ 'विआहपन्नत्ति' त्ति कः शब्दार्थः? उच्यते विविधा जीवा जीवादिप्रचुरतरपदार्थविषयाः आ—अभिविधिना कथञ्चिन्निखिलज्ञेयव्या-

---

१. (अ) पूजाभाई हीराचन्द, रायचन्द्र जिनागम सग्रह, अहमदाबाद
(आ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८२
(इ) एम० आर० मेहता, बम्बई, वि० स० १९१४.
(ई) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८–२१.
(उ) ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, (प्रथम भाग—श० १–७) सन् १९३७, (द्वितीय भाग–श० ८–१४) १९४०.

प्त्या मर्यादया वा—परस्परासकीर्णलक्षणाभिधानरूपयाख्यानानि—भगवतो महावीरस्य गोतमादिविनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्यास्ता· प्रज्ञाप्यन्ते–प्ररूप्यन्ते भगवता सुधर्म्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्, अथवा विविधतया विशेषेण वा आख्यायन्त इति व्याख्या—अभिलाप्यपदार्थवृत्तयस्ताः प्रज्ञाप्यन्ते यस्याम्, अथवा व्याख्यानाम्—अर्थप्रतिपादनाना प्रकृष्टा ज्ञप्तयो—ज्ञानानि यस्या सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः, अथवा . ।"[1]

इस प्रकार वृत्तिकार ने विविध दृष्टियो से व्याख्याप्रज्ञप्ति के दस अर्थ बताये है। आगे भी अनेक शब्दो के व्याख्यान मे इसी प्रकार का अर्थ-वैविध्य दृष्टिगोचर होता है[2] जो वृत्तिकार के व्याख्यान-कौशल का परिचायक है।

प्रथम सूत्र "णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो सव्वसाहूण, का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार ने पचम पद 'णमो सव्वसाहूण' के पाठान्तर के रूप मे 'नमो लोए सव्वसाहूण' भी दिया है नमो लोए सव्वसाहूण' ति क्वचित्पाठः।[3] चतुर्थ सूत्र 'तेणं कालेण तेण समएण रायगिहे . .' की व्याख्या मे आचार्य ने बताया है कि 'णमो अरिहताण .' आदि प्रथम तीन सूत्रो का मूलटीकाकार—मूलवृत्तिकार ने व्याख्यान नही किया। उन्होने इसका कोई विशेष कारण नही बताया है· अय च प्राग् व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यात, कुतोऽपि कारणादिति।[4] ये वृत्तिकार अथवा टीकाकार कौन है? सभवत· यह उल्लेख आचार्य शीलाक की टीका का है जो प्रथम नौ अगो के टीकाकार माने जाते है किन्तु जिनकी प्रथम दो अगो की टीकाएँ ही उपलब्ध है। आचार्य शीलाक के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसे टीकाकार का उल्लेख नही मिलता जिसने अभयदेवसूरि के पूर्व व्याख्याप्रज्ञप्ति की टीका लिखी हो। चूर्णि का उल्लेख तो प्रस्तुत वृत्ति के प्रारभ मे ही अलग से किया गया है अत यह टीका चूर्णिरूप भी नही हो सकती। आगे की वृत्ति मे भी अनेक बार मूलटीकाकार अथवा मूलवृत्तिकार का उल्लेख किया गया है

'मूलटीकाकृता तु 'उच्छूढसरीरसखित्तविउलतेयलेस' त्ति कर्म्मधारय कृत्वा व्याख्यातमिति"[5] 'एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातम्,'[6]

---

१ रतलाम–सस्करण, पृ० २–३
२ पृ० ४,५,६,१२,१५,१८,१९,६२.
३. पृ० ६.
४ पृ० १०
५ पृ० २०
६ पृ० २९.

'वृत्तिकृता तु द्वितीयोप्रश्नोत्तरविकल्प एवविधो दृष्ट,'[1] 'वृद्धैस्तु इह सूत्रे कुतोऽपि वाचनाविशेपाद् यत्राशीतिस्तत्राप्यभङ्गकमिति व्याख्यातमिति,'[2] टीकाकारस्त्वेवमाह—किमवस्थित एव जीवा देशमपनीय यत्रोत्पत्तव्य तत्र देशत उत्पद्यते . एतच्च टीकाकारव्याख्यान वाचनान्तर-विषयमिति,'[3] 'टीकाकारव्याख्यानं त्विहभवायुर्यंदा प्रकरोति—वेदयते इत्यर्थः।[4] वृत्तिकार ने प्रस्तुत वृत्ति में सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का भी उल्लेख किया है : तत्र च सिद्धसेनदिवाकरा मन्यते—केवलिनो युगपद् ज्ञान दर्शन च, अन्यथा तदावरणक्षयस्य निरर्थकता स्यात्, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने, जीवस्वरूपत्वात् तथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतोपयोगौ न चैकत-रोपयोगे इतरक्षयोपशमाभावः ' ।'[5] चूर्णिकारसम्मत व्याख्या का भी वृत्तिकार ने कहीं-कहीं निर्देश किया है : 'सव्वेण सव्व उववज्जइ' सर्वेण तु सर्वं उत्पद्यते, पूर्णकारणसमवायाद् घटवदिति चूर्णिव्याख्या, टीकाकारस्त्वेवमाह ।[6]

प्रत्येक शतक की वृत्ति के अन्त में टीकाकार ने वृत्ति-समाप्ति-सूचक एक-एक सुन्दर श्लोक दिया है। प्रारभ के चार शतको के श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हे :

इति गुरुगमभङ्गे· सागरस्याहमस्य,
स्फुटमुपचितजाड्य· पञ्चमाङ्गस्य सद्य ।
प्रथमशतपदार्थावर्त्तगर्तव्यतीतो,
विवरणवरपोतौ प्राप्य सद्धीवराणाम् ॥
—प्रथम शतक का अन्त.

श्रीपञ्चमाङ्गे गुरुसूत्रपिण्डे, शत स्थितानेकशते द्वितीयम् ।।
अनैपुणेनापि मया व्यचारि, सूत्रप्रयोगज्ञवचोऽनुवृत्या ।।
—द्वितीय शतक का अन्त

श्री पञ्चमाङ्गस्य शत तृतीय, व्याख्यातमाश्रित्य पुराणवृत्तिम् ।
शक्तोऽपि गन्तु भजते हि यान, पान्थः सुखार्थं किमु यो न शक्त ॥
—तृतीय शतक का अन्त

१. पृ० ४०. २. पृ० १३०.
३. पृ० १४७. ४. पृ० १७४.
५. पृ० १०५. ६. पृ० १४७.

स्वतः सुबोधेऽपि शते तुरीये, व्याख्या मया काचिदिय विदृब्धा ।
दुग्धे सदा स्वादुतमे स्वभावात्, क्षेपो न युक्तः किमु शर्करायाः ॥
—चतुर्थं शतक का अन्त.

वृत्ति के अन्त मे आचार्य ने अपनी गुरु-परम्परा बताते हुए अपना नामोल्लेख किया है तथा बताया है कि अणहिलपाटक नगर मे वि० स० ११२८ मे १८६१६ श्लोकप्रमाण प्रस्तुत वृत्ति समाप्त हुई :

एकस्तयोः सूरिवरो जिनेश्वरः,ख्यातस्तथाऽन्यो मुनि बुद्धिसागर ।
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाऽप्यल वृत्ति कृतैषाऽभयदेवसूरिणा ॥५॥
अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके ।
अणहिलपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ ॥१५॥
अष्टादशसहस्राणि षट् शतान्यथ षोडश ।
इत्येव मानमेतस्या श्लोकमानेन निश्चितम् ॥१६॥

ज्ञाताधर्मकथाविवरण .

प्रस्तुत विवरण[1] सूत्रस्पर्शी है । इसमे शब्दार्थ की प्रधानता है । प्रारम्भ मे विवरणकार ने महावीर को नमस्कार किया है तथा ज्ञाताधर्मकथाग का विवरण प्रारम्भ करने का सकल्प किया है .

नत्वा श्रीमन्महावीर प्रायोऽन्यग्रथवीक्षितः ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्यानुयोगः कश्चिदुच्यते ॥१॥

प्रथम सूत्र के व्याख्यान में चम्पा नगरी का परम्परागत परिचय दिया गया है । इसी प्रकार दूसरे सूत्र की व्याख्या मे पूर्णभद्र नामक चैत्य—व्यन्तरायतन, तीसरे सूत्र की व्याख्या मे कोणिक नामक राजा—श्रेणिकराजपुत्र तथा चतुर्थ सूत्र के विवरण में स्थविर सुधर्मा का परिचय है । पाँचवे सूत्र के व्याख्यान में ज्ञाताधर्मकथा के दो श्रुतस्कधो अर्थात दो विभागो का परिचय देते हुए बताया गया है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम ज्ञात है जिसका अर्थ होता है उदाहरण ज्ञातानि उदाहरणानि प्रथम श्रुतस्कन्ध ।[2] इसमे आचारादि की शिक्षा देने के उद्देश्य से कथाओ के रूप मे विविध उदाहरण दिये गये हैं । द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम धर्मकथा है । इसमे धर्मप्रधान कथाओ का समावेश किया गया है : धर्मप्रधाना. कथा. धर्मकथा इति द्वितीयः ।[3] तदनन्तर प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत निम्नलिखित १९ उदाहरणरूप कथाओ के अध्ययनो की

---

१. आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१९
२. पृ० १० (१). ३. वही.

अर्थसहित नामावली दी गई है : १. उत्क्षिप्त- मेघकुमार के जीव द्वारा हाथी के भव में पाद का उत्क्षेप अर्थात् पैर ऊँचा उठाना, २. सघाटक—श्रेष्ठि और चौर का एक बन्धनबद्धत्व, ३. अण्डक—मयूराण्ड, ४. कूर्म—कच्छप, ५. शैलक—एक राजर्षि, ६. तुम्ब—अलाबु, ७. रोहिणी—एक श्रेष्ठिवधू, ८ मल्ली उन्नीसवी तीर्थंकरी, ९ माकन्दी नामक व्यापारी का पुत्र, १०. चन्द्रमा, ११. दावद्रव—समुद्रतट के वृक्ष विशेष, १२. उदक-नगरपरिखाजल, १३. मण्डूक-नन्द नामक मणिकार सेठ का जीव, १४. तेतलीपुत्र नामक अमात्य, १५. नन्दी फल—नन्दी नामक वृक्ष के फल, १६ अवरकका—भरतक्षेत्र के धातकी खण्ड की राजधानी, १७ आकीर्ण—जन्म से समुद्र में रहने वाले अश्व—समुद्री घोडे, १८ ससुमा—एक श्रेष्ठिदुहिता, १९ पुण्डरीक—एक नगर। इसके बाद विवरण कार ने क्रमश प्रत्येक अध्ययन का व्याख्यान किया है। जिसमे मुख्यतया नये एव कठिन शब्दो का अर्थ स्पष्ट किया गया है। आचार्य ने प्रत्येक अध्ययन की व्याख्या के अन्त में उससे फलित होने वाला विशेष अर्थ स्पष्ट किया है तथा उसकी पुष्टि के लिए तदर्थगर्भित गाथाएँ भी उद्धृत की हैं।

प्रथम अध्ययन के अभिधेय का सार बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को मार्ग पर लाने के लिए गुरु को उसे उपालभ देना चाहिए जैसा कि भगवान् महावीर ने मेघकुमार को दिया अविधि-प्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपालम्भो देयो यथा भगवता दत्तो मेघकुमारायेत्येवमर्थं प्रथममध्ययनमित्यभिप्राय ।[1] इसी वक्तव्य की पुष्टि के लिए 'इह गाथा' ऐसा कहते हुए आचार्य ने निम्न गाथा उद्धृत की है :[2]

महुरेहिं निउणेहिं वयणेहिं चोययति आयरिया।
सीसे कहिंचि खलिए जह मेहमुणि महावीरो ॥१॥
(मधुरैर्निपुणैर्वचनै स्थापयन्ति आचार्याः ।
शिष्य क्वचित् स्खलिते यथा मेघमुनि महावीरः ॥ १ ॥)

द्वितीय अध्ययन के अन्त मे आचार्य लिखते हैं कि बिना आहार के मोक्ष के साधनो में प्रवृत्त न होने के कारण शरीर को आहार देना चाहिए जैसा कि धन सार्थवाह ने विजय चोर को दिया। इसी अभिधेयार्थ की पुष्टि के लिए आचार्य ने 'पठ्यते च' ऐसा लिखते हुए निम्न गाथा उद्धृत की है :[3]

---

१ पृ० ७७ (१). २ वही. ३. पृ० ९० (१).

सिवसाहणेसु आहारविरहिओ ज न वट्टए देहो ।
तम्हा धणो व्व विजय साहू त तेण पोसेज्जा ॥ १ ॥
(शिवसाधनेपु आहारविरहितो यन्न प्रवर्त्तते देहः ।
तस्मात् धन इव विजय साधुस्तत् तेन पोपयेत् ॥ १ ॥)

तृतीय अध्ययन का सार वताते हुए वृत्तिकार लिखते है कि बुद्धिमान् को जिनवरभापित वचनो मे सदेह नही करना चाहिए क्योकि इस प्रकार का सन्देह अनर्थ का कारण है। जो जिनवचनो मे हमेशा शकित रहता है उसे सागरदत्त की भांति निराश होना पडता है। जो नि शकित होकर जिनवचनानुकूल आचरण करता है उसे जिनदत्त की तरह सफलता प्राप्त होती है। निम्न गाथाओ मे यही बताया गया है[1]

जिणवरभासियभावेसु भावसच्चेसु भावओ मइम ।
नो कुज्जा सदेह सदेहोऽणत्थहेउत्ति ॥ १ ॥
निस्सदेहत्त पुण गुणहेउ ज तओ तय कज्ज ।
एत्थ दो सिट्ठिसुया अडयगाही उदाहरण ॥ २ ॥
(जिनवरभापितेपु भावेपु भावसत्येपु भावतो मतिमान् ।
न कुर्यात् सदेह सन्देहोऽनर्थहेतुरिति ॥ १ ॥
निस्सन्देहत्व पुनर्गुणहेतुर्यत्ततस्तत् कार्यं ।
अत्र द्वौ श्रेष्ठिसुतौ अण्डकग्राहिणावुदाहरणम् ॥ २ ॥)

प्रथम श्रुतस्कन्ध के शेप अध्ययनो के विवरण के अन्त मे भी इसी प्रकार की अभिधेयार्थग्राही गाथाएँ है। इस श्रुतस्कन्ध मे धर्मार्थ का कथन साक्षात् कथाओ से न होकर उदाहरणो के माध्यम से है जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे साक्षात् धर्मकथाओ से ही धर्मार्थ का वर्णन किया गया है पूर्वत्राप्तोपालम्भादिभिर्ज्ञातैर्धर्मार्थ उपनीयते, इह तु स एव साक्षात्कथाभिरभिधीयते ।[2] इसमे धर्मकथाओ के दस वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में विविध अध्ययन है। विवरणकार ने 'सर्वं सुगम' और 'शेप सूत्रसिद्धम्' ऐसा लिखते हुए इन अध्ययनो का व्याख्यान चार पक्तियो मे ही समाप्त कर दिया है। अन्त के श्लोको मे आचार्य अभयदेव ने अपने गुरु का नाम जिनेश्वर बताया है तथा प्रस्तुत विवरण के सशोधक के रूप मे निर्वृतकुलीन द्रोणाचार्य के नाम का उल्लेख किया है।

---

१ पृ० ९५ (२) २. पृ० २४६ (१)

विवरण का ग्रथमान ३८०० श्लोकप्रमाण है। ग्रथसमाप्ति की तिथि वि सं. ११२० की विजयदशमी है। लेखनसमाप्ति का स्थान अणहिलपाटक नगर है। अतिम श्लोक ये हैं

नम श्रीवर्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नम।
नम श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नम.॥ १॥

इह हि गमनिकार्थं यन्मया व्यूह्योक्त,
किमपि समयहीन तद्विशोध्यं सुधीभि।
नहि भवति विधेया सर्वथाऽस्मिन्नुपेक्षा,
दयितजिनमताना तायिना चाङ्गिवर्गे॥ २॥

परेषा दुर्लक्षा भवति हि विपक्षा स्फुटमिद,
विशेषाद् वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम्।
निराम्नायाधीभि पुनरतितरा मादृशजनैस्तत,
शास्त्रार्थे मे वचनमनघ दुर्लभमिह॥ ३॥

तत सिद्धान्ततत्त्वज्ञै, स्वयमूह्य प्रयत्नत।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्यो नियोगत॥ ४॥

तथापि माऽस्तु मे पाप, सङ्घमत्युपजीवनात्।
वृद्धन्यायानुसारित्वाद्धितार्थं च प्रवृत्तित॥ ५॥

तथाहि किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थत',
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत्।
समर्थपदसश्रयाद्विगुणपुस्तकेभ्योऽपि यत्,
परात्महितहेतवेऽनभिनिवेशिना चेतसा॥ ६॥

यो जैनाभिमत प्रमाणमनघ व्युत्पादयामासिवान्।
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिल वौद्धादिसम्बधि तत्।
नानावृत्तिकथाकथापथमतिक्रान्त च चक्रे तपो,
नि.सम्बन्धविहारमप्रतिहत शास्त्रानुसारात्तथा॥ ७॥

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिन,
तद्बन्धोरपि वुद्धिसागर इति ख्यातस्य सुरेर्भुवि।
छन्दोवन्धनिवद्धवन्धुरवच शव्दादिसल्लक्ष्मण,
श्रीसविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः॥ ८॥

शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणा विवृतिः कृता।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासत.॥ ९॥

निर्वृ॑तककुलनभस्तलचन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पंडितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
प्रत्यक्षर गणनया, ग्रन्थमान विनिश्चितम् ।
अनुष्टभा सहस्राणि, त्रीण्येवाष्टशतानि च ॥ ११ ॥
एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम् ।
अणहिलपाटकनगरे विजयदशम्या च सिद्धेयम् ॥ १२ ॥

उपासकदशांगवृत्ति

यह वृत्ति[1] सूत्रस्पर्शी है। इसमे सूत्रगत विशेष शब्दो के अर्थ आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा की टीका की ही भाँति शब्दार्थ-प्रधान होने के कारण इसका विस्तार अधिक नही है। यह वृत्ति ज्ञाताधर्मकथा की वृत्ति के बाद लिखी गई है। प्रारम्भ मे वर्धमान को नमस्कार किया गया है तथा उपासकदशाग की व्याख्या करने को प्रतिज्ञा की गई है। इसके बाद टीकाकार ने सप्तम अग 'उपासकदशा' का शब्दार्थ किया है। उपासक का अर्थ है श्रमणोपासक और दशा का अर्थ है दस। श्रमणोपासक-सम्बन्ध अनुष्ठान का प्रतिपादन करनेवाला दस अध्ययनरूप ग्रथ उपासकदशा है। इस ग्रथ का नाम बहुवचनान्त है। प्रस्तुत वृत्ति मे भी आचार्य ने कही-कही व्याख्यान्तर का निर्देश किया है। अनेक जगह ज्ञाताधर्मकथा की व्याख्या से अर्थ समझ लेने के लिए कहा है। अन्त में वृत्तिकार कहते हैं कि सब मनुष्यों को प्राय. अपना वचन अभिमत होता है। जो खुद को भी अच्छी तरह पसद नही आता वह दूसरो को कैसे पसद आ सकता है? मैंने अपने चित्त के किसी उल्लास विशेष के कारण यहाँ कुछ कहा है। उसमे जो कुछ युक्तियुक्त हो उसे निर्मल बुद्धिवाले पुरुष प्रेमपूर्वक स्वीकार करें।

अन्तकृद्दशावृत्ति :

यह वृत्ति[2] भी सूत्रस्पर्शी एव शब्दार्थप्रधान है। अव्याख्यात पदो के अर्थ के लिए वृत्तिकार ने ज्ञाताधर्मकथाविवरण का निर्देश किया है। 'अन्तकृद्दशा' का

---

१ (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०
(इ) केवल गुजराती अनुवाद—प० भगवानदास हर्षचन्द्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि० स० १९९२.

२ (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५
(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०
(इ) गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गाधी रोड, अहमदाबाद, सन् १९३२.

शब्दार्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं : तत्रान्तो–भवान्तः कृतो–विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशाः—दशाध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृद्दशा, इह चाष्टौ वर्गा भवन्ति। तत्र प्रथमे वर्गे दशाध्ययनानि। 'अन्त' का अर्थ है भवान्त और 'कृत' का अर्थ है विहित। जिन्होने अपने भव का अन्त किया है वे अन्तकृत हैं। अन्तकृतसम्बन्धी ग्रन्थविशेष जिसकी पद्धति दशाध्ययनरूप—दस अध्ययनवाली है, अन्तकृद्दशा कहलाता है। यद्यपि अन्तकृद्दशा के प्रत्येक वर्ग मे दस अध्ययन नही है तथापि कुछ वर्गों की दस अध्ययनवाली पद्धति के कारण इसका नाम अन्तकृद्दशा रखा गया है। वृत्ति के अन्त मे आचार्य लिखते है . यदिह न व्याख्यात तज्ज्ञाताधर्मकथाविवरणादवसेयम्—जिसका यहाँ व्याख्यान न किया गया हो वह ज्ञाताधर्मकथा के विवरण से समझ लेना चाहिए। निम्नलिखित श्लोक के साथ वृत्ति पूर्ण होती है .

अनन्तरसपर्यये जिनवरोदिने शासने,
यकेह समयानुगा गमनिका किल प्रोच्यते।
गमान्तरमुपैति सा तदपि सद्भिरस्या कृता-
वरूढगमशोधन ननु विधीयता सर्वत ॥

अनुत्तरौपपातिकदशावृत्ति :

यह वृत्ति[1] भी सूत्रस्पर्शिक एव शब्दार्थग्राही है। प्रारम्भ में वृत्तिकार ने 'अनुत्तरौपपातिकदशा' का अर्थ बताया है : तत्रानुत्तरेषु विमानविशेषेपूपपातो जन्म अनुत्तरोपपातः स विद्यते येषा तेऽनुत्तरौपपातिकास्तत्प्रतिपादिका दशा। दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशा· ग्रन्थविशेषोऽनुत्तरौपपातिकदशास्तासा च सम्बन्धसूत्रम्। अनुत्तरविमान मे उत्पन्न होनेवाले अनुत्तरौपपातिक कहे जाते है। जिस ग्रथ में अनुत्तरौपपातिको का वर्णन है उसका नाम भी अनुत्तरौपपातिक है। उसके प्रथम वर्ग मे दस अध्ययन हैं अत उसे अनुत्तरौपपातिकदशा कहते हैं। अन्त मे वृत्तिकार ने लिखा है

शब्दा· केचन नार्थतोऽत्र विदिता केचित्तु पर्यायत,
सूत्रार्थानुगते समूह्य भणतो यज्जातमाग·पदम्।
वृत्तावत्र तकत् जिनेश्वरवचोभाषाविधौ कोविदै,
सशोध्य विहितादरैर्जिनमतोपेक्षा यतो न क्षमा ॥

---

१ (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७५
(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२०.
(इ) गूर्जर ग्रथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३२

कुछ शब्दो का अर्थत और कुछ का पर्यायत ज्ञान न होने से वृत्ति में त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। जिनवाणी मे निष्णात आदरणीय विद्वज्जन उन त्रुटियों का सशोधन कर लें क्योंकि जिनमत की उपेक्षा करना उचित नही।

प्रश्नव्याकरणवृत्ति :

अभयदेवसूरिकृत प्रस्तुत शब्दार्थप्रधान वृत्ति[1] का ग्रथमान ४६३० श्लोक-प्रमाण है। इसे द्रोणाचार्य ने शुद्ध किया था। वृत्ति के प्रारभ में व्याख्येय ग्रथ की दुरूहता का निर्देश करते हुए आचार्य कहते है :

अज्ञा वय शास्त्रमिद गभीर प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।
सूत्र व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव॥

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम प्रश्नव्याकरण अथवा प्रश्नव्याकरणदशा है। प्रश्नव्याकरण का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार कहते है कि जिसमे प्रश्न अर्थात् अगुष्ठादि प्रश्नविद्याओ का व्याकरण अर्थात् अभिधान किया गया है वह प्रश्नव्याकरण है। प्रश्नव्याकरणदशा का अर्थ यह है : जिसमें प्रश्न अर्थात् विद्याविशेषो का व्याकरण अर्थात् प्रतिपादन करने वाले दशा अर्थात् दस अध्ययन हैं वह प्रश्नव्याकरणदशा है। यह व्युत्पत्त्यर्थ पहले था। इस समय तो इसमे आस्रवपचक और सवरपचक का प्रतिपादन ही उपलब्ध हैं। प्रश्ना'—अङ्गुष्ठादिप्रश्नविधास्ता—व्याक्रियन्ते–अभिधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरण, क्वचित् 'प्रश्नव्याकरणदशा' इति दृश्यते, तत्र प्रश्नाना—विद्याविशेषाणा यानि व्याकरणानि तेषा प्रतिपादनपरा दशा—दशाध्ययनप्रतिबद्धा-ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशा। अय व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकालेऽभूत्। इदानी त्वास्रवपञ्चकसवरपञ्चकव्याकृतिरेवोपलभ्यते।[2] आगे आचार्य ने बताया है कि महाज्ञानी पूर्वाचार्यों ने इस युग के पुरुषो के स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए ही उन विद्याओ के बदले पचास्रव और पचसवर का वर्णन किया प्रतीत होता है। प्रश्नव्याकरण-सुखबोधिकावृत्तिकार ज्ञानविमलसूरि ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया हैं।[3]

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९.

२ पृ. १.

३ देखिये—प्रश्नव्याकरण—सुखबोधिकावृत्ति, पृ. २ (२).

विपाकवृत्ति :

वृत्ति के[1] प्रारभ में आचार्य ने वर्धमान को नमस्कार किया है तथा विपाक सूत्र की वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है :

नत्वा श्रीवर्धमानाय वर्धमानश्रुताध्वने।
विपाकश्रुतशास्त्रस्य वृत्तिकेयं विधास्यते ॥

तदनन्तर अपनी अन्य वृत्तियो की शैली का अनुसरण करते हुए 'विपाक-श्रुत' का शब्दार्थ बताया है : अथ 'विपाकश्रुतम्' इति क शब्दार्थ ? उच्यते—विपाक. पुण्यपापरूपकर्मफल तत्प्रतिपादनपर श्रुतमागमो विपाकश्रुतम्। इद च द्वादशागस्य प्रवचनपुरुषस्यैकादशमगम्। विपाक का अर्थ है पुण्य-पापरूप कर्मफल। उसका प्रतिपादन करने वाला श्रुत अर्थात् आगम विपाकश्रुत कहलाता है। यह श्रुत द्वादशागरूप प्रवचनपुरुष का ग्यारहवा अग है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के पचम सूत्र 'से ण भते! पुरिसे पुव्वभवे के आसि तत्थ ण विजयवद्धमाणे खेडे एक्काई नाम रट्ठकूडे होत्था' की व्याख्या में वृत्तिकार ने रट्टकूड-रट्टउड-राष्ट्रकूट अर्थ इस प्रकार किया है - 'रट्टउडे' त्ति राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक.।[2] इसी प्रकार आचार्य ने अन्य परिभाषिक पदो का भी सक्षिप्त एव सतुलित अर्थ किया है। अन्त मे अन्य वृत्तियो की भाँति इसमें भी वृत्तिकार ने विद्वानों से वृत्तिगत त्रुटियाँ शोधने की प्रार्थना की है :[3]

इहानुयोगे यदयुक्तमुक्त तद् धीधना द्राक् परिशोधयन्तु।
नोपेक्षण युक्तिमदत्र येन जिनागमे भक्तिपरायणानाम् ॥

---

१ (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८७६
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२०
(इ) मुक्तिकमल जैन मोहनलाला, वडोदा, सन् १९२० (प्रथम आवृत्ति), वि स. १९९२ (द्वितीय आवृत्ति).
(ई) गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गांधी रोड, अहमदाबाद, सन् १९३५ (मूल, मूल का अग्रेजी अनुवाद, टिप्पण आदि सहित).

२. वडोदा-सस्करण (द्वितीय) पृ० १० (१).

३ पृ० ९९ (१).

औपपातिकवृत्ति :

यह वृत्ति[1] भी शब्दार्थ-प्रधान है। प्रारंभ में वृत्तिकार ने वर्धमान को नमस्कार करते हुए औपपातिक शास्त्र की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है :

श्रीवर्धमानमानम्य, प्रायोऽन्यग्रथवीक्षिता।
औपपातिकशास्त्रस्य, व्याख्या काचिद्विधीयते॥

इसके बाद 'औपपातिक' का शब्दार्थ किया है : अथौपपातिकमिति कः शब्दार्थः ? उच्यते—उपपतनमुपपातो—देवनारकजन्म सिद्धिगमनं च, अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम्। देवों और नारकों के जन्म और सिद्धिगमन को उपपात कहते हैं। उपपातसम्बन्धी वर्णन के कारण तत्सम्बद्ध ग्रन्थ का नाम औपपातिक है। यह ग्रंथ किसका उपांग है इसका उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं : इदं चोपाङ्गं वर्त्तते, आचारांगस्य हि प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा, तस्याद्योद्देशके सूत्रमिदम् 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ—अत्थि वा मे आया उववाइए, नत्थि वा मे आया उववाइए, के वा अहं आसी ? के वा इह (अहं) च्चुए (इओ चुओ) पेच्चा इह भविस्सामि' इत्यादि, इह च सूत्रे यदौपपातिकत्वमात्मनो निर्दिष्टं तदिह प्रपञ्चयत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपांगम्। यह ग्रन्थ आचारांग का उपांग है। आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा के आद्य उद्देशक के 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ—अत्थि वा मे आया उववाइए' सूत्र में आत्मा का औपपातिकत्व निर्दिष्ट है उसका विशेष वर्णन करने के कारण औपपातिकसूत्र आचारांग का उपांग कहा जाता है।

प्रथम सूत्र 'तेणं कालेणं' का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने सूत्रों के अनेक पाठभेद होना स्वीकार किया है : इह च बहवो वाचनाभेदा दृश्यन्ते। आगे आचार्य ने सूत्रान्तर्गत नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक, लख, मख, तूणइल्ल, तुम्बवीणिक, तालाचर, आराम, उद्यान, अवट, तडाग, दीर्घिक, वप्पिणि, अट्टालक, चरिक, द्वार, गोपुर, तोरण, परिघ, इन्द्रकील, शिल्पी, शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, पणित, आपण, चतुर्मुख, महापथ, पथ, शिविका, स्यन्दमानिक, यान, युग्य, याग, भाग, दाय, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाला (शाखा), प्रवाल, विष्कम्भ, आयाम, उत्सेध, अन्जनक, हलधरकोसेज्ज, कज्जलांगी, शृंगभेद, रिष्ठक, अशनक,

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६.

सनबधन, मरकत, मसार, इहामृग, व्यालक, आजिनक, रूत, बूर, तूल, गणनायक, दडनायक, राजा, ईश्वर (युवराज), तलवर, माडविक, कौटुम्बिक, मन्त्री, महामन्त्री, गणक, दौवारिक, अमात्य, चेट, पीठमर्द, नागर, नैगम, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत, सधिपाल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक, सामाजिक, प्रशासनविषयक एव शास्त्रीय शब्दो का अर्थ स्पष्ट किया है। यत्र-तत्र पाठातरो एव मतान्तरो का भी निर्देश किया है। अन्त मे वृत्तिकार ने अपने नाम के साथ ही साथ अपने कुल और गुरु का नाम दिया है तथा बताया है कि प्रस्तुत वृत्ति का सशोधन द्रोणाचार्य ने अणहिलपाटक नगर मे किया [1]

चन्द्रकुलविपुलभूतलयुगप्रवरवर्धमानकल्पतरोः ।
कुसुमोपमस्य सूरेः गुणसौरभभरितभवनस्य ॥ १ ॥
निस्सम्बन्धविहारस्य सर्वदा श्रीजिनेश्वराह्वस्य ।
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेय कृत वृत्ति. ॥ २ ॥
अणहिलपाटकनगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण सशोधिता चेयम् ॥ ३ ॥

वृत्ति का ग्रन्थमान ३१२५ श्लोक-प्रमाण है



१ आगमोदय-सस्करण, पृ० ११९.

दशम प्रकरण

मलयगिरिविहित वृत्तियाँ

आचार्य मलयगिरि की प्रसिद्धि टीकाकार के रूप में ही है, न कि ग्रन्थकार के रूप में। इन्होने जैन आगम-ग्रन्थो पर अति महत्त्वपूर्ण टीकाए लिखी हैं। ये टीकाए विषय की विशदता, भाषा की प्रासादिकता, शैली की प्रौढता एव निरूपण की स्पष्टता आदि सभी दृष्टियो से सुसफल हैं। मलयगिरिसूरि का स्वल्प परिचय इस प्रकार है :[1]

आचार्य मलयगिरि ने अपने ग्रन्थो के अन्त की प्रशस्ति मे 'यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धि तेनाश्नुता लोक' इस प्रकार सामान्य नामोल्लेख के अतिरिक्त अपने विषय में कुछ भी नही लिखा है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी इनके विषय में प्राय. मौन ही धारण किया है। केवल पन्द्रहवी शताब्दी के एक ग्रन्थकार जिनमण्डनगणि ने अपने कुमारपालप्रबन्ध मे आचार्य हेमचन्द्र की विद्यासाधना के प्रसग का वर्णन करते समय आचार्य मलयगिरि से सम्बन्धित कुछ बातो का उल्लेख किया है। वर्णन इस प्रकार है :

हेमचन्द्र ने गुरु की आज्ञा लेकर अन्य गच्छीय देवेन्द्रसूरि और मलयगिरि के साथ कलाओ में कुशलता प्राप्त करने के लिए गौडदेश की ओर विहार किया। मार्ग मे खिल्लूर ग्राम में एक साधु बीमार था। उसकी तीनो ने अच्छी तरह सेवा की। वह साधु रैवतक तीर्थ (गिरनार) की यात्रा के लिए बहुत आतुर था। उसकी अन्तिम समय की इच्छा पूरी करने के लिए गांव के लोगो को समझा-बुझाकर डोली का प्रबन्ध कर वे लोग सो गए। सवेरे उठकर क्या देखते हैं कि तीनो जने रैवतक में बैठे हुए हैं। इसी समय शासनदेवी ने आकर उन्हें कहा कि आप लोगो का इच्छित कार्य यही सम्पन्न हो जाएगा। अब आपको गौडदेश में जाने की कोई आवश्यकता नही। यह कह कर अनेक मन्त्र, ओषधि आदि देकर देवी अपने स्थान पर चली गई।

एक समय गुरु ने उन्हें सिद्धचक्र मन्त्र दिया। तीनो ने अम्बिकादेवी की सहायता से भगवान् नेमिनाथ (रैवतकदेव) के सामने बैठकर सिद्धचक्र

---

१. इसका आधार मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित पचम तथा षष्ठ कर्मग्रन्थ (आत्मानन्द जैन ग्रथमाला, ८६) की प्रस्तावना है।

मन्त्र की आराधना की। मन्त्र के अधिष्ठाता विमलेश्वरदेव ने प्रसन्न होकर तीनो से कहा कि तुम लोग अपना इच्छित वरदान मांगो। उस समय हेमचन्द्र ने राजा को प्रतिबोध देने का, देवेन्द्रसूरि ने एक रात में कान्ती नगरी से सेरीसक ग्राम मे मदिर लाने का और मलयगिरिसूरि ने जैन सिद्धान्तो की वृत्तिया—टीकाएँ लिखने का वर मागा। तीनो को अपनी-अपनी इच्छानुसार वर देकर देव अपने स्थान पर चला गया।

उपर्युक्त उल्लेख से यह फलित होता है कि (१) मलयगिरिसूरि आचार्य हेमचन्द्र के साथ विद्यासाधना के लिए गये थे, (२) उन्होने जैन आगमग्रथों की टीकाए लिखने का वरदान प्राप्त किया था और (३) वे 'सूरि' पद अर्थात् 'आचार्य' पद से विभूपित थे। मलयगिरि के लिए आचार्यपदसूचक एक और प्रमाण उपलब्ध है जो इससे भी अधिक प्रबल है। यह प्रमाण मलयगिरिविरचित शब्दानुशासन मे है जो इस प्रकार है एव कृत मङ्गल-रक्षाविधान. परिपूर्णमल्पग्रन्थ लघूपाय आचार्यो मलयगिरि. शब्दानुशासनमारभते। इसमें मलयगिरि ने अपने लिए स्पष्टरूप से आचार्यपद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार आचार्य मलयगिरि और आचार्य हेमचन्द्र के सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाला एक प्रमाण मलयगिरि विरचित आवश्यकवृत्ति मे है जिससे यह प्रकट होता है कि आचार्य मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र को अति सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखते थे। आचार्य मलयगिरि लिखते है तथा चाहु: स्तुतिपु गुरव —

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिण. प्रवादा।
नयानशेपानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते॥

यह कारिका आचार्य हेमचन्द्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका की है जिसे आचार्य मलयगिरि ने अपनी आवश्यकवृत्ति मे उद्धृत किया है। उद्धृत करने के पूर्व आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'गुरव' पद का प्रयोग किया है। इस अति सम्मानपूर्ण प्रयोग से यह स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र के पाण्डित्य का प्रभाव मलयगिरिसूरि पर काफी गहरा था। इतना ही नही, आचार्य हेमचन्द्र मलयगिरिसूरि की अपेक्षा व्रतावस्था मे भी बडे ही थे, वय मे चाहे बडे न भी हो। अन्यथा आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'गुरव' शब्द का प्रयोग करना मलयगिरिसूरि के लिए इतना सरल न होता। जैन आगमो पर टीकाएँ लिखने की आचार्य मलयगिरि की इच्छा तो उनकी उपलब्ध टीकाओ मे प्रतिबिम्बित है ही।

मलयगिरि ने कितने ग्रथ लिखे, इसका स्पष्ट उल्लेख तो कही उपलब्ध नही होता। उनके जितने ग्रथ इस समय उपलब्ध हैं तथा जिन ग्रन्थो के नामो का

उल्लेख तो उनकी कृतियो में है किन्तु ग्रंथ उपलब्ध नही है उन सब की सूची नीचे दी जाती है '

उपलब्ध ग्रन्थ

नाम	श्लोकप्रमाण
१ भगवतीसूत्र—द्वितीयशतकवृत्ति	३७५०
२ राजप्रश्नीयोपागटीका	३७००
३ जीवाभिगमोपागटीका	१६०००
४ प्रज्ञापनोपागटीका	१६०००
५ चन्द्रप्रज्ञप्त्युपागटीका	९५००
६ सूर्यप्रज्ञप्त्युपागटीका	९५००
७ नन्दीसूत्रटीका	७७३२
८ व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००
९ वृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण)	४६००
१० आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८०००
११ पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७००
१२ ज्योतिष्करण्डकटीका	५०००
१३. धर्मसग्रहणीवृत्ति	१००००
१४ कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००
१५ पचसग्रहवृत्ति	१८८५०
१६ षडशीतिवृत्ति	२०००
१७ सप्ततिकावृत्ति	३७८०
१८ वृहत्सग्रहणीवृत्ति	५०००
१९ वृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००
२० मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००

अनुपलब्ध ग्रन्थ

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका	२ ओघनिर्युक्तिटीका
३ विशेषावश्यकटीका	४ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका
५ धर्मसारप्रकरण टीका	६ देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरण टीका

उपर्युक्त ग्रथो के नामो से स्पष्ट है कि आचार्य मलयगिरि एक बहुत बडे टीकाकार हैं, न कि स्वतन्त्र ग्रन्थकार। इन्होने इन टीकाओं में ही अपने पाडित्य का उपयोग किया है। यही कारण है कि इनकी टीकाओ की विद्वत्समाज मे खूब प्रतिष्ठा है। ये अपनी टीकाओ मे सर्वप्रथम मूल सूत्र, गाथा अथवा श्लोक के

शब्दार्थ की व्याख्या करते हैं और उस अर्थ का स्पष्ट निर्देश कर देते हैं। तद-नन्तर विशेष स्पष्टीकरण अथवा विस्तृत विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होने पर 'अय भावः, किमुक्त भवति, अयमाशयः, इदमत्र हृदयम्' इत्यादि पदो के साथ सम्पूर्ण अभीष्टार्थ स्पष्ट कर देते हैं। विषय से सम्बद्ध अन्य प्रासगिक विषयो की चर्चा करना तथा तद्विषयक प्राचीन प्रमाणों का उल्लेख करना भी आचार्य मलयगिरि की एक बहुत बडी विशेषता है। आगे मलयगिरिकृत प्रकाशित टीकाओं का परिचय दिया जाता है।

नदीवृत्ति :

आचार्य मलयगिरिकृत प्रस्तुत वृत्ति[1] दार्शनिक वाद-विवाद से परिपूर्ण है। यही कारण है कि इसका विस्तार भी अधिक है। इसमें यत्र-तत्र उदाहरण के रूप मे सस्कृत कथानक भी दिये गये हैं। प्राकृत एव सस्कृत उद्धरणो का भी अभाव ही है। प्रारभ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर एव जिन-प्रवचन का सादर स्मरण किया है :

जयति भुवनैकभानु· सर्वत्राविहतकेवलालोक ।
नित्योदितः स्थिरस्तापवर्जितो वर्धमानजिनः ॥ १ ॥
जयति जगदेकमगलमपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम् ।
रविबिम्बमिव यथास्थितवस्तुविकाश जिनेशवच ॥ २ ॥

वृत्तिकार ने नन्दी का शब्दार्थ इस प्रकार बताया है अथ नन्दिरिति क शब्दार्थः ? उच्यते—'टुनदु' समृद्धावित्यस्य 'धातोरुदितो नम्' इति नमि विहिते नन्दनं नन्दिः प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः, नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपचका-भिधायकमध्ययनमपि नन्दिः, नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति वा नन्दि इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम् । ' अपरे तु नन्दीति पठन्ति, ते च 'इक् कृष्या-दिभ्यः' इति सूत्रादिकप्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्त्तयन्ति ततश्च 'इतो-ऽक्त्यर्थात्' इति ङीप्रत्ययः।[2] 'टुनदु' धातु से 'समृद्धि' अर्थ मे 'धातोरुदितो नम्' सूत्र से 'नम्' करने पर 'नन्दि' बनता है जिसका अर्थ है प्रमोद, हर्ष आदि। नन्दि-प्रमोद-हर्ष का कारण होने से ज्ञानपचक का कथन करनेवाला अध्ययन भी 'नन्दि' कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमे प्राणी प्रसन्न रहते हैं वह 'नन्दि' है। यही प्रस्तुत अध्ययन—ग्रथ है। कुछ लोग इसे 'नन्दी' कहते हैं।

---

१. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, वि० स० १९३३
(आ) आगमोदय समिति, ग्र० १६, बम्बई, सन् १९२४
२ आगमोदय-सस्करण, पृ० १.

उनके मतसे 'इक् कृष्यादिभ्यः' सूत्र से 'इक्' प्रत्यय करके स्त्रीलिंग में 'इतोऽक्त्यर्थात्' सूत्र से 'ङी' प्रत्यय करने पर 'नन्दी' बनता है।

'नन्दी' का निक्षेप-पद्धति से विवेचन करने के बाद टीकाकार ने 'जयइ जगजीवजोणी' ' इत्यादि स्तुतिपरक सूत्र-गाथाओं का सुविस्तृत व्याख्यान किया है। इसमें जीवसत्तासिद्धि, शब्दप्रामाण्य, वचनापौरुषेयत्वखंडन, वीतराग-स्वरूपविचार, सर्वज्ञसिद्धि, नैरात्म्यनिराकरण, सतानवादखण्डन, बाह्यार्थक-भावखण्डन, अन्यविज्ञानसिद्धि, सांख्यमुक्तिनिरास, धर्मधर्मिभेदाभेदसिद्धि आदि का समावेश किया है।[1] वृत्ति का यह भाग दार्शनिक चर्चाओं से परिपूर्ण होने के कारण बौद्धिक आह्लाद उत्पन्न करने वाला है। आगे की वृत्ति में ज्ञान-पचकसिद्धि, मत्यादिक्रमस्थापना, प्रत्यक्ष-परोक्षस्वरूपविचार, मत्यादिस्वरूपनिश्चय अनतरसिद्धकेवल, परम्परसिद्धकेवल, स्त्रीमुक्तिसिद्धि, युगपद्-उपयोगनिरास, ज्ञान-दर्शन-अभेदनिरास, सदृष्टान्तबुद्धिभेदनिरूपण, अगप्रविष्ट-अगबाह्य श्रुतस्वरूप-प्ररूपण आदि सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। अन्त में आचार्य ने चूर्णिकार को नमस्कार करते हुए टीकाकार हरिभद्र को भी सादर नमस्कार किया है तथा तथा वृत्ति से उपार्जित पुण्य को लोककल्याण के लिए समर्पित करते हुए अर्हत् आदि का मगल-स्मरण किया है[2]

नन्द्यध्ययन पूर्वं प्रकाशित येन विषमभावार्थम्।
तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु विदुषे परोपकृते ॥ १॥
मध्ये समस्तभूपीठ, यशो यस्याभिवर्द्धते।
तस्मै श्रीहरिभद्राय, नमष्टीकाविधायिने ॥ २॥
वृत्तिर्वा चूर्णिर्वा रम्याऽपि न मन्दमेधसा योग्या।
अभवदिह तेन तेषामुपकृतये यत्न एष कृतः ॥ ३॥
बहुर्थमल्पशब्द नन्द्यध्ययन विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धि तेनाश्नुता लोकः ॥ ४॥
अर्हन्तो मङ्गल मे स्युः, सिद्धाश्च मम मङ्गलम्।
साधवो मगलम् सम्यग्, जैनो धर्मश्च मगलम् ॥ ५॥

प्रस्तुत वृत्ति का ग्रथमान ७७३२ श्लोकप्रमाण है।

प्रज्ञापनावृत्ति :

वृत्ति[3] के प्रारभ में आचार्य ने मगलसूचक चार श्लोक दिये हैं। प्रथम

---

१ पृ० २-४२। २. पृ० २५०.

३. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८४
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-९

श्लोक में महावीर की जय बोली गई है, द्वितीय में जिन-प्रवचन को नमस्कार किया गया है, तृतीय में गुरु को प्रणाम किया गया है, चतुर्थ मे प्रज्ञापना सूत्र की टीका करने की प्रतिज्ञा की गई है

जयति नमदमरमुकुटप्रतिविम्वच्छद्मविहितवहुरूप ।
उद्धर्तुमिव समस्त विश्व भवपङ्कतो वार ॥ १ ॥
जिनवचनामृतजलधिं वन्दे यद्विन्दुमात्रमादाय ।
अभवन्नून सत्त्वा जन्म-जरा-व्याधिपरिहीणा. ॥ २ ॥
प्रणमत गुरुपदपङ्कजमधरीकृतकामधेनुकल्पलतम् ।
यदुपास्तिवशान्निरुपममश्नुवते ब्रह्म तनुभाज ॥ ३ ॥
जडमतिरपि गुरुचरणोपास्तिसमुद्भूतविपुलमतिविभव ।
समयानुसारतोऽहं विदधे प्रज्ञापनाविवृतिम् ॥ ४ ॥

'प्रज्ञापना' का शब्दार्थ करते हुए वृत्तिकार कहते है प्रकर्षेण ज्ञाप्यन्ते अनयेति प्रज्ञापना अर्थात् जिसके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थो का ज्ञान किया जाय वह प्रज्ञापना है। यह प्रज्ञापना सूत्र समवाय नामक चतुर्थ अग का उपाग है क्योंकि यह समवायाग में निरूपित अर्थ का प्रतिपादन करता है। यदि कोई यह कहे कि समवायागनिरूपित अर्थ का इसमे प्रतिपादन करना निरर्थक है तो ठीक नही। इसमें समवायागप्रतिपादित अर्थ का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इससे मदमति शिष्य का विशेष उपकार होता है। अतः इसकी रचना सार्थक है। इसके बाद मगल की सार्थकता आदि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य ने सूत्र के पदो का व्याख्यान किया है। व्याख्यान आवश्यकतानुसार कही सक्षिप्त है तो कही विस्तृत। अन्त मे वृत्तिकार ने जिन-वचन को नमस्कार करते हुए अपने पूर्ववर्ती टीकाकार आचार्य हरिभद्र को यह कहते हुए नमस्कार किया है कि टीकाकार हरिभद्रसूरि की जय हो जिन्होंने प्रज्ञापना सूत्र के विषम पदो का व्याख्यान किया है और जिनके विवरण से मैं भी एक छोटा-सा टीकाकार बना हूँ। तदनन्तर प्रज्ञापनावृत्ति से प्राप्त पुण्य को जिनवाणी के सद्बोध के लिए प्रदान करते हुए वृत्तिकार कहते है कि प्रज्ञापना-सूत्र की टीका लिखकर मलयगिरि ने जो निर्दोष पुण्योपार्जन किया है उससे संसार के समस्त प्राणी जिनवचन का सद्बोध प्राप्त करें। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रंथमान १६००० श्लोकप्रमाण है।

(इ) केवल गुजराती अनुवाद—अनु. प भगवानदास हर्षचन्द्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि. स. १९९१

सूर्यप्रज्ञप्तिविवरण :

विवरण[1] के प्रारम्भ में मगल करते हुए आचार्य ने यह उल्लेख किया है कि भद्रबाहुसूरिकृत नियुंक्ति का नाश हो जाने के कारण मैं केवल मूल सूत्र का ही व्याख्यान करूँगा। प्रारम्भ के पांच श्लोक ये हैं

यथास्थित जगत्सर्वमीक्षते य प्रतिक्षणम्।
श्रीवीराय नमस्तस्मै भास्वने परमात्मने॥ १॥
श्रुतकेवलिन सर्वे विजयन्ता तमच्छिद।
येपा पुरो विभान्तिस्म खद्योता इव तीर्थिका॥ २॥
जयति जिनवचनमनुपममज्ञानतम समूहरविविम्वम्।
शिवसुखफलकल्पतरु प्रमाणनयभगगमवहुलम्॥ ३॥
सूर्यप्रज्ञप्तिमह गुरूपदेशानुसारत किंचित्।
विवृणोमि यथाशक्ति स्पष्ट स्वपरोपकाराय॥ ४॥
अस्या नियुंक्तिरभूत् पूर्वं श्रीभद्रबाहुसूरिकृता।
कलिदोपात् साऽनेशद् व्याचक्षे केवल सूत्रम्॥ ५॥

इसके बाद आचार्य ने प्रथम सूत्र का उत्थान करते हुए सूत्रस्पर्शिक व्याख्यान प्रारम्भ किया है। प्रथम सूत्र के व्याख्यान में मिथिला नगरी, मणिभद्र चैत्य, जितशत्रु राजा, धारिणी देवी और महावीर जिन का साहित्यिक छटायुक्त वर्णन किया है। द्वितीय सूत्रकी व्याख्या में इन्द्रभूति गौतम का वर्णन है। तृतीय सूत्र की वृत्ति में सूर्यप्रज्ञप्ति के मूल विषय का बीस प्राभृतो में विवेचन है। वे प्राभृत इस प्रकार है १. सूर्यमण्डलो की सख्या, २ सूर्य का तिर्यक् परिभ्रम, ३ सूर्य के प्रकाश्यक्षेत्र का परिमाण, ४. सूर्य का प्रकाशसंस्थान, ५ सूर्य का लेश्याप्रतिघात, ६ सूर्य की ओज सस्थिति, ७ सूर्यलेश्यासस्पृष्ट पुद्गल, ८ सूर्योदयसस्थिति, ९ पौरुपीच्छायाप्रमाण, १० योगस्वरूप, ११. सवत्सरो की आदि, १२ सवत्सरभेद, १३. चन्द्रमा की वृद्ध्यपवृद्धि, १४ ज्योत्सनाप्रमाण, १५ चन्द्रादि का शीघ्रगतिविपयक निर्णय, १६ ज्योत्स्नालक्षण, १७ चन्द्रादि का च्यवन और उपपात, १८. चन्द्रादि का उच्चत्वमान, १९ सूर्यसख्या, २० चन्द्रादि का अनुभाव।[2] इनमें से पहले प्राभृत में आठ, दूसरे मे तीन और दसवें में बाईस उपप्राभृत—प्राभृतप्राभृत है।[3] आगे की वृत्ति में इन्ही सब प्राभृतो एव प्राभृतप्राभृतो का विशद वर्णन है।

---

१ आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१९

२. पृ० ६ ३. पृ० ७–८.

दसवें प्राभृत के ग्यारहवें प्राभृतप्राभृत के विवरण में आचार्य ने लोकश्री तथा उसकी टीका का उल्लेख करते हुए उनमें से उद्धरण दिये हैं : तथा चोक्त लोकश्रियाम्—'पुणवसु रोहिणी चित्ता मह जेट्ठणुराह कत्तिय विसाहा। चदस्स उभयजोगी' त्ति, अत्र 'उभयजोगी' त्ति व्याख्यानयता टीकाकृतोक्तम्—एतानि नक्षत्राणि 'उभययोगीनि' चन्द्रस्योत्तरेण दक्षिणेन च युज्यन्ते, कदाचिद् भेदमप्युपयान्तीति।[1] पुनर्वसु, रोहिणी, चित्रा, मघा, ज्येष्ठा, अनुराधा, कृत्तिका और विशाखा—ये आठ नक्षत्र उभययोगी हैं अर्थात् चन्द्र की उत्तर और दक्षिण दोनो दिशाओ मे योग प्राप्त करने वाले हैं तथा कभी-कभी भेद को भी प्राप्त होते हैं।

द्वादश प्राभृत की वृत्ति में स्वकृत शब्दानुशासन का उल्लेख है : चादयो हि पदान्तराभिहितमेवार्थं स्पष्टयति न पुन स्वातन्त्र्येण कमप्यर्थमभिदधति इति, निर्णीतमेतन् स्वशब्दानुशासने।[2] च आदि पद पदान्तर के इष्ट अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं, स्वतन्त्ररूप से किसी अर्थ का प्रतिपादन नही करते।

उन्नीसवें प्राभृत के विवरण में वृत्तिकार ने जीवाभिगमचूर्णि का उल्लेख किया है तथा उसमे से अनेक उद्धरण दिये है। 'तुटिक' का शब्दार्थ करते हुए वृत्तिकार कहते है उक्त च जीवाभिगमचूर्णौ—'तुटिकमन्त पुरमिति'।[3] चन्द्रविमान से सम्बन्धित 'द्वाषष्टि' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं : एतच्च व्याख्यान जीवाभिगमचूर्ण्यादिदर्शनतः कृतम्, न पुन स्वमनीषिकया। तथा चास्या एव गाथाया व्याख्याने जीवाभिगमचूर्णि—चन्द्रविमान द्वाषष्टिभागी क्रियते, ततः पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, तत्र चत्वारो भाषा द्वाषष्टिभागाना पञ्चदशभागेन लभ्यन्ते, शेषौ द्वौ भागौ, एतावद् दिने दिने शुक्लपक्षस्य राहुणा मुच्यते, इत्यादि।[4] इसी प्राभृत की व्याख्या में तत्त्वार्थटीकाकार हरिभद्रसूरि का भी सोद्धरण उल्लेख है आह च तत्त्वार्थटीकाकारो हरिभद्रसूरिः—'नात्यन्तशीताश्चन्द्रमसो नाप्यत्यन्तोष्णाः सूर्याः, किन्तु साधारणा द्वयोरपी' ति।[5]

अन्त के निम्न मंगल-श्लोको के साथ प्रस्तुत विवरण की परिसमाप्ति होती है :[6]

---

१ पृ० १३७ (२)—१३८ (१)
२ पृ० २३३ (१)
३ पृ० २६६ (२)
४ पृ २७८ (२)
५ पृ. २८० (२).
६ पृ २९७

वन्दे यथास्थिताशेषपदार्थप्रतिभासकम् ।
नित्योदित तमोऽस्पृश्य जैन सिद्धान्तभास्करम् ॥१॥
विजयन्ता गुणगुरवो गुरवो जिनतीर्थभासनैकपराः ।
यद्वचनगुणादहमपि जातो लेशेन पटुबुद्धिः ॥२॥
सूर्यप्रज्ञप्तिमिमामतिगम्भीरा विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा साधुजनस्तेन भवतु कृती ॥३॥

ज्योतिष्करण्डकवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[1] ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक पर है। प्रारम्भ मे वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने वीरप्रभु को नमस्कार किया है तथा ज्योतिष्करण्डक का व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा की है

स्पष्ट चराचर विश्वं, जानीते य प्रतिक्षणम् ।
तस्मै नमो जिनेशाय, श्री वीराय हितैषिणे ॥१॥
सम्यग्गुरुपदाम्भोजपर्युपास्तिप्रसादतः ।
ज्योतिष्करण्डक व्यक्त, विवृणोमि यथाऽऽगमम् ॥२॥

इसके बाद 'सुण ताव सूरपन्नत्तिवण्णण वित्थरेण ' (गा० १) की व्याख्या प्रारम्भ की है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि ज्योतिष्करण्डक की नवीन उपलब्ध प्राकृत वृत्ति[2] मे मलयगिरिकृत प्रस्तुत वृत्ति की प्रथम गाथा 'सुण ताव सुरपन्नत्ति .' के पहले छ गाथाएँ और मिली है जिनमे ज्योतिष्करण्डक सूत्र को रचना की भूमिका के रूप मे यह बताया गया है कि शिष्य गुरु के समक्ष संक्षेप में कालज्ञान सुनने की इच्छा प्रकट करता है और गुरु उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए ज्योतिष्करण्डक के रूप मे उसे कालज्ञान सुनाते हैं : 'इच्छामि ताव सोतु कालण्णाण समासेण', 'सुण ताव सूरपण्णत्ति . .' इत्यादि। ये गाथाएँ महत्त्वपूर्ण होने से तथा अन्यत्र उपलब्ध न होने से यहा उद्धृत की जाती हैं -

कातूण णमोक्कार जिणवरवसभस्स वद्धमाणस्स ।
जोतिसकरंडगमिण लीलावट्टीव लोगस्स ॥१॥
कालण्णाणाभिगम सुणह समासेण पागडमहत्थ ।
णक्खत्त-चद-सूरा जुगम्मि जोगं जध उवेति ॥२॥

---

१ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन् १९२८

२ यह वृत्ति मुनि श्री पुण्यविजयजी के पास प्रतिलिपि के रूप में विद्यमान है।

कचि वायगवालब्भ सुतसागरपारग दढचरित्त ।
अप्पस्सुतो सुविहिय वंदिय सिरसा भणति सिस्सो ॥३॥
सज्झायझाणजोगस्स धीर ! जदि वो ण कोपि उवरोधो ।
इच्छामि ताव सोतु कालण्णाण समासेण ॥४॥
अह भणति एवभणितो उवमा-विण्णाण-णाणसपण्णो ।
सो समणगधहत्थी पडिहत्थो अण्णवादीण ॥५॥
दिवसिय-रातिय-पक्खिय-चाउम्मासियत ह य वासियाण च ।
णिअय पडिक्कमणाण सज्झायस्सा वि य तदत्थे ॥६॥

आचार्य मलयगिरि ने यद्यपि ये गाथाएँ उद्धृत नही की किन्तु इनका भावार्थ अपनी टीका मे अवश्य दिया। 'सुण ताव सूर ' (गा० १) की व्याख्या मे वे सर्वप्रथम इन्ही गाथाओ का भावार्थ पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घात के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते है . अयमत्र पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घात:—कोऽपि शिष्योऽल्पश्रुत कचिदाचार्यं पूर्वगतसूत्रार्थधारक वालभ्य श्रुतसागरपारगत शिरसा प्रणम्य विज्ञपयति स्म, यथा—भगवन् ! इच्छामि युष्माक श्रुतनिधीनामन्ते यथाऽवस्थित कालविभागं ज्ञातुमिति। तत एवमुक्ते सति आचार्य आह—शृणु वत्स ! तावदवहितो कथयामि ' ।[1] प्रस्तुत प्रकीर्णक सूर्यप्रज्ञप्ति के आधार पर लिखा गया है . सूर्यप्रज्ञप्तेरिद प्रकरणमुद्धृतम् ।'[2] इस प्रकार प्रथम गाथा के भूमिकारूप व्याख्यान के अनन्तर आचार्य ने कालप्रमाण आदि विषयो से सम्बन्धित आगे की गाथाओ का विवेचन प्रारम्भ किया है।

कालविषयक सख्या का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने वालभी और माथुरी वाचनाओ का उल्लेख किया है और बताया है कि स्कन्दिलाचार्य के समय में एक बार दुर्भिक्ष पडने से साधुओ का पठन-पाठन बद हो गया। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर सुभिक्ष के समय एक वलभी मे और एक मथुरा में इस प्रकार दो सघ एकत्रित हुए। दोनो स्थानो पर सूत्रार्थ का सग्रह करने से परस्पर वाचनाभेद हो गया। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नही है क्योकि विस्मृत सूत्रार्थ का स्मरण कर-करके सघटन करने से वाचनाभेद हो ही जाता है। इस समय वर्तमान अनुयोगद्वारादिक माथुरी वाचनानुगत हैं जबकि ज्योतिष्करण्डक-सूत्र का निर्माण करने वाले आचार्य वालभी है। अत प्रस्तुत सूत्र का सख्या-स्थानप्रतिपादन वालभी वाचनानुगत होने के कारण अनुयोगद्वारप्रतिपादित सख्यास्थान से विसदृश है। वृत्तिकार के स्वय के शब्दो में यह स्पष्टीकरण इस

---

१. पृ. १–२. २. पृ. २.

प्रकार है : इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिक सर्वमप्यनेशात्, ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयो सङ्घमेलापकोऽभवत्, तद्यथा—एको वालभ्यामेको मथुरायां, तत्र च सूत्रार्थसङ्घटनेन परस्पर वाचनाभेदो जात, विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयो स्मृत्वा स्मृत्वा सङ्घटने भवत्यवश्य वाचनाभेदो, न काचिदनुपपत्ति, तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानी वर्तमान माथुरवाचनानुगत, ज्योतिष्क-रण्डकसूत्रकर्त्ता चाचार्यो वालभ्य, तत इद सख्यास्थानप्रतिपादन वालभ्यवाचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसख्यास्थानै सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति ।[1]

कालविभागविषयक व्याख्यान के अन्त मे वृत्तिकार ने इसी ज्योतिष्करण्डक के टीकाकार पादलिप्तसूरि का एक वाक्य उद्धृत किया है तथा चास्यैव ज्योतिष्करण्डकस्य टीकाकार- पादलिप्तसूरिराह—'एए उ सुममसुसमादयो श्रद्धाविसेसा जुगाइणा सह पवत्तते, जुगतेण सह समप्पति'त्ति।[2] पादलिप्त-सूरि का यह वाक्य इस समय उपलब्ध ज्योतिष्करण्डक की प्राकृत टीका में नही मिलता । क्या ये दोनो टीकाएँ एक ही व्यक्ति की नही है ? क्या उपलब्ध प्राकृत टीका से भिन्न कोई अन्य टीका पादलिप्तसूरि ने लिखी है ? यदि ऐसा है तो उपलब्ध टीका किसकी वृत्ति है ? इस प्रसग पर इस प्रकार के प्रश्न उठना स्वाभाविक है । आगे जाकर मलयगिरि ने 'पचेव जोयणसया दसुत्तरा जत्थ मडला ' (गा० २०५) की व्याख्या मे ज्योतिष्करण्डक की मूलटीका का एक वाक्य उदधृत किया है . एवरूपा च क्षेत्रकाष्ठा मूलटीकायामपि भाविता, तथा च तद्ग्रन्थ —'सूरस्स पचजोयणसया दसाहिया कट्ठा, सच्चेव अट्ठहि एगट्ठिभागेहि ऊणिया चादकट्ठा हवइ' इति ।[3] ठीक इसी प्रकार का वाक्य उपलब्ध प्राकृत टीका में भी मिलता है । वह इस प्रकार है : सूरस्स पचजोयणसयाण दसाधिया कट्ठा सच्चेव अट्ठहि एगट्ठि भागेहि ऊणा चादकट्ठहवति ।[4] इससे यह फलित होता है कि उपलब्ध प्राकृत टीका आचार्य मलयगिरिनिर्दिष्ट ज्योतिष्करण्डक की मूलटीका है और पादलिप्तसूरि की टीका कोई दूसरी ही होनी चाहिए । किन्तु उपलब्ध टीका के अन्त में जो वाक्य मिलता है उससे यह फलित होता है कि यह टीका पादलिप्तसूरि की कृति है । वह वाक्य कुछ अशुद्धरूप में इस प्रकार है . पुव्वायरियकया य नीति समस-

---

१ पृ. ४१ २ पृ ५२.
३. पृ १२१ ४. प्राकृत वृत्ति, पृ ३५ (हस्तलिखित)

समएण पालित्तएण ईणमो रइयागाहाहिं परिवाडी ......[1] इस वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि यह टीका पादलिप्तसूरि ने लिखी है। यदि ऐसा है तो मलयगिरिद्वारा उद्धृत 'एए उ सुसमसुसमादयो अद्धाविसेसा' वाक्य इस टीका में क्यो नही मिलता ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि यदि उपलब्ध टोका पादलिप्तसूरि की ही है तो यह तथा इस प्रकार के और भी कुछ वाक्य इस टीका से धीरे-धीरे लुप्त हो गये है।

प्रस्तुत वृत्ति का उपसहार करते हुए वृत्तिकार मलयगिरि कहते हैं कि यह कालज्ञानसमास शिष्यो के विबोधनार्थ दिनकरप्रज्ञप्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति) के आधार से पूर्वाचार्य ने तैयार किया है। परम्परा से सर्वविद्मूलक होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ जिसका कि नाम ज्योतिष्करण्डक है विद्वानो के लिए अवश्य ही उपादेय है।[2] अन्त में निम्न श्लोक देते हुए टीका समाप्त करते हैं :

यद्गदितमल्पमतिना जिनवचनविरुद्धमत्र टीकायाम्।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञै प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥१॥
ज्योतिष्करण्डकमिद गम्भीरार्थं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धि तेनाश्नुता लोक ॥२॥

अर्थात् प्रस्तुत टीका मे मुझ अल्पबुद्धि द्वारा यदि कोई बात जिनवचन से विरुद्ध कही गई हो तो विद्वान् तत्त्वज्ञ कृपा कर उसे ठीक कर लें। इस गम्भीरार्थ ज्योतिष्करण्डक के विवरण से मलयगिरि को जो पुण्य प्राप्त हुआ है उससे लोक का कल्याण हो।

जीवाभिगमविवरण :

तृतीय उपाग जीवाभिगम की प्रस्तुत टीका[3] मे आचार्य ने मूल सूत्र के प्रत्येक पद का व्याख्यान किया है। यत्र-तत्र अनेक प्राचीन ग्रन्थो के नाम तथा उद्धरण भी दिये हैं। इसी प्रकार कुछ ग्रन्थकारो के नाम का भी उल्लेख किया है। प्रारम्भ मे निम्न मगलश्लोक हैं :

प्रणमत पदनखतेज प्रतिहतनि शेषनम्रजनतिमिरम्।
वीर परतीर्थियशोद्विरदघटाध्वसकेसरिणम् ॥ १ ॥
प्रणिपत्य गुरून् जीवाजीवाभिगमस्य विवृतिमहमनघाम्।
विदधे गुरूपदेशात्प्रबोधमाधातुमल्पधियाम् ॥ २ ॥

मगल का प्रयोजन आदि बताने के बाद सूत्रो की व्याख्या प्रारम्भ की है।

---

१ प्राकृतवृत्ति, पृ० ९३ (हस्तलिखित) २ वही पृ० २६६.
३ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१९.

'से किं त अजीवाभिगमे' '' (सू० ३-५) का व्याख्यान करते हुए तन्तु और पट के सम्बन्ध की चर्चा की है। इसी प्रसग पर (मलयगिरिकृत) धर्म-संग्रहणि टीका का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं : कृत प्रसगेन, अन्यत्र धर्मसंगहणिटीकादावेतद्वादस्य चर्चितत्वात् ।[1] आगे (मलयगिरिकृत) प्रज्ञापनाटीका का भी उल्लेख है : अस्य व्याख्यान प्रज्ञापनाटीकातो वेदितव्य ।[2] तेसि ण भंते ! जीवाणा कति सरीरया '' (सू० १३) के विवेचन में (हरिभद्रकृत) प्रज्ञापनामूलटीका का उल्लेख किया है इहाणुत्व-बादरत्वे तेषामेवाहारयोग्याना स्कन्धाना प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया प्रज्ञापनामूलटीकाकारेणापि व्याख्याते इत्यस्माभिरपि तथैवाभिहिते।[3] इसी सूत्र की व्याख्या में तत्त्वार्थमूलटीका का भी उल्लेख है।[4] 'से किं त नेरइया '' (सूत्र ३२) का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने सग्रहणिटीका का उल्लेख किया है : प्रतिपृथिवि तूत्कर्षत प्रमाण सगहणिटीकातो भावनीय, तत्र सविस्तरमुक्तत्वात् ।[5] 'से किं त थलयर '' (सू० ३६) की व्याख्या में माण्डलिक, महामाण्डलिक, ग्राम, निगम, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सबाघ, राजधानी आदि विविध जन-वसतियों के स्वरूप का निर्देश किया गया है।[6] से किं त मणुस्सा ' (सू० ४१) का विवेचन करते हुए आचार्य ने ज्ञानियों के विविध भेदों पर प्रकाश डाला है और बताया है कि सिद्धप्राभृत आदि में अनेक प्रकार के ज्ञानियों का वर्णन है : सिद्धप्राभृतादौ तथानेकशोऽभिधानात् · · ।[7] आगे विशेषणवती (जिनभद्रकृत) का भी उल्लेख है।[8] इत्थिवेदस्स ण भंते ! कम्मस्स' (सू० ५१) की व्याख्या में (हरिभद्रकृत जीवाभिगम की) मूलटीका, पचसग्रह तथा कर्मप्रकृतिसग्रहणी का उल्लेख किया गया है।[9] 'णपुंसकस्स ण ' (सू० ५९) की व्याख्या में एक सग्रहणी-गाथा उद्धृत की गयी है।[10] नरकावासों के विस्तार का वर्णन करते हुए टीकाकार ने क्षेत्रसमासटीका और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका का उल्लेख किया है परिक्षेपपरिमाणगणितभावना क्षेत्रसमासटीकातो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीकातो वा वेदितव्या।[11] रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की वेदना का वर्णन करने के बाद उनकी वैक्रियशक्ति का वर्णन करते समय 'आह च कर्मप्रकृतिसग्रहणिचूर्णि-कारोऽपि' यह कहते हुए आचार्य ने कर्मप्रकृतिसग्रहणिचूर्णि के 'पुहुत्तशब्दो बहुत्तवाई' अर्थात् 'पृथक्त्व शब्द बहुत्ववाची है' ये शब्द उद्धृत किये

---

१. पृ० ५ (२) २. पृ० ७ (२). ३. पृ० १९ (२) ४ पृ० १६ (१).
५. पृ० ३३ (२) ६. पृ० ३९. ७ पृ० ४६ (२). ८. पृ० ५० (१)
९ पृ० ६४ (१) १०. पृ० ७७ (२)–७८ (१) ११. पृ० १०८ (१).

हैं ।[1] नारकों की शीतोष्णवेदना का विवेचन करते हुए टीकाकार ने शरदादि ऋतुओं का स्वरूप बताया है । ऋतुएँ छ हैं : प्रावृट्, वर्षारात्र, शरत्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म । इस क्रम के समर्थन के लिए पादलिप्तसूरि की एक गाथा उद्धृत की गयी है :

पाउस वासारत्तो, सरओ हेमत वसंत गिम्हो य ।
एए खलु छप्पि रिऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा ॥

प्रथम शरत्कालसमय कार्तिकसमय है, इसका समर्थन करते हुए (जीवाभिगम के) मूलटीकाकार के 'प्रथमशरत् कार्तिकमास' ये शब्द उद्धृत किये हैं ।[2] आगे वसुदेवचरित (वसुदेवहिण्डी) का भी उल्लेख है ।[3] प्रस्तुत विवरण में जीवाभिगम की मूलटीका की ही भाँति उसकी चूर्णि का भी उल्लेख किया गया है एवं उसके उद्धरण दिये गये हैं ।[4] ज्योतिष्क देवों के विमानों का वर्णन करने वाले सूत्र (१२२) 'कहि ण भते ! जोइसियाणा देवाण विमाणा पण्णत्ता' का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने एतद्विषयक विशेष चर्चा के लिए (मलयगिरिकृत) चन्द्रप्रज्ञप्तिटीका, सूर्यप्रज्ञप्तिटीका तथा सग्रहणिटीका के नाम सूचित किये हैं अत्राक्षेपपरिहारौ चन्द्रप्रज्ञप्तिटीकाया सूर्यप्रज्ञप्तिटीकाया सग्रहणिटीकाया चाभिहिताविति ततोऽवधार्यौ ।[5] आगे देशीनाममाला का भी उल्लेख है ।[6] एकादश अलकारों के वर्णन के लिए भरतविशाखिल का उल्लेख किया गया है जो व्यवच्छिन्न पूर्वों का एक अत्यन्त अल्प अश है तानि च पूर्वाणि सम्प्रति व्यवच्छिन्नानि ततः पूर्वेभ्यो लेशतो विनिर्गतानि यानि भरतविशाखिलप्रभृतीनि तेभ्यो वेदितव्या ।[7] 'विजयस्स ण दारस्स' (सू० १३१) का विवेचन करते हुए टीकाकार ने 'उक्त च जीवाभिगममूलटीकाया' ऐसा कह कर 'तैलसमुद्गकौ सुगन्धितैलाधारौ' ये शब्द जीवाभिगममूलटीका से उद्धृत किये हैं । आगे राजप्रश्नीयोपाग में वर्णित बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का सुन्दर शब्दावली में वर्णन किया है ।[8] 'लवणे ण भते' (सू० १५५) की व्याख्या करते हुए आचार्य ने सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति की एक गाथा उद्धृत की है :[9]

जोइसियविमाणाइ सव्वाइ हवति फलिहमइयाइ ।
दगफालियामया पुण लवणे जे जोइसविमाणा ॥

---

१ पृ० ११९ (१) २. पृ० १२२ (१) ३ पृ० १३० (१)
४ पृ० १३६ (२), २०८ (२) ५ पृ० १७४ (१) ६. पृ० १८८ (१)
७ पृ० १९४ (१). ८ पृ० २४५ ९ पृ० ३०३ (२).

अर्थात् लवणसमुद्र को छोडकर शेष द्वीप-समुद्र में जितने भी ज्योतिष्क-विमान हैं, सब सामान्य स्फटिक के हैं। लवणसमुद्र के ज्योतिष्क-विमान उदक-स्फाटन स्वभाव अर्थात् पानी को फाड देनेवाले स्फटिक के बने हुए हैं। 'समय-खेत्ते ण भते ' (सन् १७७) की व्याख्या में पचवस्तुक[1] और हरिभद्र की तत्त्वार्थटीका[2] के उदाहरण दिये हैं। आगे तत्त्वार्थभाष्य[3], जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण की स्वोपज्ञ भाष्यटीका (विशेषावश्यकभाष्यटीका)[4] और पचसग्रहटीका[5] का उल्लेख करते हुए इनके भी उद्धरण दिये गये हैं। विवरण के अन्त में आचार्य मलयगिरि ने निम्न श्लोकों की रचना की है :[6]

जयति परिस्फुटविमलज्ञानविभासितसमस्तवस्तुगण.।
प्रतिहतपरतीर्थिमतः श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥ १ ॥
सरस्वती तमोवृन्द, शरज्ज्योत्स्नेव निघ्नती।
नित्य वो मगलम् दिश्यान्मुनिभि पर्युपासिता ॥ २ ॥
जीवाजीवाभिगम विवृण्वताऽवापि मलयगिरिणेह।
कुशल तेन लभन्ता मुनय सिद्धान्तसद्बोधम् ॥ ३ ॥

व्यवहारविवरण :

प्रस्तुत विवरण[7] मूल सूत्र निर्युक्ति एव भाष्य पर है। प्रारम्भ में प्रस्तावना-रूप पीठिका है जिसमें कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त आदि पर प्रकाश डाला गया है। सर्वप्रथम विवरणकार आचार्य मलयगिरि भगवान् नेमिनाथ, अपने गुरुवर एव व्यवहारचूर्णिकार को नमस्कार करते हैं तथा व्यवहार सूत्र का विवरण लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं :

प्रणमत नेमिजिनेश्वरमखिलप्रत्यूहतिमिररविम्बम्।
दर्शनपथमवतीर्णं, शशिवद् दृष्टे प्रसत्तिकरम् ॥ १ ॥
नत्वा गुरुपदकमल, व्यवहारमह विचित्रनिपुणार्थम्।
विवृणोमि यथाशक्ति, प्रबोधहेतोर्जडमतीनाम् ॥ २ ॥
विशमपदविवरणेन, व्यवहर्तव्यो व्यधायि साधूनाम्।
येनाय व्यवहार', श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥ ३ ॥
भाष्य क्व चेद विषमार्थगर्भं, क्व चाहमेषोऽल्पमतिप्रकर्ष.।
तथापि सम्यग्गुरुपर्युपास्तिप्रसादतो जातदृढप्रतिज्ञ. ॥ ४ ॥

---

१ पृ० ३३८ (१) २. पृ० ३४० (२) ३ पृ० ३७९ (१).
४ पृ० ४०१ (२) ५ पृ० ४११ (२) ६ पृ० ४६६ (२)
७ सशोधक—मुनि माणेक; प्रकाशक—केशवलाल प्रेमचन्द मोदी व त्रिकमलाल उगरचद, अहमदावाद, वि० स० १९८२–५.

कल्प (बृहत्कल्प) सूत्र और व्यवहार सूत्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रारम्भ मे ही आचार्य कहते है कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित का कथन तो किया गया है किन्तु प्रायश्चित्तदान की विधि नही बताई गई है। व्यवहार में प्रायश्चित्तदान और आलोचनाविधि का अभिधान है। इस प्रकार के व्यवहाराध्ययन की यहाँ व्याख्या की जायेगी ··· कल्पाध्ययने आभवत्प्रायश्चित्तमुक्त, व्यवहारे तु दानप्रायश्चित्तमामालोचनाविधिश्चाभिधास्यते। तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्यवहाराध्ययनस्य विवरण प्रस्तूयते।[1]

'व्यवहार' शब्द का विशेष विवेचन करने के लिए भाष्यकार-निर्दिष्ट व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य—इन तीनो के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। व्यवहारी कर्तारूप है, व्यवहार करण रूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। करणरूप व्यवहार पाँच प्रकार का है: आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।[2] चूर्णिकार ने भी इस पाच प्रकार के व्यवहार को करण कहा है : आह चूर्णिकृत-पचविधो व्यवहारः करणमिति ।[3] सूत्र, अर्थ, जीत, कल्प, मार्ग, न्याय, इप्सितव्य, आचरित और व्यवहार एकार्थक है।[4]

व्यवहार का उपयोग गीतार्थ के लिए है, अगीतार्थ के लिए नही। जो स्वय व्यवहार को जानता है अथवा समझाने से समझ जाता है वह गीतार्थ है। इसके विपरीत अगीतार्थ है। वह न तो स्वय व्यवहार से परिचित होता है और न समझाने से ही समझता है। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए व्यवहार का कोई उपयोग नही है।[5]

व्यवहारोक्त प्रायश्चित्तदान के लिए यह आवश्यक है कि प्रायश्चित्त देनेवाला और प्रायश्चित्त लेने वाला दोनो गीतार्थ हो। अगीतार्थ न तो प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है और न लेने का। प्रायश्चित्त क्या है, इस प्रश्न को लेकर आचार्य ने प्रायश्चित्त का अर्थ बताते हुए उसके प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपणा और परिकुञ्चना—इन चार भेदो का सविस्तार व्याख्यान किया है।[6] प्रतिसेवनारूप प्रायश्चित्त दस प्रकार का है : १ आलोचना, २ प्रतिक्रमण, ३ मिश्र, ४. विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७. छेद, ८ मूल, ९ अनवस्थित, १०. पाराचित।[7]

---

१ प्रथम विभाग, पृ० १

२ इनका विशेष वर्णन जीतकल्पभाष्य में देखिए।

३ पृ० ३ ४. पृ० ५ (भाष्य, गा० ७).

५ पृ० १३ (भाष्य, गा० २७) ६ पृ० १५.

७ पृ० १९.

प्रस्तुत पीठिका मे इन दस प्रकार के प्रायश्चित्तो का विशेष विवेचन किया गया है। यही विवेचन जीतकल्पभाष्य आदि ग्रथो मे भी उपलब्ध है। प्रायश्चित्त-दान की विधि के व्याख्यान के साथ पीठिका का विवरण समाप्त होता है। आगे की वृत्ति मे प्रथमादि उद्देशो का सूत्र, निर्युक्ति एव भाष्यस्पर्शी विवेचन है। प्रथम उद्देश के प्रथमसूत्रान्तर्गत 'पडिसेवित्ता' का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि प्रतिसेवना दो प्रकार की है मूल प्रतिसेवना और उत्तर प्रति-सेवना। मूल प्रतिसेवना पाँच प्रकार की है और उत्तर प्रतिसेवना दस प्रकार की है। इनमे से प्रत्येक के पुन दो भेद हैं दर्पिका और कल्पिका :—

मूलुत्तरपडिसेवा मूले पचविहे उत्तरे दसहा।
एक्केक्का वि य दुविहा दप्पे कप्पे य नायव्वा ॥भा० ३८॥

इस गाथा का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार लिखते है

'प्रतिसेवना नाम प्रतिसेवना सा च द्विधा मूलोत्तरत्ति, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मूलगुणातिचारप्रतिसेवना, उत्तरगुणातिचारप्रति-सेवना च। तत्र मूले पचविहत्ति मूलगुणातिचारप्रतिसेवना पञ्चविधा पञ्च-प्रकारा, मूलगुणातिचाराणा प्राणातिपातादीना पञ्चविधत्वाद्, उत्तरे त्ति उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना दशधा दसप्रकारा, उत्तरगुणाना दशविधतया तदतिचाराणामपि दशविधत्वात् ते च दशविधा उत्तरगुणा दशविधं प्रत्याख्यान तद्यथा—अनागतमतिक्रान्त कोटीसहित नियन्त्रित, साकार—मनाकार परिमाणकृतं निरवशेष साङ्केतिकमद्धाप्रत्याख्यान च। अथवा इमे दशविधा उत्तरगुणा। तद्यथा—पिण्डविशोधिरेक उत्तरगुण, पञ्च-समितयः पञ्च उत्तरगुणा, एव षट् तपोबाह्य षट्प्रभेद सप्तम उत्तरगुण, अभ्यन्तर षट्प्रभेदमष्टमः, भिक्षुप्रतिमा द्वादश नवम, अभिग्रहा द्रव्य-क्षेत्रकालभावभेदभिन्ना दशम। एतेषु दशविधेषूत्तरगुणेषु याऽतिचारप्रति-सेवना सापि दशविधेति। एक्केक्का वि य दुविहा इत्यादि एकैका मूल-गुणातिचारप्रतिसेवना उत्तरगुणातिचार प्रतिसेवना च प्रत्येक सप्रभेदा द्विविधा द्विप्रकारा ज्ञातव्या। तद्यथा—दप्पें कल्पे च दर्पिका कल्पिका चेत्यर्थः। तत्र या कारणमन्तरेण प्रतिसेवना क्रियते सा दर्पिका, या पुन: कारणे सा कल्पिका।'[1]

प्रतिसेवना दो प्रकार की है मूलगुणातिचारप्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचार-प्रतिसेवना। मूलगुणातिचारप्रतिसेवना मूलगुणो के प्राणातिपातादि पाच प्रकार के अतिचारो के कारण पाँच प्रकार की है। उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना दस प्रकार की

१. द्वितीय विभाग, पृ० १३-४.

है क्योंकि उत्तरगुणों के दस भेद हैं अतः उनके अतिचारों के भी दस भेद हैं। दस प्रकार के प्रत्याख्यानरूप उत्तरगुण इस प्रकार हैं : अनागत, अतिक्रान्त, कोटीसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, साकेतिक और अद्धा-प्रत्याख्यान। अथवा उत्तरगुणो के दस भेद ये हैं . पिण्डविशुद्धि, पांच समितिया, बाह्यतप, आभ्यन्तरतप, भिक्षुप्रतिमा और अभिग्रह। मूलगुणातिचारप्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना के इन भेदो में से प्रत्येक के पुन दो भेद हैं : दर्प्य और कल्प्य। अकारण प्रतिसेवना दर्पिका है और सकारण प्रतिसेवना कल्पिका है। इसी प्रकार आचार्य ने आगे भी अनेक सूत्रसम्बद्ध विषयो का सुसंतुलित विवेचन किया है। अन्त मे विवरणकार ने अपना नाम-निर्देश करते हुए लिखा है -

देशक इव निर्दिष्टा विषमस्थानेषु तत्त्वमार्गस्य।
विदुषामतिप्रशस्यो जयति श्रीचूर्णिकारोऽसौ ॥१॥
विषमोऽपि व्यवहारो व्यधायि सुगमो गुरूपदेशेन।
यदवापि तत्र पुण्य तेन जनः स्यात्सुगतिभागी ॥२॥
दुर्बोधातपकष्टव्यपगमलब्धैकविमलकीर्तिभर· ।
टीकामिमामकार्षीत् मलयगिरि पेशलवचोभि· ॥३॥
व्यवहारस्य भगवतो यथास्थितार्थप्रदर्शनदक्षम्।
विवरणमिदं समाप्त श्रमणगणानाममृतभूतम् ॥४॥

विवरण का ग्रथमान ३४६२५ श्लोक-प्रमाण है। प्रस्तुत संस्करण में अनेक अशुद्धिया है जिनका सशोधन अत्यावश्यक है।

राजप्रश्नीयविवरण

द्वितीय उपाग राजप्रश्नीय के प्रस्तुत विवरण[1] के प्रारम्भ मे विवरणकार आचार्य मलयगिरि ने वीर जिनेश्वर भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा राजप्रश्नीय का विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है :

प्रणमत वीरजिनेश्वरचरणयुग परमपाटलच्छायम्।
अधरीकृतनतवासवमुकुटस्थितरत्नरुचिचक्रम् ॥१॥
राजप्रश्नीयमह विवृणोमि यथाऽऽगम गुरुनियोगात्।
तत्र च शक्तिमशक्ति गुरवो जानन्ति का चिन्ता ॥२॥

---

१ (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०.
(आ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२५
(इ) सम्पादक—पं० बेचरदास जीवराज दोशी, प्रका०—गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४.

इसके बाद आचार्य ने इस उपाग का नाम 'राजप्रश्नीय क्यों रखा गया, इस पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं •

'अथ कस्माद् इदमुपाङ्ग राजप्रश्नीयाभिधानमिति ? उच्यते—इह प्रदेशिनामा राजा भगवत. केशिकुमारश्रमणस्य समीपे यान् जीवविषयान् प्रश्नानकार्पित् यानि च तस्मै केशिकुमारश्रमणो गणभृत् व्याकरणानि व्याकृतवान्, यच्च व्याकरणसम्यक्परिणतिभावतो वोधिमासाद्य मरणान्ते शुभानुशययोगत प्रथमे सौधर्मनाम्नि नाकलोके विमानमाधिपत्येनाध्यतिष्ठत्, यथा च विमानाधिपत्यप्राप्त्यनन्तर सम्यगवधिज्ञानाभोगतः श्रीमद्वर्धमानस्वामिन भगवन्तमालोक्य भक्त्यतिशयपरीतचेताः सर्वस्वसामग्रीसमेत इहावतीर्य भगवतः पुरतो द्वात्रिंशद्विधिनाट्यमनरीनृत्यत्, नर्तित्वा च यथाऽयुष्क दिवि सुखमनुभूय ततश्च्युत्वा यत्र समागत्य मुक्तिपदमवाप्स्यति, तदेतत्सर्वमस्मिन् उपाङ्गेऽभिधेयम्। पर सकलवक्तव्यतामूलम्—'राजप्रश्नीय' इति—राजप्रश्नेपु भव राजप्रश्नीयम्।'

प्रदेशी नामक राजा ने केशिकुमार नामक श्रमण से जोवविषयक अनेक प्रश्न पूछे। प्रदेशी का केशिकुमार के उत्तर से समाधान हुआ और वह अपने शुभ अध्यवसायो के कारण मरने के वाद सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे विमानाधिपति के रूप में उत्पन्न हुआ। वहा से सम्यक् अवधिज्ञान से भगवान् वर्धमान को देखकर भक्ति के अतिशय के कारण सर्व सामग्री से सज्जित हो भगवान् के पास आया और वत्तीस प्रकार के नाटक खेले। अपने देवलोक के सुख को भोगकर वहा से च्युत होकर वह कहा जाएगा व किस प्रकार मुक्ति प्राप्त करेगा, आदि वातो का वर्णन प्रस्तुत उपाग मे है। इस सारे वक्तव्य का तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ राजा के प्रश्नो से सम्बन्धित है अतः इसका नाम 'राजप्रश्नीय' है। प्रस्तुत वक्तव्य में आचार्य ने ग्रन्थ के शब्दार्थ के साथ ही साथ ग्रन्थ के विषय पर भी प्रकाश डाला है।

इसके वाद विवरणकार ने दूसरा प्रश्न किया है। यह किस अंग का उपाग है ? यह सूत्रकृताग का उपाग है। यह सूत्रकृताग का उपाग क्यो है, इस पर भी आचार्य ने हेतु पुरस्सर प्रकाश डाला है अथ कस्याङ्गस्य इदमुपाङ्गम् ? उच्यते-सूत्रकृताङ्गस्य, कथ तदुपाङ्गतेति चेत्, उच्यते सूत्रकृते ह्यङ्गे ।[1]

प्रथम सूत्रान्तर्गत आमलकल्पा—आमलकप्पा नामक नगरी का वर्णन करते हुए आचार्य ने लिखा है कि वह नगरी इस समय (मलयगिरि के काल मे) भी

---

१ अहमदाबाद सस्करण, पृ. २

विद्यमान है : तस्मिन् समये आमलकल्पा नाम नगरी अभवत्, ननु इदानीमपि सा नगरी वर्तते ।[1] द्वितीय सूत्रान्तर्गत आम्रशालवन—अम्बसालवण नामक चैत्य का वर्णन करते हुए 'चैत्य' का अर्थ इस प्रकार किया है चिते.—लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्, तच्च इह सञ्ज्ञाशब्दत्वात् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धम्, ततस्तदाश्रयभूत यद् देवताया गृह तदप्युपचारात् चैत्यम्, तच्चेह व्यन्तरायतन द्रष्टव्य न तु भगवतामर्हतामायतनम् ।[2] 'चैत्य' शब्द देवता के प्रतिबिम्ब के अर्थ मे प्रसिद्ध है। उपचार से देवता के प्रतिबिम्ब का आश्रयभूत देवगृह भी चैत्य कहलाता है। यहाँ पर चैत्य शब्द का ग्रहण व्यन्तरायतन के रूप में करना चाहिए, न कि अर्हदायतन के रूप मे। तृतीय सूत्रान्तगत 'पहकर' शब्द का व्याख्यान करते हुए देशीनाममाला का एक उद्धरण दिया है पहकरा. सघाता.—'पहकर-ओरोह-सघाया इति देशीनाममालावचनात् ।[3] आचार्य हेमचन्द्रविरचित देशीनाममाला में उपर्युक्त उद्धरण उपलब्ध नही है। संभवत यह उद्धरण किसी अन्य प्राचीनतर देशीनाममाला का है। प्रस्तुत विवरण मे आचार्य ने अनेक स्थानो पर जीवाभिगम-मूलटीका का उल्लेख किया है एव उसके उद्धरण दिये हैं।[4] कही-कही सूत्रो के वाचनाभेद-पाठभेद का भी निर्देश किया है इह प्राक्तनो ग्रन्थ प्रायोऽपूर्व भूयानपि च पुस्तकेषु वाचनाभेदस्ततो माऽभूत् शिष्याणा सम्मोह इति क्वापि सुगमोऽपि यथावस्थितवाचनाक्रमप्रदर्शनार्थं लिखित.[5], अत्र भूयान् वाचनाभेद[6], अत ऊर्ध्वं सूत्र सुगम केवल भूयान् विधिविपर्यो वाचनाभेद इति यथावस्थितवाचनाप्रदर्शनार्थं विधिमात्रमुपदर्श्यते[7] इत्यादि। अन्त में टीकाकार ने प्रस्तुत विवरण से प्राप्त पुण्य से साधुजनो को कृतार्थ करते हुए ग्रथ समाप्त किया है :

राजप्रश्नीयमिद गम्भीरार्थं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा साधुजनस्तेन भवतु कृती ।

विवरण का ग्रन्थमान ३७०० श्लोक-प्रमाण है

प्रत्यक्षरगणनातो ग्रन्थमान विनिश्चितम् ।
सप्तत्रिंशच्छतान्यत्र श्लोकाना सर्वसख्यया ।।

पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[8], जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, आचार्य भद्रबाहुकृत पिण्ड-

---

१. पृ० ३. २. पृ० ७ ३ पृ० १६. ४ पृ० १६८, १७६, १७७, १८०, १८९, १९५ ५ पृ० २३९. ६ पृ० २४१ ७ पृ० २५९.
८ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८

नियुंक्ति पर है। इसमे भाष्य की ४६ गाथाओ का भी समावेश है। इनके भाष्यगाथाएँ होने का निर्देश स्वय वृत्तिकार ने किया है। प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर का स्मरण करके अपने गुरुदेव को प्रणाम किया है तथा पिण्डनियुंक्ति की सक्षिप्त एव स्पष्ट व्याख्या लिखने की प्रतिज्ञा की है :

जयति जिनवर्धमान परहितनिरतो विधूतकर्म्मरजा।
मुक्तिपथचरणपोपकनिरवद्याहारविधिदेशी ॥ १ ॥
नत्वा गुरुपदकमल गुरूपदेशेन पिण्डनियुंक्तिम्।
विवृणोमि समासेन स्पष्टं शिष्यावबोधाय ॥ २ ॥

पिण्डनियुंक्ति किस सूत्र से सम्बद्ध है? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने इस प्रकार दिया है इह दशाध्ययनपरिमाणश्चूलिकायुगलभूषितो दशवैकालिको नाम श्रुतस्कन्ध, तत्र च पचममध्ययन पिण्डैपणानामक, दशवैकालिकस्य च नियुंक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैपणाभिधपचमाध्ययननियुंक्तिरतिप्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता, तस्याश्च पिण्डनियुंक्तिरिति नाम कृत, पिण्डैपणानियुंक्ति पिंडनियुक्तिरिति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणाद्।[1]

दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैपणा नामक पचम अध्ययन की (चतुर्दश-पूर्वविद् भद्रबाहुस्वामिकृत) नियुंक्ति का नाम ही पिण्डनियुंक्ति है। इसका परिमाण बृहद् होने के कारण इसे पृथक् ग्रन्थ के रूप मे स्वीकृत किया गया। चूँकि यह नियुंक्तिग्रथ दशवैकालिकनियुंक्ति से प्रतिबद्ध है अत. इसके आदि मे नमस्कार-मगल भी नही किया गया।

प्रस्तुत वृत्ति मे आचार्य मलयगिरि ने व्याख्यारूप अनेक कथानक दिये हैं जो सस्कृत मे है। वृत्ति का ग्रन्थमान ६७०० श्लोक-प्रमाण है। वृत्ति समाप्त करते हुए आचार्य ने पिण्डनियुंक्तिकार द्वादशागविद् भद्रबाहु एव पिण्डनियुंक्ति-विपमपदवृत्तिकार (आचार्य हरिभद्र व वीरगणि) को नमस्कार किया है तथा लोककल्याण की भावना के साथ अरिहत, सिद्ध, साधु एव जिनोपदिष्ट धर्म का शरण ग्रहण किया है :[2]

येनैपा पिण्डनियुंक्तियुंक्तिरम्या विनिर्मिता।
द्वादशागविदे तस्मै, नम. श्रीभद्रबाहवे ॥ १ ॥
व्याख्याता यैरेषा विपमपदार्थाऽपि सुललितवचोभिः।
अनुपकृतपरोपकृतो विवृतिकृतस्तान्नमस्कुर्वे ॥ २ ॥

---

१ पृ० १ २ पृ० १७८

इमा च पिंडनिर्युक्तिमतिगम्भीरा विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धि तेनाश्नुता लोक. ॥ ३ ॥
अर्हन्त. शरण सिद्धाः, शरण मम साधव ।
शरण जिननिर्दिष्टो, धर्म्मं शरणमुत्तम ॥ ४ ॥

आवश्यकविवरण .

प्रस्तुत विवरण[1] आवश्यकनिर्युक्ति पर है । यह अपूर्ण ही प्राप्त है । प्रारम्भ में विवरणकार आचार्य मलयगिरि ने भगवान् पार्श्वनाथ, प्रभु महावीर तथा अपने गुरुदेव का स्मरण किया है और बताया है कि यद्यपि आवश्यकनिर्युक्ति पर अनेक विवरण ग्रन्थ विद्यमान हैं किन्तु उनके कठिन होने के कारण मन्द बुद्धि के लोगों के लिए पुन. उसका विवरण प्रारम्भ किया जाता है .

पान्तु व. पार्श्वनाथस्य पादपद्मनखाशव' ।
अशेषविघ्नसघाततमोभेदैकहेतव ॥ १ ॥
जयति जगदेकदीप प्रकटितनि शेपभावसद्भाव ।
कुमतपतगविनाशी श्रीवीरजिनेश्वरो भगवान् ॥ २ ॥
नत्वा गुरुपदकमल प्रभावतस्तस्य मन्दशक्तिरपि ।
आवश्यकनिर्युक्ति विवृणोमि यथाऽऽगम स्पष्टम् ॥ ३ ॥
यद्यपि च विवृतयोऽस्या सन्ति विचित्रास्तथापि विषमास्ता ।
सम्प्रतिजनो हि जडधीर्भूयानितिविवृतिसरम्भ ॥ ४ ॥

इसके बाद मगल का नामादि भेदपूर्वक विस्तृत व्याख्यान किया गया है एव उसकी उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । इस प्रसग पर तथा आगे भी यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं । निर्युक्ति की गाथाओं के पदों का अर्थ करते हुए तत्प्रतिपादित प्रत्येक विषय का आवश्यक प्रमाणों के साथ सरल भाषा एव सुबोध शैली में विवेचन किया गया है । इस विवेचन की एक विशेषता यह है कि आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं का स्वतन्त्र व्याख्यान न करते हुए भी उसका भावार्थ तो अपनी टीका मे दे ही दिया है । विवरण मे जितनी ही गाथाएँ हैं, प्राय विवरण के वक्तव्य की पुष्टि के लिए है । विवरणकार ने भाष्य की गाथाओ के व्याख्या के रूप मे अपने विवरण का विस्तार न करते हुए अपणे विवरण के समर्थन के रूप मे 'उक्त च', 'तथा चाह भाष्यकृत्', 'एतदेव व्याख्यान भाष्यकारोऽप्याह' इत्यादि शब्दो के साथ

---

१. आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८–१९३२; देवचन्द्र लालभाई जैन-पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६.

भाष्यगाथाएँ उद्धृत की हैं। विवरण मे विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञ टीका का भी उल्लेख है[1]। प्रज्ञाकरगुप्त,[2] (आवश्यक) चूर्णिकार,[3] (आवश्यक) मूलटीकाकार,[4] (आवश्यक) मूलभाष्यकार,[5] लघीयस्त्रयालकारकार अकलक,[6] न्यायावतारविवृतिकार[7] आदि का भी प्रस्तुत टीका में उल्लेख किया गया है। स्थान-स्थान पर सप्रसग कथानक उद्धृत करना भी आचार्य नही भूले हैं। ये कथानक प्राकृत में है।[8] 'थूभ रयणविचित्त कुथु सुमिणम्मि तेण कुथुजिणो' की व्याख्या के बाद का वाक्य 'साम्प्रतमर.' अर्थात् 'अब अरनाथ के व्याख्यान का अधिकार है' के बाद का विवरण उपलब्ध नही है। उपलब्ध विवरण चतुर्विशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन तक ही है और वह भी अपूर्ण।

बृहद्कल्पपीठिकावृत्ति ·

यह वृत्ति[9] भद्रबाहुस्वामिकृत बृहत्कल्पपीठिका नियुक्ति और सघदासगणिकृत भाष्य (लघुभाष्य) पर है। वृत्तिकार मलयगिरि पीठिका की भाष्यगाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी वृत्ति लिख सके। शेष पीठिका तथा आगे के मूल उद्देशो के भाष्य की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूरी की। इस तथ्य का प्रतिपादन स्वय क्षेमकीर्ति ने अपनी वृत्ति प्रारम्भ करते समय किया है :[10]

> श्रीमलयगिरिप्रभवो, या कर्त्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्त ।
> सा कल्पशास्त्रटीका, मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया ॥

प्रारम्भ में वृत्तिकार ने वीर जिनेश्वर को प्रणाम किया है तथा अपने गुरुपद कमलो का सादर स्मरण करते हुए कल्पाध्ययन की वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। भाष्यकार और चूर्णिकार की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए मगलाभिधान के व्याख्यान के साथ आगे की वृत्ति प्रारम्भ की है .

> प्रकटीकृतनि श्रेयसपदहेतुस्थविरकल्पजिनकल्पम् ।
> नम्राशेषनरामरकल्पितफलकल्पतरुकल्पम् ॥ १ ॥
> नत्वा श्रीवीरजिन, गुरुपदकमलानि बोधविपुलानि ॥
> कल्पाध्ययन विवृणोमि लेशतो गुरुनियोगेन ॥ २ ॥
> भाष्य क्व चातिगम्भीरं, क्व चाह जडशेखर. ।
> तदत्र जानते पूज्या, ये मामेव नियुञ्जते ॥ ३ ॥
> अद्भुतगुणरत्ननिधौ, कल्पे साहायक महातेजा. ।
> दीप इव तमसि कुरुते, जयति यतीश सः चूर्णिकृत् ॥ ४ ॥

---

१. पृ० ६६ २ पृ० २८ ३. पृ० ८३. ४ पृ० १२८. ५. पृ० २७१ ६ पृ० ३७७. ७. वही० ८. पृ० १०१, १३५, १५३, २९४. ९. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३ १०. पृ० १७७

कल्प (बृहत्कल्प) सूत्र व व्यवहार सूत्र तथा उनकी व्याख्याओं के रचयिताओं के विषय में अपना वक्तव्य उपस्थित करते हुए वृत्तिकार ने बताया है कि चतुर्दश पूर्वधर भगवान् भद्रबाहुस्वामी ने साधुओ के अनुग्रह के हेतु कल्पसूत्र और व्यवहार सूत्र की रचना की जिससे कि प्रायश्चित्त का व्यवच्छेद न हो। इन्होंने इन दोनों सूत्रों की सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति भी बनाई। सनिर्युक्तिक सूत्रों को भी अल्पबुद्धिवाले प्राणियों के लिए कठिन अनुभव करते हुए भाष्यकार ने उन पर भाष्य लिखा। यह सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का अनुगमन करने वाला होने के कारण निर्युक्ति और भाष्य एक ग्रन्थरूप हो गए : ततो 'मा भूत् प्रायश्चित्त-व्यवच्छेद' इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्र व्यवहारसूत्र चकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति। इमे अपि च कल्प-व्यवहारसूत्रे सनिर्युक्तिके अल्पग्रन्थतया-महार्थत्वेन च दु.षमानुभावतो हीयमानमेधाऽऽयुरादिगुणानामिदानीन्तन-जन्तूनामल्पशक्तिना दुर्ग्रहे दुरवधारे जाते, ततः सुखग्रहणधारणाय भाष्यकारो भाष्य कृतवान्, तत्र सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगतमिति सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तिर्भाष्य चैको ग्रन्थो जातः।[1]

वृत्तिकार ने प्रस्तुत वृत्ति मे प्राकृत गाथाओ के साथ-साथ प्राकृत कथानक भी उद्धृत किये है। 'यत एव स्वस्थानप्रायश्चित्त ततो विपर्यस्तग्रहणकरणे न विधेये'[2] एतत्पर्यन्त पीठिकावृत्ति आचार्य मलयगिरि की कृति है जिसका ग्रथमान ४६०० श्लोक-प्रमाण है।



१ पृ० २. २. पृ० १७६.

एकादश प्रकरण

मलधारी हेमचन्द्रकृत टीकाएँ

मलधारी हेमचन्द्रसूरि की परम्परा में होने वाले मलधारी राजशेखर ने अपनी प्राकृतद्वयाश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति मे लिखा है कि मलधारी हेमचन्द्र का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। वे राजमन्त्री थे और अपनी चार स्त्रियों को छोडकर मलधारी अभयदेवसूरि के पास दीक्षित हुए थे।[1] इन दोनो आचार्यों के प्रभावशाली जीवन-चरित्र का वर्णन मलधारी हेमचन्द्र के ही शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने अपने मुनिसुव्रत-चरित की प्रशस्ति मे किया है। वह अति रोचक एव ऐतिहासिक तथ्यो से युक्त है। मलधारी हेमचन्द्र का परिचय देते हुए श्रीचन्द्रसूरि कहते हैं[2]

'अपने तेजस्वी स्वभाव से उत्तम पुरुषों के हृदय को आनन्दित करने वाले कौस्तुभमणि के समान श्री हेमचन्द्रसूरि आचार्य अभयदेव के बाद हुए। वे अपने युग मे प्रवचन मे पारगामी और वचनशक्तिसम्पन्न थे। भगवती जैसा शास्त्र तो उन्हे अपने नाम की भाँति कण्ठस्थ था। उन्होने मूलग्रथ, विशेषावश्यक, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र आदि अन्य विषयो के अर्ध लक्ष (?) ग्रथ पढे थे। जो राजा तथा अमात्य आदि सब मे जिनशासन की प्रभावना करने मे परायण और परम कारुणिक थे। मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से जिस समय वे उपदेश देते उस समय जिनभवन के बाहर खडे रहकर भी लोग उनके उपदेशरस का पान करते थे। व्याख्यानलब्धिसम्पन्न होने के कारण उनके शास्त्रव्याख्यान को सुनकर जडबुद्धि वाले लोग भी सहज ही बोध प्राप्त कर लेते। सिद्धव्याख्यानिक (सिद्धर्षि) की उपमितिभवप्रपचकथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली होते हुए भी समझने मे अत्यन्त कठिन थी इसलिए सभा मे उसका व्याख्यान लम्बे समय से कोई नही करता था। जिस समय आचार्य हेमचन्द्र उसका व्याख्यान करते, उस समय लोगो को उसे सुनने मे खूब आनन्द आता। श्रोताओ की बारम्बार की प्रार्थना के कारण उन्हे लगातार तीन वर्ष तक उस कथा का व्याख्यान करना पडा। इसके बाद उस कथा का प्रचार खूब बढ गया। आचार्य हेमचन्द्र ने निम्नलिखित ग्रथ बनाये - सर्वप्रथम उपदेशमाला मूल और भवभावना मूल की

१. जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० २४५

२ मुनिसुव्रतचरित की प्रशस्ति, का० १३२-१८०

इसके बाद व्याख्याकार ने हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति के कुछ कठिन स्थलों का सरल शैली मे व्याख्यान करते हुए अन्त में व्याख्यागत दोषों की सशुद्धि के लिए मुनिजनो से प्रार्थना की है :[1]

इति गुरुजनमूलादर्थजात स्वबुद्धया,
यदवगतमिहात्मस्मृत्युपादानहेतो ।
तदुपरचितमेतत् यत्र किञ्चित्सदोष,
मयि कृतगुरुतोपैस्तत्र शोध्य मुनीन्द्रै . ॥१॥
छद्मस्थस्य हि मोह· कस्य न भवतीह कर्म्मवशगस्य ।
सद्बुद्धिविरहिताना विशेषतो मद्विधासुमताम् ॥२॥

प्रस्तुत व्याख्या का ग्रन्थमान ४७०० श्लोकप्रमाण है ।

अनुयोगद्वारवृत्ति·

यह वृत्ति[2] अनुयोगद्वार के सूत्रो का सरलार्थ प्रस्तुत करने के लिए बनाई गई है । प्रारम्भ मे आचार्य ने वीर जिनेश्वर, गोतमादि सूरिवर्ग एव श्रुतदेवता को नमस्कार किया है .

सम्यक् सुरेन्द्रकृतसस्तुतपादपद्ममुद्दामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।
सद्धर्म्मदेशकवर वरद नतोऽस्मि, वीर विशुद्धतरबोधनिधि सुधीरम् ॥१॥
अनुयोगभृता पादान् वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् ।
निष्कारणबन्धूना विशेषतो धर्म्मदातृणाम् ॥२॥
यस्या प्रसादमतुल सप्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहा· ।
अनुयोगवेदिनस्ता प्रयत श्रुतदेवता वन्दे ॥३॥

प्रथम सूत्र 'नाण पंचविह ' की व्याख्या प्रारम्भ करने के पूर्व वृत्तिकार कहते है कि यद्यपि प्राचीन आचार्यो ने चूर्णि और टीका (हारिभद्रीय) के द्वारा इस ग्रन्थ का व्याख्यान किया है किन्तु अल्पबुद्धि वाले शिष्यो के लिए उसे समझने मे कठिनाई होने के कारण मैं मदमति पुन इसका व्याख्यान प्रारम्भ करता हूँ· स च यद्यपि चूर्णिटीकाद्वारेण वृद्धैरपि विहित तथापि तद्वच-सामतिगम्भीरत्वेन दुरधिगमत्वाद् मन्दमतिनाऽपि मयाऽसाधारण—

---

१ पृ० ११७.

२ (अ)रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०
(आ) देवचद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१५-६
(इ) आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१४
(ई) केशरबाई ज्ञानमदिर, पाटन, सन् १९३९

श्रुतभक्तिजनितौत्सुक्यभावतोऽविचारितस्वशक्तित्वादल्पधियामनुग्रहार्थं —त्वाच्च कर्तुमारभ्यते ।

'से किं त तिनामे·····' (सू० १२३) की वृत्ति में रस का विवेचन करते हुए वृत्तिकार ने भिषक्शास्त्र के 'श्लेष्माणमरुचिं पित्त तृप कुष्ठ विष ज्वरम् '' आदि अनेक श्लोक उद्धृत किये है ।[1] इसी प्रकार सप्तस्वर की व्याख्या में[2] तथा अन्यत्र भी अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इस वृत्ति के अन्त में भी वही प्रशस्ति है जो विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति के अन्त मे है। इसमे वृत्ति-रचना का समय नही दिया गया है। इसका ग्रन्थमान ५९०० श्लोक प्रमाण है।

विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति :

प्रस्तुत वृत्ति[3] को शिष्यहितावृत्ति भी कहते हैं। यह मलधारी हेमचन्द्रसूरि की वृहत्तम कृति है। इसमे आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य मे प्रतिपादित प्रत्येक विषय को अति सरल एव सुबोध शैली मे समझाया है। दार्शनिक चर्चा की प्रधानता होते हुए भी शैली मे क्लिष्टता नही आने पाई है, यह इस टीका की एक बहुत बडी विशेषता है। शका-समाधान और प्रश्नोत्तर की पद्धति का प्राधान्य होने के कारण पाठक को अरुचि का सामना नही करना पडता। यत्र तत्र सस्कृत कथानको के उद्धरण से विषय-विवेचन और भी सरल हो गया है। इस टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन पाठन में अत्यधिक सरलता हो गयी है, इसमें कोई सदेह नही। इस टीका से भाष्यकार और टीकाकार दोनो के यश में असाधारण वृद्धि हुई है। टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर, सुधर्मादिप्रमुख सूरिसघ, स्वगुरु, जिनभद्र और श्रुतदेवता की सविनय वदना की है

श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रविश्रुतकुलव्योमप्रवृत्तोदय.,
सद्बोधांशुनिरस्तदुस्तरमहामोहान्धकारस्थिति ।
दृप्ताशेषकुवादिकौशिककुलप्रीतिप्रणोदक्षमो,
जीयादस्खलितप्रतापतरणि श्रीवर्धमानो जिन ॥ १ ॥
येन क्रमेण कृपया श्रुतधर्म एष,
आनीय मादृशजनेऽपि हि संप्रणोत ।

---

१. पाटन-सस्करण, पृ० १००. २ पृ० ११७-६
३. (अ) यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस वीर स० २४२७-२४४१.
(आ) गुजराती भाषान्तर-चुनीलाल हुकमचन्द आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४—७

श्रीमत्सुधर्मगणभृत्प्रमुख नतोऽस्मि,
त सूरिसङ्घमनघ स्वगुरूश्च भक्त्या ॥ २ ॥
आवश्यकप्रतिनिवद्धगभीरभाष्य-
पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः ।
स्यात' क्षमाश्रमणतागुणत क्षितौ य,
सोऽय गणिर्विजयते जिनभद्रनामा ॥ ३ ॥
यस्या' प्रमादपरिवर्धितशुद्धवोधा.,
पार व्रजन्ति सुधियः श्रुततोयराशे. ।
सानुग्रहा मयि समीहितसिद्धयेऽस्तु,
सर्वज्ञशासनरता श्रुतदेवताऽसौ ॥ ४ ॥

विशेषावश्यकभाष्य क्या है एव उसकी प्रस्तुत वृत्ति की क्या आवश्यकता है, इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने बताया है कि सामायिकादि षडध्ययनात्मक श्रुतस्कन्धरूप आवश्यक की अर्थत तीर्थंकरो ने एव सूत्रत. गणधरो ने रचना की। इसकी गभीरार्थता एवं नित्योपयोगिता को ध्यान मे रखते हुए चतुर्दश पूर्वधर श्रीमद् भद्रबाहुस्वामी ने इस सूत्र की व्याख्यानरूप निर्युक्ति बनाई। इस निर्युक्ति मे भी सामायिकाध्ययन-निर्युक्ति को विशेषत महत्त्वपूर्ण समझते हुए श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणविरचित स्वोपज्ञ वृत्ति तथा कोट्याचार्यविहित विवरण-ये दो टीकाएँ विद्यमान हैं किन्तु वे अति गंभीर वाक्यात्मक एव कुछ सक्षिप्त होने के कारण मदमति शिष्यों के लिए कठिन सिद्ध होती हैं। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए प्रस्तुत वृत्ति प्रारम्भ की जा रही है।[1]

वृत्ति के अन्त में प्रशस्ति-सूचक ग्यारह श्लोक है जिनमें वृत्तिकार का नाम हेमचन्द्रसूरि एव उनके गुरु का नाम अभयदेवसूरि बताया गया है और कहा गया है कि राजा जयसिंह के राज्य में स० ११७५ की कार्तिक शुक्ला पचमी के दिन यह वृत्ति समाप्त हुई.[2]

सोऽभयदेवसूरिरभवत् तेभ्य प्रसिद्धो भुवि ॥ ९ ॥
तच्छिष्यलवप्रायैरगीतार्थैरपि शिष्टजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभिरियमनुरचिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १० ॥
शरदा च पचसप्तत्यधिकैकादशशतेष्वतीतेषु ।
कार्तिकसितपञ्चम्या श्रीमज्जयसिंहनृपराज्ये ॥ ११ ॥

वृत्ति का ग्रथमान २८००० श्लोक प्रमाण है।



---

१ पृ० १-२ २ पृ० १३५९.

द्वादश प्रकरण

नेमिचन्द्रविहित उत्तराध्ययन-वृत्ति

नेमिचन्द्रसूरि का दूसरा नाम देवेन्द्रगणि है। प्रारम्भ मे ये देवेन्द्रगणि के नाम से ही प्रसिद्ध थे किन्तु बाद मे नेमिचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होने वि० स० ११२९ मे उत्तराध्ययन पर सुखबोधा नामक एक टीका लिखी। इस टीका मे अनेक प्राकृत आख्यान उद्धृत किये गये हैं। इस दृष्टि से नेमिचन्द्रसूरि हरिभद्रसूरि और वादिवेताल शान्तिसूरि की शैली के अधिक निकट हैं, न कि शीलांकसूरि की जिन्होने इस प्रकार के आख्यान सस्कृत मे प्रस्तुत किये हैं।

उत्तराध्ययन-सुखबोधा वृत्ति[1] शान्त्याचार्यविहित शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति के आधार पर बनाई गयी है। उससे सरल एव सुबोध होने के कारण इसका नाम सुखबोधा रखा गया है। प्रारम्भ मे वृत्तिकार ने तीर्थंकरो, सिद्धो, साधुओ एव श्रुतदेवता को नमस्कार किया है तथा वृद्धकृत (शान्त्याचार्यकृत) बह्वर्थ एव गम्भीर विवरण से समुद्धृत करके आत्मस्मृत्यर्थ तथा जडमति एव सक्षेपरुचि वालो के हितार्थ बिना पाठान्तर और अर्थान्तर के उत्तराध्ययन की सुखबोधा-वृत्ति बनाने की प्रतिज्ञा की है :

प्रणम्य विघ्नसघातघातिनस्तीर्थनायकान् ।
सिद्धाश्च सर्वसाधूश्च, स्तुत्वा च श्रुतदेवताम् ॥ १ ॥
आत्मस्मृतये वक्ष्ये, जडमतिसक्षेपरुचिहितार्थं च ।
एकैकार्थनिबद्धा, वृत्तिं सूत्रस्य सुखबोधाम् ॥ २ ॥
बह्वर्थाद् वृद्धकृताद्, गभीराद् विवरणात् समुद्धृत्य ।
अध्ययनानामुत्तरपूर्वाणामेकपाठगताम् ॥ ३ ॥
अर्थान्तराणि पाठान्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकात ।
बोद्धव्यानि यतोऽय, प्रारम्भो गमनिकामात्रम् ॥ ४ ॥

वृत्ति के अन्त में प्रशस्ति है जिसमे वृत्तिकार नेमिचन्द्राचार्य के गच्छ, गुरु, गुरुभ्राता, वृत्तिरचना के स्थान, समय आदि का उल्लेख है। इसी में शान्त्याचार्य के गच्छ आदि का भी उल्लेख है जिनकी वृत्ति के आधार पर प्रस्तुत वृत्ति की रचना की गई है। नेमिचन्द्राचार्य बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य हैं। इनके गुरुभ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि है,

---

१. पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र, बलाद सन् १९३७।

जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत वृत्ति बनी है। वृत्ति की रचना का स्थान अणहिलपाटक नगर (दोहडि सेठ का घर) है तथा समाप्ति का समय वि० स० ११२९ है :

विश्रुतस्य महोपीठे, बृहद्गच्छस्य मण्डनम् ।
श्रीमान् विहारुकप्रष्ठ. सूरिरुद्योतनाभिध. ॥ ९ ॥
शिष्यस्तस्याऽऽम्रदेवोऽभूदुपाध्याय. सता मत ।
यत्रैकान्तगुणापूर्णे, दोषैर्लेभे पद न तु ॥ १० ॥
श्रीनेमिचन्द्रसूरिरुद्धृतवान् वृत्तिका तद्विनेय ।
गुरुसोदर्यश्रीमन्मुनिचन्द्राचार्यवचनेन ॥ ११ ॥

• • •

अणहिलपाटकनगरे, दोहडिसच्छ्रेष्ठिसत्कवसतौ च ।
सन्तिष्ठता कृतेय, नवकरहरवत्सरे चैव ॥ १३ ॥

वृत्ति का ग्रथमान १२००० श्लोक-प्रमाण है -

अनुष्टुभा सहस्राणि, गणितक्रिययाऽभवन् ॥
द्वादश ग्रन्थमान तु, वृत्तेरस्या विनिश्चितम् ॥



त्रयोदश प्रकरण

श्रीचंद्रसूरिविहित व्याख्याएँ

श्रीचन्द्रसूरि का दूसरा नाम पार्श्वदेवगणि है। ये शीलभद्रसूरि के शिष्य हैं। इन्होंने वि० स० ११७४ में निशीथसूत्र की विशेषचूर्णि के बीसवें उद्देशक की व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त निम्न ग्रथो पर भी इनकी टीकाएँ हैं श्रमणोपासक-प्रतिक्रमण (आवश्यक), नन्दी (नन्दीदुर्गपदव्याख्या), जीतकल्प-बृहच्चूर्णि, निरयावलिकादि अन्तिम पाँच उपाग।

निशीथचूर्णि दुर्गपदव्याख्या

निशीथचूर्णि के बीसवें उद्देश पर श्रीचन्द्रसूरि ने दुर्गपदव्याख्या[1] नामक टीका लिखी है। चूर्णि के कठिन अशो को सरल एव सुबोध बनाने के लिए ही प्रस्तुत व्याख्या लिखी गयी है। जैसा कि व्याख्याकार प्रारम्भ में ही लिखते हैं

विंशोद्देशे श्रीनिशीथस्य चूर्णौ,
दुर्गं वाक्य यत् पद वा समस्ति।
स्वस्मृत्यर्थं तस्य वक्ष्ये सुबोधा,
व्याख्या काचित् सद्गुरुभ्योऽववुद्धाम् ॥ २॥

इस व्याख्या का अधिक अश विविध प्रकार के मासो के भग, दिनो की गिनती आदि से सम्बन्धित होने के कारण नीरस है। चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के नाम से सम्बन्धित अन्तिम दो गाथाओ की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार कहते हैं :

'वर्गा इह अ। क। च। ट। त। प। य। श। वर्गा इति वचनात् स्वरादयो हकारान्ता ग्राह्याः। तदिह प्रथमगाथया जिणदास इत्येवरुप नामाभिहित, द्वितीयगाथया तदेव विशेषयितुमाह—जिणदास महत्तर इति तेन रचिता चूर्णिरियम्।'[2]

अन्त में व्याख्याकार अपना परिचय देते हुए कहते हैं :

श्रीशालि(शील)भद्रसूरीणा, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः।
विंशकोद्देशके व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥ १॥

---

१. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६० (निशीथसूत्र के चतुर्थ विभाग के अन्तर्गत, पृ० ४१३–४४३)

२. पृ० ४४३

अर्थात् श्री शालि (शील) भद्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने अपने तथा दूसरो के लिए बीसवें उद्देश की यह व्याख्या बनाई।

इसी प्रकार व्याख्या की समाप्ति का समय-निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं :

वेदाश्वरुद्रयुक्ते, विक्रमसवत्सरे तु मृगशीर्षे।
माघसितद्वादश्या, समर्थितेय रवौ वारे॥ २॥

निरयावलिकावृत्ति

यह वृत्ति[1] अन्तिम पांच उपागभूत निरयावलिका सूत्र पर है : निरयावलिका, कल्पावतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला और वृष्णिदशा। इस वृत्ति के अतिरिक्त इस सूत्र की और कोई टीका नही है। वृत्ति सक्षिप्त एव शब्दार्थप्रधान है। प्रारम्भ मे आचार्य ने पार्श्वनाथ को प्रणाम किया है :

पार्श्वनाथ नमस्कृत्य प्रायोऽन्यग्रन्थवीक्षिता।
निरयावलिश्रुतस्कन्धे व्याख्या काचित् प्रकाश्यते॥

वृत्ति के अन्त में वृत्तिकार के नाम, गुरु, वृत्तिलेखन के समय, स्थान आदि का कोई उल्लेख नही है। मुद्रित प्रति के अन्त में केवल 'इति श्रीचन्द्रसूरिविरचित निरयावलिकाश्रुतस्कन्धविवरण समाप्तमिति। श्रीरस्तु।' इतना सा उल्लेख है।[2] वृत्ति का ग्रथमान ६०० श्लोकप्रमाण है।

जीतकल्पबृहच्चूर्णि-विषमपदव्याख्या :

यह व्याख्या[3] सिद्धसेनगणिकृत जीतकल्पबृहच्चूर्णि के विषमपदो के विवेचन के रूप मे है। प्रारभ मे व्याख्याकार श्रीचन्द्रसूरि ने भगवान् महावीर को नमस्कार करके स्व-परोपकार के निमित्त जीतकल्पबृहच्चूर्णि की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है :

नत्वा श्रीमन्महावीर स्वपरोपकृतिहेतवे।
जीतकल्पबृहच्चूर्णेर्व्याख्या काचित् प्रकाश्यते॥

'सिद्धत्थ ' इत्यादि प्रारम्भ की एकादश चूर्णि-गाथाओ (मगल-गाथाओ) की व्याख्या करने के बाद आचार्य ने 'को विसोसो ' ...'आदि पाठो

---

१ (अ) रायबहादुर धनपतसिह, बनारस, सन् १८८५
(आ) आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२२.
(इ) गूर्जर ग्रथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९३४
२, अहमदाबाद-सस्करण, पृ० ३९.
३ जैन साहित्य सशोधक समिति, अहमदाबाद, सन् १९२६.

के कठिन पदों का व्याख्यान प्रारम्भ किया है। बीच-बीच में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं।[1]

अन्त में व्याख्याकार ने अपना नामोल्लेख करते हुए बताया है कि प्रस्तुत व्याख्या सं० १२२७ में महावीर-जन्मकल्याण के दिन रविवार को पूर्ण हुई। इसका ग्रन्थमान ११२० श्लोक प्रमाण है :

जीतकल्पबृहच्चूर्णौ व्याख्या शास्त्रानुसारतः।
श्रीचन्द्रसूरिभिर्दृब्धा स्वपरोपकृतिहेतवे ॥१॥
मुनिनयनतरणि (१२२७) वर्षे श्रीवीरजिनस्य जन्मकल्याणे।
प्रकृतग्रन्थकृतिरियं निष्पत्तिमवाप रविवारे ॥२॥

. .. .

एकादशशतविंशत्यधिकश्लोकप्रमाणग्रन्थाग्रम् ।
ग्रन्थकृति प्रविवाच्या मुनिपुङ्गवसूरिभि ॥४॥
यदिहोत्सूत्रं किञ्चिद् दृब्धं छद्मस्थबुद्धिभावनया।
तन्मयि कृपानुकलितैः शोध्यं गीतार्थविद्वद्भिः ॥५॥



1 पृ० ३६, ३८, ३९, ४४, ४९.

चतुर्दश प्रकरण

अन्य टीकाएँ

उपर्युक्त टीकाकार आचार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने आगमों के टीकानिर्माण में अपना योग दिया है। शिवप्रभसूरि के शिष्य श्रीकिलकसूरि ने आवश्यक सूत्र पर वि० स० १२९६ में टीका लिखी है जिसका नाम लघुवृत्ति है। इसके अतिरिक्त जीतकल्प और दशवैकालिक पर भी इनकी टीकाएँ हैं। क्षेमकीर्ति ने मलयगिरिकृत वृहत्कल्प की अपूर्ण टीका पूरी की है। महेन्द्रसूरि (स० १२९४) के शिष्य भुवनतुगसूरि ने चतु शरण, आतुरप्रत्याख्यान और सस्तारक—इन प्रकीर्णकों पर टीकाएँ लिखी हैं। इसी प्रकार गुणरत्न (सं० १४८४) ने भक्तपरिज्ञा, सस्तारक, चतु शरण, आतुरप्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णकों पर टीकाएँ लिखी हैं। विजयविमल (सं० १६३४) की तदुलवैचारिक और गच्छाचार प्रकीर्णकों पर टीकाएँ हैं। वानरर्षि ने गच्छाचार प्रकीर्णक पर वृत्ति लिखी है। हीरविजयसूरि ने स० १६३९ में और शान्तिचन्द्रगणि ने स० १६६० मे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर टीकाएँ लिखी हैं। शान्तिचन्द्रगणि की टीका का नाम प्रमेयरत्नमजूषा है। जिनहस ने सं० १५८२ मे आचाराग पर वृत्ति (दीपिका) लिखी है। स० १५८३ मे हर्षकुल ने सूत्रकृतागदीपिका की रचना की। भगवती और उत्तराध्ययन पर भी इन्होंने टीकाएँ लिखी। लक्ष्मीकल्लोलगणि ने आचाराग (स० १५९६) और ज्ञाताधर्मकथा पर, दानशेखर ने भगवती पर (व्याख्याप्रज्ञप्तिलघुवृत्ति), विनयहस ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त आवश्यकादि पर अन्य आचार्यों की भी टीकाएँ हैं। आवश्यकपर जिनभट, नमिसाधु (स० ११२२), ज्ञानसागर (स० १४४०), माणिक्यशेखर, शुभवर्धनगणि (स० १५४०), धीरसुन्दर (स० १५००), श्रीचन्द्रसूरि स० १२२२), कुलप्रभ, राजवल्लभ, हितरुचि (स० १६९७) आदि ने, आचाराग पर अजित-देवसूरि, पार्श्वचन्द्र (स० १५७२), माणिक्यशेखर आदि ने, सूत्रकृताग पर साधुरग उपाध्याय (स० १५९९). पार्श्वचन्द्र[1] आदि ने, स्थानाग पर नगर्षिगणि (स० १६५७), पार्श्वचन्द्र, सुमतिकल्लोल और हर्षनन्दन (स० १७०५) आदि ने, समवायाग पर मेघराज वाचक आदि ने, व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती पर भावसागर, पद्मसुन्दरगणि आदि ने, ज्ञाताधर्मकथा पर कस्तूरचन्द्र (सं० १८९९)

---

१. पार्श्वचन्द्रकृत टीकाएँ गुजराती मे है।

आदि ने, उपासकदशाग पर हर्षवल्लभ उपाध्याय (स० १६९३), विवेकहंस उपाध्याय आदि ने, प्रश्नव्याकरण पर ज्ञानविमलसूरि, पार्श्वचन्द्र, अजितदेवसूरि आदि ने, औपपातिक पर राजचन्द्र और पार्श्वचन्द्र ने, राजप्रश्नीय पर राजचन्द्र, रत्नप्रभसूरि, समरचन्द्रसूरि आदि ने, जीवाभिगम पर पद्मसागर (स० १७००) आदि ने, प्रज्ञापना पर जीवविजय (स० १७८४) आदि ने, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर पुण्यसागर (स० १६४५) आदि ने, चतु शरण पर विनयराजगणि, पार्श्वचन्द्र विजयसेनसूरि आदि ने, आतुरप्रत्याख्यान पर हेमचन्द्रगणि आदि ने, सस्तारक पर समरचन्द्र (स० १६०३) आदि ने, तन्दुलवैचारिक पर पार्श्वचन्द्र आदि ने वृहत्कल्प पर सौभाग्यसागर आदि ने, उत्तराध्ययन पर कीर्तिवल्लभ (स० १५५२) कमलसयम उपाध्याय (स० १५५४), तपोरत्न वाचक (स० १५५०), गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय (स० १६८९), हर्षनन्दनगणि, धर्ममन्दिर उपाध्याय (स० १७५०), उदयसागर (स० १५४६), मुनिचन्द्रसूरि, ज्ञानशील गणि, अजितचन्द्रसूरि, राजशील, उदयविजय, मेघराज वाचक, नगर्षिगणि, अजितदेवसूरि, माणिक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि ने, दशवैकालिक पर सुमतिसूरि, समयसुन्दर (स० १६८१), शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, रामचन्द्र (स० १६६७), पार्श्वचन्द्र, मेरुसुन्दर, माणिक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि ने, पिण्डनियुंक्ति पर क्षमारत्न, माणिक्यशेखर आदि ने, नन्दी पर जयदयाल, पार्श्वचन्द्र आदि ने, ओघनियुंक्ति पर ज्ञानसागर (स० १४३९) और माणिक्यशेखर ने तथा दशाश्रुतस्कन्ध पर ब्रह्ममुनि [ब्रह्मर्षि] आदि ने टीकाएँ लिखी है। इन टीकाओं के अतिरिक्त कुछ टीकाएँ अज्ञात आचार्यों द्वारा भी लिखी गई है।[1] कुछ आचार्यों के नाम, समय आदि के विषय मे भी अभी तक पूर्ण निश्चय नही हो पाया है। ऐसी स्थिति में किसी के नाम का एक से अधिक रूपो मे प्रयोग हो जाना असभव नही है। इसी प्रकार अनेक टीकाओं के विषय मे भी पूरा निश्चय नही हो पाया है विशेषकर अनुपलब्ध टीकाओ की यथार्थ स्थिति के विषय में तो अनेक प्रकार की शकाएँ स्वाभाविक हैं। आगे कुछ प्रकाशित टीकाओ का परिचय दिया जाता है।

वृहत्कल्पवृत्ति :

आचार्य मलयगिरिकृत वृहत्कल्प की अपूर्ण वृत्ति को पूरी करने का श्रेय आचार्य क्षेमकीर्ति को है। पीठिका-भाष्य की ६०६ गाथाओ से आगे के सम्पूर्ण भाष्य (लघुभाष्य) की वृत्ति[2] इन्ही आचार्य की कृति है। शैली आदि की दृष्टि

---

१ देखिए—जिनरत्नकोश : प्रथम भाग

२ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३—१९४२.

से यह वृत्ति मलयगिरिकृत टीका के ही समकक्ष है। प्रारम्भ मे आचार्य ने सर्वज्ञ महावीर, कल्प (बृहत्कल्प) सूत्रकार भद्रबाहु, भाष्यकार सघदासगणि, चूर्णिकार मुनीन्द्र, वृत्तिकार मलयगिरि, शिवमार्गोपदेष्टा स्वगुरु तथा वरदा श्रुतदेवी को नमस्कार किया है एव मलयगिरिप्रारब्ध कल्पशास्त्रटीका को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है।[1] वृत्ति के अन्त मे लम्बी प्रशस्ति है। इसके अनुसार आचार्य क्षेमकीर्ति के गुरु का नाम विजयचन्द्रसूरि था। विजयचन्द्रसूरि आचार्य जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे। आचार्य क्षेमकीर्ति के दो गुरुभाई थे जिनका नाम वज्रसेन और पद्मचन्द्र था। प्रस्तुत वृत्ति की समाप्ति ज्येष्ठ शुक्ला दशमी वि० स० १३३२ में हुई है। इस विशाल वृत्ति का ग्रन्थमान ४२६०० श्लोक-प्रमाण है :[2]

ज्योत्स्नामञ्जुलया यया धवलित विश्वम्भरामण्डल,
या नि शेषविशेषविज्ञजनताचेतश्चमत्कारिणी।
तस्या श्रीविजयेन्दुसूरिसुगुरोर्निष्कृत्रिमाया गुण—
श्रेणे स्याद् यदि वास्तवस्वतवकृतौ विज्ञ- स वाचापतिः ॥१५॥

तत्पाणिपङ्कजरज परिपूतशीर्षा,
शिष्यास्त्रयो दधति सम्प्रति गच्छभारम्।
श्रीवज्रसेन इति सद्गुरुरादिमोऽत्र,
श्रीपद्मचन्द्रसुगुरुस्तु ततो द्वितीय. ॥१६॥

तार्तीयीकस्तेषा, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन्।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरिर्विनिर्ममे विवृतिमल्पमति ॥१७॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे।
ज्येष्ठश्वेतदशम्या, समर्थितैषा च हस्तार्के ॥१८॥

आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका :

माणिक्यशेखरसूरिकृत प्रस्तुत दीपिका[3] आवश्यकनिर्युक्ति का अर्थ समझने के लिय बहुत ही उपयुक्त टीका है। इसमे निर्युक्ति-गाथाओ का अति सरल एवं संक्षिप्त शब्दार्थ तथा भावार्थ दिया गया है। कथानको का सार भी बहुत ही सक्षेप मे समझा दिया गया है। प्रारम्भ मे दीपिकाकार ने वीर जिनेश्वर और अपने गुरु मेरुतुगसूरि को नमस्कार किया है एव आवश्यकनिर्युक्ति की दीपिका लिखने का सकल्प किया है।

---

१. का० १—८ २. पृ० १७१२

३. विजयदानसूरीश्वर जैन ग्रथमाला, सूरत, सन् १९३९-१९४९.

नत्वा श्रीवीरजिनं तदनु श्रीमेरुतुङ्गसूरिगुरून् ।
कुर्वे श्रीआवश्यकनिर्युक्तेर्दीपिकामल्पाम् ॥

यह दीपिका दुर्गपदार्थ तक ही सीमित है, इसे दीपिकाकार ने प्रारम्भ में ही स्वीकार किया है : 'श्रीआवश्यकसूत्रनिर्युक्तिविषय. प्रायो दुर्गपदार्थं कथामात्रं निर्युक्त्युदाहृतं च लिख्यते ।'[1] मङ्गलाचरण के रूप में नन्दी सूत्र के प्रारम्भ की पचास गाथायें, जोकि दीपिकाकार के कथनानुसार देवर्द्धिगणि-प्रणीत हैं[2], उद्धृत करने के बाद 'आभिणिबोहियनाणं ' इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान प्रारम्भ किया है। दीपिका के अन्त की प्रशस्ति में बताया गया है कि प्रस्तुत ग्रंथकार माणिक्यशेखरसूरि अचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य मेरुतुंग-सूरि के शिष्य हैं। आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका के अतिरिक्त निम्न टीकाएँ भी इन्हीं की कृतियाँ हैं। १ दशवैकालिकनिर्युक्ति-दीपिका, २ पिण्डनिर्युक्ति-दीपिका, ३ ओघनिर्युक्ति-दीपिका, ४. उत्तराध्ययन दीपिका, ५ आचार-दीपिका। प्रशस्ति इस प्रकार है :[3]

ते श्रीअञ्चलगच्छमण्डनमणिश्रीमन्महेन्द्रप्रभ-
श्रीसूरीश्वरपट्टपङ्कजसमुल्लासाम्बुजानन्दभानव ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रपटनाब्रह्मायमाणाश्चिर,
श्रीपूज्यप्रभुमेरुतुङ्गगुरवो जीयासुरानन्ददाः ॥ १ ॥

तच्छिष्य एष खलु सूरिरनीकरत् श्री-
माणिक्यशेखर इति प्रथिताभिधानः ।
सन्नद्विचारचयचेतनचारुमेना,
सद्दीपिका सुविहितयतिना हिताय ॥ २ ॥

मुनिनिगलवाच्यमाना तमोहरा दीपिका पिंडनिर्युक्ते ।
ओघनिर्युक्तिदीपिका दशवैकालिकस्याप्युत्तराध्ययनदीपिके ॥ ३ ॥

आचारदीपिकानावतत्त्वविचारण तथान्य ।
[illegible] ॥ ४ ॥

माणिक्यशेखरसूरि [illegible] में विद्यमान थे। [illegible] ने वि० सं० १४८३ में [illegible]।

१ [illegible], पृ० १
२ [illegible]
[illegible]
३ [illegible], पृ० [illegible]

देहरि की प्रतिष्ठा करवाई थी : संवत् १४८३ वर्षे प्रथम वैशाख शुद १३ गुरौ श्रीअचलगच्छे श्रीमेरुतुंगसूरीणां पट्टोधरेण श्रीजयकीर्तिसूरीश्वर सुगुरूपदेशेन "श्रीजिराउला पार्श्वनाथस्य चैत्ये देहरि (३) कारापिता"।[1] प्रस्तुत दीपिका के प्रणेता माणिक्यशेखरसूरि भी अचलगच्छीय मेरुतुंगसूरि के ही शिष्य हैं। ऐसी स्थिति में यदि जयकीर्तिसूरि और माणिक्यशेखरसूरि गुरुभ्राता के रूप में माने जाएं तो दीपिकाकार माणिक्यशेखरसूरि सहज ही विक्रम की १५ वीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की वि० सं० १५५० के पूर्व लिखी गई कोई प्रति भी उपलब्ध नहीं है[2] जिसके आधार पर उन्हें अधिक प्राचीन सिद्ध किया जा सके।

आचारांगदीपिका

शीलांकाचार्यकृत आचारांगविवरण के आधार पर विरचित प्रस्तुत दीपिका[3] चंद्रगच्छीय महेश्वरसूरि के शिष्य अजितदेवसूरि की कृति है। इसका रचनासमय वि० सं० १६२९ के आसपास है।[4] टीका सरल, संक्षिप्त एवं सुबोध है। इसका उत्तरार्ध अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। प्रारम्भ में आचार्य ने वर्धमान जिनेश्वर का स्मरण किया है एवं आचारांग सूत्र की बृहद्वृत्ति (शीलांककृत) की दुर्विगाहता बताते हुए अल्प बुद्धिवालों के लिए प्रस्तुत दीपिका लिखने का संकल्प किया है :

वर्द्धमानजिनो जीयाद्, भव्यानां वृद्धिदोऽनिशम्।
वृद्धिवृद्धिकरोऽस्माकं, भूयात् त्रैलोक्यपावनः॥ १॥
श्रीआचाराङ्गसूत्रस्य, बृहद्वृत्तिः सविस्तरा।
दुर्विगाहाऽल्पबुद्धीनां, क्रियते तेन दीपिका॥ २॥

गच्छाचारवृत्ति :

यह वृत्ति[5] तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य विजयविमलगणि की कृति है। इसका रचना काल वि० सं० १६३४ एवं ग्रन्थमान २८५० श्लोकप्रमाण है। वृत्ति विस्तृत है एवं प्राकृत कथानकों से युक्त है। वानरर्षिकृत गच्छाचारटीका का आधार यही वृत्ति है। प्रारम्भ में वृत्तिकार ने भगवान् महावीर तथा स्वगुरु को प्रणाम करके गच्छाचार-प्रकीर्णक की वृत्ति लिखने का संकल्प किया है। अन्त

---

१ वही, प्रस्तावना २ वही

३. प्रथम श्रुतस्कन्ध—मणिविजयजीगणिवर ग्रंथमाला, लींच, वि० सं० २००५.

४. प्रस्तावना, पृ० ४

५. दयाविमलजी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, १९२४

में बहुत लबी प्रशस्ति है जिसमें वृत्तिकार का गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख है। वृत्तिकार ने अपने को आनन्दविमलसूरि का शिष्य बताया है ·

शिष्यो भूरिगुणाना, युगोत्तमानन्दविमलसूरीगणाम् ।
निर्मितवान् वृत्तिमिमामुपकारकृते विजयविमल ॥ ७४ ॥

वृत्ति का रचना-काल बताते हुए कहा गया है

तेषा श्रीसुगुरूणा, प्रसादमासाद्य सश्रुतानन्दः ।
वेदाग्निरसेन्दु (१६३४) मिते, विक्रमभूपालतो वर्षे ॥ ७३ ॥

वृत्ति का ग्रथमान निम्नोक्त है :

प्रत्यक्षर गणनया, वृत्तेर्मान विनिश्चितम् ।
सहस्रा. पञ्च सार्द्धानि, शतान्यष्टावनुष्टुभाम् ॥ ७७ ॥

तदुलवैचारिकवृत्ति .

विजयविमलविहित तन्दुलवैचारिकवृत्ति[1] के आरम्भ मे ऋषभ, महावीर, गौतम, सिद्धान्त और स्वगुरु को प्रणाम किया गया है

ऋषभ वृषसयुक्त, वोर वैरनिवारकम् ।
गौतम गुणसयुक्त, सिद्धान्त सिद्धिदायकम् ॥ १ ॥
प्रणम्य स्वगुरु भक्त्या, वक्ष्ये व्याख्या गुरोः शुभाम् ।
तदुलाख्यप्रकोर्णस्य, वेराग्यरसवारिधे. ॥ २ ॥

यह वृत्ति सक्षिप्त एव शब्दार्थप्रधान होने के कारण अवचूरि भी कही जाती है। इसमें कही-कही अन्य ग्रन्थो के उद्धरण भी दिये गये है। वृत्तिकार आनन्दविमलसूरि के शिष्य है। गुणसौभाग्यगणि से प्राप्त तन्दुलवैचारिक के ज्ञान के आधार पर ही प्रस्तुत वृत्ति लिखी गयी है .[2]

इति श्रीहीरविजयसूरिसेवितचरणेन्दीवरे श्रीविजयदानसूरीश्वरे विजयमाने वैराग्यशिरोमणीना श्रीआनदविमलसूरिश्वराणा शिष्याणुशिष्येण विजयविमलाख्येन पण्डितश्रीगुणसौभाग्यगणिप्राप्ततदुलवैचारिकज्ञानाशेन श्रीतदुलवैचारिकस्येयमवचूरिः समर्थिता ।

गच्छाचारटीका :

इस टीका[3] के प्रणेता वानर्षि तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि के शिष्य हैं। टीका बहुत सक्षिप्त है। इसकी रचना का मुख्य आधार हर्षकुल से प्राप्त हुआ

---

१ चतुः शरण की अवचूरि (लेखक का नाम अज्ञात) सहित—देवचन्द्र लालाभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२२

२ पृ० ५६। ३. आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९२३.

गच्छाचार का ज्ञान है। प्रारम्भ में आचार्य ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ को नमस्कार करके गच्छाचार की व्याख्या लिखने का संकल्प किया है

श्रीपार्श्वजिनमानम्य, तीर्थाधीशं वरप्रदम्।
गच्छाचारे गुरोर्ज्ञाता, वक्ष्ये व्याख्या यथाऽऽगमम्॥

अन्त में टीकाकार ने अपना, अपने धर्मगुरु, विद्यागुरु आदि का नामोल्लेख इस प्रकार किया है।[1]

इति श्रीविजयदानसूरिविजयमानराज्ये श्रीआनन्दविमलसूरीश्वराणां शिष्याणुशिष्येण वानराख्येन पण्डितश्रीहर्षकुलावाप्तगच्छाचाररहस्येन गच्छाचारप्रकीर्णकटीकेयं समर्थिता।

उत्तराध्ययनव्याख्या :

प्रस्तुत व्याख्या[2] तपागच्छीय मुनिविमलसूरि के शिष्य भावविजयगणि ने वि० सं० १६८९ में लिखी है। इसका ग्रंथमान १६५५ श्लोकप्रमाण है। व्याख्या कथानकों से भरपूर है। इन कथानकों की विशेषता यह है कि ये अन्य टीकाओं के कथानकों की भाँति गद्यात्मक न होकर पद्यनिबद्ध हैं। प्रारम्भ में व्याख्याकार ने पार्श्वनाथ, वर्धमान और वाग्वादिनी को प्रणाम किया है। उत्तराध्ययन सूत्र की सुगम व्याख्या लिखने का संकल्प करते हुए बताया है कि नियुक्त्यर्थ, पाठान्तर, अर्थान्तर आदि के लिये शान्तिसूरिविरचित वृत्ति देखना चाहिए। यद्यपि इस सूत्र की पूर्वरचित अनेक वृत्तियाँ विद्यमान हैं फिर भी मैं पद्यनिबद्ध कथार्थ के रूप में यह प्रयास करता हूँ :

ओंनमः सिद्धिसाम्राज्यसौख्यसन्तानदायिने।
त्रैलोक्यपूजिताय श्रीपार्श्वनाथाय तायिने॥१॥
श्रीवर्द्धमानजिनराजमनन्तकीर्तिं,
वाग्वादिनीं च सुधियां जननीं प्रणम्य।
श्रीउत्तराध्ययनसंज्ञकवाङ्मयस्य,
व्याख्यां लिखामि सुगमां सकथां च काञ्चित्॥२॥
नियुक्त्यर्थं पाठान्तराणि चार्थान्तराणि च प्रायः।
श्री शान्तिसूरिविरचितवृत्तेर्ज्ञेयानि तत्त्वज्ञैः॥३॥

---

१ पृ० ४२
२ (अ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४.
(आ) विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रंथमाला, बेणप, सन् १९४० (सप्तदश अध्ययन)

पूर्वविहिता यद्यपि, बह्व्य सन्त्यस्य वृत्तयो रुचिराः।
पद्यनिबद्धकर्थार्थं, तदपि क्रियते प्रयत्नोऽयम् ॥४॥

दशवैकालिकदीपिका :

प्रस्तुत दीपिका[1] खरतरगच्छीय सकलचन्द्रसूरि के शिष्य समयसुन्दरसूरि की शब्दार्थ-वृत्तिरूप कृति है। दीपिका की भाषा सरल एव शैली सुबोध है। प्रारम्भ में दीपिकाकार ने स्तम्भनाधीश (पार्श्वनाथ) को नमस्कार किया है तथा दशवैकालिक सूत्र का शब्दार्थ लिखने का सकल्प किया है

स्तम्भनाधीशमानम्य गणि. समयसुन्दर.।
दशवैकालिके सूत्रे शब्दार्थं लिखति स्फुटम् ॥

दीपिका के अन्त में आचार्य ने हरिभद्रकृत टीका को विषम बताते हुए अपनी टीका को सुगम बताया है। यह टीका वि० स० १६९१ में स्तम्भतीर्थ (खभात) में पूर्ण हुई थी। इसका ग्रन्थमान ३४५० श्लोकप्रमाण है :

हरिभद्रकृता टीका वर्तते विषमा परम्।
मया तु शीघ्रबोधाय शिष्यार्थं सुगमा कृता ॥१॥
चन्द्रकुले श्रीखरतरगच्छे जिनचन्द्रसूरिनामानः।
जाता युगप्रधानास्तच्छिष्यः सकलचन्द्रगणि. ॥२॥
तच्छिष्यसमयसुन्दरगणिना च स्तम्भतीर्थपुरे चक्रे।
दशवैकालिकटीका शशिनिधिशृङ्गारमित वर्षे ॥३॥
. . . . . . ।
शब्दार्थवृत्तिटीकाया श्लोकमानमिद स्मृतम्।
सहस्रत्रयमग्रे च पुनः सार्धचतु शतम् ॥७॥

प्रश्नव्याकरण-सुखबोधिकावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति[2] तपागच्छीय ज्ञानविमलसूरि की कृति है। यह विस्तार मे अभयदेवसूरिकृत वृत्ति से बडी है। जिन पदो का व्याख्यान अभयदेवसूरि ने सरल समझ कर छोड दिया था उनका भी प्रस्तुत वृत्ति मे व्याख्यान किया गया है। वृत्तिकार ने अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए यत्र-तत्र अनेक प्रकार के उद्धरण भी दिये हैं। मूल ग्रथ को हर प्रकार से सरल एव सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत वृत्ति को सुखबोधिका कहना उचित ही है। प्रारभ

१. (अ) भीमसा माणेक, बम्बई, सन् १९००
(आ) हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् १९१५.
(इ) जिनयश सूरि ग्रन्थमाला, खभात, वि० स० १९७५.
२ मुक्तिविमल जैन ग्रथमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १९९५

से वृत्तिकार ने परमेश्वर पार्श्व, प्रभु महावीर, जैन प्रवचन तथा ज्ञानदाता गुरु को सादर प्रणाम किया है। नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरिविरचित प्रश्नव्याकरण वृत्ति की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए मद मतिवालो के लिए इसी सूत्र का सुख-बोधक विवरण प्रस्तुत करने का सकल्प किया हैं :

रम्या नवाङ्गवृत्तो श्रीमदभयदेवसूरिणा रचिता. ।
ता सद्भिर्वाच्यमाना., सुदृशां तत्व प्रबोधकरा' ॥७॥
सम्प्रति भानुद्युतय इवासतेऽनल्पजल्पगम्भीरा ।
परमवनिवेश्मसगतपदार्थमाभाति दीपिकया ॥८॥
मत्तो मन्दमतीना, स्वीयान्येषाँ परोपकाराय ।
विवरणमेतत् सुगुम, शब्दार्थं भवतु भव्यानाम् ॥९॥

'प्रश्नव्याकरण' अथवा 'प्रश्नव्याकरणदशा' का शब्दार्थ बताते हुए आचार्य कहते है कि जिसमे प्रश्न अर्थात् अगुष्ठादिप्रश्नविद्या का व्याकरण अर्थात् कथन-वर्णन किया गया हो वह प्रश्नव्याकरण है। कही-कही इस सूत्र का नाम प्रश्न-व्याकारणदशा भी है। जिसमे इन विद्याओ का प्रतिपादन करने वाले दस अध्ययन हैं वह प्रश्नव्याकरणदशा है। इस प्रकार का ग्रथ भूतकाल में था। इस समय इस ग्रंथ मे आस्रव और सवर का ही वर्णन उपलब्ध है। पाँच अध्याय हिंसा, मृषा, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहसबधी हैं और पाँच अध्याय अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहसम्बन्धी हैं। ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तार देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि पूर्वाचार्यों ने यह समझ कर कि प्रश्नादिविद्याएँ पाँच प्रकार के आस्रव का त्याग कर पाँच प्रकार के सवररूप सयम मे स्थित महापुरूषों को ही प्राप्त हो सकती हैं, वर्तमान युग की दृष्टि से इसमें सयम के स्वरूप का विशिष्ट प्रतिपादन किया .

अथ प्रश्नव्याकरणाख्य दशमाङ्ग व्याख्यायते। प्रश्ना :—अङ्गुष्ठादि प्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते-अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्नव्याकरण, कर्तर्यं-नटि सिद्धम्। क्वचित प्रश्नव्याकरणदशा इति नाम दृश्यते, तत्र प्रश्नाना-विद्याविशेषाणा यानि व्याकरणानि तेषा प्रतिपादनपरा दशाध्ययनप्रति-बद्धा ग्रन्थपद्धतय इति एतादृश अङ्ग पूर्वकालेऽभूत। इदानी तु आश्रव-सवरपञ्चक व्याकृतिरेव लभ्यते। पूर्वाचार्यैरेदयुगीनपुरुषाणा तथाविधही-नहीनतरपाण्डित्यबलबुद्धिवीर्यापेक्षया पुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविद्या-स्थाने पञ्चाश्रवसंवररूप समुत्तारित, विशिष्टसयमवता क्षयोपशमवशात् प्रश्नादिविद्यासम्भवात्।[1]

---

१ पृ० २ (२)

अभयदेवसूरि ने भी इस प्रश्न का समाधान लगभग इसी प्रकार किया है।[1]

वृत्ति के अन्त मे प्रशस्ति है जिसमे वृत्तिकार की गुरु-परम्परा की लबी सूची है जो आनन्दविमलसूरि से प्रारम्भ होती है। प्रशस्ति में यह भी बताया गया है कि वृत्तिकार ज्ञानविमलसूरि का दूसरा नाम नयविमलगणि भी है। ये तपागच्छीय धीरविमलगणि के शिष्य हैं। वृत्ति-लेखन में कवि सुखसागर ने पूरी सहायता दी है तथा तरणिपुर में ग्रन्थ की प्रथम प्रति इन्ही ने लिखी है। वृत्ति का ग्रन्थमान ७५०० श्लोक प्रमाण है। यह वृत्ति वि० स० १७९३ के कुछ ही वर्ष पूर्व (सभवत. वि० स० १७७३ के आस पास)[2] लिखी गई है।

उत्तराध्ययनदीपिका :

यह टीका[3] खरतरगच्छीय लक्ष्मीकीर्तिगणि के शिष्य लक्ष्मीवल्लभगणि की बनाई हुई है। टीका सरल एव सुबोध है। इसमें उत्तराध्ययनसूत्र के प्रत्येक पद की शका-समाधानपूर्वक व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में टीकाकार ने पच परमेष्ठी का मगलाचरण के रूप में स्मरण किया है। तदनन्तर भगवान् महावीर एव पार्श्वनाथ को भक्ति सहित वदन किया है। इसके बाद उन्होंने बताया है कि यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र की अनेक वृत्तियाँ—टीकाएँ विद्यमान हैं तथापि मैं मदाधिकारियो के हृदय-सदनो में बोध का प्रकाश करने वाली इस दीपिका की रचना करता हूँ। इसके बाद अपने नाम (लक्ष्मीवल्लभ) का उल्लेख करते हुए (लक्ष्म्युपपदस्तु वल्लभ) चौदह सौ बावन गणधरों का स्मरण करके आचार्य ने सूत्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया है। व्याख्यान को विशेष स्पष्ट करने के लिए प्रसगवश कथानको का भी उपयोग किया है। इस प्रकार के कथानकों की सख्या काफी बडी है। सभी कथानक सस्कृत में है। इस टीका में उद्धरण नही के बराबर है।

भगवती-विशेषपदव्याख्या :

दानशेखरसूरि द्वारा सकलित प्रस्तुत वृत्ति का नाम विशेषपदव्याख्या लघुवृत्ति अथवा विशेषवृत्ति है। इसमें वृत्तिकार ने प्राचीन भगवतीवृत्ति के आधार पर भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति के कठिन पदो का व्याख्यान किया

---

१. देखिए—अभयदेवसूरिकृत प्रश्नव्याकरण-वृत्ति, पृ० १.

२. द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना, पृ० ५

३. (अ) रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि० स० १९३६.

(आ) गुजराती अनुवादसहित—हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् १९३४-८ (अपूर्ण).

है। व्याख्यान केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नही है अपितु उसमें सम्बद्ध विषय का विस्तृत विवेचन भी है। वृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य ने श्री वीर को नमस्कार किया है तथा भगवती के दुर्गमपदो की व्याख्या उद्धृत करने की इच्छा प्रकट की है[१]

श्रीवीरं नमस्यित्वा तत्त्वावगमाय सर्वसत्त्वानाम्।
व्याख्या दुर्गपदानामुद्ध्रियते भगवती वृत्ते. ॥१॥

अन्त मे निम्नलिखित श्लोक है :[२]

भद्र भवतु सङ्घाय, श्रीमच्छ्रीजिनशासने।
साक्षात् भगवतीव्याख्यादेवतासुप्रसादत ॥१॥
अज्ञेन मया गदित समयविरुद्ध यदङ्गटीकायाम्।
सद्यः प्रसद्य शोध्य गुरुवद्गुरुधीधनैर्गुरुभि. ॥२॥

व्याख्याकार दानशेखरसूरि जिनमाणिक्यगणि के शिष्य अनन्तहसगणि के शिष्य है। प्रस्तुत व्याख्या तपागच्छनायक लक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य सुमति-साधुसूरि के शिष्य हेमविमलसूरि के समय में सकलित की गई है। जैसा कि पचीसवें शतक के विवरण के अत में एक उल्लेख है. इति श्रीतपागच्छनायक श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यश्रीसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजयराज्ये शतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणि शिष्यश्रीअनन्तहसगणिशिष्यश्रीदान शेखर-गणिसमुद्धृतभगवतीलघुवृत्तौपञ्चविंशतितमशतकविवरणसम्पूर्णम् ।

कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका :

दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन कल्पसूत्र की प्रस्तुत वृत्ति[3] विजयसेनसूरि के शिष्य सघविजयगणि ने वि० स० १६७४ में लिखी। उस समय विजयदेवसूरि का धर्मशासन प्रवर्तमान था। वि० स० १६८१ में कल्याणविजयसूरि के शिष्य धनविजयगणि ने इसका सशोधन किया। वृत्ति का ग्रथमान ३२५० श्लोकपरिमाण है। प्रशस्ति मे ग्रन्थरचना के काल, ग्रथकार के नाम, संशोधन के नाम, सशोधक के काल, ग्रन्थमान आदि का उल्लेख इस प्रकार है :

वेदाद्रिरसशीताशुमिताब्दे विक्रामर्कत।
श्रीमद्विजयसेनाख्यसूरिपादाब्जसेविना ॥१॥

---

१. ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम सन् १९३५
२ पृ० २९८ (२)
३ मुक्तिविमल जैन ग्रथमाला, अहमदाबाद, सन् १९२५.

प्राज्ञ श्रीसङ्घविजयगणिना या विनिर्मिता।
विबुधैर्वाच्यमानाऽस्तु सा श्रीकल्पप्रदीपिका ॥२॥

अमृतोपमानवचसा, शारदसम्पूर्णसोमसमयशस.।
तस्य[1] प्रवरे राज्ये, वसुधाऽष्टरसेन्दुमितवर्षे ॥७॥
श्रीमत्कल्याणविजयवाचककोटीतटी किरीटानाम्।
शिष्यै. श्रीधनविजयै वाचकचूडामणिमुख्यै ॥८॥
कल्पप्रदीपिकायाः प्रतिरेषा शोधिता ।
॥९॥

प्रत्यक्षरगणनया भवति कल्पप्रदीपिकाग्रन्थे।
श्लोकाना द्वात्रिंशत् शतानि पञ्चाशदधिकानि ॥१०॥

कल्पसूत्र—सुबोधिका :

यह वृत्ति[2] रामविजय के शिष्य श्रीविजय के अनुरोध पर तपागच्छीय कीर्ति विजयगणि के शिष्य विनयविजय उपाध्याय ने वि० स० १६९६ में लिखी है तथा भावविजय ने सशोधित की है। इसमें कही-कही किरणावली (धर्मसागर-गणिकृत टीका) एव दीपिका (जयविजयगणिकृत टीका) का खण्डन किया गया है। टीका सरल एव सुबोध है, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है। इसका प्रारभिक अश इस प्रकार है.

प्रणम्य परमश्रेयस्कर श्रीजगदीश्वरम्।
कल्पे सुखबोधिका कुर्वे, वृत्ति बालोपकारिणीम् ॥१॥
यद्यपि बह्व्यष्टीका. कल्पे सन्त्येव निपुणगणगम्याः।
तदपि ममाय यत्नः फलेग्रहि. स्वल्पमतिबोधात् ॥२॥
यद्यपि भानुद्युतय सर्वपा वस्तुबोधिका बह्व्यः।
तदपि महीगृहगाना प्रदपिकैवोपकुरुते द्राक् ॥३॥
नास्यामर्थविशेषो न युक्तयो नापि पद्यपाण्डित्यम्।
केवलमर्थव्याख्या वितन्यते बालबोधाय ॥४॥
हास्यो न स्या सद्भि कुर्वन्नेतामतीक्ष्णबुद्धिरपि।
यदुपदिशन्ति त एव हि शुभे यथाशक्ति यतनोयम् ॥५॥

---

१ सूरिश्रीविजयदेवमुनिराज, सम्प्रति जयति—श्लोक ६
२ (अ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० ११७५
(आ) देवचद्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९११, १९२३.
(इ) प० हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् १९३९.

प्रशस्ति के कुछ श्लोक ये है :

तस्य स्फुरदुरुकीर्तेर्वाचकवरकीर्ति विजयपूज्यस्य ।
विनयविजयो विनेय सुबोधिका व्यरचयत् कल्पे ॥१२॥
समशोधयस्तथैना पण्डितसंविग्नसहृदयावतसा ।
श्रीविमलहर्षवाचकवशे मुक्तामणिसमाना ॥१३॥
धिषणानिर्जितधिषणाः सर्वत्र प्रसृतकीर्तिकर्पूरा ।
श्रीभावविजयवाचककोटीरा शास्त्रवसुनिकपा ॥१४॥
रसनिधिरसशशिवर्षे ज्येष्ठे मासे समुज्ज्वले पक्षे ।
गुरुपुष्ये यत्नोऽय सफलो जज्ञे द्वितीयायाम् ॥१५॥
श्रीरामविजयपण्डितशिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम् ।
अभ्यर्थनापि हेतुर्विज्ञेयोऽस्याः कृतौ विवृतेः ॥१६॥

टीका का ग्रथमान ५४०० श्लोकप्रमाण है .[1]

प्रत्यक्षर गणनया, ग्रन्थमान शताः स्मृता ।
चतुष्पञ्चाशदेतस्या, वृत्तौ सूत्रसमन्वितम् ॥

कल्पसूत्र-कल्पलता :

प्रस्तुत व्याख्या[2] खरतरगच्छीय जिनेन्द्रसूरि के शिष्य सकलचन्द्रगणि के शिष्य समयसुन्दरगणि-विरचित है । इसका रचना-काल खरतरगच्छीय जिनराजसूरि का शासन-समय है । इनकी मृत्यु वि. स १६९९ में हुई थी ।[3] अत इस व्याख्या का रचना-काल वि स० १६९९ के आसपास है । इसका सशोधन हर्षनन्दन ने किया है । प्रारम्भ मे व्याख्याकार ने पचपरमेष्ठी, दीक्षागुरु तथा ज्ञानगुरु को नमस्कार किया है और खरतरगच्छ की मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) का व्याख्यान करने का सकल्प किया है । अन्त की प्रशस्ति मे वृत्तिकार की गुरु-परम्परा की नामावली के साथ प्रस्तुत वृत्ति के संशोधक, वृत्ति प्रारभ एव पूर्ण करने के स्थान, धर्म-शासक एवं धर्मयुवराज का नामोल्लेख किया गया है । वृत्ति का ग्रथमान ७७०० श्लोकप्रमाण है ।

कल्पसूत्र-कल्पकौमुदी :

यह वृत्ति[4] तपागच्छीय धर्मसागरगणि के प्रशिष्य एव श्रुतसागरगणि के

---

१. जामनगर-सस्करण, पृ० १९५.
२. कालिकाचार्यकथासहित–जिनदत्तसूरि प्राचीनपुस्तकोद्धार, सूरत, सन्१९३९.
३. Introduction (H. D. Velankar), पृ० १०.
४ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन् १९३६.

शिष्य शान्तिसागरगणि ने वि. सं. १७०७ में लिखी है। इस शब्दार्थप्रधान वृत्ति का ग्रन्थमान ३७०७ श्लोकप्रमाण है। प्रारम्भ में वृत्तिकार ने वर्धमान जिनेश्वर को नमस्कार किया है तथा संक्षिप्त एवं मृदु रुचिवालों के लिए प्रस्तुत वृत्ति की रचना का संकल्प किया है। अन्त में वृत्ति-रचना के समय, स्थान, वृत्तिप्रमाण आदि का निर्देश किया है :

श्रीमद्विक्रमराजात् मुनिगगनमुनान्दुभिः प्रमितवर्षे।
विजयदविजयदशम्या श्रीपत्तनपत्तने विदुर्ज्ञेयम् ॥ ५ ॥
श्लोकानां सङ्ख्यानं सप्तत्रिशच्छतैश्च सप्ताग्रे।
वृत्तावस्या जातं प्रत्यक्षरगणनया श्रेयः ॥ ६ ॥

प्रशस्ति में तपागच्छ-प्रवर्तक जगच्चन्द्रसूरि[1] से लगा कर वृत्तिकार शान्तिसागर तक की परम्परा के गुरु-शिष्यों की गणना की गई है।

कल्पसूत्र-टिप्पणक

इस टिप्पणक[2] के प्रणेता आचार्य पृथ्वीचन्द्र हैं। टिप्पणक के प्रारम्भ में निम्न श्लोक हैं :

प्रणम्य वीरमाश्चर्यसेवधिं विधिदर्शकम्।
श्रीपर्युषणाकल्पस्य, व्याख्या काचिद् विधीयते ॥ १ ॥
पञ्चमाङ्गस्य सद्वृत्तेरस्य चोद्धृत्य चूर्णितः।
किञ्चित् कस्मादपि स्थानात्, परिज्ञानार्थमात्मनः ॥ २ ॥

टिप्पणक के अन्त में आचार्य का परिचय इस प्रकार है :

चन्द्रकुलाम्बरशशिनश्चारित्रश्रीसहस्रपत्रस्य।
श्रीशीलभद्रसूरेर्गुणरत्नमहोदधेः शिष्यः ॥ १ ॥
अभवद् वादिमदहरषट्तर्काम्भोजबोधनदिनेशः।
श्रीधर्मघोषसूरिर्बोधितशाकम्भरीनृपतिः ॥ २ ॥
चारित्राम्भोधिशशी त्रिवर्गपरिहारजनितबुधहर्षः।
दर्शितविधिः शमनिधिः सिद्धान्तमहोदधिप्रवरः ॥ ३ ॥
बभूव श्रीयशोभद्रसूरिस्तच्छिष्यशेखरः।
तत्पादपद्ममधुपोऽभूच्छ्री देवसेनगणिः ॥ ४ ॥

---

१. तपगणविधुः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः—श्लो. १
२. मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र में मुद्रित. साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, सन् १९५२.

टिप्पनक पर्युषणाकल्पस्यालिखदवेक्ष्य शास्त्राणि ।
तच्चरणकमलमधुप· श्रीपृथ्वीचन्द्रसूरिरिदम् ॥ ५ ॥

इह यद्यपि न स्वधिया विहितं किञ्चित् तथापि बुधवर्गः ।
सशोध्यमधिकमून यद् भणित स्वपरबोधाय ॥ ६ ॥

पृथ्वीचन्द्रसूरि देवसेनगणि के शिष्य हैं। देवसेनगणि के गुरु का नाम यशोभद्रसूरि है। यशोभद्रसूरि राजा शाकम्भरी को प्रतिबोध देनेवाले आचार्य धर्मघोषसूरि के शिष्य हैं। धर्मघोषसूरि के शिष्य चन्द्रकुलावतस आचार्य शीलभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त टीकाओ के अतिरिक्त निम्नलिखित आगमिक वृत्तियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं : आचाराग की जिनहस व पार्श्वचन्द्रकृत वृत्तियाँ,[1] सूत्रकृताग की हर्षकुलकृत दीपिका,[2] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की शान्तिचन्द्रकृत टीका,[3] कल्पसूत्र की धर्मसागर, लक्ष्मीवल्लभ एव जिनभद्रकृत वृत्तियाँ,[4] बृहत्कल्प की अज्ञात वृत्ति,[5] उत्तराध्ययन की कमलसंयम व जयकीर्तिकृत टीकाएँ,[6] आवश्यक (प्रतिक्रमण) की नमिसाधुकृत वृत्ति ।[7]

बीसवी शती मे भी मुनि श्री घासीलालजी, श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरि आदि

---

१. रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, वि स १९३६
२ भीमसी माणेक, बम्बई, वि स १९३६
३ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२०
४ (अ) धर्मसागरकृत किरणावली—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि स १९७८
(आ) लक्ष्मीवल्लभकृत कल्पद्रुमकलिका—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि स. १९७५; वेलजी शिवजी, माडवी, बम्बई, सन् १९१८
(इ) जिनप्रभकृत सन्देहविषौषधि—हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् १९१३
५ सम्यक् ज्ञान प्रचारक मडल, जोधपुर.
६ (अ) कमलसयमकृत वृत्ति—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९२७
(आ) जयकीर्तिकृत गुजराती टीका—हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् १९०९
७ विजयदानसूरीश्वर ग्रथमाला, सूरत, सन् १९३९.

जैन आचार्यों ने आगमिक टीकाएँ लिखी हैं। मुनि घासीलालकृत उपासकदशांग[1] आदि की टीकाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये टीकाएँ शब्दार्थ-प्रधान हैं। विजयराजेन्द्रसूरिकृत कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी[2] कल्पसूत्र की एक स्पष्ट व्याख्या है।



---

१ संस्कृत-हिन्दी-गुजराती टीकासहित—श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची, सन् १९३६.

२ राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (फालना), सन् १९३३

पंचदश प्रकरण

लोकभाषाओं में विरचित व्याख्याएँ

आगमो की संस्कृत टीकाओ की बहुलता होते हुए भी बाद के आचार्यों ने जनहित की दृष्टि से यह आवश्यक समझा कि लोकभाषाओं मे भी सरल एव सुबोध आगमिक व्याख्याएँ लिखी जाएँ। इन व्याख्याओ का प्रयोजन किसी विषय की गहनता मे न उतर कर साधारण पाठको को केवल मूल सूत्रो के अर्थ का बोध कराना था। इसके लिए यह आवश्यक था कि इस प्रकार की व्याख्याएँ साहित्यिक भाषा अर्थात् संस्कृत मे न लिखकर लोकभाषाओ मे लिखी जाएँ। परिणामतः तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा मे बालावबोधों की रचना हुई। इस प्रकार की शब्दार्थात्मक टीकाओ से राजस्थानी और गुजराती आगमप्रेमियो को विशेष लाभ हुआ। ऐसे बालावबोधों की रचना करनेवालो मे विक्रम की अठारहवी शताब्दी मे होनेवाले लोकागच्छीय (स्थानकवासी) टबाकार मुनि धर्मसिंह का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन्होने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड स्थानकवासीसम्मत शेष २७ आगमों के टबे (बालावबोध) लिखे हैं।[1] कहीं-कही सूत्रों का प्राचीन टीकाओं के अभिप्रेत अर्थ को छोडकर स्वसम्प्रदायसम्मत अर्थ किया है जो स्वाभाविक है। साधुरत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचन्द्रगणि (वि स. १५७२) रचित आचाराग, सूत्रकृताग आदि के बालावबोध भी उल्लेखनीय हैं। ये भी गुजराती मे हैं।

टबाकार मुनि धर्मसिंह

प्रसिद्ध टबाकर मुनि धर्मसिंह[2] काठियावाड स्थित जामनगर मे रहनेवाले दशाश्रीमाली वैश्य जिनदास के पुत्र थे। धर्मसिंह का जन्म माता शिवा के गर्भ से हुआ था। जिस समय धर्मसिंह की आयु १५ वर्ष की थी उस समय वहाँ के लोंकागच्छीय उपाश्रय में लोंकागच्छाधिपति आचार्य रत्नसिंह के शिष्य देवजी मुनि का पदार्पण हुआ। उनके व्याख्यान सुनने वालो में धर्मसिंह भी था। इस पर उनके उपदेश का अच्छा प्रभाव पडा और उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ।

---

१. ऐतिहासिक नोंध (वा. मो शाह), पृ० १२३ (हिन्दी सस्करण)

२ ऐतिहासिक नोंध के आधार पर, पृ० १०५–१२६.

कुछ समय तक तो उनके माता-पिता ने उसे दीक्षा अंगीकार करने की अनुमति न दी किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें अनुमति देनी ही पडी। इतना ही नही अपितु पुत्र के साथ पिता ने भी दीक्षा ग्रहण की। उनकी यह दीक्षा यतिवर्ग (शिथिलाचारी त्यागी) की दीक्षा थी, न कि मुनिवर्ग (शुद्ध आचार वाले साधु) की। यति धर्मसिंह को धीरे-धीरे शास्त्रो का अच्छा अभ्यास हो गया। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे दोनो हाथो से ही नही, दोनो पैरो से भी लेखनी पकडकर लिख सकते थे। ज्यो-ज्यो धर्मसिंह का शास्त्रज्ञान बढता गया त्यो त्यों उन्हें प्रतीत होने लगा कि हमारा आचार शास्त्रो के अनुकूल नही है। हमें यह वेष त्याग कर शुद्ध मुनिव्रत का पालन करना चाहिए। उन्होने अपना यह विचार अपने गुरु शिवजी के सामने रखते हुए बडी नम्रता से कहा :—

"कृपालु गुरुदेव! भगवान् महावीर ने भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के बीशवें शतक में स्पष्टरूप मे फरमाया है कि २१००० वर्ष तक यह मुनिमार्ग चलता रहेगा। ऐसा होते हुए भी हम लोग पचम काल (वर्तमान काल) का बहाना कर मुनिमार्ग के अनुकूल आचार का पालन करने में शिथिलता का परिचय दे रहे हैं। यह किसी भी दृष्टि से उचित नही है। मनुष्यभव अमूल्य चिन्तामणि है। हमें कायरो का मार्ग छोडकर सूरो का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। आप जैसे समर्थ और विद्वान् पुरुष भी यदि पामर प्राणियो की भांति साहसहीन हो जाएँ तो अन्य लोगो का तो कहना ही क्या? आप सर्व प्रकार के आलस्य का त्याग कर सिंह की भांति अपने अतुल पराक्रम का परिचय दीजिए। आप स्वय सच्चे मुनिमार्ग पर चलिए एव औरो को चलाइए। ऐसा करने से ही जिन-शास्त्र की शोभा एवं स्वात्मा का कल्याण है। सिंह कायर नही होता, सूर्य मे अन्धकार नही रहता, दाता कृपण नही होता। जिस प्रकार अग्नि में कभी शीतलता नही होती उसी प्रकार ज्ञानी में कभी राग नहीं होता। आप मुनिमार्ग पर चलने के लिए तैयार हो जाइए। मैं भी आपके पीछे पीछे उसी मार्ग पर चलने के लिए तैयार हूँ। ससार को छोडने के बाद फिर मोह कैसा?"

धर्मसिंह का यह कथन सुनकर शिवजी सोचने लगे कि धर्मसिंह का कहना अक्षरश· सत्य है किन्तु मै वैसा आचरण करने मे असमर्थ रहा हूँ। दूसरी ओर वैसा न करने पर ऐसा विद्वान् और विनयी शिष्य गच्छ छोडकर चला जाएगा और इससे गच्छ की असह्य हानि होगी। इन दोनो दृष्टियो का सन्तुलन कर शिवजी कहने लगे कि मैं इस समय अपने पद का त्याग करने मे असमर्थ हूँ। तुम धैर्य रखो और निरन्तर ज्ञानार्जन करते रहो। थोडे समय बाद गच्छ की समुचित

व्यवस्था करके अपन दोनो सब उपाधि छोडकर पुनः नवसयम धारण करेंगे। इस समय जल्दी न करो।

गुरु के ये वचन सुनकर धर्मसिंह विचार करने लगे कि यदि गुरुजी आदर्श संयम धारण करें तो और भी अच्छा, क्योकि ये मेरे ज्ञानोपकारी हैं अत मुझे इन्हें साथ लेकर नवमार्ग ग्रहण करना चाहिए। ऐसा सोच कर धर्मसिंह ने धैर्य रखा। इसी बीच उन्हे विचार आया कि मुझे अपने अवकाश का उपयोग विशेष ज्ञानवृद्धि में करना चाहिए। मुख का उपदेश तो थोडे से मनुष्य ही सुन सकते हैं और वह भी एक ही जगह, किन्तु लिखा हुआ उपदेश सर्वत्र एव सर्वदा काम आ सकता है। यही सोचकर उन्होंने आगम ग्रथो पर टबा (टिप्पण) लिखने का काम शुरू किया। धर्मसिंह ने कुल २७ सूत्रो के गुजराती टबे लिखे। ये टबे इतने सरल एवं सुबोध है कि आज भी कई साधु इन्ही के आधार पर शास्त्रो का अभ्यास करते है। गुजरात और राजस्थान मे तो इनका उपयोग होता ही है, पंजाब के साधु भी इनका पूरा उपयोग करते है। ये अभी तक प्रकाशित नही हुए हैं।

दिन पर दिन बीतने लगे। धर्मसिंह को गुरु में शुद्ध चारित्र पालन के कोई लक्षण दृष्टिगोचर न हुए। धर्मसिंह का धैर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। उन्होने गुरु से कहा कि इतने दिन तक धैर्य रखने के बाद भी यदि आप विशुद्ध चारित्रमार्ग पर चलने के लिए तैयार नही है तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मैं अकेला ही उस पथ का पथिक बनने के लिए तैयार हूँ। यह सुनकर गुरु ने गद्गद हृदय से शिष्य को आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने की अनुमति प्रदान करते हुए कहा कि हे धर्मप्रिय! मै तुम्हे आत्मकल्याण के लिए अन्त करण से आशीर्वाद देता हूँ। तुम जिस मार्ग पर चलने जा रहे हो वह बहुत ही कठिन एव कँटीला है। यदि तुम इस पथ पर सफलता पूर्वक बढ सकोगे तब तो ठीक अन्यथा तुम्हारे साथ मुझे भी अपयश का भागी बनना पडेगा। अत नया मार्ग ग्रहण करने के पूर्व मै तुम्हारी परीक्षा लेना चाहता हूँ। आज रात को तुम अहमदाबाद के उत्तर की ओर उद्यान मे जो दरयाखान नामक यक्षायतन है उसमें रहो। प्रातःकाल मुझसे अन्तिम आज्ञा लेकर नया मार्ग ग्रहण करना।

गुरु को वन्दन कर यति धर्मसिंह दरयाखान की ओर चले। शास्त्राज्ञा के अनुसार धर्मसिंह ने उस स्थान के रक्षक से वहाँ ठहरने की अनुमति मांगी। मुसलमान रक्षक ने उत्तर दिया : "यतिजी! क्या आपको दरयाखान पीर की शक्ति का ज्ञान नही है? क्या आपको मालूम नही कि हमारे चमत्कारी पीर के इस स्थान पर रात में कोई मनुष्य नही रह सकता? इन्होने सैकडो मनुष्यो को

पछाडकर परलोक में पहुँचा दिया है। यतिजी! क्या आप भी उनकी सगति करना चाहते हैं?"

"भाई! तुम्हारा कथन कदाचित् ठीक है। किन्तु मुझे तो मेरे गुरु की आज्ञा है, अत- यहाँ रहना ही पडेगा। तुमने मुझे आनेवाले सकट से सावधान किया इसके लिए धन्यवाद, किन्तु भय किसे कहते है इसे मैं जानता ही नही। 'भय' शब्द मेरे कोश में ही नही है।" धर्मसिह ने प्रत्युत्तर दिया

"मरने दो इसे! अपनी आयु कम होने से ही यह ऐसा करता हो तो कौन जाने?" एक अन्य मुसलमान ने उस मुसलमान के कान में सलाह दी। धर्मसिह को वहाँ रहने की अनुमति मिल गई।

जैसे-जैसे सध्या व्यतीत होती गई वैसे-वैसे दरयाखान का स्थान निर्जन होता गया। अन्ततोगत्वा उस पूरे प्रदेश मे अकेले धर्मसिह ही रह गये। उन्होने रजोहरण से भूमि स्वच्छ कर अपना आसन बिछाया और स्वाध्याय में मग्न हुए। एक प्रहर रात्रि व्यतीत हुई होगी कि दरयाखान का यक्ष वहाँ आया। धर्मसिह उस समय स्वाध्याय में लीन थे। उनके मुख से पूर्वअश्रुत शब्दोच्चारण सुनकर यक्ष को कुछ आश्चर्य हुआ। उसे वह पुरुष अन्य पुरुषो से कुछ विलक्षण प्रतीत हुआ। वह अपने क्रोधी स्वभाव को भूल कर भक्तिपूर्वक धर्मसिह की सेवा में प्रवृत्त हो गया। इतना ही नही, उनके उपदेश से उसने उस समय से किसी भी मनुष्य को न सताने का सकल्प किया। यक्ष चला गया। धर्मसिह अपने स्वाध्याय-ध्यान में सलग्न रहे। थोडी नीद लेने के बाद पुन उसी कार्य में प्रवृत्त हुए। धीरे-धीरे प्रभात हुआ।

आवश्यक क्रियाओ से निवृत्त हो धर्मसिह अपने गुरु के पास पहुँचे। वन्दना आदि करने के बाद सारी घटना गुरु को सुना दी। शिष्य के इस शौर्यपूर्ण आचरण से गुरु बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास हो गया कि धर्मसिह बडा पराक्रमी और बुद्धिशाली है। यह अच्छी तरह सयम का पालन कर सकेगा। इससे जैन शासन का उद्योत होगा। यह सोचकर उन्होने धर्मसिह को शुद्ध सयम धारण कर विचरने की अनुमति प्रदान की। धर्मसिह अपनी विचारधारा के अन्य यतियो को साथ में लेकर दरियापुर दरवाजे के बाहर ईशानकोण के उद्यान में पहुँचे तथा नवसयम ग्रहण किया। यह घटना वि० स० १६८५ की है।[1] धर्मसिह का धर्मोपदेश प्राय दरियापुर दरवाजे मे ही हुआ करता था अत उनका सम्प्रदाय भी 'दरियापुरी सम्प्रदाय' के रूप मे ही प्रसिद्ध हुआ।

---

१. सवत सोल पचासिए, अमदावाद मझार।
शिवजी गुरु को छोड के, धर्मसि हुआ गच्छबहार ॥—एक प्राचीन कविता,

मुनि धर्मसिंह गुजरात और काठियावाड मे ही विचरा करते थे। गठिया से पीडित होने के कारण उनके लिए दूर-दूर का विहार अति कठिन था। ४३ वर्ष तक नई दीक्षा का पालन करने के बाद वि० स० १७२८ की आश्विन शुक्ला चतुर्थी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ।

मुनि धर्मसिंह ने २७ सूत्रो के टबों के अतिरिक्त निम्नलिखित गुजराती ग्रंथो की रचना की है १. समवायाग की हुंडी, २. भगवती का यंत्र, ३. प्रज्ञापना का यत्र ४ स्थानाग का यत्र, ५. जीवाभिगम का यंत्र, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का यंत्र, ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति का यत्र, ८ सूर्यप्रज्ञप्ति का यत्र, ९ राजप्रश्नीय का यत्र, १०. व्यवहार की हुंडी, ११ सूत्रसमाधि की हुडी, ११ द्रौपदी की चर्चा,, १३. सामायिक की चर्चा, १४. साधु-सामाचारी, १५. चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप। इनके अतिरिक्त उनके लिखे हुए और भी कुछ ग्रन्थ है। अभी तक इन ग्रन्थो का प्रकाशन नही हो पाया है।

हिन्दी टीकाएँ

हिन्दी टीकाओं मे मुनि हस्तिमलकृत दशवैकालिक-सौभाग्यचन्द्रिका,[1] नन्दीसूत्र-भाषाटीका,[2] उपाध्याय आत्मारामकृत दशाश्रुतस्कन्ध—गणपतिगुण प्रकाशिका,[3] उत्तराध्ययन-आत्मज्ञानप्रकाशिका,[4] दशवैकालिक-आत्मज्ञान—प्रकाशिका,[5] उपाध्याय अमरमुनिकृत आवश्यक-विवेचन (श्रमण-सूत्र)[6] आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती, अग्रेजी आदि भाषाओं मे अनेक आगमो के अनुवाद एव सार भी प्रकाशित हुए है।



---

१ रायबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा, सतारा, सन् १९४०.

२. रायबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा, सतारा, सन् १९४२.

३. जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३६.

४. जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३९–१९४२

५. (अ) ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी, महेन्द्रगढ (पटियाला), वि० स० १९८९.

(आ) जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९४६.

६ सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामडी, आगरा, वि० स० २००७.

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थों की सूची

ऐतिहासिक नोध—वाडीलाल मो० शाह–हिन्दी संस्करण.

कर्मग्रंथ (पचम तथा षष्ठ)—आत्मानंद जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९४०.

गणधरवाद—दलसुख मालवणिया–गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९५२.

जिनरत्नकोश—हरि दामोदर वेलणकर–भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मदिर, पूना, सन् १९४४

जैन आगम—दलसुख मालवणिया–जैन सस्कृति सशोधन मण्डल, बनारस, सन् १९४७.

जैन गुर्जर कविओ—जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, सन् १९३१.

जैन ग्रन्थावली—जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, वि० स० १९६५

जैन दर्शन—अनु० प० बेचरदास, प्रका० मनसुखलाल रवजीभाई मेहता, राजकोट, वि० स० १९८०.

जैनसत्यप्रकाश—अहमदाबाद

जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास—मोहनलाल दलीचद देसाई–जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, सन् १९३३.

जैन साहित्य सशोधक—अहमदाबाद.

तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति–भारत जैन महामण्डल, वर्धा, सन् १९५२.

प्रभावकचरित—प्रभाचन्द्र–सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९४०

प्रशस्तिसग्रह—अमृतलाल शाह–श्री शातिनाथजी ज्ञानभडार, अहमदाबाद, वि० स० १९९३

प्राकृत और उसका साहित्य—मोहनलाल मेहता–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९६६

ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३२.

महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रन्थ—बम्बई, सन् १९४०.

मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ—ब्यावर, सन् १९६५

मुनिसुव्रतचरित—श्रीचद्रसूरि

विविधतीर्थकल्प—जिनप्रभसूरि–सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९३४.

विशेषणवती—जिनभद्र.

श्रमण भगवान् महावीर, भाग-३—स० मुनि रत्नप्रभविजय, अनु० प्रो० धीरुभाई पी० ठाकुर, प्रका० जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, पाजरापोल, अहमदाबाद, सन् १९५०.

सार्थवाह—मोतीचन्द्र–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५३.

हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स—हीरालाल रसिकदास कापडिया–सूरत, सन् १९४१

